गोविन्द निबन्धावली

सपरिचय

श्रीगोविन्द निबन्धावली

❖ लेखक ❖

स्व० पं० गोविन्दनारायण मिश्र

प्रकाशक

दामोदरदास खन्ना

१७ वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता

प्रथमावृत्ति } मूल्य { साधारण जिल्दका ३)
सुनहरी जिल्दका ३॥)

प्रकाशक

दामोदरदास खन्ना

१७ वाराणसी घोष स्ट्रीट

कलकत्ता।

कलकत्ता

न० २०१ हरिसन रोड, श्रीहरि प्रेसमें,

'विभक्ति विचार' पृष्ठ १से ३२ तक

न० २२ सरकार लेन, भारती प्रेसमें

'द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भाषण'

न० १७ ए, मदन मित्र लेन, ललित प्रेसमें

'कवि और चित्रकार', 'प्राकृत विचार' तथा

'विभक्ति विचार' पृष्ठ ४६ से अन्त तक'

नं० २५ गोपाल बोस लेन, सरकार प्रेसमें

चारों चित्र।

नं० ३७० अपर चितपुर रोड, श्रीलक्ष्मी प्रिण्टिंग वर्क्समें।

'परिचयादि' 'सारस्वत सर्वस्व' 'विभक्ति विचार'

पृष्ठ ३३ से ४८ तक, 'आत्मारामकी टें टें'

तथा विविधविषय

बाबू दामोदरदासजी खन्नाके लिये

पं० श्यामसुन्दर द्विवेदीके प्रबन्धसे

—मुद्रित—

त्वदीयम् वस्तु

'गोविन्द' !

तुभ्यमेव

समर्पयेत् ।

—दामोदर

॥ श्री ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

परम पूजनीय एवं श्रद्धास्पद स्व० पं० गोविन्दनारायणजी मिश्र महोदयका मेरे पूज्यपाद पितृदेवके प्रति अनन्य प्रेम था और उसे सहज शुचि स्वर्गगत युगल आत्माओंने आजीवन एक रस निभाया। मिश्रजीके प्रति मेरी यथामति श्रद्धा, भक्ति और प्रीति तो थी ही, पितृ-आदेशानुसार भी मैं उन्हें पितृ-स्थानीय ही मानता और उनकी समस्त आज्ञाओंको, सभक्ति शिरोधार्य कर पालन करता था। वे भी कृपापूर्वक मुझ तुच्छ 'दास'को पुत्रवत् समझ, सदा सदुपदेश दिया करते और मेरे अनुरोधोंकी रक्षा करते थे। उनकी आकस्मिक मृत्यु इस दासकी कुटीमें ही हुई थी, जो उन्हींकी कृपाका प्रसाद है। अपनी ओर उनका अपार प्रेम देख मैंने कईबार उनकी कृतियोंको संग्रहकर प्रकाशित करनेकी आज्ञा देनेकी प्रार्थना की थी; जिससे उसके द्वारा हिन्दी भाषा भाषियोंका उपकार हो, और उन्होंने सकृप हो वैसा करनेकी स्वीकृति भी दे दी थी। पर हन्त! यह कार्य उनके जीवनकालमें सम्पन्न न हो सका; अन्यथा इसका कुछ और ही रूप होता और कोई भी निबन्ध अपूर्ण नहीं निकलने पाता। इस समय तो मुझे जो कुछ उनकी सहधर्मिणी, पं० केदारनाथ-जी मिश्र तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभासे प्राप्त हुआ है उसे ही हिन्दी प्रेमियोंके समक्ष उपस्थितकर सन्तोष करना पड़ता है।

प्रकाशन कार्यके सम्पन्न होनेका सम्पूर्ण श्रेय श्रद्धेय महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मण शास्त्रीजीको है, जिन्होंने उद्गार लिख एवं मुझे बार बार प्रोत्साहित कर इस कार्यको शीघ्र कर डालनेकी सुमति प्रदान की। इसके लिये मैं उनका चिरकृतज्ञ रहूंगा। यह कहना कदाचित् अनावश्यक नहीं होगा कि मुझ जैसे व्यक्तिके लिये ऐसे कार्यका इतनी शीघ्रतासे पूरा करना अति कठिन था; पर ईश्वरेच्छा बलीयसी है। उसीके

द्वारा अखिल विश्वके समस्त कार्य सुसम्पन्न होते हैं। जिस समय इस कार्य-पूर्तिकी मेरी लालसा वृद्धिंगत हो रही थी उसी समय पं० श्यामसुन्दर द्विवेदीसे मेरी भेंट हुई और कुछ देर वार्तालाप होनेपर उन्होंने बड़ी उत्सुकता और तत्परता पूर्वक इस कार्य-भारको ग्रहण किया और पूज्य पण्डितजीकी समस्त कृतियोंको संग्रह कर मुद्रणसे प्रकाशन-कार्य पर्य्यन्त बड़ी ही योग्यता पूर्वक सम्पन्न किया। इस निस्वार्थ प्रेमके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूं। सब कुछ होते हुए भी पुस्तक कदाचित् इतनी सुन्दरतासे प्रकाशित नहीं होती यदि पूज्य स्व० मिश्रजीके अन्यतम प्रेमी मेरे प्रिय मित्र पं०वासुदेवजी मिश्र इसका प्रूफ संशोधनादि कार्य्य-भार स्वीकार नहीं करते। कृपापूर्वक जीवन-चरित्र संशोधनकर पूजनीय पं० अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी तथा 'प्राक्कथन' लिखकर मंजुलमूर्ति विनोदी पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदीने भी मुझे अपना आभारी बना लिया है। अतएव उक्त उदार सज्जनोंको मेरा अनेकानेक हार्दिक धन्यवाद है।

प्रूफ संशोधनमें विशेष सावधानता रखनेपर भी यत्र तत्र अशुद्धियां रह ही गयी हैं, तथा (ं) अनुस्वार और (ँ) चन्द्रविन्दु प्रयोगमें भी भूलें हो गयी हैं। इसका प्रधान कारण चन्द्रविन्दुओंका अभाव और सद्भाव होनेपर भी (lead) शीशेकी निर्बलता है; जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाठकोंको कई पृष्ठोंमें मिल जायगा। आशा है ऐसे स्थानोंपर, सहृदय उदार प्रेमी पाठक क्षमाप्रदानपूर्वक सुधारकर पढ़नेकी कृपा करेंगे। निबन्धोंमें "कवि और चित्रकार" तथा 'प्राकृत विचार' हिन्दी भाषामें सर्वथा नवीन रचना होनेके कारण आरम्भमें तथा अन्यान्य निबन्ध आकारानुसार सङ्कलित किये गये हैं।

इस पुस्तकका सर्वाधिकार श्रद्धेय स्व० पं० जीकी पतिपरायणा धर्म-पत्नीको ही है ; जिन्होंने कृपापूर्वक इस कार्यके निर्विघ्न परिसमाप्त हो जानेका मुझे आशीर्वाद प्रदान किया था। इति शम्।

श्रीअनन्त चतुर्दशी
सं० १९८२ वि०

विनयावनत :—

श्रीदामोदर दास खन्ना।

* श्रीः *

प्राक्कथन ।



श्रीयुत बाबू दामोदरदास खन्नाको धन्यवाद है कि जिनके उत्साह, उद्योग और उदारतासे स्वर्गवासी श्रद्धेय पण्डित गोविन्दनारायणजी मिश्रके दुर्लभ और दुष्प्राप्य ललित लेखोंका यह सुन्दर संग्रह प्रकाशित हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि मान्यवर मिश्रजी अपने ढंगके एक ही थे। प्राकृतके पूरे पण्डित होनेके सिवा वह संस्कृतके भी ज्ञाता थे। हिन्दी भाषापर तो उनका असीम अधिकार था। व्याकरणके बड़े विद्वान और साहित्यके सुरसिक थे। उनकी भाषा बड़ी पुष्ट और प्रौढ़ होती थी। उनकी विशेषता यही थी कि जैसा वह बोलते थे वैसा ही लिखते थे। आपको समयपर खूब सूझती थी। वैकुण्ठ-वासी बाबू बालमुकुन्द गुप्त जिस समय 'अनस्थिरता' शब्दके कारण 'भारतमित्र' में श्रीयुत पण्डित महावीर प्रसादजी द्विवेदीको दबोच रहे थे और द्विवेदीजी भी दबकते जाते थे उस समय मिश्रजीने 'हिन्दी बङ्ग-वासी'मे "आत्माराम की टें टें" शीर्षक लेखमालासे द्विवेदीजीका पक्ष समर्थन किया था और अच्छा किया था। कहनेवाले अब भी कहते हैं कि यदि मिश्रजी मैदानमें न आते तो द्विवेदीजी बेतरह दब जाते। इसका प्रमाण द्विवेदीजीके पत्र हैं जो इस संग्रहमें संगृहीत हैं।

मिश्रजी 'कादम्बरी' की शैलीकी एक पुस्तक हिन्दीमें लिखना चाहते थे जिसका श्रीगणेश 'कवि और चित्रकार' के नामसे उन्होंने किया भी था; पर शोक है वह उसे पूरा न कर सके और चल बसे ! यों तो मिश्र-जीका प्रत्येक प्रबन्ध पाण्डित्यपूर्ण और पठन मननके योग्य है; पर यह

'कवि और चित्रकार' पूर्ण हो जाता तो हिन्दी साहित्यकी विशेष श्री-वृद्धि होती।

वास्तवमें खन्नाजीने मिश्रजीका यह संग्रह प्रकाशित कर हिन्दी साहित्यका बड़ा उपकार किया है, इसमें सन्देह नहीं।

९०, सीताराम घोष स्ट्रीट
कलकत्ता।
आषाढ़ कृ० १२
सं० १९८२

जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी।

महा० पं० लक्ष्मणशास्त्रीजी द्राविड़का
उद्गार।

सारस्वत ब्राह्मणकुल तिलक कैलाशवासी पं० गोविन्दनारायण मिश्र महोदयके दूरसे ही दर्शन करनेका एकबार हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जिस समय प्रयागमें हिन्दी साहित्य सम्मेलनका द्वितीय अधिवेशन हुआ था उस समय उसके आपही सभापति थे। प्रयागसे सम्मेलन कार्य समाप्तकर जब आप काशी आये तब काशी नागरी प्रचारिणी-सभाके सदस्योंने आपको अभिनन्दन पत्र दिया था। उन दिनों मैं काशीमें ही रहता था और अनध्यायोंके दिन समाचार पत्रोंको पढ़ा करता था। बंगवासी में कुछ समय पूर्व प्रकाशित 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख माला मुझे बड़ी ही रोचक लगी थी और उस पाण्डित्यपूर्ण लेखके लेखक मिश्र महोदयके दर्शनकी लालसा बढ़ती जाती थी। जब मैंने नागरी प्रचारिणी सभावालोंके समारोह सहित मिश्र महोदयके स्वागत करनेकी बात सुनी तो अपार आनन्दका अनुभव हुआ। निश्चित तिथिको मैं भी उनके दर्शनके लिये समुत्सुक हृदयसे गया; किन्तु विलम्बसे पहुंचनेके कारण उनकी अमृतमयी वाणीको सुननेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका। केवल दूरसे ही उनके विशाल शरीर और सौम्य मूर्त्ति को देख अनुमान कर सका कि "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति"। अस्तु, लोचन लाभ सफल तो हुआ किन्तु उनके सत्संगकी लालसा अपरिसीम हो गयी।

कुछ काल पश्चात् मुझे कलकत्ता-निवास करनेका अवसर प्राप्त हुआ। उस समय मिश्रजी भी यहीं विराजते थे; किन्तु तथापि प्राय: डेढ़ वर्ष पर्यन्त उनसे साक्षात्कार नहीं हो सका। हां, स्थानीय विद्यानुरागियों तथा स्व० बा० रूड़मलजी गोयनका आदिके मुखसे उनकी भूरि २ प्रशंसा सुन दर्शन-लालसा अत्यन्त बढ़ती जाती थी।

एकबार स्थानीय मारवाड़ी ब्राह्मण सभाका अधिवेशन तत्कालीन-हरिसन रोडस्थ श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय भवनमें होना निश्चित हुआ था। उसमें सम्मिलित होनेके लिये मुझे भी निमन्त्रण-पत्र मिला था जिसमें मिश्रजीके सभापति-पदको विभूषित करनेकी बात लिखी थी। मेरे लिये यह परम सुखकर अवसर था। मैं अनेकों कार्य छोड़कर वहां गया।

वहां निर्मल सलिला भागीरथीकी अविरल धाराके समान मिश्रजी-की सुधासिक्त वाग्धाराको प्रायः दो घंटे तक सुन लेनेपर भी हृदय नहीं अघाया; क्योंकि वैसा सुन्दर, मधुर, लालित्यपूर्ण व्याख्यान सुनने-का इस जीवनका वह प्रथम अवसर था। उस दिन उन्होंने ऐसे अश्रुतपूर्व विचारोंका प्रतिपादन किया जिसे सुनकर बड़े २ विद्वान भी चित्रित चित्रकी भांति दिखने लगे और सभा भंग होते ही उनकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा करने लगे। भीड़ हटनेपर मैंने उनके निकट जाकर कहा--"पण्डितजी महाराज, बहुत दिनोंसे मेरी इच्छा थी कि आपके दर्शन करूं। परमात्माकी कृपासे वह आज पूरी हुई। अब एक कामना और शेष है। वह है आपका सत्संग। यदि आज्ञा हो तो अनध्या-योंके दिन सेवामें उपस्थित हो जाया करूं?" मेरी बातें सुनकर मिश्र जीने बड़े ही कोमल, मधुर एवं विनीत शब्दोंमें कहा—"मैं अपनेको धन्य समझूंगा यदि आप कृपाकर इस दीन दासकी कुटीमें पदार्पण करें।" ऐसे प्रकाण्ड विद्वान, प्रगल्भवक्ताके मुखसे ये बातें सुनकर मुझे बड़ाही आश्चर्य हुआ। यहीं हमारा मिश्रजीका प्रथम परिचय हुआ। उस दिनसे मैं अक्सर अनध्यायोंके दिन उनके यहां जाया करता था। वे भी जब बाहर निकलते थे तो कभी कभी मेरे घरकी ओर आनेकी कृपा किया करते थे। उनकी सेवामें उपस्थित होनेपर अनेकों प्रकारकी नयी प्रयोजनीय और गवेषणा पूर्ण बातें सुननेमें आती थीं। स्थानीय संस्कृत कालेजका इतिहास, नवद्वीप, भाटपाड़ा आदि स्थानोंके पण्डि-

ताका रहस्य आदि. कई ऐसी गुप्त बातें वे बतलाते थे जिन्हें दूसरे जानते भी नहीं।

जबसे हमारा उनका परिचय हुआ तबसे उन्होंने जितने लेख, निबन्धादि लिखे उन सबोंको हमें दिखाया और सम्मति पूछी। उनमें एक अद्भुत परम प्रशंसनीय गुण यह था कि यदि मैं कहीं भी आपत्ति करता तो वहां वे मेरे ही मनोऽनुकूल बना दिया करते थे। उनके निबन्धोंमे "कवि और चित्रकार" हिन्दी भाषाका एक अनूठा रत्न है। जिस प्रकार समुन्नत संस्कृत भाषामें कादम्बरी, वासवदत्तादि गद्यके सरस काव्य हैं। उसी प्रकार हिन्दीके उस अंगकी पूर्तिके विचारसे ही मिश्रजीने इसे लिखना आरम्भ किया था; किन्तु वह पूरा नहीं हो सका। यदि फिर उन्हींके समान कोई बुद्धिमान अवतीर्ण होकर प्रयत्न करे तो उसका पूरा होना सम्भव है। इसके प्रत्येक वाक्यसे उनके प्रगाढ़ पाण्डित्य और अद्भुत प्रतिभाका पता लगता है। वे केवल हिन्दीके ही नहीं, प्रत्युत् संस्कृतके भी प्रकाण्ड विद्वान थे। काव्य, नाटक, अलङ्कार, धर्मशास्त्रादिके अच्छे ज्ञाता थे। ऐतिहासिक गवेषणा पूर्ण खोजमे भी वे परम निपुण थे। 'सारस्वत सर्वस्व' इस बातका उज्वल उदाहरण है। वे जैसे अद्भुत विद्वान थे वैसे ही कट्टर धार्मिक थे। धर्मविरुद्धाचरण करनेवाले अपने परम प्रेमीका भी वे सहर्ष त्याग कर दिया करते थे। इस प्रकार धर्म-श्रद्धा और धर्माभिमान आजकल विरले ही किसी मनुष्यमें पाया जाता है। इधर कुछ दिनोंसे वे काशीवास कर रहे थे। श्री बदरीनारायणकी यात्रा करनेके केवल एक दिन पूर्व वहीं उनसे अन्तिम बार मुलाकात हुई थी। स्वास्थ्यके सम्बन्धमे मेरे प्रश्न करनेपर उन्होंने कहा "कष्ट किस बातका? यदि एक न एक दिन मरना ही है तो यह शरीर किस काम आयगा? जो कुछ उत्तम साधन इस शरीरसे हो सके उसे कर लेना चाहिये।"

यात्रासे लौटनेपर.वे बीमार होकर काशीसे कलकत्ते आये। यहां

उनके अनेक स्नेही और प्रेमी थे सही, किन्तु स्वर्गीय लाला छुन्नामलजी खन्नाके प्रति अपार प्रेम होनेके कारण उन्हींके यहां ठहरा करते थे और उक्त बाबू साहबके सुपुत्र श्रीमान् बाबू दामोदर दासजी खन्नाके साथ पुत्रवत् व्यवहार करते थे। बीमारीका समाचार पा बाबू दामोदरदास जी खन्ना (लाला बाबू) ने उन्हें काशीसे लाकर उनकी यथाविधि चिकित्सा करायी, किन्तु तौ भी मिश्रजी बच न सके। अनन्त चतुर्दशीके दूसरे दिन लाला बाबूके ही घरसे अनन्तके उस परम धामको चले गये जहांसे कोई लौटकर नहीं आता।

आशाकी जाती है कि इस संग्रहसे हिन्दी साहित्यका बड़ा उपकार होगा तथा कैलास-वासी मिश्र महोदयका भी नाम अटल रहेगा। इस कार्यमें उत्साह पूर्वक प्रवृत्त होनेवाले लाला दामोदरदास खन्नाको हम आन्तरिक धन्यवादके साथ आशीर्वाद प्रदान करते हैं। ये दीर्घ-जीवी तथा सपरिवार सुखसे रहते हुए लोकोपकारी कार्योंमें निरन्तर लगे रहें। जिस परमात्माकी कृपासे यह कार्य अनायाससे सम्पन्न हुआ उनके चरणारविन्दमें असङ्ख्य प्रणाम करता हुआ विराम ग्रहण करता हूं। इति।

विनयावनत,

मार्गशीर्ष कृष्ण २
गुरुवार
सं० १९८१

श्री लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़
श्री शिवकुमार भवन
९३-२ बैठकखाना रोड,
कलकत्ता सिटी।

श्रीगोविन्द निबन्धावली।



स्व० पं० गोविन्द नारायण
जन्म
कार्तिक शुक्ला तृतीया
सं० १९१६ वि०

स्व० पं० गोविन्दनारायणजी मिश्र

संक्षिप्त परिचय।

हमारे चरित नायकके पूर्व पुरुष पञ्चनद प्रान्तनिवासी जामदग्न्य वत्सगोत्रीय पंचप्रवर विशिष्ट कुमारीय (कुमड़िये) सारस्वत ब्राह्मण थे। उनमें अनेकों बड़े कर्मठ और प्रकाण्ड विद्वान होगये हैं। इस कारण उधर उनकी खासी प्रतिष्ठा भी रही है। पं० गोविन्दनारायण जीके प्रपितामह पण्डित गणपति मिश्रजीने सं० १८१३ वि० में अपनी वृद्धामाताको जगदीशदर्शन करानेके लिये लाहौरसे प्रस्थान किया था। चले तो थे उनके साथ अनेकों आदमी, पर अर्थाभावके कारण एक एक कर सभी बीचके तीर्थोंसे ही लौट गये। स्वस्थान छोड़नेपर कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थोंसे होते हुए वे आश्विनमें तीर्थराज प्रयाग पहुंचे। त्रिवेणी स्नान कर चुकनेपर काशी गये। वहां तीर्थ-पण्डेकी पुस्तकमें मिश्रजीने कार्तिक सुदी द्वादशी संवत् १८१३ वि० को अपने हस्ताक्षर किये।

काशीसे जगन्नाथपुरीके लिये प्रस्थान किया। उन दिनों वहां जाने-का मार्ग बड़ा बीहड़ था। अनेकों सघन वनों, पर्वतों और नद नदियोंको लांघते हुए वर्द्धमान होकर जाना पड़ता था। महीनों पैदल चलकर मिश्रजी वर्द्धमान पहुंचे। उस समय राजा तेजचन्द्र वहांके महाराज थे। मिश्रजीके मिलनेपर वे इनके पाण्डित्य, विशेषकर ज्योतिषज्ञानपर मुग्ध होगये और मिश्रजी जैसे दिग्गज विद्वानसे अपनी सभाको अलंकृत करनेकी अभिलाषासे प्रचुर सम्पत्ति तथा स्थायी वृत्ति प्रदान करनेकी इच्छा प्रकट की; किन्तु मिश्रजीको वह वृत्ति और मान न लुभा

सके। इससे महाराज उनसे मन कुण्ठित हुए। मिश्रजी उनसे बिदा हो जगदीश दर्शनकर सीधे काशी लौट गये और महाराजके कई बार बुलानेपर भी वहां नहीं आये। काशीमें ही उनका स्वर्गवासहुआ।

संवत् १८५७ वि० में उक्त मिश्रजीके पुत्र पं० लक्ष्मीनारायणजी मिश्र वर्द्धमान आये। वे भी अपने पिताके समान ज्योतिषशास्त्रके ज्ञाता थे। महाराजने उन्हें सभा पण्डित बना लिया। महाराज मिश्रजीके गुणोंपर मुग्ध थे। इसी कारण मिश्रजीको, इच्छा न रहते हुए भी, महाराजके अनुरोधसे वर्द्धमानमें दस वर्ष रहना पड़ा।

लक्ष्मीनारायणजीकी प्रथम पत्नीसे कोई सन्तान नहीं थी। इस-लिये काशीमें ही इसबार उन्होंने पण्डित निका मिश्रजी भिंगणकी कन्यासे अपना विवाह किया और वर्द्धमान महाराजके कईबार बुलाने-पर फिर संवत् १८७१ वि०में वहां चले आये। वहीं इस नयी पत्नीसे तीन पुत्र हुए। सबसे बड़े पण्डित जयनारायणजी थे, जिन्होंने सबसे पहले रानीगञ्जकी कोयलेकी खानोंका पता लगाया था और सबसे छोटे हमारे चरितनायकके-पिता पण्डित गङ्गानारायणजी थे।

पण्डित गङ्गानारायणजीको शिक्षा-दीक्षा कलकत्तेमें ही हुई थी। बङ्गालके प्रसिद्ध नेता 'हिन्दू पैट्रियट' के सम्पादक स्व० राय कृष्णदास पाल उनके सहपाठी और मित्रोंमें थे। शिक्षा समाप्तकर उन्होंने अङ्ग-रेजी आफिसोंकी दलाली आरम्भ की। उन्हींके घर संवत १९१६ वि०—की कार्तिक शुक्ला तृतीयाके शुभ मुहूर्त्तमें हमारे चरितनायक पं० गोविन्दनारायणजीका जन्म कलकत्तेमें ही हुआ।

प० गङ्गानारायणजीको देववाणी संस्कृतभाषासे अनुराग था। अतः पुत्रको संस्कृतकी शिक्षा देनेके विचारसे उन्होंने काशीसे एक महाराष्ट्र पण्डितको बुलवाया और चार वर्ष तीन मास तीन दिनकी अवस्थामें माघ शुक्ला पञ्चमीको गोविन्दनारायणजीको अक्षरारम्भ कराया गया। वे बड़े कुशाग्र-बुद्धि थे। घरपर हो उन्होंने उस महा-

राघव पण्डितसे अमरकोष, अष्टाध्यायी, मुहूर्त्त चिन्तामणि, यजुर्वेद संहिता आदि ग्रन्थ पढ़े। प्रायः पांचवर्ष की अवस्थामें संवत् १९२१ वि०में वे कलकत्ता संस्कृत कालेजमें भर्त्ती किये गये और घोड़ेपर सवार होकर वहां जाया करते थे। उस समय तृतीय श्रेणीमें ही किरातार्जुनीय रघुवंश, शाकुन्तल, आदिकी पढ़ाई हो जाती थी। कालेजके संस्कृताध्यापक प० राममय तर्कालङ्कार मिश्रजीकी स्मरण शक्ति और अध्ययनशीलता देखकर उनसे बहुत स्नेह करते थे। तर्कालङ्कार महाशय स्वयं अच्छे कवि थे। इसलिये मिश्रजी भी उनकी कृपासे उन्हीं दिनों सुन्दर सरस संस्कृत कविता करने लग गये थे। क्लासमें सर्वश्रेष्ठ छात्र बने रहनेकी उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा थी और ईश्वरने छात्र जीवनकी उनकी वह प्रतिज्ञा पूरी की भी। बाल्यावस्थासे ही उनके नेत्रोंमें कुछ विकार था। इसपर भी पढ़ने लिखनेमें विशेष ध्यान देख तर्कालङ्कार महाशयने एक बार कहा था कि "ईश्वर न करे कि तुम किसी रोगसे पीड़ित हो जाओ।" दैवात् यह बात सच निकली। द्वितीय श्रेणीमें पहुंचनेपर उस नेत्र विकारने भयङ्कर रूप धारणकर लिया। उनके पिताने हजारों रुपये व्यय किये; किन्तु कुछ विशेष फल नहीं हुआ। अन्तमें डाक्टरोंकी सम्मतिसे उन्हें कालेज छोड़ देना पड़ा और कुछ दिनोंतक आंखपर पट्टी बांधे बागमें निवास करना पड़ा। तथापि नेत्रोंका विकार आजीवन बना ही रहा। उनमें कुछ आराम मालूम होनेपर उनका अध्ययनक्रम पुनः प्रारम्भ हुआ। उसी क्रममें उन्होंने प्राचीन हिन्दी साहित्य, प्राकृत, व्याकरण, संस्कृत और उच्चकोटिके अँगरेजी-ग्रन्थोंका अनुशीलन किया। इस अध्ययन क्रमका अवसान उनके जीवनावसानके साथ ही हुआ। इन्हीं दिनों मिश्रजीका प्रथम विवाह प्रायः पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें कलकत्तेमें ही हुआ था। इस पत्नीसे तीन पुत्र और पांच कन्याएं भी हुई थीं; जिनमें दो पुत्र तो शैशवावस्थामें ही पञ्चत्वको प्राप्त होगये थे। विवाहके प्रायः चार वर्ष

बाद पिताका स्वर्गारोहण होगया और तबसे कुटुम्बका समस्त भार उन्हींपर आपड़ा।

मिश्रजी जिस विषयको एकबार पढ़ जाते थे, उसपर तो उनका अधिकार सा हो जाता था। यहांतक कि वार्तालापमें मैक्समूलर, हक्सले, लो० तिलक आदि विद्वानोंकी पुस्तकोंका अवतरण देते समय वे संस्करण, पृष्ठ तथा पंक्ति तकका निर्देश कर दिया करते थे। आरम्भिक शिक्षा महाराष्ट्र पण्डितसे पानेके कारण उन्होंने मराठी भाषामें अच्छी अभिज्ञता प्राप्त कर ली थी। पंजाबी भाषासे तो पैतृक सम्बन्ध था ही, गुजराती आदि कई देशी भाषाओंमें भी अच्छी गति थी। बंगला तो मानो उनकी मातृभाषा सी होगयी थी। उसे वे बंगालियोंके समान ही बोलते थे।

बहुभाषाभिज्ञ होनेके साथ ही मिश्रजी संगीत, गणित तथा आयुर्वेदिक चिकित्सा शास्त्रके भी अच्छे जानकार थे। धीमे स्वरसे वे मधुरालाप किया करते थे। कविताओंके सुननेका सच्चा आनन्द उनके ही मुंहसे सुननेमें आता था। गणितके कठिनसे कठिन प्रश्नको भी वे चुटकियां बजाते ही बता देते थे। क्षयरोगकी उनकी अपनी आविष्कृत एक ऐसी अद्भुत औषधि थी जो स्थायी लाभ पहुंचाती थी।

पं० गोविन्द नारायणजीके फुफेरे भाई पं० सदानन्दजी मिश्रने सन् १८७६ ई० (ता० १३ अप्रैल) में * "सार सुधानिधि" नामक साप्ताहिक

---

* उक्त पत्र बारह वर्ष बाद बन्द हो गया था। उसका मङ्गलाचरण निम्न प्रकार किया गया था :— —लेखक

श्रीहरि-चरण-प्रसाद तें, जगमग जगत-प्रसिद्ध।
अक्षर नभ शुभ शरदमें, 'सारसुधानिधि' सिद्ध।
'सारसुधानिधि' सिद्ध, 'शम्भु' 'दुर्ग' श्रुति शारद।
गणपति गणपति ब्रह्म, ब्राह्मबुध बुद्धि विशारद।
गणपति गणपति सूर्य्य, सुरसवर देहिं विजय श्री।
नमो ओम् 'गोविन्द', 'सदानन्द' मङ्गल जय श्री। आदि।



श्रीगोविन्द निबन्धावली ।



'उचितवक्ताके' सर्वस्व—
स्व० पं० दुर्गा प्रसादजी मिश्र ।

पत्र निकाला। उसमें वे भी साझीदार रहे और सहायक सम्पादकका कार्य करने लगे। उक्त पत्रमें भारतमित्रके आदि संयुक्त सम्पादक स्वर्गवासी पं० दुर्गाप्रसादजी मिश्र भी संयुक्त सम्पादकका कार्य करते थे और व्यवस्थापकका कार्य पं० शम्भूनाथजी मिश्र किया करते थे। पं०गोविन्द नारायणजीने मतभेद होनेके कारण एक वर्ष बाद साझा छोड़ दिया; किन्तु लेखादिसे सहायता करते रहे। कभी कभी तो समस्त पत्र साद्यन्त उनको ही सम्पादन करना पड़ता था, जिस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यको वे उस अल्पवयसमें ही बड़ी योग्यतापूर्वक करते थे। एक स्थलपर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेमें पण्डित सदानन्दजी मिश्रने सारसुधानिधिके प्राय: तीन कालम * रंग डाले हैं। ये उनसे बड़ा प्यार करते थे।

'सारसुधानिधिके' अतिरिक्त वे तत्कालीन 'उचितवक्ता' जिसके सर्वस्व पं० दुर्गाप्रसादजी मिश्र थे, तथा "धर्मदिवाकर" में भी लेख लिखा करते थे। उनके लेख बड़े चावसे पढ़े जाते और आरम्भसे ही गम्भीर अनुशीलन तथा पाण्डित्यके परिचायक होते थे।

मिश्रजीकी इच्छा थी कि ऐसी पुस्तकमाला प्रकाशित की जाय जिसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति अक्षरारम्भसे अच्छा साहित्य ज्ञान लाभ-कर सके। इसी विचारसे उन्होंने संवत् १९३६ विक्रमीमें 'शिक्षा-सोपान' नामक पुस्तक-माला प्रणयन प्रारम्भ किया था, जिसके दो भाग तो उन्हीं दिनों प्रकाशित होगये; पर शेष पांच भाग, जिनका विषय-निर्वाचन उन्होंने मन ही मन कर लिया था, अलिखित और अप्रकाशित ही रह गये। उन प्राथमिक दोनों भागोंको लोगोंने इस प्रकार अपनाया और पसन्द किया कि अबतक उनके बीसियों संस्करण हाथों हाथ निकल गये हैं। 'शिक्षासोपान' तत्कालीन सभी प्राथमिक पुस्तकोंसे अधिक उपादेय समझा गया था।

---

* सारसुधानिधि ता० १९ मार्च सन् १८८२ पृष्ठ ५५४

इस पुस्तकके लिखनेके पूर्व ही मिश्रजीने "कवि और चित्रकार" नामक हिन्दीभाषाकी गौरव-वर्द्धक-रचना आरम्भ की थी। उनका विचार था कि हिन्दीमें संस्कृतकी 'कादम्बरी' की कोटिका ग्रन्थ लिखें, किन्तु जितना अंश आरम्भमें लिखा गया था, वही पड़ा रह गया। उसके बाद एक अक्षर भी नहीं लिखा गया और वह अमूल्य रचना अपूर्ण ही रह गयी। यही रचना मिश्रजीकी आदि एवं बाल-रचना है। गद्य ही नहीं, प्रत्युत् पद्य भी वे उसी प्रकार सुन्दर, सरस और भाव विशिष्ट उच्चकोटिका लिखा करते थे, किन्तु उनकी पद्य-रचना दुर्भाग्यवश आज ढूंढ़नेपर भी नहीं मिलती। माधुरीमें प्रकाशित निम्नोद्धृत "गुरुजन वन्दना" शीर्षक कविता ही हमें मिली है, जिसे उन्होंने मुंगेर प्रान्तस्थित योगीपुरा निवासी स्वामी नारायणानन्द सरस्वतीके निकट बैठे बैठे ही उन्हींकी स्तुतिके रूपमें रची थी। उन्हें वे गुरुके समान मानते थे। मिश्रजी उनके यहां प्रायः जाया करते थे।

'गुरुजन-वन्दना'

उर धरु जुगल पद जलजात।
अखिल ब्रह्मानंद-रसनिधि बीचि-बीच लखात।
बहत त्रिगुणसुगंध वह शुभ लहरि सरस सुहात;
भवतरनके करन कारन पोत जुग दरसात।
परमहंस सरस्वती श्रीस्वामि आनद कंद,
योगिराज प्रसिद्ध सिद्ध अकाम पूर्णानंद।
अति मनोहर कांति कांत प्रशांत तेजः पुंज,
किधौं बपुधरि अवतर्‍यो भुविदहन कलिमल-कुंज।
हरिहरात्मक परम ईश्वर सकल कला समेत;
लखहु प्रगट्यो आप कलिमें धर्म-थापन हेत।
नित रमाकर कंजसेवित अमल कल पद-कज,
भूरि भागि सुभक्त परसैं सकल कलुष प्रभंज।
भवभँवरसे छूटि लूटैं भक्तभौंवर अथाह,
अमिय प्रेम सुमधुमधुर मकरंद नित अवगाह।

ॐ

पूज्य स्वामि नृसिंह लालित कल्प पादप एह,
सकल मनवांछित फलद सुमसेव्य सहित सनेह।
कबहुं बालमुकुंद बालस्वरूप सुछवि अमंद
लखि नयन मन सुतन जन निज सुफल करत अनंद।
कबहुं शशधर मुकुट बाघम्बर दिगंबर रूप,
निरखि लहहिं सुचारु फल नहिं परहिं नर भवकूप।
जे सुनहिं गावहिं मुदित मन ह्वै प्रेम पुलकित गात,
विपुल, धन, जन, सौख्य, सन्तति आदि सुख नित हात।

स्व० गोविन्द नारायण मिश्र

('माधुरी' वर्ष २, खण्ड १, संख्या ४)

उक्त स्वामीजी भी मिश्रजीके प्रति प्रेम रखते और उनके पाण्डित्य-की भूरि भूरि प्रशंसा करते थे।

'शिक्षा-सोपानके' प्रकाशित होनेके प्रायः २१ वर्ष बाद फिर मिश्र-जी साहित्य-क्षेत्रमें एक गम्भीर गवेषणा पूर्ण पुस्तक लेकर अवतीर्ण होते हैं। यह है 'सारस्वत सर्वस्व' जो सम्वत् १९६० विक्रमीमें प्रकाशित हुआ। इस पुस्तकके प्रकाशित होनेके प्रायः चार वर्ष पूर्व प्रथम पत्नी-वियोग, तीन वर्ष पूर्व पुत्र वियोग और दो वर्ष पूर्व मातृ-वियोग-की असह्य वेदना उन्हें वज्र-हृदयसे सहनी पड़ी थी। उक्त पुस्तकके सम्बन्धमें वे स्वयं कहा करते थे कि पुत्रके परलोकवासी होनेपर उन्हें सारा संसार अन्धकारमय दिखने लगा। अपने जीवनसे भी निराशा होगयी। जब किसी भी कार्यमें मन न लगा तब व्याकुलताके उन्हीं दिनोंमें उक्त ग्रन्थ लिख कर केवल एक सप्ताहमें प्रकाशित कराया गया। इस प्रकार 'सारस्वत सर्वस्व'के प्रकाशित होनेके समय तक सांसारिक विपत्तियोंने मिश्रजीके व्यथित हृदयको कुचल डालनेमें तनिक भी कसर न उठा रखी। जब घर एकदम सूना होगया और पुत्र सन्तान एक भी न बची रही तब अपनी मौसीके बहुत दबाव डालनेके कारण इच्छा न रहते हुए भी उन्हीं दिनों उन्हें द्वितीय विवाह करना पड़ा। इस

तरह सारस्वत सर्वस्वकी रचना उनके जीवनकी अविस्मरणीय स्मृति है। द्वितीय पत्नीसे भी उन्हें दो पुत्र और तीन कन्याएं हुई थी ; पर दुःखकी बात है कि इस समय केवल कन्याएं ही जीवित हैं।

विनयोंसे विवश किये बिना मिश्रजी कभी कुछ लिखते नहीं थे। सारस्वत सर्वस्व प्रकाशित होनेके पश्चात् उन्होंने तो लिखनेका विचार ही त्याग दिया था; पर फिर भी लेखनी उठानी ही पड़ी, वह भी बहुत अनुनय विनय करने पर। जिस समय सन् १९०५-०६ ई० में "भारतमित्रके" तत्कालीन सम्पादक बाबू बालमुकुन्दजी गुप्त सरस्वतीके तत्कालीन सम्पादक पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदीके "भाषाकी अनस्थिरता" शीर्षक लेखकी बड़ी कड़ी आलोचना 'आत्माराम' के नामसे करने लगे थे, उस समय अनेकों हिन्दी-लेखक गुप्तजीका ही पक्षसमर्थन करते थे। गुप्तजी जैसे तीव्र समालोचकके विरुद्ध किसी हिन्दी-लेखकको लेखनी उठानेका साहस नहीं होता था। अन्तमें पं० शिवदत्तजी शर्म्मा आदि कई सज्जनोंके विशेष आग्रह और अनुरोधके कारण मिश्रजी उस आलोचनाकी प्रत्यालोचना बंगवासीमें "आत्मारामकी टें टें" शीर्षक लेखमालामें करने लगे। उस लेखमालासे द्विवेदीजीको कितना सहारा मिला और उनका कैसा उपकार हुआ वह उन्हींके शब्दोंमें हम ज्योंका त्यों यहां पाठकोंके अवलोकनार्थ दिये देते हैं। द्विवेदीजीके पत्रोंको पढ़कर विज्ञ पाठक स्वयं ही उस समयकी वास्तविक परिस्थिति समझ जायंगे। अन्यत्र प्रकाशित मिश्रजीकी आत्मारामकी टें टें शीर्षक लेखमालासे उनकी समालोचना-शक्ति तथा आमोद-प्रियताका भी सहज ही पता लग जाता है। प्रत्यालोचनासे गुप्तजीको एकदम चुप होजाना पड़ा था।

पत्र नं० १

गाहितमखिलं गहनं, परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
सहकारं न प्रपेदे मधुपेन भवत्समं जगति।

जुही, कानपुर
१५-२-०६

महावीर प्रसाद द्विवेदी

इसके उत्तरमें मिश्रजीने जो कुछ लिखा था वह इस प्रकार है।

२३-२-०६ई०

कलकत्ता

यदि तव दपिनस्सहजस्सहकार: प्रीतिस्तदामधुप।
पश्यसि विटपि न इतरान्, अले! मृषाकिम्मुहुर्गु ञ्जनं? ॥१॥

स एव सहकारः।

पत्र नं० २

प्राप्य त्वदीयां नव-फुल्ल शाखां
वृक्षान्तरं प्राप कदापि नालिः।
अस्त्वयास्मिन् सहकार नित्यं
निजानुरागः सुखदो विधेयः ॥१॥
या मञ्जरी ते सविधेऽस्ति तस्य
तस्याभयं यद्द्रवमाचकार।
दोषाय तत् किं कथाय त्वमेव,
प्रीतिप्रसादः स तवैव नो किम्? ॥२॥
शाखिनो बहवः सन्ति रसकारास्तथैव च।
मधुपाय विहायाम्रं तरुरन्यो न रोचते ॥३॥

जुही, कानपुर
२५-२-६ } महावीर प्रसाद द्विवेदी।

पत्र नं० ३

जुही, कानपुर
४ मार्च ०६

मधुपाधार सहकार-शिरोमणे,

आपके प्रेमामृत-सिञ्चित पत्र को पाकर परमानन्द हुआ।

)

आशा है आप के पीड़ित परिजन ने अबतक पूर्ण आरोग्य लाभ किया होगा।

आप ने अपने सौजन्य, गुणग्राहकत्व, न्याय-शीलत्व, भाषा-प्रेम और विद्वत्व से हम को ही नहीं, जहांतक हम जानते हैं सभी हिन्दी के पाठकों को मोह लिया है। आप की एक एक उक्तियों को पढ़कर तर्क प्रणाली रूप आप के खर तर खड्ग की धारा को देखकर परोत्कर्षा सहिष्णु अज्ञ अहंमानी जनो पर आप की भैमी गदा के प्रहारों का प्रकार बार बार स्मरण करके हमारी वह हालत हो रही है कि हमारा मन ही जानता है। वह स्वसंवेद्य है। कही नही जासकती। हमें अफसोस इस बात का है कि आप ऐसे महानुभाव महात्माओं से हम अभीतक अपरिचित रहे। हम ने समझ लिया था कि हिन्दी जाननेवालों और हिन्दी लिख सकनेवालों में न्याय का नाश होगया, पाण्डित्य डूब मरा, गुणग्राहकता अस्त होगई, लेखन शक्ति का उच्छेद हो गया; पर अन्त मे आप ने हमारे इस नैराश्य पूर्णभ्रम को दूर कर दिया—धन्यो भवान्।

आप ने हमें जो उत्साह वर्द्धक वाक्य लिखे वह आप की सुजनता और हम पर आप की सहज कृपा का फल है। हम-जानते ही क्या हैं? जो कुछ बनता है आप ही सदृश विद्वानों के प्रसाद से उत्साहित हो कर कर देते हैं। इसीलिये हम ने दास्य-शृंखला को तोड़कर एकान्तवास स्वीकार किया है और "चना चबेनी पर" जीवन निर्वाह करने का प्रण कर लिया है। इस प्रण का निर्वाह आप ही ऐसे महात्माओं के आशीर्वाद पर अवलम्बित है। आप के आशीर्वचनों को हम शिरसा धारण करते हैं।

आप की पुस्तक का हवाला देकर जो कुछ जल्पना हुई है,

उस का प्रसाद तो जल्पनाकार को जरूर ही चखने को मिलेगा, पर हमें उसे पढ़कर सख्त परिताप हुआ है। अपवाद के उदाहरण देखकर साधारण नियम को दूषित ठहराना मूर्खता की पराकाष्ठा होगई। मनुष्य भ्रान्तिशील है। हम से प्रायशः प्रमाद होते हैं। यथा सम्भव हम उन्हे दूर करने के लिए सदा सचेष्ट रहते हैं। बङ्गवासी के लेख को हम ध्यान से पढ़ते हैं, शिक्षाएं लेते हैं और उस की बातों को ध्यानमें रखते हैं।

जान पड़ता है संसार में कृतज्ञता का बीज ही नष्ट होगया—अन्यथा जिस की हम ने बरसों मदद की वह क्यों अकारण हम पर ऐसा अन्याय करता। हम समालोचना के प्रतिकूल नहीं। हम तो चाहते हैं कि समालोचना हो। पर क्या प्रलाप, कुचेष्टा, कुत्सा और असार बक (बाद) भी कोई समालोचना है ?

नाम प्रकाश की क्या जरूरत ? पर सूर्य का प्रकाश कहां नहीं जाता ? वह छिप नहीं सकता। इस सप्ताह दो एक चिट्ठियां हमारे पास आई हैं जिन में कहीं प्रकाश और कहीं अप्रकाशभाव से आप का नाम है।

आप अपने पूर्वाभ्यस्त मौनभाव को हिन्दी पर सकृप होकर कुछ समयतक और भङ्ग (?) किये रहिये। इस की जरूरत है। इस से क्या होगा कि इन दिवान्ध द्विजों को फिर दो चार वर्ष तक दिन को मुंह दिखाकर घूत्कार करने और बेचारी निर्जीव हिन्दी को खाक में मिलाने का साहस न होगा। इन के कारण स्कूल में पढ़ी हुई आज २२ वर्षकी छूटी उर्दू-फारसी को हमें फिर से नया करना पड़ा है— महीने दो महीने में हम यह दिखलाना चाहते हैं कि उर्दू के आचार्य इस भ्रष्ट व्याकरण विरुद्ध और अस्वाभाविक भाषा को कैसा समझते हैं।

आशा है आप अपनी इस अकारण कृपा को सदा एकरस हम पर बनाये रहेंगे।

विनयावनत

महावीर

पत्र नं० ४

दौलतपुर, डाकघर भोजपुर

रायबरेली

ता० १३-३-०६

प्रिय महोदय,

आप का दयालुताप्रदर्शक पत्र हमें यहां कल मिला-ग्रामीणों की संगति में नूतनता लाने के लिये हम होली के अवसर पर यहां आगये हैं।

२० मार्च को..................लौट...................।

आप ने अपने विषय में जो कुछ लिखा समुचित लिखा—आप को अपने मुख से ऐसा ही कहना चाहिए "शीभारवती विद्या भ. ते कामपिश्रियम्।" आप के गुणों का अभिनन्दन करना हमारा काम है, पर खेद का विषय है, अभिनन्दन कर्त्ताओं की संख्या बहुत ही कम है—उन का प्राय: अभावही समझिए—इस अभाव का कारण सुशिक्षा, सुरुचि और सुविद्या का अभाव है, देखें यही दशा रहती है या कभी हिन्दी के भी दिन पलटते हैं।

आपका और अंगरेज़ी दार्शनिक हर्वर्टस्पेन्सर का हृदय एक जान पड़ता है। उस दिन हम स्पेन्सर की एक किताब पढ़ रहे थे—उसमें उसने लिखा है कि मनुष्य को अपना एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देना चाहिए:क्योंकि जीवन बहुत थोड़ा है और ज्ञेय विषयों की संख्या अपरिमेय, गणनातीत! हां, जैसे पौराणिक काल में लोग सहस्र वर्ष जीते थे वैसा ही यदि इस समय भी होता तो बात दूसरी थी। ठीक यही बात आप ने भी लिखी, इसी से हम कहते हैं कि आप की विचारशक्ति और स्पेन्सर की तुल्य है।

आत्माराम के प्रलापों से हम खिन्न नहीं। हमारी खिन्नता का कारण समझदार लेखकों का मौनावलम्बन है। हम ने फरवरी की सरस्वती में जो... ..किया उस का कारण केवल यह है कि और लोग कुछ का कुछ न समझ जायं। हितवार्त्ता में किसी समझदार महात्मा ने यह स्पष्ट कह दिया कि हमारे···· का कारण यही अनुमान किया जा सकता है कि हमारे पास कोई उत्तर नहीं।

आप के लेख ने बड़ा काम किया। देहात तक में उस की धूम है। यहां कई जगह बंगवासी आता है।·········उसे बड़े चाव से पढ़ते हैं और आप के लेख की प्रशंसा करते हैं। जब नीरस और मूर्ख-प्राय ग्रामीणों की यह दशा है तब औरों की क्या कहना? आप के लेख ने आप का उद्देश्य पूर्ण कर दिया।

अधिकरण चिन्ह के विषय में आप ने जो कुछ कहा हम उस का पूर्णतः अनुमोदन करते हैं। "को" अधिकरण का चिन्ह त्रिकाल में नहीं हो सकता। हम आप को लिख चुके है कि अपवाद भूत नियमों से साधारण नियमों में बाधा नहीं आ सकती। यदि ऐसा होता तो व्याकरण की जटिलता सर्वतोभाव से जाती रहती और व्याकरण का कलेवर कटकर चौथाई ही रह जाता।

और हम क्या विनय करें—कृपा बनाये रखिए, अपने आशीर्वाद का पात्र हमें समझते रहिए—यही प्रार्थना है।

विनयावनत

महावीर

पत्र नं० ५

कानपुर

परमप्रिय पण्डितजी,

१७-३-०६ ई०

नये बंगवासी में नो आप ने व्याकरणाचार्य की आचार्यता बिलकुल ही धो डाली, ये इसी के पात्र हैं। धन्यो भवान्, धन्यश्च पण्डितवरः श्रीशिवदत्त शर्म्मा।

शायद दो एक दिन में इधर की भी कुछ बातें आप को सुनने को मिलें। एक चिट्ठी से मालूम हुआ—लेख कम्पोज होरहा है, वचन दिया गया है कि और भी इसी तरह होता रहेगा, पर इस दफा इस नई लेखमाला पर आप ने कुछ नहीं कहा—आशा है अगले अंक में स्पेन्सर को कुछ चासनी चखने को जरूर मिले—यह शिवदत्तजी को उभाड़ रहा है कि आप अब कुछ न बोलें। यही दवा वेंकटेश्वर को देकर उसे ....सिर्फ की है न हम आप को सिर्फ भारविकी उक्तिका स्मरण कराते हैं—दो एक शब्द सिर्फ इधर उधर बदल देते हैं—द्रौपदी युधिष्ठिरसे कहती है, :—

विहाय शान्तिं बुधधाम तत्पुनः

प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम् ?

व्रजन्ति शत्रूनवधूय निस्पृहाः

शमेन शान्तिं मुनयो न पण्डिताः ।१।

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः

सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।

भवादृशाश्चे दधिकुर्वते रतिं

निराश्रया हन्त-हता मनस्विता ।२।

अथ क्षमामेव निरस्त विक्रम !

श्चिराय पर्य्येषि सुखस्य साधनम् ।

विहाय वाग्देवत लक्ष्म लेखनीं

जराधरः सन् जुहुधीह पावकम् ।३।

न समय परि-रक्षणं क्षमन्ते

निकृति परेषु परेषु भूर्य धाम्नः ।

अरिषुहि विजयार्थिनो बहुशः

विदधाति सोपधिसन्धि दूषणानि ।४।

व्याकरण विचार पर राघवेन्द्र सम्पादक एक लेख (लिख) रहे हैं। वे प्रस्ताव करना चाहते हैं कि इस बात के विचार के लिये एक सभा की जाय। तथास्तु,

वशम्वद
महावीर

पत्र नं० ६

कानपुर
११-४-०६

परम प्रिय पण्डितजी,

आज एक पोस्टकार्ड काशी से हमारे पास किसी का आया है. उसमें लिखा है, ...

"कृपाकर सम्पादकीय पद पर इस समय पदाघात न कीजियेगा।"

"गुप्त पत्र पाठक"

न मालूम इसका क्या मतलब है। हम ने कहा आप को इस की सूचना दे दें। गुप्ताजी के चिरंजीव काशी—मिर्जापुर गये थे, शायद उन्हों ने वहां कोई लीला रची हो। क्या हम चिड़ियां हैं जो ये लोग हमारा गला घोंट देंगे।

वशम्वद
महावीर प्रसाद

पत्र नं०७

कानपुर
२१-४-०६

प्रियवर पण्डितजी,

प्रणामानन्तर निवेदन यह है कि १८ तारीख का आप का कृपा पत्र आया। आप की कन्या की बीमारी का हाल पढ़कर

... ... चिन्हित स्थानोंके अक्षर अस्पष्ट होनेके कारण नहीं पढ़े जाते।

श्यामसुन्दर द्विवेदी

खेद हुआ। ईश्वर करें वह शीघ्र ही आराम हो जायं। प्लेग की कुछ न पूछिए, हम शहर से तीन मील दूर रहते हैं—पर हमारे यहां भी आस पास की बस्तियों में आदमी धड़ाधड़ मर रहे हैं। अभी तक तो हमारे अहाते में कुशल है—पर कितने दिन—बहुत संभव है शीघ्र ही हमारे स्थान पर भी उसका धावा हो।

आप इस तरफ आइएगा—तो अवश्य दर्शन दीजियेगा। यदि दो चार घंटे के लिए भी ठहरना न हो सके तो पहले सूचना दीजिएगा। और अपना हुलिया लिखिएगा जिसमें हम स्टेशन ही पर आकर मिल लें। हमारे मित्र बाबू सीताराम को शायद आप जानते होंगे। वे कहते हैं उन का आप से परिचय एक दफा हुआ है। उन को भी स्टेशन पर लेते आवेंगे जिस में आप को ढूढ़ने में अधिक समय नष्ट न जाय।

बंगवासी में लेख देने के विषय में आप को जो उचित और न्याय समझ पड़े कीजिए। मोहिनीवाले एक लेख छापकर चुप हो गये—२० अप्रैलके अङ्क से नई लेखमाला निकालनी चाहिए थी सो वह अङ्क ही आज नहीं आया—बहुत सम्भव है,मायाजाल की महिमा यहां भी पहुंच गई हो। अस्तु,

शिक्षासोपान के आने से आप के सूचित विषय का हम सानन्द विचार करेंगे। आप कितने दिन के लिये अमृतसर जाइएगा? जाने से तो हमारे आत्माराम के लिये प्रलाप करने का रास्ता बिलकुल ही साफ हो जायगा।

अच्छा अदि मोहिनी न छापे तो हमारे पास जो ४-५ लेख "हिन्दी में आलोचना" के उत्तर में हैं वे आपको भेज दें या यदि उनके छपने की उम्मेद हो तो वाली वाला 'बंगवासी' को भेजदें? वे लेख बाबू सीताराम के हैं।

वशम्वद।
महावीर

भाषाकी अनस्थिरताके झगड़ेके कई वर्ष बाद पं० सखाराम गणेश देउस्करने विभक्तिका प्रश्न उठाया। उन्होंने एक पत्रद्वारा पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदीसे पूछा कि अन्य भाषाओंमें तो शब्दोंके साथ विभक्तियाँ लिखी जाती हैं और हिन्दीमें भी कुछ लेखक साथ ही लिखते हैं; पर आप इसके विरुद्ध बीचमें (') कामातक लगा देते हैं, इसका कारण क्या है? द्विवेदीजी तो मौन रहे, पर इसपर समाचार पत्रोंमें जो लिखा-पढ़ी हुई उस प्रसंगमें पं० गोविन्दनारायणजीने "हितवार्त्ता" पत्रिकामे बड़ी विज्ञता पूर्ण लेखमाला लिखी। हिन्दीका घनिष्ठ सम्बन्ध संस्कृत और प्राकृतसे ही है। इसलिये इसके बाद पण्डितजीने "प्राकृत विचार" शीर्षक दूसरी लेखमाला "हितवार्त्तामें" ही निकाली। इन दोनों लेखमालाओंके प्रकाशित करानेका श्रेय स्वतंत्र सम्पादक पं० अम्बिका प्रसाद्जी बाजपेयी तथा तत्कालीन 'हितवार्त्ता' सम्पादक पं० बाबूराव विष्णु पराड़करजीको ही है; जो लेख लिखाकर बराबर लेजाया करते थे। 'विभक्ति विचार' लेखमाला तो बहुत लोगोंके अनुरोध करनेपर संवत् १९६८ वि० में प्रथमबार पुस्तकाकारमें प्रकाशित की गयी, पर 'प्राकृत विचार' अबतक योंही पड़ा रहा।

उक्त दोनों युक्ति एवं पाण्डित्यपूर्ण लेखमालाओंका लोगोंपर इतना प्रभाव पड़ा कि समस्त हिन्दी जगतने मिश्रजीको व्याकरण तथा साहित्यका आचार्य मुक्तकण्ठसे स्वीकार कर लिया। विवादोंमें लोग प्राय: उनकी सम्मतिकी बाट जोहा करते थे। निम्नोद्धृत दो पत्र उनके व्याकरण तथा साहित्यज्ञान-गौरवका स्वत: परिचय दे देते है।

श्री:

बड़ीपियरी, काशी

आ० कृ० ७।७४

पूज्यवर, प्रणामा:

मैं स्वयं सेवामें उपस्थित तो न होसका; किन्तु श्रावण चढ़े

आज सात दिन होगये। मुझे आशा है कि कमसे कम हिन्दी व्याकरणके ७ पृष्ठ तो लिख ही गये होंगे। इस विषयमें कुछ विशेष कहना नहीं है,केवल फिरसे याद दिलाता हूं कि हिन्दी पढ़नेवालों-के पास कोई व्याकरण नहीं है और आपके सिवा दूसरा इस अभावको दूर करने वाला नहीं है। अतः आप यदि देर करेंगे तो क्या कोई अन्य उपाय वा साधन है? मुझे निश्चय है कि नहीं है।

आपका दास

राम दास गौड़

—०—

जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी

१०३ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट
कलकत्ता
मिती का० कृ० ४ सं १९७१

पूजनीय मिश्रजी महाराज,

विनय प्रणाम।

कृपापत्र आया। यह मेरा सौभाग्य है कि आप मुझे भूले नहीं हैं। आशा है ऐसी ही कृपा सदा रहेगी।

सचमुच खड़ी बोली और ब्रज भाषाका झगड़ा व्यर्थ है, इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है। यह उधरसे ही चला है। लखनऊमें श्रीधर पाठकका समर्थन करनेमें मैंने इतना जरूर कह दिया था कि "करै है, जलै है" आदि खड़ी बोली नहीं है, ब्रज भाषा है। इसका खंडन श्रीधरजीने "पर्य्यालोचकके" नामसे लिख भेजा। इधरसे उसका जवाब "विचारके" के नामसे दिया गया। उनका कहना है कि "जलै है" खड़ी बोली और ब्रज भाषा दोनों है। और मेरा कहना है कि "जलै है" खड़ी बोली नहीं ब्रज भाषा है; क्योंकि मथुरामें अबतक "करै है, जलै है" आदि बोलते हैं; जब गद्यमें "जलै है" का प्रयोग नहीं है तब खड़ी बोलीके पद्यमें

J

क्यों होगा ? "जले हैं" खड़ी बोली है या नहीं, बस झगड़ा इतना ही है। इधर जो कुछ लिखा पढ़ी 'भारतमित्र' में हुई है वह आपने देखी ही होगी। यदि नहीं तो लिखिये भारतमित्रके अंक भेज दूंगा। वाजपेयीजीसे पूछा वह कहते हैं कि आपका लेख नहीं पहुंचा। आप इसपर अवश्य कुछ लिखनेकी कृपा करें। पाठकजीने सूरदासजीको जिस बेढंगे तौरसे स्मरण किया यह मुझे पसन्द नहीं आया। आपसके झगड़ेमें बेचारे सूरदासकी मिट्टी पलीद करना कमसे कम मुझे तो पसन्द नहीं है। वाजपेयीजीको कार्ड पढ़ा दिया। वह शायद अलग जवाब लिखेंगे। पराड़कर-जीका नमस्कार। हालना फिर अभ्युदयमें गये। आजकल वाज-पेयीजी और पराड़करजी बस दो ही हैं। इसीसे उन्हें छुट्टी नहीं मिलती है।

कृपाकर लेख जरूर भेजियेगा। दौहित्रीकी जगह दौहित्र होता तो अधिक आनन्द होता; पर भगवानने जो कुछ दिया उसीसे सन्तोष करना उचित है।

आपका कृपाभिक्षुक
जगन्नाथ प्रसाद

चतुर्वेदीजीके प्रति भी मिश्रजीका बड़ा स्नेह था। उन्हें ये सम-समयपर सत्परामर्श दिया करते थे। लाहौर हिन्दी साहित्य सम्मेलनके अवसरपर सभापतिकी हैसियतसे चतुर्वेदीजीने जो भाषण किया था उसके सम्बन्धमें देखिये मिश्रजी किस प्रकार अपना उद्गार प्रकट कर रहे हैं। यही उनका अन्तिम साहित्य-सम्बन्धी पत्र है।

श्रीहरिः

श्रावण कृष्ण २ भौमे १९७६

नं० ५८।५० सिद्धेश्वरी महल्ला।
श्रीकाशी।

स्वस्ति श्रीमान् परमप्रिय चि० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी चतुर चूड़ामणिको गोविन्दनारायणके सप्रेम नमस्कार। शमिह तत्रास्तु। आपका आनन्दप्रद "अभिभाषण" आषाढ़के अन्तमें आया। पोष्टकार्ड भी साथ ही पहुंचा। सम्मेलनके सभापतियोंकी वक्तृता प्रति वर्ष ही होती है, परन्तु उनकी तुलनात्मक यथार्थ समालोचना कोई नहीं करता। साहित्य सुधार सम्बन्धी समयोचित सत्परामर्शका भी उन वक्तृताओंमें प्रायः सर्वथा अभाव ही रहा करता था। ऐसी अवस्थामें तुमारे इस अभिभाषणमें अत्यन्त उपयोगी और उपादेय उपदेशोंके साथ ही निरङ्कुश निलज ढीठ अहम्मन्य "ऐंठासिंह" बिन सींगपूंछके लेखक और खड़ी बोलीके नामके कतिपय कविरूपधारी और अधिकांश कविवरोंपर कड़े कोड़ोंकी वर्षासे सचमुच इस श्रावणकी वर्षामें अकथनीय आनन्दकी हिय हुलसावनी झड़ीने हिन्दी साहित्य-क्षेत्रके साथ हो हितैषी हृदयोंको भी बहुत दिनों बाद लहलहा उठनेका अवसर दिया! प्रचण्ड ग्रीष्मके सम्मेलनका यह स्वाभाविक परिणाम चतुर चतुर्वेदीकी सूक्ति मुक्ता लड़ीकी पीयूष वर्षिणी अपूर्व झड़ीका लग जाना तो अवश्यम्भावी दिख ही रहा था। सुसमयकी इस वर्षामें मलयज गन्धसारके अभिनव अपूर्व मह मह महकते फूल और ईखके अमृतोपम फलोंका फूलना फलना क्या कभी असम्भव कहा जा सकता है? मैं तुम्हारे इस विनय विनम्र प्रबन्धकी योग्यतासे परम सन्तुष्ट और प्रसन्न हूं। ईश्वर तुम्हें दीर्घायु दे!!

प्रू० फ० "संशोधन क्या आप स्वयं नहीं कर सके थे?" पादाङ्क सन्धि पर्वाणि" टाइटल पेजपर ही असावधानतासे अशुद्ध छप-गया है। 'पदाङ्क' पाठ शुद्ध है। तीसरे पृष्ठमें 'शुश्रूषा' होना उचित था। चौथे पांचवेमें भी "जलियां वाले बागकी" और दंडना वा तण्डन होना ही ठीक था। ८ म पृष्ठमें बाबा नानककी

कवितामें भी "सुमिरत राम सही" होना ही उत्तम था। भजनसे छन्द टूटता है। इससे तो भजना ही अच्छा था। ६ वें पृष्ठमें गुरु गोविन्दसिंहजीके पदमें भी "जोबनके जाल" और "गाल" ठीक नहीं दिखाते। 'जीवनके जाल और कालहूके काल' ही शुद्ध पाठ है। १५ वें पृष्ठमें 'प्रगट' अशुद्ध छप गया है 'प्रकट' शुद्ध है। १६ वें पृष्ठमें उदयपुरके राणा गौरवार्थमें बहुवचनमें प्रयुक्त हैं तो क्रिया भी 'थे' बहुवचनकी ही तथा "कथानकके आधार" लिखने-से ही संगति ठीक बैठती। "दोनों ही बंगलाका उल्था थे" न लिख "बंगलाके अनुवाद" लिखनेसे भाषा अधिक प्राञ्जल होती। १७ वें पृष्ठमें "कानकुब्ज" भी अशुद्ध हैं। सम्भव है कि लाहौर जानेकी जल्दीमें स्वयं संशोधन न कर सके हो। नहीं तो इतनी और ऐसी भूलें रह न जातीं। सम्मेलन प्रयागकी समितिसे निश्चय कर चुका है कि अरबी, फारसी शब्दोंमें नुकता न लगाया जाय! परन्तु अपने कियेका पालन आजतक कर नहीं सकता! इस दशा-में सम्मेलनसे क्या आशा की जा सकती है? वर्ण विन्यास विषयकी मीमांसा बहुत ठीक और सुन्दर है। संक्षेपमें ना० प्रचारिणीके कोषकी समालोचना भी यथार्थ हुई।

शब्दोंका बाहुल्य जिन सम्पन्न भाषाओंमें रहता है, उनमें उभय लिङ्ग शब्द भी रहते ही हैं। प्रयोग-बाहुल्य ही नियामक होता है, मनमानी न होनी चाहिये। जिस नियमानुसार उर्दू में धर्मशाला आदि पुलिङ्गमें ही प्रयुक्त होते हैं ठीक वैसे ही प्राकृतिक नियमसे हिन्दीमें कबीला, ताजी, बेहूदी, आदि स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त सर्वथा हिन्दी शब्द बन गये हैं। इनका प्रचार अब रोके न रुकेगा। उर्दू की शिक्षाके प्रतापसे ही कुछ लोगोंके कानोंमें ये खटकते हैं। हिन्दीकी प्रकृतिने पवन, अग्नि, आत्मा आदि अने-कों पुलिङ्ग सं० शब्दोंको जब कि तत्सम विशुद्ध हिन्दी स्त्री लिङ्ग

शब्द बना डाला है तो कोई कारण नहीं दिखता कि उर्दू में कबीला पुलिङ्ग है तो हिन्दीमें भी वैसाही बना रहे। स्त्रीके अर्थमें ही कबीला शब्द प्रयुक्त होता है। इसलिये हिन्दीमें "रामका कबीला" प्रयुक्त न होकर रामकी कबीला ही शुद्ध माना जाता है। हिन्दीमें उर्दू के नियम क्यों माने जायं? हां, हिन्दीके नियमोंसे सर्वथा विरुद्ध 'हफ्तेमें' 'भली प्रकार' 'अच्छी तौर' आदि निस्सन्देह अशुद्ध है। इनको रोकना परमोचित है। जिस संस्कृतसे हिन्दीका घनिष्ठ सम्बन्ध है,जिसकी पुत्री प्राकृतसे इसका जन्म है, जब कि उस परम श्रद्धेय संस्कृतके शब्दोंका ही लिङ्ग परिवर्त्तन इसमें होता है तो उर्दू के नियमोंका पालन ये क्यों करेगी? प्राकृतमें ही वैयाकरणोंको "लिङ्गम् व्यभिचारि" इत्यादि सूत्र बनाने पड़े। यह ध्यानमें रखनेकी बात है।

पंजाबी खबर अर्थको प्रधान मान "तारें आती हैं" लिखते हैं। अर्थान्तरमें सर्वत्र उनका यह 'तार नहीं जमता' 'खेलें होती हैं' 'बड़ी बाज़ार' की तरह सर्वथा अशुद्ध हैं। दिल्ली आगरेके प्रयोग भी वे ही अनुकरणीय होने चाहियें कि जिनपर उर्दू का रंग न चढ़ा हो। क्योंकि मौलवियोंकी कृपासे उन प्रान्तोंके शिक्षित भी बहुधा परिमार्जित उर्दू ही बोलते हैं। 'गोकि' 'चूंकि' 'हालां' 'इस्म शरीफ़' आदि प्रयोगोंसे हिन्दीकी विशुद्ध शैली विकृत ही होगी। हिन्दी हिन्दीकी शैली अनुसार ही बोली और लिखी जानी उचित है। बिना सयौक्तिक हेतुवादके किसी वाक्यको अशुद्ध लिख देना केवल अनुचित ही नहीं न्याय विरुद्ध भी है। "चौबेजीको न्योता मैंने कहा हुआ है।" इस वाक्यमें "मैंने कहा हुआ है।" यह कैसे अशुद्ध ठहर सकता है? पंजाब वा किसी दूसरे प्रान्तवाला ही ऐसा प्रयोग क्यों न करे? इसमें व्याकरणकी अशुद्धि कहां है? 'हम कहे' निस्सन्देह अशुद्ध है। यह वे

पृष्ठमें "अंगड़ाई" "जृम्भन" नहीं, 'उबासी' 'जमुहाई' वा 'जमुहाना' ही जृम्भण है। बंगलाके 'भूतेर बापेर श्राद्ध' मुहावरेका ठीक अभिप्राय 'नाईकी बरातमें सभी ठाकुरसे' व्यक्त नहीं होता। जिस सम्पादक प्रवरने "पटल तोलाका" अनुवाद "पर बल तोलना" किया उसे बंगाली सामना होनेपर 'नारकोलेर मूड़ी' चखाये बिना न छोड़ेंगे। हिन्दी न जाननेवाले व्यवसायी बंगालियोंने सस्तमुल्ले बेरोजगार मुक्खड़ अनुवादकोंकी संख्या बढ़ाकर ही हिन्दीकी वर्त्तमान दुर्गति करा डाली है।

बिना संकोचके "सफेद झूठ बोलनेवाले अंगरेजिहा लिक्खाड़ोंने भी गहरा अंधेर मचाया है। जो कुछ उनके विषयमें लिखा बहुत ही ठीक है। 'भाग लेनेके" संशोधनमें "हां, मदद जरूर कर सकते हैं" न लिखकर जो "हाथ बँटा सकते हैं" लिखते तो अत्युत्तम होता।

"अड़चन" शब्दका प्रचार हिन्दीमें है हो; मराठी, गुजराती आदिमें भी इस रूपसे ही यह शब्द प्रयुक्त होता आता है। पण्डितवर श्रीधर पाठकजी वा आप इसे अशुद्ध कह सकते हैं। मेरी तुच्छ बुद्धिमें यह अशुद्ध शब्द नहीं जंचता। हिन्दीमें 'अड़ैंच' वा "अड़ैंचा" भी एक प्रचलित शब्द है। अड़ (हठ, रुकना) + ऐंच (ठानना वा बलपूर्वक खैंचना) अड़ैंच। ऐंठ, ऐंठन जैसे एकार्थक हैं, वैसेही ऐंच वा ऐंचन और ऐंचना भी हैं। अड़× ऐंचनसे ही कदाचित अड़चन बन गया हो तो असम्भव नहीं। सरलतासे बोले जायं केवल इस अभिप्रायसे ही अघौती = रघौती। अकाल = काल। आदि अनेकों शब्दोंके आदि स्वर लुप्त हो जाते हैं। उस उच्चारण सरलताके लिये 'ऐंचनका' आदि स्वर 'ऐ' उड़ गया हो तो अचरज नहीं। हुंडी, गुड्डी (उड़नेवाली) पाल आदि हिन्दीके अनेकों विशुद्ध शब्दोंकी व्युत्पत्ति इस समयके बड़े

बड़े पण्डित भी नहीं जानते। इसे अभिज्ञताका अभावही कहना पड़ेगा। इसे न जाननेसे वे शब्द ही कदापि अशुद्ध न होजावेंगे। सहसा किसी शब्दको अशुद्ध प्रतिपन्न करनेकी चेष्टा विद्वानोंको शोभा नहीं देती। शब्दके मूल निकासकी खोज अधिक परिश्रम और गवेषणाके सहारे अवश्य कर्त्तव्य है।

ऐसे ही देख+रेख (देखा करना) वा लेख = रेख (लिखना) अर्थात् ध्यानसे देखकर त्रुटियोंको चिन्हित करना ही देख रेखका यथार्थ अर्थ है। देखभाल शब्द ही दूसरा है। देखना धातु-का अर्थ स्पष्ट है। परन्तु भालना धातुका ठीक अर्थ क्या है? आगे चलकर संकरो सृष्टिके उदाहरणोंमें "सराहनीय" 'अकाट्य' आदिका चलन हिन्दीमें निरा आधुनिक नहीं है।" जैसी हो होतव्यता तैसी उपजे बुद्धि।" हिन्दीमें पुराना प्रचलित पद्य है। संस्कृतके पण्डित 'होतव्यताको' अशुद्ध ही कहेंगे। परन्तु हिन्दी-में यह शुद्ध रूपसे चला आरहा है। 'होतव्यताका' जिस भाषामें चलन है उसमें सराहनीय कैसे अशुद्ध कहा जायगा? कर जोड़में 'कर' शब्द भी तत्सम विशुद्ध हिन्दी ही है। कवितामें "बरजो न माने कर जोरै बरजोर ही।' 'उपरोक्त' यथार्थमें अशुद्ध सन्धिका ही उदाहरण है, पठित समाज, मनीषिवर्ग, प्रातःकालीन भी चलित है। इनको भी अशुद्ध ही न प्रतिपन्न करना चाहिये।

उर्दू पद्यमें 'बुन्द' शब्द प्रयोग शैली संस्कृत वा हिन्दी अल-ङ्कार शास्त्रकी विरुद्धता और वाक्य रचना वैचित्र्य विशेष विचार-णीय हैं। हिन्दीमें इन विषयोंमें पूरा विरोध पड़ता है।

बस एक त्रुटिका और उल्लेख करने बाद इस सुदीर्घ नीरस पत्रको मैं समाप्त करता हूं। कविभूषणकी अमृत ध्वनिमें— "मुड्डरि" "रुड्डकरत" और "डुंड्डग" इत्यादिके शुद्धरूप— मुराडड्डरि, रुंडड्डकरत और डुंडड्डग होने उचित थे। और ४७

व पृष्ठमें "दुरुपयोग होते देखा" अशुद्ध है। होता देखाही शुद्ध है। ४६ के पेजमें जाग्रतकांश" न लिखकर जगाओ लिखना उचित था। इति शम्।-"इष्टम् प्रिये वदेत्।" इसलियेही आपको इतना लिखना पड़ा। अभिभाषण आपका समयोपयोगी, परम सुन्दर,सरस और गत अधिवेशनोंके अनेकों सभापतियोंके भाषण-से श्रेष्ठ हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। लेखमें मौलिकता होनेसे मैं परम प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ। किमधिकंविज्ञेषु।

तुमारा वही प्रेमपाशानुबद्ध—

गोविन्दनारायण मिश्र

काशी निवासी कुछ साहित्यसेवियोंने सन् १९०६ ई०में माननीय पं० मदनमोहन मालवीयजीकी अध्यक्षतामें हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी स्थापना की। द्वितीय वर्ष जब प्रयाग सम्मेलनके सभापतिके चुनावका प्रश्न आया तब मतसंग्रह करनेपर हमारे चरितनायक मिश्रजीके ही पक्षमें अधिक मत आये। हिन्दी भाषाभाषियोंने उन्हें यह सम्मान प्रदानकर उनके पाण्डित्यका समुचित आदर किया। उस अवसरपर प्रयागमें हिन्दी और संस्कृतके विद्वान स्व०पं० चन्द्रधरशर्मा गुलेरी बी० ए०ने उनके पाण्डित्यकी भूरि भूरि प्रशंसा की थी। उस समय सभाप-तिरूपसे उन्होंने जो भाषण किया था उसका महत्व इसीसे सिद्ध होता है कि वह सम्मेलनकी मध्यमा परीक्षाकी पाठ्य पुस्तकोंमें सम्मिलित है।

मिश्रजी जन्मसे ही कलकत्तेमें रहते थे; पर जिस मकानमें रहते थे उसकी जमीन दूसरेकी थी और लीजलेकर मकान बनवाया गया था। जब बा० भजनलाल लोहियेने वह जमीन खरीद ली तब मकान तुड़वा देना पड़ा और मिश्रजी एक किरायेका मकान लेकर तुलापट्टीमें रहने लगे और प्राय: सालभरके बाद काशी चले गये। वहींके लाला भग-

बालदीन, बाबू भगवान दास आदि नामी साहित्यिकोंके उद्योगसे सन् १९१६ ई०के दिसम्बर मासमें वहां एक साहित्य विद्यालयकी स्थापना हुई, जिसमें हिन्दीके विद्वानविविध विषयोंकी (अवैतनिक शिक्षक रूपमें) शिक्षा देते हैं और सम्मेलनकी परीक्षाओंके लिये छात्रोंको तैयार करते हैं। अबतक उक्त विद्यालयके कितने ही विद्यार्थी सम्मेलन-परीक्षामें सर्व श्रेष्ठ हुए हैं। मिश्रजी ही सर्वसम्मतिसे आजीवन इस विद्यालयके सभापति तथा प्रधानाचार्य थे।

मिश्रजी जैसे प्रकाण्ड विद्वान, सुलेखक और धुरंधर समालोचक थे वैसे ही निर्भीक तथा प्रगल्भ वक्ता भी थे। जिस प्रकार पुण्य सलिला गंगाकी अमृतधारा गंगोत्रीसे निकलकर वंग महासागरतक निरवच्छिन्न रूपसे निःशङ्क होकर बहती चली जाती है, उसी प्रकार मिश्रजीकी शास्त्रज्ञान पूर्ण वक्तृता एकबार आरम्भ होकर पूर्ण भाव प्रकट हो चुकनेपर ही विराम करती थी। उनकी वक्तृता सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे। उस वाग्धारा प्रवाहमें किसीकी स्तुति या निन्दा क्यों न हो जाय, पर सत्यको छिपाना वे दूषित और गर्हित कर्म समझते थे। एकबार सन् १९१५ ई०में कलकत्तेके 'श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालयमें' दरभङ्गा महाराजके सभापतित्वमें एक सभा आमंत्रित की गयी थी। मिश्रजीको भी व्याख्यान देनेके लिये निमन्त्रण दिया गया था। उस समय अपने व्याख्यानमें धर्मके नामपर उसीका गला घोंटनेवालोंका प्रसंग आनेपर मिश्रजीने जिन शब्दोंमें महाराजको चितावनी दी थी, उन्हें सुनकर वे हक्के बक्के हो गये। इसी प्रकार प्रसंग आनेपर, कैसा ही बड़ा आदमी क्यों न हो उसकी तीव्र आलोचना करनेमें वे तनिक भी संकोच नहीं करते थे। वे सर्वदाही,

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

सिद्धान्तको सामने रखकर जो बात उचित प्रतीत होती थी उसे निःशंक कहा करते थे ।

जिस समय सन् १८८३-८४ ई० में देशव्यापी इलबर्ट बिल Ilbert Bill तथा सहवास सम्मति बिल Age of Consent Bill वाइस-रायकी व्यवस्थापिका सभामें स्वीकृत्यर्थ उपस्थित किये गये थे उस समय उनके व्याख्यानोंकी बड़ी धूम मची थी और तत्सम्बन्धी प्रत्येक सभामें लोग उनकी उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा किया करते थे ।

कुछ ही वर्ष हुए कि बंगधर्म-मण्डलके वार्षिक अधिवेशनके अवसरपर उनका सुललित धारा प्रवाह व्याख्यान सुनकर बङ्गालके पुरुषरत्न स्व० सर गुरुदास बन्द्योपाध्यायने मुक्तकण्ठसे उनके सम्बन्धमें कहा था;—"मुझे अबतक यह बात ज्ञात नहीं थी कि हिन्दी भाषा भाषियोंमें भी इस प्रकारके उच्चकोटिके व्याख्याता हैं।" मिश्रजीकी वाक्शक्तिका परिचय इतनेसे ही भलीभांति मिल जाता है।

एकबार ताहिरपुरके राजा शशिशेखरेश्वर रायके सभापतित्वमें कलकत्तेमेंही एक सभा हुई थी, जिसमें अनेकों बहुज्ञ बङ्गाली विद्वान उपस्थित थे । सभापतिने बिना पूर्व सूचना दिये ही किसी प्रस्तावका समर्थन करनेके लिये मिश्रजीका नाम लिया। मिश्रजीकी तात्कालिक समयोपयोगी वक्तृता सुन सभी लोग आश्चर्य-चकित हो प्रशंसा करने लगे ।

उनकी अद्भुत वाक्शक्ति देख भारतधर्म महामण्डलके सर्वस्व स्वा० ज्ञानानन्दजीने भी एकबार उन्हें उपाधिसे विभूषित करनेकी इच्छा प्रकट की थी; किन्तु मिश्रजीने उसे अस्वीकार कर दिया ।

प्रकाण्ड पाण्डित्यके साथ ही मिश्रजीमें सन्तोष भी प्रचुर परिमाणमें विद्यमान था । अपने पिताकी मृत्युके पश्चात् उन्होने भी अंगरेजी आफिसोंकी दलाली आरम्भकी थी ; किन्तु वह उनकी प्रकृतिके प्रति-

कूल थी। वे किसीकी अनुचित, अनधिकृत और अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करना नहीं जानते थे, जिसकी आवश्यकता इस कार्यमें हर समय रहा करती है। इसीके अभावके कारण दलालीमें उन्हें सफलता नहीं मिली और उन्होंने सगर्व सन्तोष पूर्वक उस कार्यका त्यागकर दिया।

इस नवयुगकी नयी सभ्यतामें रहकर भी मिश्रजी बड़े ही कर्मनिष्ठ और सनातन धर्मके कट्टर अनुयायी थे। सन्ध्यातर्पणादिके पश्चात् वे नित्यप्रति शिवमहिम्न स्तोत्रका पाठ किया करते थे। पूजा पाठमें प्रायः दो तीन घंटे समय लग जाता था।

जिन दिनों आधुनिक राजनीतिक आन्दोलनोंकी इतनी धूम नहीं थी उन दिनों धार्मिक आन्दोलनोंका दौर दौरा था और मिश्रजीके व्याख्यानोंकी बड़ी धूम रहा करती थी। जिस समय राजा शिवबक्स बागला प्रभृति सज्जनोंके उद्योगसे कलकत्तेमें सनातनधर्म सभाकी स्थापना हुई थी उस समय उसके प्रमुख कार्यकर्त्ताओंमें मिश्रजी भी थे। इसी सभाने आगे चलकर पिंजरापोल तथा संस्कृत पाठशाला जैसी उपकारी संस्थाओंकी स्थापना की। उनकी धर्मनिष्ठा और दृढ़ता देखकर अनेकों धनीमानी सज्जन उनकी बड़ी प्रतिष्ठा किया करते थे। एक बार उन्होंने 'कात्यायनीतर्पण' की सहस्रों प्रतियां धर्मार्थ प्रकाशितकर अमूल्य वितरित की थीं।

सारस्वत क्षत्रियोंके कुल पुरोहित होनेपर भी वे दान प्रतिग्रहमें बड़ा विचार रखते थे। धर्ममें उनकी अविचल भक्ति थी। इसे ही वे अपना सर्वस्व समझते थे।

आधुनिक हिन्दी संसारमें कोई बिरला ही ऐसा होगा जो मिश्रजीके नामसे परिचित न हो। उनके पाण्डित्यकी धाक कहां नहीं जमी है? पर जिस समय वे साहित्य-सेवाक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए थे उस समय



श्रीगोविन्द निबन्धावली ।



स्व० लाला छुटकामलजी खन्ना ।

भारतमित्रके आदि सम्पादक पं० छोटूलालजी मिश्र, पं० दुर्गाप्रसादजी मिश्र तथा सारसुधानिधि सम्पादक पं० सदानन्दजी मिश्र बंगालमें हिन्दी-प्रचार कार्यमें संलग्न थे। यदि सच पूछिये तो इन्हीं उदार सज्जनोंको बंगालमें हिन्दी-पत्रोंके प्रवर्तनका सारा श्रेय है।

'सारसुधानिधि' के प्रकाशित होनेके कुछ ही दिन बाद हमारे चरित नायकका परिचय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, मित्र-विलास-सम्पादक पं० गोपीनाथ शर्मा, और हिन्दी-प्रदीप-सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्टसे हुआ। उसी समय उनका परिचय कलकत्तेके सुप्रसिद्ध वस्त्र-व्यवसायी साहित्यसंगीत प्रेमी, सद्गुणग्राही लाला छुट्टकामलजी खन्नासे भी हुआ। लालाजी हमारे चरितनायकके फुफेरे भाई स्वनामधन्य पं० सदानन्दजी मिश्रके यहां आया जाया करते थे। वहीं उनका गोविन्द नारायणजीसे प्रथम वार्तालाप हुआ और उसी समय इन युगल अपरिचित हृदयोंमें सच्चे स्नेहका सूत्रपात हुआ। इस प्रेमको लालाजीने आजीवन एक रस निभाया और उनके पुत्र बाबू दामोदर दासजी खन्ना (लाला बाबू) ने भी उस पैतृक प्रेमको चिर सजीव और नवीन बनाये रखनेमें सदा सराहनीय तत्परता दिखायी। वे मिश्रजीको पिता तुल्य ही मानते थे और मिश्रजीका भी उनके प्रति वात्सल्य प्रेम था। कलकत्तेका उनका मकान टूट जानेपर जबसे वे काशीवासी हुए तबसे यहां आनेपर प्रायः लालाबाबूके ही यहां ठहरा करते थे।

यह पहले ही कह चुके हैं कि सारसुधानिधिका प्रथम वर्ष पूरा होनेपर मिश्रजीने उसका साझा छोड़ दिया। इस प्रकार उससे एक तरहसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण वे अधिकतर पण्डित दुर्गाप्रसादजी मिश्रके यहां उठने बैठने लगे। वहां अनेकों बङ्गाली विद्वान् भी आया करते थे और स्थानीय हिन्दी साहित्यिकोंकी तो वह प्रधान बैठक ही था। पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र असाधारण शक्तिशाली लेखक थे। राजनीतिक विषयोंपर उनके लेख गजबके होते थे। उनका पत्र

"उचित वक्ता" अपने नामके अनुरूप बड़ा निर्भीक था। उन दिनों "उचितवक्ता" की बड़ी धूम थी। हिन्दीके कितने ही सुप्रसिद्ध लेखक और कवि यहां आनेपर वहीं ठहरा करते थे।

इस स्थानके अतिरिक्त हमारे चरितनायक (मिश्रजी) कलकत्ते के नामी विद्यानुरागी बाबू रूढ़मलजी गोयेनकाके यहां भी आया जाया करते थे। बाबू रूढ़मलजी प्रायः स्वयं पं०जीके यहां आकर उन्हें अपने साथ ले जाते थे। गोयेनकाजीके यहां पं०सखाराम गणेश देउस्कर,साहित्य-सम्पादक सुरेशचन्द्र समाजपति, म० म० पं० हरप्रसादजी शास्त्री, म० म० चन्द्र-कान्त तर्कालङ्कार प्रभृति उद्भट विद्वान एकत्र हुआ करते और साहि-त्यिक,धार्मिक आदि विविध विषयक चर्चा चलाते थे। यहीं मिश्रजीका परिचय बाबू शिवचन्द्रजी भरतिया, और सुदर्शन-सम्पादक पं० माधव-प्रसादजी मिश्रसे भी हुआ था। बाबू रूढ़मलजी मिश्रजीका बड़ा मान, आदर और सत्कार किया करते थे।

मिश्रजीके परिचितों और प्रेमियोंकी परिधि यहीं परिसमाप्त नहीं होती। उनके मित्रोंमें पं० बद्रीनारायणजी चौधरी "प्रेमघन" और उनके अनुज पं० मथुरा प्रसादजी बी० ए० वकील, प्रसिद्ध विद्वान बाबू हरिप्रसादजी पालधी बी० ए०, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० किशोरी-लाल गोस्वामी प्रभृतिका नाम विशेष उल्लेखनीय है। संस्कृत काले-जमें विद्याध्यनके समय उनके अन्तरङ्ग मित्रोंमें बङ्गाल सरकारके हेड ट्रान्सलेटर रायचन्द प्रेमचन्दस्कालर, ख्यातनामा विद्वान् राय बहादुर पण्डित राजेन्द्रनाथ शास्त्री विद्याभूषण एम० ए० भी थे। इनके साथ उनका आजीवन भाईचारेका नाता रहा।

मिश्रजीके अनुरागियोंकी संख्या जो आज भी मातृभाषा भाण्डार भरनेमें ही दत्तचित्त हैं, कम नहीं है। पर उनमें भी विशेष उल्लेख्य दैनिक स्वतन्त्रके लब्धप्रतिष्ठ सम्पादक पं० अम्बिकाप्रसादजी बाज-पेयी 'आज' सम्पादक पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर, कलकत्ता-समाचार

तथा हिन्दूसंसार-सम्पादक पं० झाबरमल्लजी शर्म्मा, भारतमित्रके सुयोग्य संयुक्त सम्पादक पं० वासुदेवजी मिश्र तथा हास्यरसाचार्य पं० जगन्नाथ प्रसादजी चतुर्वेदी प्रभृति हैं। यों तो मिश्रजीके निकट जो कोई बैठता था वही उनसे कुछ न कुछ अवश्य ही सीख लेता था पर 'उनकी सुसंगतिसे सबसे अधिक लाभ वाजपेयीजीको ही हुआ है' कहना कदाचित अनुचित नहीं होगा।

यह तो पहले ही कह आये हैं कि मिश्रजी बड़े ही कर्म्मनिष्ठ थे। जगन्नाथपुरी, रामेश्वर और द्वारकाकी यात्राएं तो वे युवावस्थामें ही अपनी माताके साथ कर आये थे, केवल बद्रीनाथ और केदारनाथकी यात्रा शेष थी। इसे भी पूरा करनेके लिये उन्होंने सम्वत् १९८० वि०के बैसाखमें प्रस्थान किया और हरद्वार, ऋषीकेश, देवप्रयाग आदि तीर्थोंसे होते हुए केदारनाथ पहुंचे। मार्गमें अनभ्यस्त अधिक पैदल चलनेके कारण बहुत कष्ट हुआ और केदारनाथ तक पहुंचनेपर बड़ी श्रान्ति मालूम हुई। उन दिनों वहां वृष्टि होनेके कारण मन्दाग्नि होगयी और ज्वर भी चढ़ आया। कुछ आराम होनेपर बद्रीनाथ दर्शन करनेके लिये चल पड़े और वहांसे रामनगर, नैमिषारण्य होते हुए काशीकी ओर लौटे। नैमिषारण्यमें ही उन्हें जलोदर होगया, हाथ पैर फूलने लगे और पेशाबमें जलन होने लगी। तब मिश्रजीका धैर्य छूट गया, जीवनसे निराशा हो गयी। संसारकी सभी कामनाएं एक एक करके उनके चित्तसे दूर होगयी थीं, केवल चारों धामकी यात्रा पूरी करना, जिसके साथ ही उनकी जीवन-यात्रा भी पूरी हो गयी, और हिन्दी भाषाका एक सुवृहत् पुरातत्वविषयक पुस्तकालय स्थापितकर किसी लोकोपकारी हिन्दी साहित्यसेवी संस्थाको दान कर देना, शेष थे। इस कार्यके लिये तो काशीमें त्रिलोचन घाटपर उन्होंने एक नया मकान ले भी लिया था किन्तु इस विचारको अपने जीवनकालमें कार्यरूपमें परिणत नहीं कर सके।

नैमिषारण्यसे काशी आकर जब मिश्रजी शय्यापर दुःसह दुःख भोग रहे थे, उन्हीं दिनों उनके परम मित्र स्व० लाला छुट्टकामलजी खन्नाके सुपुत्र बाबू दामोदरदासजी खन्ना (लाला बाबू) विन्ध्यवासिनी देवीके दर्शनके लिये गये हुए थे। वहीं किसीने मिश्रजीकी बीमारीको बात उनसे कही। वे व्याकुल हो उठे और मिति भादो बदी ४ संवत् १९८० को काशी दौड़े गये और मिश्रजीको कलकत्ते लेआकर बड़ी तत्परता पूर्वक चिकित्सा कराने लगे।

सर्व प्रथम कलकत्तेके प्रसिद्ध डाक्टर मन्मथ नाथ चटर्जीकी चिकित्सा आरम्भ की गयी; पर अवस्थामें परिवर्त्तन दिखनेपर विचक्षण चिकित्सकोंकी संयुक्त अनुमतिसे भिषगप्रवर, आयुर्वेदिक चिकित्सक पं० श्यामदास वाचस्पतिजीसे चिकित्सा प्रारम्भ करायी। किन्तु परिवर्तित चिकित्सा-पद्धतिसे भी कुछ लाभ नहीं हुआ और रोग घटनेके बदले बढ़ने ही लगा। लाला बाबूके लाख चेष्टा करनेपर भी फल वही हुआ जो ध्रुव निश्चय था।

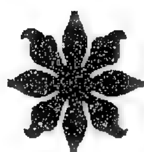
संवत् १९८० वि० की अनन्त चतुर्दशी (ता० २३ सितम्बर सन् १९२३ ई०) के रविवारकी महाभयाविनी निशा थी। इसी तिथिको एक-बार उन्हें स्वयं अपने प्रिय पुत्र कार्तिककी वियोग-व्यथा वज्रहृदयसे सहनी पड़ी थी। इस निशावसानके साथ ही उनका जीवनावसान होगया। अनेकों आदमी शय्याको घेरे खड़े थे। कनिष्ठ कुमारी कन्या करस्पर्श द्वारा कपालको हिलाकर बुलाना चाहती थी; किन्तु हाय! जो आंखें बन्द हुईं वे खुलीं ही नहीं। मातृभाषा हिन्दीका कोमलाङ्क ऐसे अनुपम मातृभक्तसे सदाके लिये सूना होगया।

कलकत्ता
श्रीऋषि पञ्चमी
सं० १९८२ वि० } श्यामसुन्दर द्विवेदी





श्रीगोविन्द निबन्धावली



लेखक—

स्व० पं० गोविन्द नारायण मिश्र

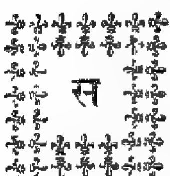
निबन्ध-सूचीपत्र

ओ३म् श्रीगणेशायनमः

कवि और चित्रकार

वा

सरस साहित्य-सूक्ति-सुधानिधिको दार्शनिक सु-विचार सुदर्शनीय अलंकार-लहरोंका आनंद-विहार



हज सुन्दर मनहर सुभाव-छवि-सुभाव-प्रभावसे सबका चितचोर सुचारु सजीव-चित्र-रचना-चतुर चितेरा, और जब देखो तब ही अभिनव सब नवरस रसीली त नवनव भाववरसरसीली, अनूप रूपसरूप गरबीली सुजन नमोहन-मन्त्रकी कीली, गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते नेक अलंकार-सिंगार-साज-सजीली, छवीली कविता-कल्पना-शल कवि, इन दोनोंका काम ही उस अगजगमोहिनी बलाकी बला, सुभावसुन्दरी अति सुकोमला अबलाकी, नवेली, अलबेली नोखी पर परम चोखी भी प्रेम-पोखी, समधिक सुहावनी, नयन-न-लुभावनी भोली रूप-छविको आंखोंके आगे परतच्छ खड़ी सी दरसाकर :मर्मज्ञ सुरसिक जनोंके मनोंको लुभाना, तरसाना, सर-साना. हरसाना और रिझाना ही है। इनमें पहलेके (चितेरेके) बाहरी

साधनोंमें प्रधान मानयन्त्र पट, तूलिका और रङ्ग बिरङ्गे, गहरे हलके सुहाते, जगलुभाते, चुहचुहाते, मनहरन, अनगिनत बरन (रङ्ग) हैं। परन्तु दूसरेका (कविका) तो मनचहे त्रिविध विध अर्थभाव गमक-जमक-गमकते मृगमद चन्दन अतरतरसे भी अन्यतर सुन्दर सरस सुबास, बसे लसे बिकसे, खिले अधखिले, रंगबिरंगे, सुविमल प्रफुल्ल सुमनदलसोही विश्वविमोही, बरन बरनसे मनहरन बरनात्मक बचन-सुरतरुवर-वन गहन उपजाते संसार भरमें नित नयो स्थायी मनभायी सौरभ सरसाते अधिक अधिक महकाते गिनतीके अड़तालीस अक्षरोंकी एक अकेली वर्ण-माला ही अतुलनीय अनन्य साधन है। निराली प्रतिभाशाली सबसे परली ऊंचीसे ऊंची श्रेणीकी अपूर्व परमोत्तम असाधारण अनन्य-सुलभ अति विचित्र शैलीकी सर्वत्र सहज फैलनेवाली अपनी अपनी अति पैनी सुतीक्ष्ण तैली बुद्धि ही दोनोंकी मूल पूंजी है।

परन्तु चतुर सुजान विज्ञ विचारवानोंके अपक्षपाती सदा अडिग न्यायके ही साथी सूक्ष्म विचारधर्मकी अनमोल तुलापर धरकर तोल देखनेपर नयनमनमोहिनी विविध रङ्ग-सोहनी-आभा छन छन छिटकाते, अपनी अनोखी मायासे जग भरमाते, चित्रविचित्र वर्ण-विन्यास-चतुरवर इतर-सकल-कला-कुशलतर चित्रकारका आसन भी, सरसरसभाव-पूर नूपुर-धुन गुनगुनाते मञ्जुलतर पदविन्यासलासविलास-विलासिनी सहज लीलावती-कविताकलकलन-चतुर यशस्वीशिरोमनि. अवनि-तलपर समतल-थलअचलजलधिरत्नाकर अपार परिपूर छाये सित फेन सकुचाये हिम-सहिम शीतल पड़े जहांके तहां जमाये, अत्र तत्र सर्वत्र बिछायेसे भी न समाये आकाशलों छाये अपने अद्वितीय शोभा-शुभ्र-सुजस-अमीगुनसे निरन्तर अमर नरवर, घर घर सदा सजीव अभि-नवतर नवम चिरञ्जीवसे सुहाये, परम सुघर सुकविवरोंके सर्वप्रथम, सर्वप्रधान, सर्वोपरि विराजमान आदिमाननीय, सुर-नर कमनीय निराले आसनोंकी अति चटकीली सुन्दर

सजीली गुनगरिमाकी गिनतीमें सबसे पहली सर्वश्रेष्ठ श्रेणीकी परम प्रतिष्ठावाली, सजधजमें भी सबसे निराली शोभावाली आदर अनुराग श्रद्धा-भक्ति और स्पर्द्धासे सदा पूजनीय पंक्तिसे नीचे ही बिछाया हुआ मानना पड़ेगा ; क्योंकि अपनी अति तुलतुली, परम नरम रेसम सम सुकोमल तुलिकाकी (लेखनीकी) अतुल होनेपर भी तुली हुई लेखलघुता, निपुनई, सुघरई, अचरजमें लानेवाली अचूक सचाई, सफाई और जगभायी अनुपम कला-कुशलाईसे दृश्य मात्रकी अविकल ज्योंकी त्यों जैसी थी वैसी ही छविका उतार लाना, और नयनोंके आगे ऐनमैन खड़ीसी दरसाना भर ही चतुर चितेरेकी चरम चातुरी है ।

परन्तु बिलबिलाते बिलाते, हाट; घाट घाट, विपनी, गली गली, और बाजार बाजार दमड़ी धेलेमें बिकते बिकाते, आरति परे बल बल जाते भी बल जाते कूर कपूर चूरकी धूर उड़ाती, कास विकास तुच्छ घास कुन्द कुन्द करि, करिवर लजाती, बिन पानिपके लजाये, जल जाये, जिय हिय दरकाये, दारुन दरसे ही सुदूर समुद्रमें जा दुरे मुरि बरबस धरपकर कर परबस पुरनगरडगर परघर घरघर मन्दर अन्दर लाये, आज भी (कवियोंके) उस चौदहों भुवनव्यापी असह सुजसके पूरे प्रताप तापके मारे हारे दईमारे बेचारे किनारे ताकते, दर बिवश दर कहाये दरदर नाक घिसाते, हा हा खाते, मुंह बाय दांत बिदोर बिदोर बारम्बार बिलखाते कहीं भी और ठौर ठिकाना छिपकर भी किसीके आसरेमें दिन काटनेका न पाते, अन्तको सब सुरनको चरनसरन ताक, देव मन्दिरोंमें जा घुसे सीस झुकाते मुंह छिपालेसेभी अपनी जीतके गीत गवाती सी ऊंची शंखध्वनि कराती, कैसी विचित्र भांतिकी बकपांतिकी विजयपताका भांति भांतिसे बारम्बार अनन्त अम्बर लों फहराती, अति ऊंचो उड़ाती, निखिल लोकालोक-विकासिनी अनूप धवलिमाकी चमक बिजलीसे भी उजली अपनी उस सुजस प्रभाकी ओप-

साधनोंमें प्रधान मानयन्त्र पट, तूलिका और रङ्ग बिरङ्गे, गहरे हलके सुहाते, जगलुभाते, चुहचुहाते, मनहरन, अनगिनत बरन (रङ्ग) हैं। परन्तु दूसरेका (कविका) तो मनचहे विविध विध अर्थभाव गमक-जमक-गमकते मृगमद चन्दन अतरतगसे भी अत्यतर सुन्दर सरस सुबास, बसे लसे विकसे, खिले अधखिले, रंगबिरंगे, सुविमल प्रफुल्ल सुमनदलसोही विश्वविमोही, बरन बरनसे मनहरन बरनात्मक वचन-सुरतरुवर-बन गहन उपजाते संसार भरमें नित नयो स्थायी मनभायी सौरभ सरसाते अधिक अधिक महकाते गिनतीके अड़तालीस अक्षरोंकी एक अकेली वर्ण-माला ही अतुलनीय अनन्य साधन है। निराली प्रतिभाशाली सबसे परली ऊंचीसे ऊंची श्रेणीकी अपूर्व परमोत्तम असाधारण अनन्य-सुलभ अति विचित्र शैलीकी सर्वत्र सहज फैलनेवाली अपनी अपनी अति पैनी सुतीक्ष्ण तैली बुद्धि ही दोनोंकी मूल पूंजी हैं।

परन्तु चतुर सुजान विज्ञ विचारवानोंके अपक्षपाती सदा अडिग न्यायके ही साथी सूक्ष्म विचारधर्मकी अनमोल तुलापर धरकर तोल देखनेपर नयनमनमोहिनी विविध रङ्ग-सोहनी-आभा छन छन छिटकाते, अपनी अनोखी मायासे जग भरमाते, चित्रविचित्र वर्ण-विन्यास-चतुरवर इतर-सकल-कला-कुशलतर चित्रकारका आसन भी, सरसरसभाव-पूर नूपुर-धुन गुनगुनाते मञ्जुलतर पदविन्यासललासविलास-विलासिनी सहज लीलावती-कविताकलकलन-चतुर यशस्वीशिरोमणि, अवनि-तलपर समतल-थलअचलजलधिरत्नाकर अपार परिपूर छाये सित फेन सकुचाये हिम-सहिम शीतल पड़े जहांके तहां जमाये, अत्र तत्र सर्वत्र बिछायेसे भी न समाये आकाशलों छाये अपने अद्वितीय शोभा-शुभ्र-सुजस-अमीगुनसे निरन्तर अमर नरवर, घर घर सदा सजीव अभि-नवतर नवम चिरजीवसे सुहाये, परम सुघर सुकविवरोंके सर्वप्रथम, सर्वप्रधान, सर्वोपरि विराजमान आदिमाननीय, सुर-नर कमनीय निराले आसनोंकी अनन्यसुलभ गौरव-गरबीली अति चटकीली सुन्दर

सजीली गुनगरिमाकी गिनतीमें सबसे पहली सर्वश्रेष्ठ श्रेणीकी परम प्रतिष्ठावाली, सजधजमें भी सबसे निराली शोभावाली आदर अनुराग श्रद्धा-भक्ति और स्पर्द्धासे सदा पूजनीय पंक्तिसे नीचे ही बिछाया हुआ मानना पड़ेगा ; क्योंकि अपनी अति तुलतुली परम नरम रेसम सम सुकोमल तुलिकाकी (लेखनीकी) अतुल होनेपर भी तुली हुई लेखल-घुता, निपुनई, सुघरई, अचरजमें लानेवाली अचूक सचाई, सफाई और जगभायी अनुपम कला-कुशलाईसे दृश्य मात्रकी अविकल ज्योंकी त्यों जैसी थी वैसी ही छविका उतार लाना, और नयनोंके आगे ऐनमैन खड़ीसी दरसाना भर ही चतुर चितेरेकी चरम चातुर्य है ।

परन्तु बिलबिलाते बिलाते, हाट, बाट घाट, विपनी, गली गली, और बाजार बाजार दमड़ी धेलेमें बिकते बिकाते, आर्रात परे बल बल जाते भी बल जाते क्रूर कपूर चूरकी धूर उड़ाती, कास बिकास तुच्छ बास कुन्द कुन्द करि, करिवर लजाती, बिन पानिपके लजाये, जल जाये, जिय हिय दरकाये, दारुन दरसे हा सुदूर समुद्रमें जा दुरे मुरि बरबस धरपकर कर परबस पुरनगरडगर परघर घरघर सन्दर अन्दर लाये, आज भी (कवियोंके) उस चौदहों भुवनव्यापी असह सुजसके पूरे प्रताप तापके मारे हारे दईमारे बेचारे किनारे ताकते, दर विवश दर कहाये दरदर नाक घिसाते, हा हा खाते, मुंह बाय दांत बिदोर बिदोर बारम्बार बिलखाते कहीं भी और ठौर ठिकाना छिपकर भी किसीके आसरेमें दिन काटनेका न पाते, अन्तको सब सुरनको चरनसरन ताक, देव मन्दिरोंमें जा घुसे सीस झुकाते मुंह छिपातेसेभी अपनी जीतके गीत गवाती सो ऊंची शंखध्वनि कराती, कैसी विचित्र भांतिकी बकपांतिकी विजयपताका भांति भांतिसे वारम्बार अनन्त अम्बर लों फहराती, अति ऊंचो उड़ाती, निखिल लोकालोक-विकासिनी अनूप धव-लिमाकी चमक बिजलीसे भी उजली अपनी उस सुजस प्रभाकी ओप-

भरी चमचमाती आभाके आगे इस मोहान्धकार-भरपूर असार संसारकी धौली वस्तु मात्रमें धवलकी (रोगकी) प्रबलता, अबलता और मलिनताकी कलंक-कालिमाकी अनोखी कारिखसे उपजे काजरकी भरी कजरौटी सी प्रत्यक्ष दरसाती, इकटक ताकते अमर मुनिवर-नर-चराचरके चाहभरे चखचखचौंधी लगाती, झिपाती, निरवधि दधिउदधिको भी सकुचाती जमाती, किनारे लगाती, दूर बहाती सुन्दरताकी सीम असीम सुन्दरी काम-बाम रतिप्रिय प्रानपति कन्दर्प-सौन्दर्य-दर्प दुरदुराती दूर दुराती, सरद पूनोंके समुदितसे दस सत पूरन चन्द कलंकीकी छिटकी जुन्हाई, समुहाई सकल मनभाईके भी मुंह मसि मल मलीन तेजहीन झलकाती, लजाती, झिपाती, विकसित सुकोमल सित-सुमन-सिरोमन सहस दलकमल-प्रफुल्ल-फुल्लदल-मध्यगत, अमरादि नरवर परम वन्दित (उस) अरुण पदारविन्दपर पद-नख-नखत राजराज द्विजराज निष्कलंकीकी अनुपम अपूर्व दस गुनी चन्दिमा चमचमाती, सरस सुधाधौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती, अशेष मोहजड़ता प्रगाढ़ तमतोम सटकाती, भुकाती, निःशेष निपटाती, निज भक्तजन-सुजन-मन-बाँछित वराभय भुक्तिमुक्ति सुचारु चारों मुक्त हाथोंसे मुक्ति लुटाती, सकल कलापालापकलकलित सुललित सुरीली मीड़े गमक झनकार सुतार तार सुरग्राम अभिराम लसित वीन-प्रवीन-पुस्तिका-कलित मखमलसे समधिक सुकोमल सुविमल अति सुन्दर लाल प्रवालसे लाललाल करपल्लव सुहाती, विविध विद्याविज्ञानज्ञानसुभ-सौरभ सरसाती, विकसे फूले सुहाते मनभाते सुमन प्रकास हास वास बसे अनायास सुगन्धित सित बसन लसनसोहा सुप्रभा बिकसाती, भवपारदा सारदा सारदा, सुविमल मानस-विहारी मुक्ताहारी, नीर-छीर-विचार-चतुर-चूड़ामणि महा कविवर बिबुधराज राज-हंस-हिय-सिंहासन-निवासिनी भगवती सरस्वती माताके मुंह निहारे, मुंहफट अनियारे प्राणोंसे प्यारे परम दुलारे पुत्र इन सहज अलबेले रंगीले अनोखे रसीले जसीले (यशस्वी) कवि-

क्योंकी सुजन-मनमोहिनी वचन-रचनामें ही विचित्र प्रभावशाली अनुपम अनोखी अतुल बलवाली पर परम कोमल सुभावकी एक ऐसी निराली शक्ति है कि जिसके अतुल बल औ अभावनीय प्रभावसे ये सबके अन्तर-की गुप्तसे गुप्त अनदेखी, अछूती, सूक्ष्मसे सूक्ष्म छिपी मनोवृत्तियोंको भी अपूर्व अनमोल अनेको रतन जगमगाते, अनूप रूप लुनाई पलपल पर अधिक अधिक सरसाते, एकसे एक सब बातोंमें बढ़े बढ़े चमोकरसे भी चटकीले छबीले विचित्र अनमोल अलंकारोंसे समुचित खचित चितचुभी सुषमा दरसाते, एक ऐसी सुघराईसे नखसिख लों यथोचित सजाते, परम सोभाकी सीम सी समलंकृत कर दरसाते, मार्मिक सुरसिक-समाजके भावग्राही नयनों वा अनुरूपरूप प्रतिबिम्बित होने योग्य चमचमाते सुविमल सुन्दर स्वच्छ सुविशाल अनुपम अयनोंके (दर्पणोंके) आगे ललितपदविन्यासवाली संसारसे निराली नृत्यनिपुणताकी बंधी ताललयसधी मनहर सुघर सुन्दर गतिपर नाचती हुई सी बातकी बात में सामने ला खड़ी कर दिखाते है !

उस समय नवरसमय अनुरागरागआलापकलापसुरीली धुनगमक प्रस्तार उतार आरोह तानतरङ्गअभङ्ग कलकलकूजित हाहा हूहूजित लय तालमय गगन चूमती मदमाती भूमती अनगिन्त अनन्त ऊँचीसे ऊँची तानतरङ्गोंके लहरभरे भरपूर जोबनसे उभरे उमगे चढ़े चले आते उस अथाह अपरिमेय असीम पारावाररहित अपार अति अपूर्ब लहरी आनन्द-सुधासागरकी विचित्र अनन्त गहरी लहरोंमें मनमगन लोटपोट गोते खाते डूबते तरते बिबस बह बह जाते रसमुग्ध अनोखे लहरी सुरसिक-शिरोभूषण प्रधान सुजान दर्शकोंको निस्सन्देह आत्मविस्मृति हो जाती है। यथार्थमें उस विचित्र अकथ दशामें गहरा गोता लगानेवाले चिन्ताशील अनुभवीमात्र कुछ कालतक तो अपना आपा ही भूल जाते हैं ! सचमुच उस अनन्त अथाह अनोखे नित्य नवरस-सरस सुधानिधिकी थाह न पाकर मानो डूब ही जाते है ! उस अकथ

असीम परमानन्द अपार परिपूर अमूल्य रत्नाकरके सदा सव रसभरे छलकते अकूपार अलौकिक सुधा-उदधिकी अनन्त सुरस सुमधुर रस-रसीली लहरोंसे थकित चकित परिपूर छकित लोटपोट आनन्दमग्न उनके उस सुरस रसभीने रसीले रंगीले मन भी, अनदेखे अनुभव अनुमानेपर परतच्छसे दरसाने अपूर्व लास्यहास्य आदि नृत्यकला विलास हावभाव भरे अंग अंग फड़काते मटकाते नाचते मन लुभाते नाचकी समपर लै बँधी थिरकती हुई सी लयतालके अतलतलमें लय हो आप ही आप आप भी उसकी ही धुनि पर थिरक थिरक कर तालसे ताल मिलाते, मन ही मन गुनगुनाते. उस ही धुन पर मानों सरवस खो बिबस हो गहरे लहरेके साथ ही मनकी लहरमें आ नाचने लग जाते हैं। निस्सन्देह ऐसे चमत्कारी सुरसिक राजराजहियविहारी हिय हारी अनोखे गुन इस त्रिगुणात्मक अपार संसारमें केवल सुकवियोंके ही बाँटे आये हैं! कोई बतावे कि सारे संसार भरमें इस सिरेसे उस सिरे तक कविवरोंके सिवा और किस दूसरेमें ऐसी अनोखी अनन्यसुलभ विचित्र अलौकिक शक्ति देखनेमें आती है?

(इति यतियमक अनुप्रासअलंकार श्लेषविशेष अर्थ ध्वनित

अनूठी सूक्तिसुधानिधिकी पहली आनन्द लहरी)

(२)

तो कातीत प्रतिभाप्रसूत नवरसमयी शब्दमाधुरी-सुमधुर सुललित सुकविकलकलित उस सगुन सलोनी मूर्तिमें इससे भी चढ़ा बढ़ा दूसरा विशेष चमत्कार यह भी बड़ा ही अनुपम, विचित्र और अचम्भे सा दिखता है कि मानस प्रत्यक्षके बिना न तो हम अपनी इस अपवित्र जलमल आँसू कीचकीच चिपचिपाती गीधभरी, सहज झिपती झिपाती, कोने झाँकती, लाजभरी मुँह ताकती चमड़ेकी आँखोंसे चित्रकारके चत्रकी भाँति उस

परम रमनीय काम कमनीय सुजनमन बसकरनी अचूक बसीकरनी परम सुन्दर कन्दर्पारि सुअन-लावण्य-दर्प-दमनी अनूपरूप सुन्दरी मूर्तिकी रूप छविका अलभ्य दर्शन ही कर सकते हैं और न इन मधुर कटु तीखे फीके अलोने सलोने खट्टे बट्टे खटरस-लोलुपा लुपलुपाती लार टपकाती, बार बार सरसती, जन्मभर तरसती हाहा खाती बार-म्बार दाँतो तले आती कुचली जाती पछताती छिलमिलाती बिलबिलाती जन्मसे पीती खाती भी कभी न अघाती, चर्ममयी लोलरसनासे, सुधासे सुरस सरस उनके उस नित नव नवरसरसीले सदा अभिनवसे अपूर्व स्वादिष्ट शिष्ट सुरसिकोंके परम इष्ट अनुपम सुमिष्ट नवरसोंका स्वाद ही कभी चख सकते हैं !

यथार्थमें कवि-कल्पित-कलकलित-वचन-रचना-रची उस परम मनोहर सुकोमलतर परचितचुभी-चारुतामें सुचारुहासिनी बामा-कुल-चूड़ामणि-मणि पीठाधिवासिनी, ललनाकुलसर्व्वोत्तमा तिलोत्तमासे भी उत्तमा, अनूप कसौटीपर कसी असीम सोहाकी मितसी अपनी अमित लुनाईसे सुरसिक चतुरउरबसी सबपर बिकसी सुवर्णरेखासी गुनगरिमासे उकसी निकसी सुरेस उरबसी यथार्थनामा उरबसीके भी उरबसीसी, असीम सुन्दरी अनुपमेय लोनी लताकी परम पवित्र विचित्र सलोनी मानसी माधुरी छबिका, स्थूल कठोर अयोग्य पार्थिव फलकमात्रपर बिना विचारे ही बिराजमान हो बेठिकाने बैठ यथोचित शोभायमान न होना तो किसी रीतिसे समीचीन सुसङ्गत भी नहीं कहा जा सकता था। फिर परिमित आकार अवयवके छिनमें विलीन होनेवाले अनित्य अथिर सान्त असत् विनाशी सत्यानासी इन मलिन मुँहकाले अयोग्य आधारों पर, अनन्त भावभरी असीम, अथाह, थिर, अनन्त उस अविनाशी, सदा एक सी अथिर, नित नव नवो सरस रसभाव बरसाती, अचपल अमेट चपलासी चमचमाती, मनभाती भी लुभाती सी अत्यन्त रसीली रसमूर्तिकी परछाँहीका भी पड़ना प्रतिफलित वा प्रतिबिम्बित होना तो

सर्वथा अयोग्य, अनमिल और असम्भव ही था। इसलिये ही बन्धमोक्ष भुक्तिमुक्तिके विधाता परम चञ्चलचूड़ामन मनके अति सूक्ष्म विमल विशद विस्तृत विचित्र कोमलसे कोमल अछूते अदृश्य अनन्त आधार फलक पर ही अनेक वर्णविन्याससे सुहाती जब विचारो उचारो तब ही सब नव नव नित अगनित अभिनव अनूठे भाव रसरङ्ग सङ्ग सङ्ग दरसाती रंगराती, चुहचुहाती, फबते अलंकारोंसे नखसिख सुहाती सुधासे सरस रस रसीली, साज सुन्दर सुभाव सजीली एकसे एक अधिक रँगीली रूपगरबीली अनुपम सलोना उस माधुरी रूप छबिको कवि, सुरसिक प्रवीन विज्ञ रसज्ञोंके विशेष रसज्ञ मर्मज्ञ मनसे संयोग होते ही बातकी बात या आनन फाननमें अकथनीय कमनीयता चातुरी अलौकिक हस्त-लघुता निपुणता और अप्रतिम प्रतिभासे सदा अमिट चित्र विचित्र वर्णविन्यास रङ्गीले चटकीले स्थायी रूपसे साङ्गोपाङ्ग सर्वाङ्ग सुन्दर चित्रित कर दिया करते है।

मनस्वी मर्मज्ञ सुविमल ज्ञानविज्ञानसुगन्धित सुजनमनसुमन-दल ही इन अनोखे शिल्पीशिरोमन अद्भुत चित्रकरकुलउजागर चतुर नरवरकुलकमलकमलाकरदिवाकर कविवराका सुन्दर सुविशाल सुयोग्य सर्वोत्तम सर्वगुणसम्पन्न अद्वितीय चित्रपट है। तिसपर विशेषता यह कि उस अनोखी अनुपम अद्वितीय त्रिलोकसुन्दरी सुविज्ञ सुरसिक जनमनतनविमोहिनी अनूप रूपछबिका अति चञ्चल अथिर अनदेखे मनपर केवल बलपूर्वक चित्रित और अंकित भर कर देना ही नहीं, बरुक हास्य लास्य, ओप कोप, सुधामधुर मुसकाना, इतराना, लोच, लोने चोचले चोखे चतुराई चरचाते चितमें चुभते जाते सुचारु चोज सहज मनहरन सुरनर ईस मुनीस तपसीस बसीकरन फूले चम्पेसे सुबरन सुबरन बरनवर अङ्ग अङ्गकी अतुल असीम फैलती फबती शोभाकी अपूर्व तरङ्गोंमें एक सङ्ग अनेकों अनङ्गोंको डुबाती तराती लोटपोट कराती, सविशेष तरसाती, सदा अनङ्गसङ्गिनी अङ्ग अङ्गकी हिलनमिलन

चितवही चितवनसुहाली चाल मनभाती लुभातीसे मत्तगयंदकुल-
नन्दिनी-गतिनिन्दिनी मदमाती ठुमकती आती राजमरालोंको भी उस
अपनी निराली गतिसे पग पगपर पगाती साथ ही लजाती भजाती उड़ाती
मानसरमें गहरे गोते खिलाती डुबाती जगत्भाती चटकमटक हास-
विलास केलिकिलोल बोल अमोलसे अतोल सुधा बरसाते छनछन अधिक
अधिक सरसाते हियजियमें चुभाते छिपाते दरसाते बारहों मास
नवरस सरस मूसलाधार धुआँधार बरसाते मनभावन सावनकी घनघोर
झड़ीसी लगाते, एकसे एक समधिक चमचमाते ओजओपभरे चमत्कारी
झकमकाते यतियमकतुकश्लेषविशेष विशेष रत्नजगमगाते अशेष
सार्थ अलंकारोंको अति सोहिनी मानसविमोहिनी चमक चपलासी चमकाते
लाजके जहाजसे अमीहलाहल मद नेहनेह सुहागअनुराग सील सुख
सुखमा लुटाते सनेह सुहाते मानो हाथ मिलते साथ हो सब गुन साथ
ही साथ प्रकटाते कारी कुटिल काले कटीले चुटीले सैनमैनमतवारे
सतत सहज मतवारे रतनारे अद्वितीय रचनाचतुर चतुराननके निज हाथों
परम चतुराईसे सँवारे नयनोंके तारोंकी झलक अलबेली नवेलीकी ललक
औ आँख मिलनेके साथ ही हियमें फाँस सी गड़ जाती जादूभरी नुकीली
छिपैली पलकसे पलकमें परलो दिखाते मारते जिलाते सुधबुध भुलाते
भटकाते दौड़ाते बहकाते थकाते उठाते बैठाते लुटकाते तरसाते रुलाते
हँसाते, बिन गाँस फाँसके अनायास फैलाये बिसासी सर्वनासी मोहजाल
अंजालमें फाँस बिबस कस बाँध जनमजनमको बँधुआ बनाते बीछीके
डंक सी अति तीखी विषबुझी मरोर तोर तिरछी तरवारसी कटीली
नुकीली भौंहकी कमान बिन जीहवारी दुधारीकारी कमान मुलतानीके
भी कान काटनेहारीसे कानतक तान तककर मारे अचूक प्राणघाती
सुतीछन ईछन कटाच्छ बानोंकी छिपे प्यार भरी मीठी मारसे बिसबुझे
दिगन्त लों मारे मारे फिरते मुँहकारे हारे हत्यारे भयभीत बानोंको
बिबस कस तरकसमें मुँह छिपानेको घुसा मानो अनन्तकालके लिये

उलटे लटकाती कठिन कारी कोरवारी कुटिल कटारी सहित दुसह दुराचारी प्राणहारी कठोर कट्टर कटारको भी गहरी हार मना इन दोनोंके बराबरको मुँह फेरती लजाती इनके सीसपर अपनी धौंसके धौंसे धमधमाती धाक बाँधती सदाके लिये दिग्विजयकी दुंदुभी सी बजाती अपनी जीतकी विजयवैजयन्तीसे सुगंभीर अमिट अंकित नेत्रोंके सुचारु चित्र विचित्र विजयनिदर्शनसे सदाको प्रत्यक्ष अंकित कराती दरसाती वशीकरनप्रसिद्ध सिद्ध मंत्रकी सिद्धिको बायें हाथके खेलसा सबपर सचमुच सुसिद्धकर दिखाती नित तरसाती अथाह आनन्दरस अथोर घोर सराबोर बरसाती छकाती उस सगुन सलोनी सब शोभाओं-की सीवसजीव मुँहसे बोलती हुई सी अनुपम रसमूर्त्तिका अतुलनीय अनोखा अति अद्भुत चमत्कार भी सविकार मानसपटपर प्रत्यक्ष दिखा देते हैं।

(विविध शब्दार्थलंकारलसित सुदर्शनीयदार्शनिकविचारविलसित अनूठी उक्तियुक्तिनव्योपमाभूषित सुभाषितसूक्तिरत्नाकरकी अद्वितीय द्वितीय आनन्दलहरी।)

(३)

अप्रतिहत गतिवाली अपनी अपूर्व अप्रतिम प्रतिभासे सहस्रकर दिवाकर विभावसु रविभाकी प्रभाको समयपर संकुचित और प्रभाहीन सी कर उस लोकचक्षु अंशुमालीको यथार्थनामा चित्रभानु बना चित्रभानुसा ही कर दिखानेवाले प्रवरमति सुकविवरोंके सिवा चराचरविधाता सुचतुर चतुरमुखने ऐसी विचित्र अनुपम प्रभाववाली विश्वविमोहिनी अद्वितीय शक्ति और बड़े बड़े नामी चतुरशिरोमणियोंको भी अपने चमत्कारकी चकाचौंधमें ला निरा भकुआ बनानेवाली और कहाँतक

कि समयपर त्रिलोकीनाथको भी उँगलियोंपर नचानेकी अद्भुत सामर्थ्य तो किसी दूसरेके भागविभागमें, कर्मफल फलानेको फूले फूलसे सविधि अंककलंकित लिलारपर कहीं भूलकर भी कभी संसारमें लिखी नहीं देखी गयी औ न जाती है। बिचारा कर्म्मोंका मारा विविध नीले पीले सुरंग रंगोंकी रचनाके फेरमें फंसा मानो कर्मफाँसकी अचूक गाँस-में गँसा आजन्म फटफटाता छटपटाता पूरी धीरता गम्भीरतासे मनही मन बांधनू बाँधता भी इस असाध्य कर्मभोगरोगके अटूट बंधनमें विवस बँधा तुच्छ रंगरेज सा चितेरा कब इन कविवरोंकी बराबरी कर सकता है? उसके साधनोंमें तो अति सावधानीसे लिखते समय एक भी रञ्च चञ्चल वा अस्थिर हो किसी कारणवश त्रिलर वा विचल जाय अथवा प्राणोंसे प्यारी अति दुलारी सदा सर्वत्र स्वच्छन्द बिहरने-हारी हँसमुख अभिसारी केलिकौतुकप्रवीनी रसभीनी स्वभावकी ही परम लोल ठठोल हवाकी सुरसिकलाके एक ही सामान्य झकोरेसे हिला भर जाय कि बस विवस मुँह ताकते हक्केबक्के हवाई उड़े मुखसे सम्मुख बैठे नीले पीले पड़े सिर धुनते चितेरेरामका साथ ही सब किया धरा बना बनाया बनता चित्रपट ही चौपट !!!

जैसे कारिख धूर धुआँ वा तेलबेलकी चिकनाईकी कीचा कीट गाद्य वा मैलसे चिकटे हुए अति मैले कुचैले पुराने धुराने पोतड़े अथवा कारिखके मुँह भी कारिख लगा चौगुनी चामकसे कालिमा चमकानेवाले अलकतरेमें डुबोये कज्जलगिरिके सुचिक्कन शृङ्गसे कटे छटे सब ओर घोर कारिख चामचमानेसे चौकोर गहरे कारे रंगके अयोग्य छिन्न भिन्न विषम असमतल फलकपर कालकोटरीके गाढ़े अंधियारेमें काली रेखाओंसे किसी चित्रका भी चारुतासे चित्रित करना त्रिकालमें असम्भव है वैसेही अपढ़ कुपढ़ अयोग्य अरसिक असम्पन्न असंस्कृत प्रतिभाहीन सुबुद्धिविहीन बिनमेधाकी मलिन जड़जड़तासे जकड़बन्द मन्दमति अति-मलिन मूर्ख महामोहकुलकीर्तिवर्धक महामन्दभागी मर्दचलो वरद्योंके

निपट अनाड़ी मनसे सुरसिकसिरोमन "जहाँ न जाँय रवि वहाँ जाँय कवि" कहावतके आदर्श रवि अपनी अनन्तमुखी अप्रतिम प्रतिभाएं प्रतिक्षण रविभाको सकुचाते चौदहों भुवनतक झकमकाते चमत्कार-चातुरीके अद्वितीय प्रकाशकी विजयतुरीकी सुरीली रसीली धुन सुन सिर धुनती कारी मुंहकारी सर्वथाहारी कलककी मारी कलकण्ठी कोइलिया दईमारी बिचारी विवस बनबसी हियड़सीकी हूक कूक विकल कलपाते कल-कण्ठसे अपने दसोंदिस विकसे सुजसकी विजयघोषध्वनि अवनितलपर विजन गहन बनकी आमडालियोंसे भी बारबार पुकार पुकार पुर पञ्चम सुरकी परम प्यारी उत्तरोत्तर चढ़ती ऊँचीध्वनिसे कराते मनुजकुलरवि सुकवियोंकी उस ऐसी सरस उक्तिका भाग्यवश बारम्बार संयोग होनेपर भी उस अभागेपर परम रम्यरचनाचतुरकवि कल्पनाकलित ललित अतुलित रूपनिकाईकी लुनाईसे सुरासुरविद्याधरकिन्नरनरमुनिवर-मनभाई सार्थ शब्दालंकारादि विविध विधसुन्दरभूषणविभूषणादिसिंगारोंसे अति सुघराईसे नखसिख सजी सजायी सुरस रसीली उस स्वच्छ चमकीली प्रतिमाकी तो आभामात्रका पड़ना झलकना प्रतिबिम्बित वा प्रतिफलित होना सर्वथा असम्भव और असाध्य ही है! वसे अनमिल अनगढ़ी सिल जैसे अति कूढ़ महामूढ़ अयोग्य अनुपयुक्तके संबंधमें तो "चिकने घड़ेपरकी बूँद"सी दशारङ्गरसभावप्रभावकी नितप्रति आँखोंसे देखनेमें आती है। आपसकी संसक्ति शक्तिके न रहनेसे जन्म-भर कहने सुननेसे भी उस थलमें क्या फल हो सकता है? शेष लेश-मात्र भी उनके मनके साथ छू तक नहीं जाता, क्योंकि सुभावके अनमिल होनेसे उसपर तो उसका तिलभर भी असर औ प्रभाव कभ पड़ ही नहीं सकता। संसक्तिके विना जब कि जलज होने पर भी परम सुकोमल कमलके दलपर जलकी बूंद ढलकती फिरती अन्तको गिरती ही है प्रवेश छोड़ परस्परके मेलका लवलेश तक छू नहीं जाता, अब कहो परले सिरके परम कूढ़ मूढ़के वज्रसे कठोर हियेसे सुकोमलताकी खान भावभरी नवरस-

प्रधान रसीली कविताकी संसक्ति हो ही कैसे सकती है ? इसीसे किसी कविने कर्म्मफलदाता विश्वविधाता धातासे बिनतीकर अपने भुक्त-भोगी मनका सटीक यथोचित भाव कैसी सरलता और सुन्दरतासे दरसाया है—

"इतर पाप फलानि यथेच्छया वितरतानि सहे चतुरानन ।
अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥"

यथार्थमें सुप्रवीण सदा रसलीन रसिकमण्डलीसे दूर भागे भागे फिरते अभागे अरसिक कर्म्मों के मारे बजमारे बज्रमूर्ख अज्ञ नरपशुओंको काव्य सुनाने जाना "भैंसके आगे बीन बजानी" ही है। हलकेसे हलके अनजाने अति कोमल साँस उसाससे भी मलिन उदास या विकासहीन होनेवाली सुन्दर स्वच्छ निर्मल विमल गुनगौरव मदमाती चमचमाती सुहाती आरसीपर ही यथार्थ अनुरूप रूपकी विमल आभाका प्रभावशाली प्रतिबिम्ब, सामना होते ही निराली मनमोहिनी छबिसे प्रतिबिम्बित और प्रतिफलित हो साफ झलकने लगता है। अपनीही परछाईं या प्रतिमाकी प्रतिबिम्बित आभा मानो समताकी स्पर्धासे बराबरीका दम भरती उसी समय सामना करनेको बराबर सामने आ खड़ी होती है ! भला, कहाँ अँधेरी कालकोठरी या काजरकी कोठरीकी मैली पुरानी काली मुँहकाली मकड़ीके जालों और धूल झूलके अविनाशी भण्डारसी गाढ़े अँधियारेकी खान तमतोमकी सबसे पुरानी महाजनी दुकानकी भयावनी भीतपर भी कभी मुँह दिखाई दिया है या दे सकता है, या उस पर किसी बिम्बका प्रतिबिम्ब ही पड़ सकता है ?

सुकविकी कविताके यथार्थ अर्थ, सुभाववर्णनका सजीव छाया-चित्र, सरसभाव, वाक्यका प्रभाव, गूढ़भाव, श्लेष और ध्वनिके ठीक ठीक मर्म और अन्तरके असली अभिप्रायको न समझनेवाले अरसिक मूढ़ोंके मन भी वैसीही गाढ़ी अँधेरी कालकोठरीके समान सदा अज्ञताकी कृपासे महामोहके प्रगाढ़ अंधकारकी गहरी गुफाके अन्दर गोरमें गड़े हुए-

से उस अनुपम सुन्दरी कविरचित रूपछविकी झलक पलक या अलकावलीकी निराली काली छटाका भी प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेको बिना पलक मारे मुँह बाये भौचक्केसे हो पलकभरके लिये भी सब प्रकारसे असमर्थ ही जन्मभर पड़े रहते हैं! यही कारण है कि पूर्वले पुण्यबलसे भाग्यवश कभी वैसा संयोग और अवसर आ भी जाता है तोभी कोरेके कोरे ही मुँह ताकते रह जाते हैं उन मन्दमति मूढ़ोंके अति मलिन संस्कारहीन मानस-पटपर उस अनूप रूपछविकी आभातक नहीं पड़ने पाती। जिस सुज्ञ मन-जनरञ्जन सुजनसमाजमें अवसरपर सहस्रोंका समागम सौभाग्यवश हो जाता है, जहाँ पठित अपठित, कोविद क्रूर, सुरसिक अरसिक, अबुध विबुध, सब श्रेणीके मनुष्यमात्रकी जनताकी परम अवधि इकट्ठी हो जाती है वहाँ जिस समय सुकवि सुपण्डितवरोंके मस्तिष्कसुमेरुके सोतेके अदृश्य प्रवाहसम स्वाभाविक प्रगल्भ प्रतिभास्रोतसे समुत्पन्न शब्दकल्पनाकलित सुललित अभिनव भावमाधुरीभरी छलकती अति मधुर रसीली स्रोतस्वती हंसवाहिनी सरस्वती हिन्दी-सरस्वतीका कविकी सुवर्णविन्यास समुत्सुक सरस रसनारूपी सदा सरस सुचमत्कारी उत्ससे कलरवकलकल-कलित अति सुललित प्रबल प्रवाहसा उमड़ा चला आता मर्मज्ञ रसिकोंके श्रवणपुटरन्ध्रकी राह मनतक पहुँच सुधासे सरस अनुपम काव्यरस चखाता है, उस समय उपस्थित श्रोतामात्र यद्यपि छन्दबन्दसे स्वच्छन्द समुच्चारित गहरी शब्दलहरीके प्रवाहपुञ्जका गुञ्जार समभावसे श्रवण करते हैं परन्तु उसका चमत्कार आनन्दरसास्वादन सबको सम तुल्य नहीं होता! जिसमें जितनी और जैसी योग्यता है, जो जैसा मर्मज्ञ और रसज्ञ है, गुरुकृपा और सुशिक्षासे सुसंस्कृत हो पूर्व जन्मके संस्कारानुसार जिसका मन जितना सर्वाङ्गसुन्दरतासम्पन्न बन गया है, जिसमें जैसी धारणाशक्ति और बुद्धि है वह तदनुसार ही उस सुने हुए शब्दपुञ्जसे सार संग्रहरण और नवरसका अभिनव आस्वादन भी करता है। अपने अपने मनकी स्वच्छता, योग्यता और सम्पन्नताके अनुरूप

हो उस चमत्कारी अपरूप रूपका नखसिख सजीला चमकीला प्रतिबिम्ब भी उसके मनपर पड़ता है। परम वदान्य मान्यवर कवि कोविद तो अनोखे सुधावारिदसे सबपर समदृष्टि और समभावसे खुले जी खुले हाथों सुरस वृष्टिकी गहरी बरसातसी झड़ी लगाते हैं, परन्तु उस सुरसिकसमाजपुष्पवाटिकाके किसी प्रान्तमें पतित परम पतित ऊसरसमान मूसरचंद मन्दमति मूर्ख अज्ञ और अरसिकोंके मन मरुथलपर भाग्यवश सुसंसर्ग प्रतापसे निपतित उन सुधासी सरस बूँदोंके भी अन्तरिक्षमें ही स्वाभाविक विलीन हो जानेसे बिचारे उस नवेली नवरसभरी सुधाकी बरसातमें भी उत्तप्त प्यासे और जैसे थे वैसेही शुष्क नीरस पड़े धूल उड़ाते हैं! कविकोविदोंकी कोमल कल्पनाकलित कमनीय कान्तिकी कान्तिमयी सुललित छाया उनके वैसे प्रगाढ़ तमाच्छन्न मलिन मनपर कैसे पड़ सकती है?

परन्तु मतिहीन अबुध मन्दमति अरसिकोंके अयोग्य संस्कारहीन-मलिन अथवा कुशाग्रबुद्धि चतुरोंके स्वच्छ मलहीन मनको भी उचित शिक्षासे समुचित उपयुक्त बना लिये बिना उनपर कविकी परम रसीली उक्तिछबिछबीलीका नखसिखलों अलंकृत सुघर सजीलीका सर्वाङ्गसुन्दर अनुरूप यथार्थ प्रतिबिम्ब कभी न पड़ेगा, जैसे अति स्वच्छ समतल काँचफलकपर भी जबतक पारद संयोगसे कलई न चढ़ायी जायगी तबतक (काँच) अनुरूप रूपको यथार्थरूपमें प्रतिबिम्बित दिखाने-में असमर्थ रहेगा वैसेही सर्वोत्तम बुद्धिमानको भी जबतक श्रीगुरुचरण-शरणमें जा साहित्यशास्त्रकी यथाविधि सुशिक्षासे ठीक ठीक संस्कार न उपजेगा तबतक उसके उस काँचफलकसम सुभावसे ही स्वच्छ मलहीन मनपर भी कविउक्ति-रूपिणी अनूप सुन्दरी उस छविका जैसा चाहिये वैसा सर्वाङ्गसम्पन्न सुस्पष्ट सुन्दर अनुरूप चित्र तो कभी अंकित हो न हो सकेगा। मन्दमतिके अति मलिन मनको रगड़ माँज, उसपरके पुरानी जमी हुई मलिनताकी गाढ़ी कालिमाको धोपोंछकर उसही रीतिसे

पूरी निपुणताके साथ दूर करना होगा कि जिस रीतिसे पुराने विशेष मलिन काँचको सावधानीसे जल और क्षारसंयोगसे धुल्के हाथों (कारण, बल प्रयोगसे दोनों टूटकर निकम्मे हो जाते हैं) उत्तमतासे स्वच्छकर कलईगर उसे कलई चढ़ाने योग्य कर लेता है। मनस्वी बुद्धिमानोंके मन स्वभावसे ही स्वच्छ होते हैं इसलिये प्रारम्भमें ही उस प्रकारसे उनके माँजने धोनेकी आवश्यकता नहीं होती, बस इतनी ही विशेषता है।

यथायोग्य शिक्षा-संस्कारसे सुसंस्कृत सुशिक्षित मन ही विषयोंका यथार्थ अर्थ, अभिप्राय और प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें समर्थ हो ज्ञान-विज्ञान लाभ करते हैं। जिसको सद्गुरुचरण-शरणमें जा जिस विद्याका ज्ञान लाभ हुआ है वह उसका मर्म भी भलीभाँति समझ समझा सकता है, दूसरोंका नहीं। कोरे शुष्क वैयाकरणोंकी तो गणना ही क्या है? साहित्यशास्त्रानभिज्ञ छवों शास्त्रोंका पारदर्शी पण्डित क्यों न हो जाय परन्तु कविताकामिनीका सम्यक् रसास्वाद तो दूरकी बात है साधारण पदविन्यासके अक्षरार्थ समझनेपर भी यथार्थ भावग्रहण करनेको सिर धुनता और हाथ पटकता ही जन्मभर भटकता फिरेगा! बिना काव्यके सुपण्डित आचार्य और मर्मज्ञके चरणोंका आसरा लिये कविकी निगूढ़ रसीली कटीली चमत्कारी ध्वनिका पूरी रीतिसे भाव समझकर शान्ति लाभ न कर सकेगा। यहाँ उदाहरणरूपसे एक ही छोटासा दोहा परीक्षार्थ दिया जाता है—

मुख धोवति एड़ी घिसति हँसति खड़ी ही तीर।
धँसति न इन्दीवर नयनि कालिन्दीके नीर॥

इसका अर्थमात्र समझ लेना सहज है परन्तु प्रत्येक शब्दका अर्थ समझकर यथार्थ भावतक पहुँच जाना वैसा सहज नहीं है। साहित्यसे अपरिचित अशिक्षितचित्त अरसिकमात्र इसके उस अनुपम अलौकिक रसास्वादसे सर्वथा वञ्चित ही सुशिक्षासंस्कारके लक्षित न

रहनेके कारण रहेंगे। इसमें व्यङ्ग क्या है? अलंकार कौनसा है? नायिका कौनसी है? उसका आशय और पद्यकी ध्वनि क्या है? कालिन्दीके सुशीतल नीरमें वह क्यों नहीं धँसती है? तीरपर ही खड़ी क्यों हँसती है और इस हँसीमें कौनसा आनन्द और क्या रस है? आदि मर्मकी घुण्डियोंको खोलकर अभ्यन्तर तक पहुँच समझना समझाना साहित्यके नवरस सरसभावतरंगसंकुलित अनन्त अपार अथाह असीम प्रशान्त सुगम्भीर रत्नाकरमें गहरा गोता मारकर विशेष प्रयाससे अनमोल अतोल रत्नचय सञ्चय करनेवाले रसिक मार्मिक चिन्ताशील विबुध और सुकवियोंका ही काम है। सबको सहजमें उन रत्नोंका लाभ छोड़ दर्शन होना भी दुर्लभ समझिये।

अपूर्ण।

प्राकृत-विचार

*(१)

मण्डलकी आदिभाषा देववाणीसे ही प्राकृत तथा वर्त्तमान प्राकृत इस हिन्दीका विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध है; परन्तु अपने ही मुंहसे अपनी विशेष विद्वत्ताकी दूकानदारी फैलाते इस समय कई एक ऐसे भी महानुभाव बता लिया है कि जिनका आन्तरिक उद्देश्य सत्यके तत्त्व-निर्णयसे सम्बन्ध न रखकर, अपनी भ्रान्तिको, खोंमें धूल झोंककर अभ्रान्त प्रतिपन्न करनेकी चेष्टामें ही होता है। भ्रमवश फारसीके मरा, तुरासे मेरा, तेरा तुम्हारा आदि शब्दोंकी उत्पत्ति सिद्ध करनेवाले महानुत्तर कोटिमें पहुंच गये, तो उपायान्तर न देख विशेष कमर कसकर अन्तको यही सिद्ध करनेकी चेष्टामें पूरी तत्पर हुए कि प्राकृत कोई भाषा ही नहीं। अज्ञ और अल्पज्ञोंकी झोंककर इस विषयमें उनकी बुद्धियोंको कुण्ठित कर देना है। परन्तु शास्त्रदर्शियोंको और भाषातत्त्वज्ञोंको बहकाकर नानेकी इच्छा करना, निरा लड़कपन ही है इसमें सन्देह

---

*र्त्ता (ता० ३ जन सन् १९०६) से उद्धृत।

नहीं। जिस प्राकृतके विविध व्याकरण और अनेकों भेद बहुत दिनोंसे प्रचलित हैं, और जिस प्राकृत भाषाके विविध उत्तमोत्तम ग्रन्थोंकी प्रशंसा महाकवि दण्डी आदि कर गये हैं, तथा साहित्य-दर्पणादि ग्रन्थोंमें भी जिनके भेदोंसे नाटकके पात्रोंकी भाषाका विशेष तारतम्य किया जाता है, वैसी सुप्रसिद्ध प्राकृतको संस्कृतसे भिन्न भाषा रूपमें न मानकर फूंकसे पहाड़ उड़ानेकी चेष्टा भी, अपनी धुनके अन्धाधुन्ध स्पेशल ट्रेनपर सवार हुए लोगोंने कर दिखायी। इसलिये इस स्थलपर उनकी उक्तिके सारांशकी परीक्षाके साथ ही प्राकृतकी उत्पत्ति, परिवारवृद्धि आदिसे कालान्तरमें इस वर्त्तमान प्राकृत हिन्दी भाषाका जन्म किस रीतिसे हुआ आदि बातोंका विचार अवश्य कर्त्तव्य है। इसलिये पहले प्राकृत सम्बन्धकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाली उस उक्तिका उद्धृत करना ही उचित है।

"प्राकृत वास्तवमें कोई संस्कृतसे स्वतन्त्र भाषा नहीं थी। वह केवल उच्चारणभ्रष्ट संस्कृत ही कही जाती थी। इस तात्पर्य्यके यथार्थ तत्वके बिना समझे ही पश्चिमीय विद्वानोंको प्राकृतके स्वतन्त्र भाषा होनेका भ्रम हो गया है। प्राकृतके जो अनेक नाम सुनायी पड़ते हैं—इससे उनका यह अभिप्राय निकालना ठीक नहीं है कि एक कोई आर्ष प्राकृत थी और उसके कुटुम्ब स्वरूप अनेक प्राकृतके रूप बन गये। विशाल भारतके जिस प्रान्तमें संस्कृतका जो बिगड़ा स्वरूप बना वही प्राकृत कहलाया। अतएव प्राकृतके सम्पूर्ण रूपोंकी उत्पत्ति संस्कृतसे उत्पन्न (!) हुई। कोई प्राकृत किसी दूसरी प्राकृतके गर्भमें परिपुष्ट हुई ; यह कल्पना यथार्थत्वके विपरीत है। प्राकृत कोई भाषा न थी ; यह संस्कृत भाषाके समकालीन ग्रामीण व तदानीन्तन अर्द्ध (!) शिक्षित लोगोंमें जो गुम्फसा बन गयी थी, वह प्राकृतके नामसे व्यवहार होती थी। अतएव प्राकृतके सर्व-स्वरूप या प्रकार सहज भाईके समान हैं, जो अपनी प्राणदात्री संस्कृतसे उत्पन्न हुए थे। + + + जिन काव्यादि (!) ग्रन्थोंमें अधिक

भाग प्राकृतका है, वह संस्कृतमें परिणत होते हैं प्राकृतमें नहीं। + + + अतएव इस भाषामें धर्मशास्त्र या अन्य उत्तम प्रबन्ध लिखे गये और उनमें साहित्य भाण्डारकी रचना हुई। यह कल्पना ही कल्पना है, इसके प्रमाणकी भित्ति परिपुष्ट मेदिनीतलपर स्थापित नहीं है। प्राकृतमें प्राचीन बौद्धोंकी दो चार छोटी छोटी पुस्तकें पायी जाती हैं और प्राकृत सूत्र उन नियमोंके बोधक मिलते हैं जिनसे विशुद्ध संस्कृतके शब्द भ्रष्ट होकर प्राकृत स्वरूपमें आ गये हैं। + + + जब संस्कृत भाषाका चलन बन्द हुआ तब जिस अशुद्ध (!) संस्कृत अर्थात् प्राकृतको बोलते रहे होंगे वही सर्वसाधारणकी भाषा हो गयी होगी। + + + + सच तो यह है कि यदि प्राकृत नियमबद्ध रहती तो संस्कृत बोलचालका लोप नहीं होता; क्योंकि वह जिस प्रकृतिके (की ?) आश्रित थी वह छूट नहीं सकती थी। प्राकृतके विकृति रूप होनेपर संस्कृत और उसकी प्राकृत दोनोंका अन्त हुआ। अतएव उसके पश्चात जो भाषा प्रचलित हुई उससे प्राकृतशब्द निर्माणशैलीसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहा।" इत्यादि।

मनुष्य अपने अर्जित ज्ञानानुसार सिद्धान्तोंपर ही पहुंच सकता है; इस कारणसे ही भिन्न भिन्न सिद्धान्तके लोगोंका अस्तित्व संसारमें सब देशोंमें देखनेमें आता है। इसलिये ऐसे लेखोंको देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। लिखनेवालेको जहाँ तक पहुंच है, उससे अधिककी उससे प्रत्याशा कैसे की जा सकती? परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हठ और दुराग्रहके कारण बुद्धिके विकृत होनेसे लेखकी असंलग्नताके साथ वदतोव्याघात आदि दोष अवश्य अनिवार्य हो जाते हैं। ऊपरके उद्धृत अंशसे उसका परिचय विज्ञजनोंको भली भाँति मिलता है। यह पहले भी लिखा जा चुका है कि वैदिक देववाणी जैसी प्राचीनतम आदि भाषा है तदनुरूप ही प्राकृत भी विशेष प्राचीन कालसे ही भारतमें प्रचलित चली आती है। गाथा नाम यद्यपि छन्द विशेषका भी है, तथापि गाथा नामकी अति प्राचीन प्राकृतका अस्तित्व वेदोंमें वर्त्तमान दिखता है। हां,

इसमें सन्देह नहीं कि जितने विशेष प्राचीन समयके ग्रन्थोंसे इसका पता लगाया जाता है, उतनी ही दृढ़ता इस बातपर आती है कि प्रथमावस्थामें प्राकृतके विविधरूप भी विशेषतासे उत्पन्न नहीं हुए थे और देशान्तरोंमें अनेकों नामोंसे उस समय प्राकृतका प्रचलन भी नहीं होने पाया था। प्राकृतका सबसे प्राचीन रूप वेदोंमें गाथा नामसे ही परिचित होता था और देववाणीसे मनुष्योंकी वाणी भिन्न प्रकारकी थी, इसका प्रमाण भी वेदोंमें वर्त्तमान दिखता है। भाषामात्रकी चार अवस्थाएं देखनेमें आती हैं, अस्फुट वा अति शैशवावस्था, सर्वाङ्गीन सौष्टव सम्पन्न उन्नत यौवनावस्था, ज्ञानगम्भीर-भावापन्न प्रौढ़ावस्था और अन्तिम चरमावस्था वा मृतावस्था। आदि भाषा अर्थात् सब भाषाओंकी जननी वैदिक देववाणीकी अस्फुट अर्थात् शैशवावस्थाका परिचय वेदोंमें सुस्पष्ट उक्त है। तदनन्तर इन्द्र आदि देवताओंके प्रवर्त्तित व्याकरण नियमोंसे उन्नतावस्थापर पहुंचनेके प्रमाण भी वेदोंमें विशेषतासे पाये जाते हैं। संस्कृत नाम, उक्त देववाणीका, व्याकरण आदि संस्कारोंसे सुसंस्कृत होने बाद ही पड़ा था। संस्कृतकी अपेक्षा देववाणी वा देवभाषा नाम प्राचीनतम है। महर्षि पाणिनिके सुप्रसिद्ध व्याकरणकी रचनाका समय हमारी उस संस्कृतकी प्रौढ़ावस्थाका ही समय था। उस समयके बाद ही चरमावस्था स्वभावतः उपस्थित हुई थी और संस्कृत उस समय देशकी प्रचलित भाषा नहीं रहने पायी थी। मृतावस्था अर्थात् Dead language डेडलैंगवेजकी दशामें पहुंचे भी संस्कृतको कुछ कमती समय नहीं बीता है। यद्यपि भ्रान्तिवश विलायती विद्वानोंका पहले यह मत भी कुछ दिनों तक प्रचलित था कि संस्कृत भाषा किसी समय भी किसी देशकी प्रचलित भाषा नहीं थी, परन्तु आनन्दका विषय है कि संस्कृतकी विशेष पर्य्यालोचनाके प्रभावसे विदेशी विद्वानोंका वह भ्रम थोड़े ही दिनोंमें दूर हो गया।

हमारे वेद पुराणोंसे पता लगता है कि मनुष्यसृष्टिसे पहले देवता

और असुरोंकी सृष्टि हुई थी। देवता उत्तम अंशोंसे उत्पन्न होनेके कारण सुसम्पन्न वाग्यन्त्र-विशिष्ट थे ; परन्तु असुरोंकी उत्पत्ति वैसे उत्तम अंशसे नहीं हुई थी, इसलिये उनके वाग्यन्त्र देवताओंकी भांति सुसम्पन्न नहीं थे। बहुतसे वर्णोंका उच्चारण करनेमें इस कारणसे ही असमर्थ हो असुर विकृत और अशुद्ध उच्चारण करते थे। इन बातोंका उल्लेख वेदोंमें सुस्पष्ट वर्त्तमान है। मनुष्योंकी सृष्टिके प्रारम्भमें ही सबसे पहले अग्रजन्मा ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे। इसलिये ब्राह्मण देवभाषा और मानुषीभाषा इन दोनोंके अधिकारी हुए। सुपठित लोगोंकी गार्हस्थभाषा निस्सन्देह सरलता सम्पन्न व्याकरणोंकी जकड़ बन्दीसे स्वतन्त्र रहकर स्वाभाविक कुछ कुछ विभिन्नता उत्पन्न करती सर्व्वत्र सब देशोंमें आज भी स्वभावतः दृष्टिगोचर होती है। भाषामें विभिन्नता और नवीन भाषाओंकी उत्पत्तिका स्वाभाविक नियम इस मूल भित्तिपर ही सुप्रतिष्ठित है। सुतराम् वैदिक वा आदिम देव-वाणीके अति प्राचीन कालमें भी गाथाकी उत्पत्ति उक्त नियमानुसार ही हुई थी। गाथा ही प्राकृतका प्राचीनतम प्रथम रूप है। अनन्तर उसके बहुत दिनों बाद ऋषियोंकी भाषाका नाम आर्ष वा "आर्ष प्राकृत" उत्पन्न हुआ। यह विषय काल्पनिक नहीं है। शास्त्रोंमें इसके अति पुष्ट प्रमाण वर्त्तमान है। "प्रथमायाः द्वितीया आर्षे" "सप्तम्याः तृतीया आर्षे" आदि प्राचीन वररुचिकृत प्राकृत लक्षणके सूत्रोंसे और हेम-चन्द्रके प्रसिद्ध व्याकरणके "आर्षम्" इस तृतीय सूत्रमें अति प्राचीन प्राकृतका "आर्ष प्राकृत" नाम प्रामाणिक है, इसमें सन्देह नहीं। हेम-चन्द्रने अपने तीसरे सूत्रकी अवस्थामें "ऋषीणाम् इदं आर्ष" "आर्ष प्राकृतं बहुलं भवति" आदि स्पष्ट लिखकर इसकी पुष्टता की है। पुराणोंमें आर्ष प्रयोगोंका बहुल प्रचार भी प्राचीन आर्ष प्राकृतकी देश-व्यापकताको ही सिद्ध करता है। सिवा इसके प्राकृतके जितने प्राचीन ग्रन्थोंका अवलोकन कीजियेगा उतनी ही नामभेद आदि संख्या प्राकृतकी

कमती जायगी। सुप्रसिद्ध संस्कृतज्ञ अंग्रेजोंने भी इस विषयको सिद्धान्त रूपसे माना है। प्रो० कौवेल वररुचिके प्राकृत व्याकरणकी उपक्रमणिकामें स्पष्ट लिखते हैं—

"As the older the grammarian is, the fewer we find the dialects to be." चण्डके प्राचीनतम प्राकृत-लक्षण नामके व्याकरणमें भी अपभ्रंश, पैशाचिकी और मागधी केवल ये तीन ही नाम प्राकृतोंके मिलते है। उनमें भी केवल उच्चारणकी सामान्य विभिन्नतामात्रके उस समय वर्त्तमान रहनेसे ३ सूत्रोंमें ही उनके विषयोंकी समाप्ति हो गयी दिखती है। यथा "न लोपो अपभ्रंशे अधोरेफस्य"। ३७। "पैशाचिक्यां रण-योर्लनौ"। ३८। ओर "मागधिकायां रसयोर्लशौ"। ३९। ये तीन ही सूत्र है। चण्डके समयतक अपभ्रंश प्राकृतमें अधःस्थित रेफका लोप न होना, पैशाचिकोंमें र और णका ल और नमें रूपान्तरित होना, तथा मागधीमें र और सका ल और श बन जानामात्र ही अन्तर था। इसके सिवा कोई भिन्नभाव प्राकृतभाषामें उस समयतक उत्पन्न नहीं होने पाया था। पुरातत्वान्वेषक परम प्रसिद्ध पण्डितवर जनरल ए० कनिङ्घम भी इन प्रत्यक्ष प्रमाणोंके अतिरिक्त अशोकके समयके शिलालेखों की आविष्क्रिया और उनकी प्राचीन प्राकृतके परिचयसे इस सिद्धान्तका ही सर्व्वथा समर्थन करते हैं। यथा—

"The Inscriptions of Asoka are quite invaluable for the study of the vernacular languages of India, as they present us with several undoubted and authentic texts of the common language of the people in the third century B. C. As revealed in these engraved records this spoken language was essentially the same throughout the

, fertile regions lying between the Hima-
d the Vindhya, from the banks of the
, the mouth of the Ganges There are
some marked points of difference which
at there were at least three distinct
of Pali (or Prakrit) in the time of
These may be called according to their
ical distribution, the Panjabi or north-
dialect, the Ujjeni or middle dialect, and
adhi or eastern dialect' (Corpus Inscrip-
ndicarum. Vol. I p. 43)

*(२)

लेंलि साहवने भी चरडके व्याकरणमे आर्ष प्राकृतसे
कौनसी भाषाका प्रयोजन था, इसे सरल रीतिसे
समझानेके लिये प्राकृत-लक्षणकी उपक्रमणिकामे ही

peaks of four Prakrits, viz, the Prakrit,
adhi, the Paisachi and the Apabramsa
s all mention of the so-called Maha-
and Saurasem ; further his rules on the
substantially contain everything, com-
scribed to the Maharashtri Prakrit,

तीं । ता० १० जून सन् १९०६) से उद्धृत ।

with the addition however of the nom sing in e, while he makes his Magadhi to differ from his Prakrit with regard to the changes of r (र) to l (ल) and s (स) to Sh (श). It thus seems to me very clear, that the Prakrit of Chanda is the Arsha or ancient (porana) form of the Arddhamagadhi, Maharashtri and Saurseni.

It would at the same time seem to be proved by Chanda's Grammar, that at that early period, the later division into Arddhamagadhi, Maharashtri and Saurseni probably did not yet exist; but that these three later subdivisions originally formed but one great language, which was looked upon as the (Standard) Prakrit.

पुरातत्ववित् अनेकों भाषाओंके पण्डित इन दोनों यूरोपीय विद्वानोंके उद्धृत लेखोंसे भी भलीभाँति सिद्ध होता है कि, "आर्ष-प्राकृत" निरी कपोल-कल्पित नहीं, प्रत्युत् ऋषियोंकी विशेष प्राचीन जिस भाषाका नाम 'आर्षप्रकृत' था, वही कालान्तरमें प्राकृत नामसे प्रसिद्ध हुई थी। आर्य्यावर्त्तके सिवाय दाक्षिणात्यके भी कुछ अंशमें उस समय तक उक्त प्राकृतका ही चलन था। उक्त प्रधान प्राकृत ही अधिकांश भारतीय प्रजाकी मातृभाषा थी और अपभ्रंश मागधी वा पैशाचीके नाममात्र देश और उच्चारणभेदसे ही उस प्राचीन समयमें उत्पन्न तो हुए थे, परन्तु वस्तुगत्या भिन्न भाषा रूपसे उस समयतक मागधी आदि प्राकृतोंका अस्तित्व ही नहीं था। आर्ष-प्राकृत वा प्रधान-प्राकृत ही उस समयकी देशव्यापिनी चलित भाषा थी। हृषीकेश शास्त्रीने अपने प्राकृत-व्याकरणमें इस कारणसे ही प्राकृत-भाषामात्रकी उत्पत्तिका किसी एक समयमें होना

स्वीकार न कर, कालान्तरमें विभिन्न प्राकृतोंकी उत्पत्ति भिन्न देशोंमें बद्धमूल होनेपर मानी है। आप लिखते हैं—

So long as the Sanskrit speaking Aryans were confined to their favourite home of Brahmavartta no great confusion of this language was possible. But when they began to emigrate into different parts of India the pure Sanskrit Euphony became affected by the climatic and other influcces of the several places to which they resorted. Thus several dialects differing from each other in minute points gradually sprang up under the common name of Prakrita.

अतः इसमें सन्देह नहीं कि चण्ड, वररुचि आदि प्राकृतवैयाकरण और संस्कृतज्ञ विद्वानोंके मतसे भी प्राचीनतर प्राकृत भाषाका नाम "आर्षप्राकृत" ही था। तदनन्तर उस आर्षप्राकृतको केवल प्राकृत अथवा महाराष्ट्री नामसे भी कालान्तरमें लोग परिचित कराने लगे। मृच्छकटिककी टीकामें लल्लदीक्षित भी लिख गये हैं कि—केषाञ्चिन्मते चतस्रो भाषाः शौरसेनी अवन्तिका प्राच्यामागध्यः। केषाञ्चिन्मते मगध्यवन्तिजाप्राच्या शौरसेन्यर्द्धमागधी वाह्लीका दाक्षिणात्याश्च सप्त भाषा प्रकीर्त्तिताः।" अन्यत्र—"संस्कृतप्राकृतञ्चैवापभ्रंशोऽथपिशाचिकी। मागधी शौरसेनी च षड्भाषाश्च प्रकीर्त्तिताः॥ प्राकृतमञ्जरीकी भूमिकामें भी लिखा दिखता है—

"निखिलेषु नव्यपुरातनेषु नाटकादि प्रबन्धेषु सांस्थापितानि पद्यरत्नानि अनवगत मूलानि न यथातथ्येन सामान्यधिषणानां व्युत्पित्सूनामपि भावावगमक्षमानीति न केवलं व्यर्थं प्रयत्नानीव प्रतिभान्ति। अपितु घृतप्रपानक रसास्वाद प्रत्यूहताक कतृणपात मनुकुर्व्वन्तीति तन्मू,

लालोचनोत्कलिकाकुला अभाविषत् परीक्षणविचक्षणाः वयञ्च उपालप्स्म-हि च कतिचित्तदुपयोगीति प्राकृतकल्पलतिका, प्राकृतप्रकाश, हेमचन्द्र प्राकृत षड्भाषा चन्द्रिका, प्राकृतमञ्जरी प्रभृतीनि पुरातनानि प्राकृत व्याकृति पुस्तकानि, तेषुच प्राकृत भाषाः षड्विधाः गुणप्रधान भावेन यथाशास्त्रं प्रदर्शिताः तासान्नामानि उत्पत्तिकारणं विनियोग नियमाश्च उपरिष्टान्नि-वेदयिष्यन्ती। तासु चेयमेकतमस्य प्राथमकल्पिकस्य बहुशस्सर्व्वत्रो-पलभ्यमानस्य प्राकृतभाषारत्नस्य प्रमित्य परिचायिका, प्राकृतमिति च प्रकृतिः संस्कृतम् तत्रभवं तत आगतं वा तद्विकृतीति वक्ष्यते प्रकृत्या (स्वभावेन) सिद्धं प्राकृत मितिचैके इयञ्च त्रिविधा तथा चोक्तम्—

त्रिविधा प्राकृती भाषा, भवेद्देश्या च तत्समा
तद्भवा च भवेद्देश्या, तत्र लक्षणमन्तरा
तत्समा संस्कृतसमानेया संकृतवर्त्मना
तद्भवासंस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा
द्विविधायाश्च सिद्ध्यर्थं प्राकृतं लक्षणं मतम्।

तथा—

यद्यपि वाल्मीकि महामुनिप्रणीत सूत्राण्यतः पुरातनानि यद्वृत्तिः षड्भाषाचन्द्रिकेति पुरोट्टङ्किता सापि सर्व्वतो मान्यतमा सुशोभनापि।

पुनः—

भाषाद्विधा संस्कृताच प्राकृतीचेति भेदतः। कौमारपाणिनीयादि संस्कृता संस्कृता मता। इयं तु देवआदानां मुनीनान्नायकस्य च। विप्रक्षत्रवणिकशुद्रमल्लिकञ्च् ुकिनामपि। लिंगिनाञ्च विटादीनां अनीचानां प्रयुज्यते। प्रकृतिः संस्कृता यास्तु विकृतिः प्राकृतीमता। षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी पैशाची चूलिका पेशाच्यपभ्रंश इति-क्रमात्। तत्रतु प्राकृतन्नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः॥

तथाचोक्तं दण्डिना—

"महाराष्ट्राश्रयां भाषांप्रकृष्टप्राकृतं विदुः
सागरस्सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादिर्यन्मयः"
शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते
मगधोत्पन्नभाषां तां मागधीं सम्प्रचक्षते
पिशाचदेशनियतं पैशाचीद्वितयं भवेत् ।

+ + + +

अपभ्रंशस्तु भाषास्यात् आभीरादि गिरांचयः
क्वचित्प्रयोगा न ईहत्वात् नापशब्दः स तु क्वचित् ॥

तथाचोक्तं दण्डिना—

आभीरादि गिरः काव्येष्वपभ्रंशाइतिस्मृताः
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यत् अपभ्रंशतयोदितम्
अथ तासां विनियोगः
तत्रतु प्राकृतं स्त्रीणां सर्व्वासां नियतं भवेत्
क्वचिद्देवीगणिकामन्त्रिराजादि योषिताम्
योगिन्यप्सरसां शिल्पकारिण्याऽपि संस्कृतं
ये नीचाः कर्म्मणा जात्या तेषां प्राकृतमुच्यते
छद्मलिंगवतां तद्वत् जैनानामिति केचन
प्रायेण प्राकृतस्थाने शौरसेनी प्रयुज्यते
धीवराद्यतिनीचेषु मागधी विनियुज्यते
रक्ष पिशाचनीचेषु पैशाचीं द्वितयं भवेत्
अपभ्रंशस्तु चाण्डाल-यवनादिषु युज्यते
नाटकादौ अपभ्रंश-विन्यासस्यासहिष्णवः
अन्ये चाण्डालकादीनां मागध्यादि प्रयुज्यते

भाषाभेदे कारणान्याह—

सर्व्वेषां कारणवशात् कार्य्ये भाषाविपर्य्ययः
महात्म्यस्य परिभ्रंशं यद्स्यातिशयं तथा
प्रच्छादनञ्च विभ्रान्तिं यथालिखितवाचनं
कदाचित् अनुवादश्च कारणानि प्रचक्षते ॥

प्राकृतके प्राचीनतर वैयाकरण चण्डके व्याकरणके पहले सूत्रकी टीकामें भी "प्रकृतिःसंस्कृतं तत्र भवं ततः आगतं वा प्राकृतं" प्राकृतका यह सर्व्वमान्य लक्षण ही किया दिखता है। साथ ही—"संस्कृतं स्वर्गिणां भाषाशब्दशास्त्रेषु निश्चिता। प्राकृतं तज्जन्तत्तुल्यं देश्यादिकमनेकधा" ॥ स्पष्ट लिखकर प्राकृतको संस्कृतसे विभिन्न भाषामें ही गिनाया है। भारतीय प्रातःस्मरणीय वैयाकरणपुङ्गव और अनेक भाषातत्वज्ञ पण्डित मण्डलीसे प्रारम्भकर यूरोपीय भाषातत्वज्ञ पण्डितों तक एकका भी इस विषयमें मतभेद नहीं है। प्राकृत भाषाको संस्कृतसे स्वतन्त्र भाषा ही विद्वानमात्र स्वीकार करते हैं। विशेष प्रमाणोंकी इस विषयमें कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

जिन पण्डितमन्योंका संसारसे विरुद्ध यह अनूठा सिद्धान्त है कि "प्राकृतमें प्राचीन बौद्धोंकी दो चार छोटी छोटी (!) पुस्तकें पायी जाती हैं" तथा "इस भाषामें * * साहित्य भाण्डारकी रचना हुई, यह कल्पना ही कल्पना है। इसके प्रमाणकी भित्ति परिपुष्ट मेदिनीतलपर स्थापित नहीं है," उनसे वादमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा नहीं है, परन्तु कर्त्तव्यवश यहां इतना लिख देना उचित है कि गुजरातप्रान्तमें और दक्षिणमें ऐसे पुस्तकालय (लाइब्रेरी) हैं कि जिनमें प्राकृत और पाली भाषाके ही ग्रन्थोंका संग्रह है, और 'क्षणिक विज्ञानवाद' आदि दर्शन शास्त्रोंकी उत्तमोत्तम तथा जैन बौद्ध धर्म्म, साहित्य और इतिहासकी भी ऐसी ऐसी अनूठी इतनी पोथियां भरी पड़ी हैं कि परिश्रमी बुद्धिमानका भी एक जन्ममें उन सबका आद्यन्त पढ़ लेना असम्भव है। प्रचलित प्राकृतके

व्याकरणोंके थोड़ेसे नाम यहां पाठकोंको अवगतिके लिये लिखे जाते हैं। यथा, चण्डकृत प्राकृत लक्षण, वररुचिकृत प्राकृत प्रकाश, और प्राकृत मञ्जरी, प्राकृत कल्पलतिका, प्राकृत षड्भाषा चन्द्रिका, कच्चायन (कात्यायन) मोग्गलायन (मौद्गलायन) सद्दनीति (शब्दनीति), व्याकरण, मार्कण्डेयकी प्राकृत सर्व्वस्व, सिद्ध हेमचन्द्रकी प्राकृताष्टाध्यायी, प्राकृत लंकेश्वर, शुभचन्द्र क्रमदीश्वर, त्रिविक्रम, सिंहराज, रूपसिद्धि, महानिरुत्ति, चूलनिरुत्ति, निरुत्तिपीठक, पयोगसिद्धि, मोग्गलायन वुत्ति सुसद्द सिद्धि, पदसाधनी, कुलसद्दनीति, सम्बन्ध चिन्ता, कच्चायनभेद, सद्दात्थभेद-चिन्ता, कारिका, कारिकावुत्ति, विभत्यत्थ, गण्डहत्थी, वाचकोपदेश, नय-लक्खन विभावनी, निरुति संगह, कच्चायन सार, विभत्यन्थ दीपनी, सनवन्नन्याय-दीपनी, बालप्पबोधन, कारक-पुप्फमञ्जरी, गुलहस्य दीपनी, मुक्खमत्तसार, सद्दविन्दु, सद्दकालिका, सद्दविनिच्छय आदि।

जिस भाषामें प्रसिद्ध व्याकरणोंकी संख्या इतनी है कि सबके नामका संग्रह करनेपर एक पोथा बन जाना सम्भव है, जिस प्राकृतकी उत्तमत्ता और जिसके अनुपम साहित्यकी प्रशंसामें महाकवि दण्डी "सागर स्सूक्तिरत्नानां सेतबन्धादि यन्मयः॥" लिखकर प्राकृत "सेतुबन्धादि" ग्रन्थोंको सूक्तिरत्नोंका सागर लिख गये हैं, उस सुप्रसिद्ध प्राकृत भाषाको स्वतन्त्र भाषा ही न स्वीकार करना, कैसी अनोखी धृष्टता और सीमातिरिक्त निर्लज्जता है, इसे पाठक आप ही विचार देखें।

विविध विद्वानोंकी उद्धृत प्राकृत भाषासम्बन्धिनी उक्ति और प्रमाणोंसे भली भाँति सिद्ध होता है कि क्रम क्रमसे देशान्तरोंकी विभिन्नताके आधिक्यसे प्राकृत भाषाके अनेकों नाम और इसकी विविध शाखा प्रशाखाओंका उद्गम कालान्तरमें ही हुआ था। पहले तो आर्ष प्राकृत या शुद्ध प्राकृत नामकी देशव्यापिनी एक ही भाषा थी। कालान्तरमें उस आर्ष प्राकृतका नाम हो महाराष्ट्री भी उत्पन्न हुआ। वररुचिके प्राकृत

प्रकाशमें इसका सूत्रपात हुआ माना जाता है। यद्यपि वररुचिने अपने सुप्रसिद्ध व्याकरण प्राकृतप्रकाशके किसी प्रकरणमें भी महाराष्ट्री प्राकृतका उल्लेख नहीं किया है, व्याकरणका नाम भी प्राकृतप्रकाश ही रखा है, परन्तु अन्तके १२ वें परिच्छेदका "शेषं महाराष्ट्रीवत्" यह ३२ वां सूत्र ही उस प्राचीन आर्ष प्राकृत या प्राकृतका नाम महाराष्ट्री" भी निर्देश करता है। चण्डके प्राकृत लक्षणमें तो मागधी, पैशाची और अपभ्रंशके सामान्य उच्चारणभेद दर्शानेको तीन ही सूत्र दिये हैं; परन्तु वररुचिके प्राकृत प्रकाशमें दशम परिच्छेदमें मागधी और पैशाचीको प्रकृति शौरसेनी बताकर १४ सूत्रोंमें पैशाचीका और १६ सूत्रोंमे मागधीका निराकरण कर दिया है। अन्तको शौरसेनीको प्रकृति प्राकृतकी भाँति संस्कृत ही मानी है और ३२ सूत्रोंमें शौरसेनीके प्रकरणको भी समाप्त किया है। इन सूत्रोंकी संख्या और इनके विचारसे ही भलीभाँति निश्चय हो जाता है कि वररुचिसे चण्ड विशेष प्राचीनतम थे। चण्डके समय, शौरसेनी नामकी स्वतन्त्र प्राकृत उत्पन्न हो नहीं हुई थी और मागधी, पैशाची और अपभ्रंश प्राकृतोंमे भी देश भेदसे केवल एक या दो अक्षरोंके उच्चारण मात्रका ही भेद उत्पन्न होने पाया था। वस्तुगत्या प्राकृतका भाषाभेद विशेषरूपसे चण्डके समयतक नहीं उत्पन्न हुआ था। सुतराम् चण्डसे वररुचिका समय विशेष अर्वाचीन है, इसमें सन्देह नहीं।



यद्यपि वररुचिकृत प्राकृत प्रकाशके केवल अन्तिम परिच्छेदमें उक्त आर्षप्राकृत अथवा प्रसिद्धप्राकृतको महाराष्ट्री नामसे परिचित किया है, तथापि इसमें सन्देह [illegible] कि उस आर्ष प्राकृतका नाम ही भविष्यमें महाराष्ट्री भी प्रसिद्ध हो [illegible] था। इस महाराष्ट्री नामको वर्त्तमान महाराष्ट्री वा मराठी अथवा [illegible]राष्ट्र देशकी भाषा समझकर बहुतसे लोग भ्रान्तिके वशवर्त्ती हुए। [illegible]मान समयमें भी कतिपय विद्वान विशेष आग्रहसे इस विषयके सिद्ध [illegible]नेमें बारंबार प्रयत्नशील देखनेमें आते हैं कि उक्त महाराष्ट्री प्राकृत, [illegible]मान महाराष्ट्री अर्थात् मराठी भाषासे अभिन्न है। भारतवर्षमें [illegible]ठी बोलनेवाले मनुष्योंकी संख्या अनुमान १ करोड़ ३० लाखके हैं, [illegible] ये १ लाख [illegible]३ हजार वर्ग मील भूखण्डपर बसे हुए हैं। मनुष्यों[illegible] संख्या और भूप्रदेशके परिमाणसे इस "महाराष्ट्र देशको यथार्थमें [illegible]हाराष्ट्र" नहीं कह सकते हैं। कारण, इसी भारतवर्षके अन्य भाषा[illegible]षी लोगोंकी जनसंख्या भी इनकी अपेक्षा अत्यन्त अधिक है, और [illegible]स देशमें वे बसते हैं उसका परिमाण भी उक्त महाराष्ट्र देशकी भूमि[illegible] अपेक्षा विशेष लम्बा चौड़ा और बड़ा देखनेमें आता है। इस हिसाबसे [illegible] देशका नाम भूपरिमाण वा जनसंख्याके अनुसार तो महाराष्ट्र [illegible]ापि नहीं हो सकता। रूढ़ि अर्थसे महाराष्ट्र देश और मराठी [illegible]षाकी प्रसिद्धि बनी हुई दिखती है। वररुचिने जिस प्राचीन आर्ष [illegible]कृतको अपने सुप्रसिद्ध व्याकरणमें महाराष्ट्री नामसे सुपरिचित [illegible]या है। उस महाराष्ट्रीका वर्त्तमान महाराष्ट्री भाषा वा महाराष्ट्र

---

* 'हितवार्त्ता' (ता० १८ जून सन् १९०९) से उद्धृत।

देशमात्रसे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध और घनिष्ठता नहीं है। जिन लोगोंने प्राकृत भाषाओंके विवेचनका परिश्रम स्वीकार किया है, वे मुक्त कण्ठसे कहेंगे कि उस प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृतकी प्रकृतिसे वर्त्तमान मराठी भाषाका ऐसा विशेष कोई सम्बन्ध परिलक्षित नहीं होता कि जिससे इन दोनों भाषाओंको अभिन्न वा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध शृङ्खलामें आबद्ध मान सकें। वर्त्तमान मराठीके कुछ शब्दोंका जैसा सादृश्य उस प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृतसे मिलाकर दिखाया जा सकता है, वैसा ही भारतकी सुप्रसिद्ध हिन्दी आदि अन्य भाषाओंसे भी दिखाया जा सकता है। विशेष कर हिन्दीका सादृश्य मराठीसे भी अनेकों अंशोंमें विशेष बढ़ा बढ़ा दिखाया जा सकता है। अतएव उक्त प्राचीन आर्ष प्राकृत या महाराष्ट्री प्राकृतको वर्त्तमान मराठी भाषासे अभिन्न मानना किसी प्रकारसे भी युक्तिसङ्गत और प्रामाणिक नहीं है। प्राकृत वैयाकरण पण्डितोंमें भी इस विषयका पूर्व्वकालमें विचार उत्पन्न हुआ था, और उन दूरदर्शी सज्जनोंने साधारण लोगोंको इस प्रकारकी भ्रान्तिसे अलग रखनेके लिये एक बड़े ही सुन्दर उपायका भी अवलम्बन किया था। सिद्ध हेमचन्द्र, त्रिविक्रम और शुभचन्द्र आदि प्राकृतके सुप्रसिद्ध वैयाकरण पश्चिम और दक्षिण भारतके निवासी थे और मराठी भाषासे इनका परिचय भी भली भांति था। इसलिये ही (इन दूरदर्शी विद्वानोंने यह सोचकर कि महाराष्ट्री नामसे साधारण लोगोंमें कालान्तरमें भ्रमका उत्पन्न होना सम्भव है.) उक्त वैयाकरण महानुभावोंने स्वरचित ग्रन्थोंमें आर्ष प्राकृतका नाम महाराष्ट्री कहीं नहीं लिखा। केवल क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय, लक्ष्मीधर और रामतर्कवागीश आदि पूर्व्व देशके निवासी उस श्रेणीके वैयाकरण विद्वानोंने महाराष्ट्री नामका स्वरचित ग्रन्थोंमे उल्लेख भी किया है और उसे महाराष्ट्र देशकी भाषा भी माना है, कि जिनको यथार्थमें मराठी भाषाका परिचय वा संस्कारमात्र पूर्व्व-देशनिवासी होनेके कारण नहीं था। वर्त्तमान समयमें इन कारणोंसे ही बहुतसे

लोगोंके चित्तमें भ्रान्ति उत्पन्न होती है। परन्तु सूक्ष्म विचारसे अनुशीलन करनेपर इस भ्रान्तिकी स्थिति नहीं रह सकती। केवल एक ही विषयका अभिनिविष्ट चित्तसे विचारकर देखनेपर पाठकोंको सुस्पष्ट प्रतीति हो जायगी कि उस प्राचीन महाराष्ट्री नामके उत्पन्न होनेका कारण भी दूसरा ही था और वह भाषा भी वर्त्तमान मराठीसे सर्वथा भिन्न थी।

सुप्रसिद्ध पुरातत्ववित् कनिंगहाम साहबने महाराज अशोकके समयके शिलालेखोंकी आविष्क्रियासे इस विषयको उत्तम प्रकारसे सुसिद्ध कर दिखाया है कि, आर्य्यावर्त्तका प्रायः पूरा हिस्सा और कुछ अंश दाक्षिणात्यका भी अशोकके समयमें जिस प्राकृतको मातृभाषा रूपसे वर्त्तता था, उस प्राकृतका नाम ही महाराष्ट्री प्राकृत था। अपभ्रंश (नं० २) और मागधी प्राकृत आदि उसको ही प्रान्तीय भाषाओंमें केवल कतिपय अक्षरोंके उच्चारणमात्रकी विभिन्नता वर्त्तमान थी। उधर वररुचिकृत प्राकृत लक्षण नामक प्राचीन प्राकृत व्याकरणके अवलोकनसे भी इसी सिद्धान्तपर आना पड़ता है। सुतराम् इसमें सन्देह नहीं कि, जिस स्वल्पदेश व्यापिनी वर्त्तमान मराठीसे इसके महाराष्ट्री नामकी केवल एकतामात्र है, यथार्थमें उससे इसकी सर्वथा विभिन्नता ही माननी पड़ेगी। केवल नाम सादृश्यसे इन दोनोंको एक मान लेना ठीक न होगा। अवश्य इस नामकी एकताने भ्रान्तिका विस्तार विशेषतासे किया है, जिससे कि यूरोपीय विद्वानोंको भी इस अंशमें सन्देह अवश्य उत्पन्न हुआ और अन्तको वे इस सिद्धान्तपर उपस्थित हुए कि महाराष्ट्री प्राकृत नाम महाराष्ट्र देशमें उत्पत्ति होनेके कारणसे नहीं पड़ा और प्राकृत व्याकरणोंने भी यथार्थमें इन नामोंका तत्तद्देशजन्य वा तद्देशव्यापकमात्र न मानकर गद्य और पद्यकी भारतव्यापिनी परिमार्जित परमोन्नत प्रधान प्राकृत होनेके कारण ही इसे प्रधान भाषारूपसे माना है। वररुचिके समय पश्चिमोत्तर भारत संचलित प्रायः आर्य्यावर्त्त प्रदेशमात्रकी भाषा ही

उक्त महाराष्ट्री प्राकृत थी। वररुचिके बादके प्राकृतके सब वैयाकरणोंने इसे ही प्रधान प्राकृत भी माना है। यहाँ तक कि साहित्यदर्पणमें भी कविता और गीतकी रचनाकी आज्ञा उक्त महाराष्ट्री प्राकृतमें ही करने-की दी है। आज दिन हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेके प्रयासी जिस अभिप्रायसे राष्ट्रभाषा पदका प्रयोग करते हैं और राष्ट्रभाषा शब्दमें जिस अर्थासे राष्ट्र शब्द प्रयुक्त होता है, ठीक उसी रीतिसे भारतवर्षके सुविस्तीर्ण भूविभागान्तर्भुक्त महान् प्रदेशोंका व्यापिका बोधक ही उक्त महाराष्ट्र शब्द उक्त महाराष्ट्री सम्बन्धमें प्रयुक्त हुआ निश्चित होता है। महाकवि दण्डीने भी "महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टप्राकृतं विदुः। साग-रस्सूक्ति रत्नानाँ सेतुबन्धादि यन्मयः॥" आदि वाक्योंसे उस महाराष्ट्री प्राकृतकी सुविशाल महाराष्ट्र वा महादेश व्यापकता सूचन करनेके साथ ही प्राकृतोंमें सर्वोत्कृष्ट प्रतिपन्नकर महाराष्ट्री प्राकृतको सबसे गौरवा-न्वित ऊंचे आसनपर सुप्रतिष्ठित किया था। उक्त महाराष्ट्री महाराष्ट्र वा महादेशकी व्यापक भाषा थी, इसीसे "महाराष्ट्राश्रयां" अक्षरशः सत्य विशेषण इसका शब्द-विन्यासचतुर महाकवि दण्डीने दिया था। अन्यथा महाराष्ट्र देश वा मराठी भाषासे उस समयकी उस महाराष्ट्री प्राकृतका किसी प्रकारका कोई वैसा सम्बन्ध नहीं था।

परम प्राचीन आर्ष प्राकृत अथवा महाराष्ट्री प्राकृतकी देशव्यापकता और उत्तमत्ताका परिचय प्राप्त होनेपर भी जिन महात्माओंके हृदयमें इस अनोखी शंकाके उत्पन्न होनेका कुछ अवकाश अवशिष्ट रह गया हो कि, प्राकृत कोई भाषा ही नहीं थी, उनसे पुनः प्रार्थना है कि प्राकृत शब्दोंको तद्भव, तत्सम और देशी संज्ञाओंपर तुक ध्यान देकर विचार करें। "यज्ञो" शब्द शुद्ध संस्कृत हैं, परन्तु प्राकृतमें "जन्नो" शब्दका प्रचलन है। इस "जन्नो" शब्दको तद्भव होनेपर भी बुद्धिमान मात्र कदापि संस्कृत नहीं कह सकते। वैसे ही सदो, सोमो कन्दर्ल आदि संस्कृत शब्द नहीं हैं। किञ्चित विकार और प्राकृत विभक्तियुक्त होनेके

मम कहलानेपर भी प्राकृतमें इन शब्दोंको संस्कृत नहीं मान
संस्कृतसम वा तत्सम प्राकृत शब्द ही कहना पड़ेगा।
दशा प्रत्यक्ष है, तब प्राकृतकी निज सम्पत्ति देशी शब्दोंके
तो त्रिकालमें भी कोई संस्कृत :सिद्ध करनेका प्रयासी
त्रु कहानेका साहस ही न करेगा। सुतराम् प्राकृत
मूह निज प्राकृतकी हो सम्पत्ति ठहरते हैं। इस दशामें
अस्तित्व ही स्वीकार न करना, कैसी अनोखी पण्डिताई-
ै, पाठक स्वयं विचार देखें।

*(४)

ह तो निश्चय है कि, जिस समय चण्डने "प्राकृत-
लक्षण" नामका व्याकरण रचा था, उस समयतक
उक्त आर्ष-प्राकृतका नाम महाराष्ट्री प्रसिद्ध नहीं था।
भारतव्यापिनी इस प्राचीन आर्ष-प्राकृत वा प्रधान प्राकृतके
देसे अपभ्रंश (न० २) पैशाची और मागधी केवल ये ही तीन
न्न हुए थे। अर्थात् प्रधान प्राकृतके सिवाय देशभेद
भेदसे तबतक केवल तीन विभिन्न नाम प्राकृतोंके थे।
नोंकी विभिन्नता क्रमशः विशेष बढ़ती गयी, इसलिये
करणोंको अपने व्याकरणोंमें उन्हें भिन्न प्राकृत भाषा
लिये भिन्न और स्वतन्त्र नियम भी बनाने पड़े थे। उक्त
ी और मागधीकी उत्पत्तिका समय भी एक नहीं है और
रता भी अत्यन्त अधिक है। अपभ्रंश और पैशाची प्राकृत
ोली जाती थी, उनकी तो सीमा भी अवश्य आपसमें

ी (ता० २४ जून सन् १९०९) से उद्धृत।

मिलती जुलती थी, परन्तु जिस मगध देशमें जन्म लेनेके कारण मागधी नाम पड़ा वह देश ऊपरके लिखे देशोंसे अत्यन्त ही दूरवर्त्ती निम्नतम प्रदेश था ; और मागधीकी उत्पत्ति भी अपभ्रंश और पैशाचिकी प्राकृतकी उत्पत्तिके सहस्र वर्ष पीछे ही हुई, अनुमित होती है।

परन्तु इधर देखिये तो बौद्ध धर्म्मावलम्बी ग्रन्थकार मागधीको ही प्राकृतोंमें सर्व्वप्रधान मान इसे सबसे ऊँचा आसन देते हैं। मोद्गलायनके व्याकरण प्रयोग सिद्धिमें तथा बौद्ध मतकी उससे भी प्राचीन पुस्तकोंमें स्पष्ट यह वचन लिखा दिखता है कि—

" सा मागधी मूलभासा
नरा याथादिकप्पिका।
ब्राह्मणाचस्सुतालापा
सम्बुद्धा चापिभासरे ॥

अर्थात् उक्त मागधी ही मूल भाषा थी, जिसमें आदि कल्पके मनुष्य ब्राह्मण आदिने सर्व्व प्रधान बुद्ध देवसे उस भाषामें उपदेश सुने थे। "विभाग अनुव" नामक बौद्ध मतके ग्रन्थमें मागधी और पाली भाषाको अभिन्न एक ही भाषा स्थिर कर यह भी निराकरण किया है कि, "यदि द्राविड़ी माताके गर्भ और अन्धक (अन्ध्र ?) पिताके वीर्य्यसे उत्पन्न पुत्र सबसे पहले माताकी भाषा सुनेगा, तो वह द्राविड़ी भाषामें ही बोलेगा, परन्तु यदि पहले वह बालक अपने पिताका सम्भाषण सुनेगा तो अन्धक (अन्ध्र ?) भाषा बोलेगा ; परन्तु यदि उन दोनोंमें किसीकी भाषा न सुनेगा, तो मागधी ही बोलेगा। वैसे ही यदि किसीको बिना भाषा सिखाये किसी निर्जन वनमें आबद्ध रखियेगा तो वह भी मागधी भाषामें बोलनेका ही प्रयत्न करेगा। सब भाषाओंका परिवर्त्तन होता है, केवल पालीका (मागधीका) नहीं, जो कि, आर्य और ब्राह्मणोंकी भाषा है" यथार्थमें जैन और बौद्ध मतके ग्रन्थोंमें ऐसी ऐसी बहुत सी बातें मागधी अर्थात् पाली भाषाके सम्बन्धमें लिखी हुई दिखती हैं।

अपने धर्मग्रन्थकी भाषाकी विशेष प्रशंसाका अतिरंजित वर्णन ही इस प्रकारके लेखोंको समझना चाहिये। इनमें सुस्पष्ट मिथ्या प्रशंसा भरी हुई दिखती है। जिस आदि कालमें आदिकल्पकी सृष्टिकी उत्पत्ति हुई थी, और अग्रजन्मा ब्राह्मण हिमालयके पर्वतशृङ्गोंपर निवास करते महर्षि प्रदेश और ब्रह्मावर्त्त तक क्रमशः बस गये थे, उस समय तक यथार्थ पूछिये तो मगध देशकी ही उत्पत्ति नहीं हुई थी। सुतराम्, मागधी भाषाकी तो बात ही क्या थी? सिवा इसके जिस समय चण्डने प्राकृत लक्षण बनाया था उस अर्वाचीन समय तक भी मागधी कोई विशेष गिनतीकी भाषा नहीं मानी जाती थी। इस कारणसे ही मूल प्राकृतसे केवल दो अक्षरोंकी भिन्न उच्चारणप्रथा निर्देश करनेके सिवा चण्डको अपने व्याकरणमें मागधीके विषयमें स्वतन्त्र रूपसे कुछ भी लिखनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी थी। चण्डका मंगलाचरण देखकर उसे जैन या बौद्ध धर्मावलम्बी ही स्वीकार करना पड़ता है। इस दशामें मागधी भाषा विषयक सूत्रोंकी रचनासे चण्डका सर्व्वथा विमुख होना ही निश्चय रूपसे सिद्ध करता है कि चण्डके समयतक मागधी भाषाकी वैसी उन्नति ही नहीं होने पायी थी।

बुद्धदेव मगध देशके ही निवासी थे; इसलिये उन्होंने धर्म्मोपदेश भी मागधी भाषामें ही किया था। जब बौद्ध धर्म्मकी उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी और अच्छे अच्छे संस्कृतज्ञ विद्वान भी बुद्धदेवके शिष्य हो गये, तब उन शिष्यों द्वारा मागधी भाषाका विशेष संस्कार होकर ही पाली भाषा नामान्तर उत्पन्न हुआ था। इस संस्कृत मागधी अर्थात् पालीमें ही बौद्धोंके धर्मग्रन्थ विशेषतासे रचे गये थे। कात्यायन या काच्चायन नामक बौद्ध देवके संस्कृतज्ञ प्रधान शिष्यने ही पाली भाषाका सबसे पहला व्याकरण रचा था। परन्तु उस व्याकरणकी पूर्णता उनके जीवित समयमें होने न पायी थी। इस विषयको "कात्यायनभेद टीका" नामक ग्रन्थमें इस भाँति स्पष्ट लिखा है,—

"कच्चायन कतो योगो वृत्ति च संघनन्दिनो ।
पयोगो ब्रह्मदत्तेन न्यासो विमल बुद्धिना ॥

अर्थात् कच्चायन वा कात्यायनने 'योग अर्थात् सूत्रमात्र बनाये, जिनकी वृत्ति संघनन्दीने और उदाहरण ब्रह्मदत्तने तथा न्यास वा कारिक विमल बुद्धिने लिखकर ग्रन्थकी समाप्ति की थी। अवश्य कात्यायन तो बुद्धके शिष्य और समसामयिक थे, परन्तु वृत्ति और प्रयोग आदिके लिखने वाले पीछे उत्पन्न हुए थे और इस बातका भी पता बौद्ध ग्रन्थोंसे ही लगता है कि, कात्यायनका उक्त व्याकरण ४५० वर्षों तक लिखा नहीं गया था। शिष्य परम्परामें रटन्तसे स्मरण कर लिया जाता था। सबसे पहले सिंहलद्वीप वा सीलोनमें ईसासे सौ वर्ष पहले यह व्याकरण लिखा गया था। इसलिये उदाहरणोंमें "उपगुत्तेन बन्धो मारो" "क गतोसि त्वं देवानां पियतिस्स" आये हैं। इनमें "उपगुप्त" और 'देवानां पियतिस्स" नामोंसे उक्त व्याकरण अशोकके समयमें बना हुआ अनुमित होता है। अर्थात् ईस्वीसे २५० वर्ष पहले ही कात्यायनको भी इस हिसाबसे वर्त्तमान मानना पड़ता है। प्रायशः युरोपीय पण्डितोंका सिद्धान्त ऐसा ही है। परन्तु कात्यायन बुद्धदेवके प्रिय शिष्य और समसामयिक व्यक्ति विशेष थे। कात्यायन नाम न होकर कुल और गोत्रका परिचय करानेवाली आख्या थी। नाम उक्त कात्यायनका कुछ और ही होना सम्भव है। कात्यायन नामसे किसी एक ही व्यक्तिको मान लेनेपर मीमांसा होना असम्भव है। जिस कात्यायनने मागधी वा पाली भाषामें सर्व्वप्रथम व्याकरण रचा था, वह निस्सन्देह बुद्धदेवका समसामयिक था। इस विषयमें सन्देहका कोई कारण नहीं है। जब कि उनके रचित पाली व्याकरणके उदाहरण, ब्रह्मदत्तने लिखे और वृत्ति संघनन्दीने तो केवल उदाहरणमें "उपगुप्त" व "देवानां पियतिस्स" नाम लिखा देखकर ही कात्यायनको अशोकका समकालीन कहना अनुचित है। विशेषकर उस-दशामें जब कि उनके

रचित व्याकरण सूत्रोंको ४५० वर्षतक मौखिक स्मरण करते आनेके पुष्ट प्रमाण बौद्ध ग्रन्थोंमें ही देखनेमे आते हैं। सुतरां, उक्त कात्यायन बुद्धदेवके शिष्य और समकालीन थे, इसमें सन्देह नहीं और मागधी वा पालीका सर्व्वप्रथम व्याकरण उन्हींका रचा है, यह भी स्थिर सिद्धान्त समझिये। वृत्ति आदिसे सांग होकर उसोका अशोकके समयमें लिपि-बद्ध होना सम्भव है।

उक्त कात्यायनके समयसे ही मागधीका संस्कार होना प्रारम्भ हुआ था और तदनन्तर कुछ दिनों बाद उसका सुसंस्कृत रूप ही पाली अक्षरोंमें पाली भाषा नामसे प्रसिद्ध हुआ। बौद्ध धर्मग्रन्थमात्रकी रचना पालीमें ही हुई, इसलिये मागधीसे पाली सुधरी हुई भाषा मानी गयी और इसीसे प्राचीन लेख भी पालीमें ही विशेषतासे लिखे गये। यथार्थमें मागधीका सुधरा हुआ रूप पाली है: पाली और मागधी एक ही भाषाके दो रूप हैं। इनको भिन्न भाषा मानना वा कहना सुसङ्गत नहीं है।

परन्तु अपभ्रंश नामसे जिस प्राकृतका परिचय दिया जाता है, वह मागधीकी अपेक्षा विशेष प्राचीनतम है। पंजाब ही उस भाषाका केन्द्र-स्थल है और वर्त्तमान पंजाबी भाषाकी उत्पत्ति भी कालान्तरमें उसीसे हुई है। निरपेक्ष विचारसे विचारनेपर अपभ्रंश नामकी प्राकृतको प्राकृतोंमें विशेष प्राचीनतम मानना पड़ता है। कारण प्रथम तो अप-भ्रंश नाम ही इस विषयका परिचय देता है कि, जिस प्रथमावस्थामें देववाणीके विशुद्ध शब्दोंका स्वाभाविक रूप परिवर्त्तन हो अपभ्रंश नामान्तर उत्पन्न हुआ था, उस समयकी उस प्रथम रूपकी प्राकृत ही अपभ्रंश प्राकृत नामसे परिचित हुई थी। इसके लिये दूसरे नामा-न्तरकी किसी देशजन्य संज्ञाकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी थी। इस कारणसे ही इसकी अति प्राचीनता और आर्ष-प्राकृतसे एकरूपता देखकर ही वररुचिने अपने प्रसिद्ध व्याकरणमें इसका स्वतंत्र विधान वा उल्लेख मात्र नहीं किया।

कालान्तरमें प्रान्तीय भेदके कारणसे शौरसेनी, आवन्ती आदि नाम भी उस मूल प्राकृतके ही उत्पन्न होने लगे थे और देशज विभिन्नता और उनके परस्परके मेलसे अर्द्धमागधी, शौरसेनी, आवन्ती आदि नामोंकी विभिन्नता क्रमसे बढ़ने लगी थी। भारतके सीमाप्रान्तनिवासी असुर वंशोत्पन्न पिशाचादिकोंकी भाषा ही आसुरी, पैशाची आदि नामोंसे प्रसिद्ध हुई। मनुष्य सृष्टिकी आदि उत्पत्ति जिस प्रदेशमें हुई थी, वह ब्रह्मर्षिप्रदेश, ब्रह्मावर्त्त, कुरुक्षेत्र, पञ्चनद, पाञ्चाल वा वर्त्तमान पञ्जाब प्रदेश आपसमें संलग्न और अपेक्षाकृत समीपवर्त्ती हैं। उन देशोंमें ही सबसे पहले ब्राह्मणादि वर्णोंका निवास हुआ था। उन देशोंकी भाषा ही प्राचीनतम भाषा मानी जाती है। इस हिसाबसे अपभ्रंश प्राकृत जो कि पंजाबी भाषाकी जननी है, अन्य प्राकृतोंकी अपेक्षा विशेष प्राचीनतम है। इसलिये वर्तमान पंजाबीके शब्दोंका विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध भी उस अपभ्रंश प्राकृतसे होना स्वाभाविक ही है। परन्तु उसके अतिरिक्त आर्ष प्राकृत, महाराष्ट्री, शौरशेनी, अर्द्धमागधी, आवन्ती और नागर आदि प्राकृतोंका भी विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध उस मूल अपभ्रंश प्राकृतसे दिखता है। आगे चलकर इस विषयका प्रत्यक्ष उदाहरणोंसे निर्णय किया जायगा।



◆ समें सन्देह नहीं कि, भारतवर्षमें हिमालयके उच्च
◆ पर्व्वतशृङ्गों पर ही सबसे पहले मनुष्योंका निवास
◆ था। कालान्तरमें परिवारवृद्धिके साथ निम्न प्रदेशोंमें
की बस्ती उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और पञ्जाबकी उर्वरा भूमि
मके बाद चातुर्वर्ण्यकी जन्मभूमि मानी गयी। पञ्चनद
ासे पहले सभ्यताकी गगनस्पर्शी पताका फहरायी, अनन्तर
ः वंशवृद्धि तथा अन्य कारणोंसे पंजाबसे जनसमूहकी
कर दो विभिन्न मार्गोंसे मध्य-भारत और गुजरात, कच्छ
क्रमशः अग्रसर होती हुई कालान्तरमें समग्र आर्यावर्त्त
यमें भी अन्तको फैल गयी और उन प्रान्तोंके निवास और
वेध प्रकारके प्रान्तीय भाषाभेद भी अन्तको विशेषतासे
इन मूल ऐतिहासिक बातोंपर पूरी रीतिसे ध्यान न
ही कुछ लोगोने अपनी मातृभाषा जन्मभूमि और स्वधर्म्म-
के महत्वकी प्रतिष्ठा बढ़ानेके अभिप्रायसे ही "अपनी अपनी
पना अपना राग" अलापकर अपनी मातृभाषाको ही सबसे

।" (ता० १ जुलाई सन् १९०९) से उद्धृत।

ाल जिसे अंग्रेज कहते हैं, उससे उनका चाहे कैसा ही अभिप्राय
तु बाइबलके सृष्टिक्रमानुसार ५ हजार वर्षोंके भीतर ही उसका
ाना प्रत्यक्ष भ्रममूलक है। सिवा इसके वेद अपौरुषेय हैं और
त होते हैं, इसलिये वैदिक काल कहना ही असङ्गत है। हमारे
ोंका, युगारम्भ और कल्पारम्भमें, ऋषियों द्वारा पुनः पुनः आवि-
ा सुसिद्ध है।

ऊंचा आसन देना आरम्भ कर दिया। इस विषयमें बौद्धधर्म्मावलम्बी मगधदेशवासियोंने सबके कान काटे और मनमाने झूठे स्तुतिवादसे मागधीको ही सब भाषाओंकी जननी तक लिखनेमें परम पुरुषार्थ माना। परन्तु जैसी दुर्बल युक्ति और जैसे उदाहरणोंसे इस विषयको प्रमाणित करनेकी चेष्टा की गयी है, उनका निरपेक्ष भावसे विचार करनेके साथ ही यह बात मान लेनी पड़ेगी कि उन थोथी उक्ति युक्तियोंका यथार्थ सत्यसे सम्बन्ध बहुत ही कम है।

मागधी वा पाली भाषाके प्राचीनतम शिलालेखोंका अथवा ग्रन्थोंका जहां तक पता लग सका है, उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि बुद्धके अवतीर्ण होनेके बाद ही इस भाषाका क्रमशः बहुलप्रचार हुआ था। बुद्धदेवसे पहलेके निदर्शन भी इसीलिये नहीं मिलते हैं। उनसे प्राचीन कालके शिलालेख आदि जो कुछ प्राप्त हुए या होते हैं, उनमें मागधी वा पाली भाषाका अस्तित्व तक देखनेमें नहीं आता है। या तो वे विशुद्ध संस्कृतमें लिखे होते हैं; या आर्ष प्राकृत वा प्राचीन मूल प्राकृतमें ही। दुःखका विषय है कि ऊपर लिखी इन बातोंका कुछ भी विचार न कर "आरा नागरी प्रचारिणी सभा" द्वारा प्रकाशित 'भारतवर्षीय विद्वन्मण्डली प्रणीत" हिन्दीसिद्धान्तप्रकाशके धूमनामी सिद्धान्त लेखमें मगध देशमें सुधरती हुई उस मागधी भाषासे ही शौरसेनी, पैशाची, महाराष्ट्री, दक्षिणी, कैन्नकानी, गढ़वाली, कमोनी, हिन्दी, पूर्वी पश्चिमी तथा मारवाड़ी, जयपुरी, व्रजभाषा, कन्नौजी, बैसवारी, भोजपुरी, मैथिली, मगहिया आदि सब भाषाओंकी उत्पत्ति विचित्र रूपसे मानकर उनका एक कुर्सीनामा उत्पत्तिक्रमको सुस्पष्ट रूपसे दिखानेके लिये अपने सिद्धान्त प्रकाशके प्रारम्भमें ही दिया है। जन्मभूमिकी भक्ति अथवा आत्माभिमानके कारण यथार्थ तत्वनिर्णयसे विमुख हो भ्रान्त मतका प्रचार करना उक्त भारतवर्षीय विद्वन्मण्डलीका गौरव बढ़ानेवाला कदापि नहीं समझा जा सकता है। मनमानी उलटी गङ्गा बहा, मगध देशसे

समग्र भारतवर्षमें विविध भाषाओंका विपरीत स्रोत प्रवाहितकर भारत-को अपूर्व्व रीतिसे प्लावित करना निस्सन्देह जन्मभूमिकी अन्धभक्ति और परले सिरेकी धृष्टताका ही परिचायक दिखता है। डा० मैसनने बौद्ध प्रामाणिक ग्रन्थकी लिखित मागधीकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें एक प्रसिद्ध अध्यायिकाका जैसा वर्णन किया है, विशेष अनुसन्धानकरनेका परि-श्रम न कर यद्यपि (?) उस हो अंशका विचार भी आरा नागरी प्रचारिणी सभाकी "भारतवर्षीय विद्वन्मण्डली" समयपर कर लेती, तो सम्भव था कि भाषाओंके उत्पत्तिक्रममें ऐसी विचित्र भ्रान्ति न उत्पन्न होने पाती। संसारकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे उक्त प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थमें लिखा है कि, "नारी रूपिणी भगवतीने सृष्टि रची और कतिपय जन्तुओंको उत्पन्न कर उनका स्थाननिर्द्देश पूर्व्वक उनके नौ नाम रखे जो पाली भाषाके हैं।" और यह भी लिखा है कि "आदिभाषाका कोई विशेष नाम नहीं था। जितने बुद्ध समयानुसार पृथिवीपर अवतीर्ण हुए, सबने उसी भाषामें उपदेश दिया। जन्तुओंकी सृष्टिके बाद तीन मनुष्याकृतिकी उत्पत्ति भी उसी नारीरूपिणीने की थी, एक पुरुष, एक स्त्री और एक क्लीव। क्लीवसे घृणा करनेके कारण उसने अपने भाई उस पुरुषकी डाहसे हत्या कर डाली। पुरुषके मर जाने पीछे उसके तीन सन्तान अवशिष्ट रहे, जिनसे कि कालान्तरमें सात पुत्र और छः कन्याओंकी उत्पत्ति हुई थी। इन बालकोंकी क्रीड़ाके लिये पितामाताने कुछ जन्तु लाकर खिलौनेकी भाँति उन्हें दिये और उनसे खेलते कूदते उन बच्चोंने अपने मनगढ़े शब्दोंसे उनको पुकारा। कालान्तरमें उन जीवोंके वे ही नाम कहाये। गौतम कहते हैं कि उसी भाषाका नाम मागधी पड़ा, जो कि वर्त्तमान समयमें भी उन जन्तुओंके नामोंमें व्यवहृत होती है।

(कृत और पाली भाषाके सहित बौद्धोंके प्रामाणिक ग्रन्थसे इस स्थलपर मागधीके उन छओं शब्दोंको हम पाठकोंके अवलोकनार्थ उद्धृत करते हैं—

संस्कृत	पाली	मागधी
शश	सस	मो
सुप्लव	सुपव	सन
कुक्कुट	कुक्कुटो	रो
अश्व	अस्स	संग
श्वन	सुनक	सच
व्याघ्र	व्यागघो	थी

ऊपर लिखे इन मागधी और पाली शब्दोंका संस्कृतसे मिलान करनेसे और ऊपरकी लिखी मागधी भाषाकी उत्पत्तिकी लिखी आख्यायिकाके विचारनेसे विचारवानमात्रको स्वीकार करना पड़ेगा कि पालीका सादृश्य प्राकृतकी भाँति संस्कृतसे सर्व्वथा वर्त्तमान है। परन्तु ऊपर लिखे इन मागधी शब्दोंमें एकका भी सादृश्य संस्कृत वा प्राकृत पालीसे किसी अंशमें भी नहीं दिखता है। इतना सुस्पष्ट देखकर भी मागधीसे भारतीय प्राकृत भाषा और प्रान्तीय वर्त्तमान चलित भाषाओंकी उत्पत्तिका मानना सर्व्वथा भ्रममूलक ही प्रतिपन्न होता है। सिवा इसके बौद्धोंके धर्म्मग्रन्थके वर्णन अनुसार भी प्राचीन और आदि भाषाका अस्तित्व डंकेकी चोट स्पष्ट भाषामें स्वीकार किया हुआ दिखता है। पीछे अपोगण्ड निरक्षर बालकोंकी मनगढ़ी आख्या मागधी मानली हुई ही देखनेमें आती है। इस हिसाबसे भी मागधी अर्व्वाचीन ही ठहरती है। सुतरां "सा मागधी मूल भाषा" आदि वचन केवल मनमाने प्रशंसा सूचक वचन ही हैं, इसमें सन्देह नहीं। केवल उन वचनोंके सहारे अपने प्रान्तसे ही भारतीय अधिकांश भाषाओंकी उत्पत्तिके गौरवसे फूले अङ्गों न समाना और पूर्व्वापर विचार किये बिना ही मागधीको सब भाषाओंकी जननी स्वीकार कर लेना सर्व्वथा अनुचित, अयोग्य और भ्रान्तिपूर्ण ही है।

सिवा इसके "धीवरघातिनीचेषु मागधी विनियुज्यते" और "अन्ये

चाण्डालकादीनां मागध्यादिप्रयुज्यते" आदि वचनोंके आशयसे और साहित्यदर्पणकृत प्राकृत भाषाविभागमें भी राजप्रासादके अन्तःपुरचारी नीच श्रेणीके भृत्यादिकों की भाषा ही मागधी स्थिर की हुई है। सुतरां, उस मागधीको केवल बौद्ध ग्रन्थों की मनमानी प्रशस्तिके एक आधे वचनके सहारे मात्रसे सब भाषाओं की जननी स्वीकार कर लेना, विचारधानों को विचार शैलीपर ही दोषारोप करनेका कारण होगा। यदि मागधीका आसन सर्व्वोपरि समासीन होने योग्य होता तो प्राकृत-मञ्जरी और साहित्यदर्पणादि ग्रन्थोंमें धीवर आदि अति नीचोंकी ही भाषा मागधी कभी न गिनी जाती। मागधीकी अपेक्षा शौरसेनी नाम विशेष प्राचीन, प्रामाणिक और प्रतिष्ठापन्न भी है, यद्यपि वररुचिके व्याकरणमें शौरसेनी नामका ही सर्व्वथा अभाव है और उस समयतक इस प्रान्तीय नामकी सृष्टितक नहीं हुई थी। परन्तु वररुचिके समय शौरसेनी गौरवकी दृष्टिसे देखी जाती थी। अपभ्रंश, शौरसेनी, आवन्ती, नागर आदि नामों से ही इनको सर्व्वथा भिन्न भाषा स्वीकार कर लेना कदापि उचित नहीं है। यथार्थमें अपने समयानुसार भाषाकी उन्नतिके केन्द्रस्थानोंके प्रान्तीय देशके नामों की प्रख्यातिके कारण ही इन भिन्न भिन्न नामों की भिन्न समयों में क्रम क्रमसे उत्पत्ति हुई दिखती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस मूल आर्ष-प्राकृत वा अति प्राचीन कालकी भारतव्यापिनी प्राकृत भाषाका ही नामान्तर महाराष्ट्री प्राकृत भी उत्पन्न हुआ था। तदनन्तर मथुरा और मगध प्रान्तों में राजधानियों के सुप्रतिष्ठित होनेके कारण सामयिक साहित्यकी विशेष उन्नति होनेपर ही शौरसेनी और अर्द्धमागधी नाम भी उस महाराष्ट्री प्राकृतके अङ्गभूत माने जाने लगे। क्रमशः आवन्ती, नागर आदि कई एक नामों की उत्पत्तिसे ऐसी खिचड़ी मिल गयी कि नाम मात्रसे भाषाका यथार्थरूप परिचय होना सुकठिन हो गया। इसलिये प्राकृत वैयाकरण सुपण्डितों-को अपने व्याकरणोंमें बाध्य होकर इनकी मीमांसा करनी पड़ी। सिद्ध

हेमचन्द्रने भी अपनी प्राकृताष्टाध्यायमें अपभ्रंश और प्राकृत सम्बन्धीका परिष्कार करते हुए "नागरस्तु महाराष्ट्री शौरसेन्योः प्रतिष्ठितम्" लिखकर "करइ, धरइ इत्यादौ तस्यस्वरशेषत्वं महाराष्ट्र्याश्रयेण करेदि धरेदि इत्यादौ दत्वं शौर सैन्याश्रयेण मन्तव्य" मा० ।१७१। ५३।५५ सूत्र। सर्वत्र मार्कण्डेयने भी हेमचन्द्रके आशयकी एकता मिलाकर १७ पाद ५६ वें सूत्रमे मेरा तेराको नागर अपभ्रंशके "त्वदीये तेरं, मदीये मेरं" इत्यादिसे सिद्ध करनेके साथ ही ११ वें पादमें सुस्पष्ट "आवन्ती-स्यान्महाराष्ट्री शौरसेन्योस्तु सांकरात्" वचन उद्धृत कर "अनयोस्संकरात् आवन्ती भाषा सिद्धास्यात्" लिखा। इस हिसाबसे नागर और आवन्ती दोनों अभिन्न ही प्रतिपन्न होती हैं। क्योंकि शौरसेनी और महाराष्ट्रीके मेलसे ही नागर और आवन्ती इन दोनों प्राकृतोंकी उत्पत्ति मानी गयी है। उधर महाराष्ट्री, अर्द्ध मागधी और शौरसेनीके मूल रूपोंमें भी कोई विशेष अन्तर नहीं दिखता। केवल दो अक्षरोंके उच्चारण-भेद वा प्रान्तीय क्रिया प्रयोगमें यत्किञ्चित् रूपभेद मात्रसे ही इनके नामभेदकी उत्पत्ति हुई दिखती है। इन प्रान्तीय भेदोंको ध्यानमें रखकर मूल भाषा विचार करनेसे महाराष्ट्री प्राकृत अपभ्रंश आदि सम्मिलित परम प्राचीन आर्ष प्राकृतको ही भारतवर्षकी महादेशव्यापिनी राष्ट्रभाषा वा महाराष्ट्री नामसे परिचित सर्व्वत्र व्याप्त हुई देखते आते हैं। सजीव भाषा होनेके कारण कालान्तरमें उसका रूपान्तरित होना स्वभावसिद्धधर्म ही है।



(६)

तीव्र दुःखके साथ लिखना पड़ता है कि 'हितवार्त्ता' का ता० ८ जुलाई सन् १९०९ का अंक बहुत अनुसन्धान करनेपर भी नहीं मिला। इस कारण इस निबन्धका यह (६वाँ) अंश नहीं जा सका। यदि कोई उदारहृदय प्राकृतप्रेमी सज्जन वह अंश रेंगे तो अगले संस्करणमें उसे भी सधन्यवाद प्रकाशित कर

—प्रकाशक

---

*(७)

र्वप्राकृत, महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी, अपभ्रंश और मूलप्राकृत ये सब नाम एक ही पर्य्यायके दिखते हैं। यद्यपि कालान्तरमें शौरसेनी, मागधी, पैशाची ी आदि नाम-भेदसे उस मूल प्राकृतकी अनेकों प्रान्तोंमें त्तरोत्तर बढ़ी थी तथापि उनके कुछ प्रान्तीय भेदोंको ध्यानमें ाषाका स्वरूप विचार करनेपर विशेष अन्तर देखनेमें नहीं यहां हर एकका भिन्न भिन्न रूपान्तर दिखाने योग्य अव- ीं है और वैसा करनेसे पढ़नेवालोंकी विरक्ति और धैर्य्य- ना सम्भव है। इसलिये संस्कृत भाषाके मूल शब्दोंका ं कैसा कैसा रूपान्तर होकर अन्तको इस वर्त्तमान प्राकृत में किस रूपसे चलन हुआ है, इसके प्रत्यक्ष दरसानेको

र्त्ता (ता० १५ जुलाई सन् १९०९) से उद्धृत।

संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीकी तीन विभिन्न श्रेणियोंमें उन शब्दोंके रूपोंको यथाक्रम दिखाना उचित है। उनके अवलोकनसे यह भी भली भांति विदित हो जायगा कि बहुतसे शब्द बिना रूपान्तरके ही प्राकृतसे हिन्दीमें ज्योंके त्यों प्रचलित हैं। यहां पहले संख्या वाचक शब्दोंको ही दिखाना ठीक होगा।

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
एकः	एगो, एक, इक्क	एक, इक्क
द्वि	दोन्नि, दुए, दो, बे	दो, बे
त्रि	तिण्णि, ति	तीन, ति
चतुर्	चत्तारो, चत्तारि चउरो, चउ,	चार, चौ
पञ्च	पण, पंच	पांच, पञ्च, पन
षष्ठी	छट्ठी	छट्ठी, छठौं
सप्त	सत्त	सात, सत्त
अष्ट	अट्ठ	आठ, अट्ठ
नव	नो, नव	नौ
दश	दह, दस	दस, दह
एकादश	एगारह, एआरह,	एगारह ग्यारह
द्वादश	बारह	बारह
त्रयोदश	तेरह	तेरह
चतुर्दश	चउद्दह चोद्दह	चौदह
त्रिचत्वारिंशत्	तेआलीस	तेआलीस, तेतालीस
पञ्चपञ्चाशत	पञ्चावण, पंचपन्ना पणापन्ना	पचपन
त्रयत्रिंशत्	तेतीसा, तेतीस,	तेतीस
सप्तविंशति,	सत्तावीसह, सत्तावीसा सत्तावीस	सत्ताईस
चतुर्गुण,	चउग्गुणो, चोग्गुणो	चौगुना
षणमुखः	छम्मुहो	छमुहा

ऊपर लिखे इन उदाहरणो मे बहुतसे शब्द सस्कृतसे अपभ्र श रूपमे जैसे प्राकृत भाषाके बने थे, ठीक वैसे ही ज्योंके त्यों अविकृत रूपसे आज भी हिन्दीमें चलित हैं। थोड़ेसे शब्दोमें स्वभावानुसार कुछ रूप परिवर्त्तन भी हुआ दिखता है। अब सर्व्वनाम शब्दोंके उदाहरण दिये जाते है—

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
अहम्	अम्हि, अम्मि, म्मि अहमं, अहं, हंउ, हं,	मैं, हौं, हम
त्वम्	तुमं, तं, तुं, तुवं, तुह, तुम्ह,	तू, तुम
असौ, अदः	अह	यह
यः, ये	जो, जे	जो, जे
सः, ते	सो, ते, दे, सो, ते,	वह, वे
एषः, एते	एस, एसो, एते, एदे	यह, ये
कः, के	को, के	को, के, कौन
सर्व्वः, सर्व्वे	सव्वो, सव्वे	सब

अन्यान्य शब्द।

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
प्रभूतः	बहुत्त	बहुत
कतमः	कइमो, कइमा, कैमा,	कैवां
वातुलः	बाउलो, बाउला,	बावला
शैय्या	सेज्जा,	सेज्जा, सेज
कुम्भकारः	कुम्भआरो, कुम्हारो	कुम्हार, कुम्भार
उपाध्यायः	उवज्झाओ, ओज्झाओ,	ओझा
ईदृक्	अइसओ, एरिसो	अइसा, ऐसा
अवश्य	अवस्स	अवस
ओष्ट	ओट्ठ	ओठ, होठ
कतिपय	कइअव, कइओ	कई, कइओ

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
कीदृक्	कइसआ कइसा	कइसा, कैसा
किन्तु	किणों, किओं,	क्यों
अपरः	अवर, अउर,	अउर, अवर, और
कर्ण	कण्ण, कान	कान
कुमारः	कुमर	कुमर, कुंवर
सन्ध्या	संझा	संझा, सांझ
हरीतकी	हरडइ, हरडे	हरें, हरंहड़
विभीतकः	बहेडआ	बहेड़ा
यौवनं	जोव्वणं, जोवन	जोवन
मयूरः	मऊरो, मोरो	मोर
शिथिलः	सिढिलो	ढीला
कन्दुकं	गेंदुअं	गेंद
वृश्चिकः	विंचुओ, विंछिओ, विच्छुओ	विच्छू
शनैश्चरः	सणिच्छरा, सनिच्चरो	सनीचर
कदली	कयली, केलं, केली, कवलं	केला
कर्णिकारः	कणिआरो, कणारो	कनैर
काष्ठ	कट्ठ	काठ
कान्यकुब्ज	कन्नउज्ज	कनवज, कन्नौज
कृष्ण	कण्ह	कान्ह
कातरः	काहल	काहल, काहिल
क्रिया	किरिया	किरिया
कथम्	किवँ, केम, किह, कि	किमि
कुटीर	कुडुली	कोठरी
कुदृष्टि	कुदिट्ठी	कुदीठ
कूप	कुवा	कुवा

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
कूपिका	कुइआ	कुइयाँ
भगिनी	भइणी, बहिणी, बहिनी,	भैन, बहिन
ततः	तो	तो
तथा	तेवँई	तेँव, त्यों
मातृ	माई, माउँ, माआ	माई, मा
पुत्र	पुत्त, पूत	पूत
कन्यका	कञ्ञा	कंजका
प्रिय	पिअ, प्रिय	प्रिय
पुत्रिका	पुत्तिआ	पुत्ती
मातृस्वसृ	माउसिआ, मौसिया	मासी, मौसी
भुजंग	भुअंग	भुअंग
भाषा	भासा	भासा
नप्तकः	नत्तिअ, नत्ती	नाती
नहि	नहिं, नाहिं, नहिं	नाहीं, नहीं
निश्वासः	नीसास	नीसास
नूपुर	नूउर, नेउर	नेउर
पत्र	पत्तल, पत्त	पत्ता, पत्तल
अन्तःपुर	अन्तेपुर, अन्देउर	अन्दर
अतसी	अलसी	अलसी
अर्द्धः	अद्ध, अद्धा	आधा
अस्थि	अट्ठि	हड्डी
आगतः	आअआ, आआ	आया, आया
आत्मीयन्	अप्पणं	अपना
आर्द्र	ओल्ल, उल्ल, अद्द	ओदा
आशीः	आसीसा	आसीस

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
इक्षुः	उच्छू, इक्खू, उक्ख	ईख, ऊख
उच्चैस्	उच्चअ	ऊँचा
उत्सवः	उच्छवो	उच्छो
उदूखलं	आखलं (शौ०) उऊहलं	ओखली
एतावत्	इत्तिअं, इत्ता,	इतना
कुब्जं	खुज्जा	खुज्जा, कुबड़ा
कूष्माण्डी	कोहण्डी, कोहंडी कोहला	कोहंडा
गर्त्तः	गडो, गड्ढो	गाड्ढा, गढ़ा
गर्दभः	गद्दहो, गदहा	गदहा, गधा
गर्भितम्	गब्भिणं	गाभिन
गुडूची,	गलोई, गिलोई	गिलोय, गुर्च
गृहं	घरं	घर
चौर्य्यम्	चोरिअं	चोरी
छाया	छाहा, छाआ	छाया, छाँह
जीवः	जीओ	जी
ज्या	जीआ	जिअ, जीह
तगरम्	टगरं	टगर
तप्तम्	तत्तं, तविअं	ताप, ताव, तत्ता
ताम्रम्	तम्बं	तांबा
ताम्बूलम्	तम्बोलं	तबोल
तित्तिरिः	तित्तिरो, तित्तर	तीतर
तिर्य्यक्	तिरिच्छी, तिरिया	तिरछी, टेढ़ी
तीक्ष्णम्	तिक्खं	तीखा
दंष्ट्रा	दाड़ा	दाढ़
दत्तम्	दिण्णं	दीना, दीनो, दिया, दी

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
दरः	डरो	डर
दशनं	डसनं दसणं	डसना
दक्षिणः	दाहिनो, दक्खिणो,	दहिना दक्खिन
दाहः	डाहो, दाहे, दाओ	डाह, दाह, दाय
दुःखम्	दुक्ख	दुःख, दुख
धात्री	धाई	मा, धाई
धृष्टः	धिट्ठो	ढीठ
ध्वनिः	धुनो	धुनि
निम्बः	णिम्बो	नीम
नीचैस	णचीअं, नीचअं	नीचा, नीचे
पदातिः	पाइक्को, पायक	पाइक
पाषाणः	पाहाणो, पासाणो	पखान, पहान
बलिवर्द्दः	बइल्लो	बैल
मलिन	मइलं	मैल
मुषलं	मूसलं	मूसल
मूल्यं	मोल्लं	मोल
मूषिकः	मूसओ	मूसा
मृत्तिका	मट्टिआ	मटिया, मट्टी, मिट्टी
मृत्युः	मिच्चु	मीच (?)
यष्टिः	लट्ठी	लाठी, लट्ठी
लवणं	लोणं	लोन, नोन
वाराणसी	वाणारसी	बनारस
वृक्षः	रुक्खो	रूख
वृद्धः	वुड्ढो, वुड्ढा	बूढ़
वृन्तं	वेंटम्, वाटम्, विंटम्	बेंट

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
वृषभः	उसही, वसहो	सांड़
शुक्तिः	सिप्पी	सिप्पी
श्रृङ्गम्	सिंग	सींग
श्रृंखलं	संकलं	संकल, सांकल, सिंकली
श्मश्रु	मस्सू	मस
श्लाघा	सलाहा	सराहना
सैन्य	सेनं, सेणं	सेन, सेना
स्तम्भः	खंभा, थंभो	खंभ, थम्भ
स्तोकं	थोकं, थोवं	थोक, थोवा
स्नेहः	सणेह, णेहो, नेहो	सनेह, नेह
स्फोटकः	फोड़ओ	फोड़ा
हरिद्रा	हलिद्दा, हलिद्दी	हर्दी, हरदी
हृदयं	हिअअं, हिअं	हिया, हिय
मूर्खः	मुरुखो	मूरुख, मूरख
कुतः	कहँ	कहॅ, कहाँ

*(८)

अद्य	अज्ज	आज
कार्य्य	कज्ज	काज
कर्म्म	कम्मं	कर्म्म, काम
कटुक	कड़ुअ	कड़ुआ
तड़ाग	तलाओ	तलाओ, तलाय

इस प्रकारके अनेकों शब्द दिखाये जा सकते हैं, परन्तु बुद्धिमानोंके लिये इतने ही बहुत हैं। इन उदाहरणोंसे सब लोग भलीभाँति समझ

* 'हितवार्त्ता' (ता० २२ जुलाई सन् १९०६) से उद्धृत।

गये होंगे कि संस्कृतसे प्राकृत भाषामें आनेसे मूल शब्दोंका जैसा कुछ रूप परिवर्त्तन होता है, वैसा प्राकृतसे इस वर्त्तमान प्राकृत हिन्दीमे आनेके समय नहीं होता। बहुतसे शब्द तो सैकड़ों वर्षोंसे बिना विकृतिके प्राकृतसे हिन्दीमे आये हुए आज भी वैसे ही रूपसे प्रचलित हैं। प्राकृत ही परिवर्त्तित हो कालान्तरमे हिन्दी कहायी है। इसका ही अति पुष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण इन दिखाये हुए शब्दोंकी पर्य्यालोचनासे मिलता है। अब संस्कृतकी मूल धातुओंका प्राकृतमें कैसा कुछ रूपान्तर और विविध प्रत्यादेश समयानुसार हुआ, इसका दिखाना भी अत्यन्त प्रयोजनीय है। यथार्थमे अधिकांश शब्दोंकी व्युत्पत्तिका निदान मूल धातुओंके रूपमे वर्त्तमान रहता है। इसलिये धातुओंके उदाहरणोंका यथासाध्य विस्तारसे दिखाना ही उचित होगा। यहाँ पहले वररुचिकृत प्राकृत-प्रकाशमे जितनी धातुओंका उल्लेख है, उनके ही उदाहरण क्रमानुसार दिखाये जाते हैं।

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
भू सत्तायां	हो, हुव	हुव, हो
क्त प्रत्ययान्त भू	हू	हू
उपसर्गोंके साथ भू	भव	भव
त्वरा संभ्रमे		
त्वर	तुवर	तुवर, त्वर
घूर्ण भ्रमणे		
घुण	घोल	घोल, घुल
णुद प्रेरणे णुद	णुल्ल	नल
दूम परितापे	दूम	दूम
अटपटगतौ	फल	फल
पदगतौ	पाल	पला

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
वृष वर्षणे	वरिस, वर्स	बरिस, बरस
कृष, कर्षणे	करिस, कर्स	करस, चस
मृष	मरिस, मर्स	मीस, मस
हृष	हरिस, हर्स	हरिस, हर्स, हरस
मृ	मर	मर
सृ	सर	सर
वृ	वर	वर
डु कृञ करणे	कर, कुण	कर, किन
कृ		कि
जृम्भ	जम्भाअ	जम्भा, जमुहा
गृह	गेन्ह	गह
स्मृ	सुमर, भर	स्मर
म्लैगात्रविनामे	वा, वाअ	वा, बाओ
भी भये	बीह, भी	बीह, (बीहड़)
तृप	थिप्प	
ज्ञा	जान, मुण	जान, मान
जल्प	जम्प	जंप
स्था	ठा	ठा
ध्या	झा	झा
गा	गा	गा
खा	खा	खा
धा	धा	धा
ग्लसु अदने		
ग्रस	घिस	घिस

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
चीञ् चयने	चिणे	चुन, चिन
डु क्रम द्रव्य		चिन
चिन्मये	किण	किन
वे+क्रम्	क्के (विक्केई)	क (विका) (विकी)
गाहू विलोड़ने	वाह (अवत्राहइ)	
ध्मा	उद्ध मा	धुआं
श्रद्+धा	दह (सद्हई)	
क्षी क्षये	झिज्ज	छिज
माङ् माने	माण	मान, मय
भिद्	भिन्द्	बिन्ध, भिन्द्
छिद्	छिन्द्	छिद्, छेद्
कथ	कढ़	कढ़
कास्ट्ट कुत्सायां	वास (ओवासई)	वूस
वेष्ट वेष्टने	वेढ़, वेल्ल	वेढ़; बेल
रुद्	रुव	रुव, रुअ, रो
उत+विज	उव्विव	ऊब
वृध	वढ़	बढ़
हन्त	हम्म	धम्म
रुष्	रूस	रूस
तुष	तूस	तूस, तूठ
शुष	सूस	सूस, सूख, सीख
व्रज	वच्च	
नृत	नच्च	नाच
युध	जुज्झ	जूझ

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
बुध अवगमने	बुज्झ	बूझ
रुध	रुन्ध, रुम्भ	रुध, रुक
मृद्-क्षालने	मल	मल
शद्लृ-शातने	सड	सड़
पतलृ-पातने	पड	पड़
शकलृ-शक्तौ	सक्क	सक
लग	लग्ग	लग्ग, लग
स्फुट विकसने	फुट्ट, फुड़	फूट, फूल
चल-कम्पने	चल्ल, चल	चल्ल, चल
श्रु-श्रवणे	सुण	सुन
हु दानादने	हुण (हुनइ)	हुन, हुण
जी-जये	जिण	हुंडी, हुन्न
लूञ-छेदने	लुण	लुन
धूञ-कंपने	धुण	धुन
गम	गम्म	गः जा
रम	रम्म, रम	रम
हस	हस्स, हस	हस
लिह, आस्वादने	लिज्झ लेह.	औलेह
हृञ हरणे		
(भाव-कर्म्मणि)	हीर	हर, हरा
कृ	कीर	कीः करा
गृह	गह, गाह	गह, गहा
दा	दिन्न, दीअ	दीना, दीनीः दिया, दिई
खिद्-दैन्ये	खिसूर	खिसूर

(यथा, विरहेन विसूरइ बाला)

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप	हिन्दी धातुरूप
कथ	जूर (जूरइ)	जूर
चर्च-अध्ययने	चम्प (चम्पे)	चर्च
त्रसी-उद्वेगे	वज्ज	
मृज्-शुद्धौ	लुभ, साप	भूंस, भूस
मसज-शुद्धौ	बुड्ड, खुप्प	
दृशर-प्रेक्षणे	पुलअ, निअक्ख, अवक्ख, दीस	बेख; देख, निरख; दास
शक्लृ-शक्तौ	तर (तरइ) (चअइ)	तीर (तीरइ)
चुम्ब	चुम्ब	चुम्ब, चूम

वररुचिने प्रधानतः ऊपर लिखी हुई धातुओंके रूप परिवर्तन और प्रत्यादेश ही अपने व्याकरणमें दिये हैं; परन्तु सिद्ध हेमचन्द्रने अपनी प्राकृताष्टाध्यायीमें विशेष विस्तारसे जिस धातुके जितने प्रत्यादेश और रूपान्तर थे सबको यथासाध्य क्रमानुसार सन्निवेशित किया है। इस लिये अब इस स्थलपर सिद्ध हेमचन्द्रकी संगृहीत धातु और उनके रूपान्तरोंका दिखाना परम आवश्यकीय है। अकेली कथ धातुके ही नीचे लिखे ११ रूपान्तर हेमचन्द्रने दरसाये हैं।

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
कथ धातु	वज्जर (वज्जरइ)	
	पज्जर (पज्जरइ)	पचार
	उधाल (उधालइ)	
	पिसूण (पिसूणइ)	
	संघ (संघइ)	
	बोल्ल (बोल्लइ)	बोल

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
	चव (चवइ)	चव (चवाइन)
	जम्प (जम्पइ)	जंप
	सीस (सीसइ)	सीस
	साह (साहइ)	
	णिव्वर (दुःखार्थे)	
	ये ग्यारहों विकल्प हैं।	
उत+बुक्क भाषणे	बुक्क, (बुक्कइ)	
	कह (कहइ)	बूक (चरौं बूकना) कह
जुगुप्सा	झुण, दुगुछ	गुझ्झ गोइ.
	दुगुंच्छा	गोपि
बुभुक्ष	णीर, बुहुक्ख,	नीरोग, भुख
	वोज्ज, वीज	भूख, वीज
ध्या	झा	झा (संझा)
गै	गा	गा
ज्ञा	जाण, मुण	जान, मान
उत-ध्मा	धुमा	धुआं
श्रुत-धा	दह	सरधा
पा (पाने)	पिज्ज, कल्ल,	पी, घोट
	पट्ठ, घोट्ट	घुट, निगल
उत-वा	ओरुम्मा, वसुआ	उब्बा
	उब्बा	(उबासी)
नि-द्रा	उहीर, उंघ	ऊंघ, औंघ, नींद, उनींद
आ-घ्रा	आग्घ	सूंघ
स्ना	अब्भुत, राहा	नहा

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप	हिन्दी धातुरूप
सम् स्त्यै	खा	
स्था	ठा, थक्क, चिट्ठ, निरप्प	ठा (उठा बैठा) ठिक, थक्क
उत-स्था	ठ,कुक्कुर	उठ, उकड़ू
ग्ला	छाप, छाय	छाप, छाय
निर-मा	निम्माणा, निम्मव	निर्मान, निर्माण
क्षि	निझ्झर	छीजना, झर (झरना) निचड़
छदि-णिच्च	नुम, णुम, सन्नुम, ढक, पच्छाल	ढाक, छाय छाप, छिपा
नि-वृ-णिच्च	णिहोड, निवार	निवार, उपाड़
नि-पत-णिच्च	णिहोड	निहोर
दू-णिच्च	दूम	
धवल-णिच्च	दूम, धवल (दूमइ्)	
तुल-णिच्च	उहाम (वा)	तुल
वि-रिच-णिच्च	अलुण्ड, उलुण्ड, पलहत्थ, विरेज	उधेड़
मिश-णिच्च	वीसाल, मेलव (वा) मिस्स मिसाल, (मिस्सा)	मेल
भ्रम-णिच्च	तलिअण्ट, तमाड (वा)	भरमावे
तड-णिच्च	आहोढ, विहोड (वा)	ताड़
नश-णिच्च	विउड, नासव, हारव विप, पगाले, पलाव	नास, हरा

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
उत्-शूल गुण्ठ, णिच्।	उड्डूल	उड़ा, उछाल
दृश णिच्।	दाव, दरिस, दक्ख, दंस	दरसा, दिखा, दिखला, दिखवा
उत-घट-णिच्।	उग्ग, उग्घाड़	उग्ग, उघाड़, उगा
स्पृह्—णिच्।	सिह	सिहा
सं-भू-णिच्।	आसंघ, संभाव	संभाव,
उत्-नम-णिच्।	उत्थंघ, उल्लाल गुलुगुंछ, उप्पेल, उन्नाव, उन्नाम उन्नाव, उप्पेल	उलार उठा,
प्र-स्था-णिच्।	पट्ठव. पेंडव, पट्ठाव।	पठा
वि-ज्ञा-णिच्।	वोक्क, अवुक्क, विणव।	(विनवौं।)
अर्प-णिच्।	अल्लिव, चच्चुप्प, पणाम, अप्प।	अप्प, अप्पा
या-णिच्।	जव, जाव।	भिजवा, जा
प्लू-णिच्।	उम्बाल, पवाल,	पाव, उबाल
विकोश	विकोसं, पक्खोड़	पछोड़, विकोस।
रोमंथ-णिच्।	उग्गाल, बग्गोल. रोमंथ।	उगला, उलवा
काम् णिच्।	निहुव, कामे	काम

* 'हितवार्त्ता' (ता० २७ जुलाई सन् १९०६) से उद्धृत।

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप	हिन्दी धातुरूप
प्रकाश-णिच् ।	णुव, पआस, पयास ।	पराग, प्रकास
कम्प-णिच् ।	विछोल, कम्प,	कँपा
आ-रुह-णिच् ।	वल, आरोवे	आरोप, आरोह, चढ़ा
दोल-णिच् ।	रंखोल, दोले	दोल, डुला
रंज-णिच् ।	राव, रंजे	रंग, रंगा, रंजे
घट-णिच् ।	परिवाड़े, घड़,	घड़े, गढ़गढ़ा, घड़ वा गढ़वा
वेष्ट-णिच् ।	परिपाल, वेढ़े ।	वेढ़, वेर परिपाल
क्री ।	किण,	किन्न, कीन
वि-क्री ।	विक्किण, विक्के	विक, वेच
भी ।	भा, वीह	वीह, वीअ, वीय
आ-ली ।	अल्ली,	लीन
नि-ली ।	णिली, णिलुक्क, णिरिग्ध, लुक, लिक, निलिज्ज ।	लुक
वि-ली ।	विरा, विलिज्ज	विला
रु ।	रुंज, रुंट, रव, रुव ।	रो
श्रु ।	हुण, सुण	सुन
धु ।	धूव, धुण	धुन
भ ।	भव, हव, हो, हुभो, हु, णिवड, हुप्प (वा) ।	हुव, हो,

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप	हिन्दी धातुरूप
कृ।	कुण, कर, णिआर	कर,
	णिठुह, संक्षण,	कि,
	वावम्फ, णिच्चोल, नियार,	
	पयल्ल, पइल्ल, णीलुंछु,	
	कम्म, गुलल।	
स्मृ।	झर, झूर, भर,	सुमर,
	भल, लढ, विम्हर,	बिसर
	सुमर, पयर,	
	पम्हुह, सर, वीसर,	
	विसर, विम्हर, पम्हस।	
वि-आ-हृ।	कोक, पोक;	
	कुक्क, पुक्क।	बाहर,
प्र-सृ।	पयल्ल, उवेल्ल,	फैल, पसर
	पसर, महमह	महमह
नि-सृ।	णीहर, नील,	धाड़,
	धाड़, वरहाड़,	निसर
	नीसरे।	
जागृ।	जग्ग, जागर	जग्ग,
		जागर, जाग
वि-आ-पृ।	आअड्ड, वावार,	आड़
	वावरे	अड़ा
सं-वृ।	साहर, साहट्ट,	सँवर,
	संवर	संवार,
आ-दृ।	सन्नाम, आदर	आदर

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
	आदर ।	सन्मान, सम्मान
प्र-हृ ।	सार,	सार
	पहर ।	पहर
अव-तॄ ।	ओह, ओरस,	उतर
	ओअर, हर ।	अवतर
शक ।	चर, तर, तीर,	सक
	पार, सक ।	
त्यज ।	चप,	छोड़, तज
तॄ ।	तर, तीर	तर, तिर
पृ-णिच् ।	पार	पार
फक्क ।	थक, छक, थक्क,	थक, छक
श्लाघ ।	सलह,	सराह, सलाह,
खच ।	वेअड, खच,	खच, वेड़
पच ।	सोल्ल, पउल, पप ।	पोय, पो, सेक
मुच ।	छड्ड, अवहेड़, मेल्ल,	छड्ड, छोड़,
	उस्सिक्क, उस्सिक,	छुट, मेल,
	रेअव, निलुंछ, धंसाड़,	उसीक,
	मुअणिच्चल, निच्चल ।	
वञ्च ।	वेहव, वेलव	वंच
	जूरव, उमच्छ,	
	मूस, मुच्छ, वंच ।	
रच ।	उग्गह, अवह	रच
	विडविड, रय ।	
सं-आ-रच ।	उवहत्थ, सारव,	समार

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप	हिन्दी धातुरूप
	संमार, केलाय, समारय।	सँवार
सिच्।	सिंप, सिंप, सेय।	सिंच, सींच
प्रच्छ।	पुच्छ	पूछ, पुच्छ
गर्ज।	गज्ज, बुक्क ढिक्क (वृषे)	गज; डंकार; गरज; गाज
राज।	अग्घ; छज्ज; सह; रीर, रेह, राय,	छाज, राज, राय।
मस-ज।	आउड्ड; निउड्ड; बुड; खुप्प; मज्ज	डूब, डुबुक मज्ज; बूड़;
पुंज।	आरोल, वमाल, पुंज	पुंज।
लज्ज।	जीह, लज्ज	लज्ज, लाज
तिज।	ओसुक्क	
मृज।	उग्घुस, लुंछ, पुंछ, पुंस, फुर, पुस, लुह, हुल, रोसाण, मज्ज, कुल।	पुँछ पोंछ, घिस, मांज, मल
भंज।	वेमय, मुसुमूर, मूर, सूर, सूड, विर, पविरंज, करंज, नीरंज, भंज।	भंज, मोड़, भज्ज
व्रज।	वच्च	वच्च
अनु-व्रज।	पडिअग्ग, अणुवच्च।	पिछलग्ग, अनुज
अर्ज।	विढव, अज्ज	अज्ज, अर्ज
युज्।	जुंज, जुज्ज, जुप्प।	जुज्ज, जुंज, जुड़
भुज।	भुंज, जिम, जेम, कम्म कम्मे अराह समाण	भुंज, जीम, जेम,

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप	हिन्दी धातुरूप
	चमढ, चड्ड वा उपभुज, कम्मव चड्ड, चण्ड,	चाभ = मड़र करना
घट।	गढ, घड, संघट, संगल, संघई।	गढ़, घड़,
स्फुट।	फुट,फुंड, (हास्येमुर यथा मुरर)	फुट, फूट
मण्ड।	चिञ्च, चिंचअ, चिञ्चिल, रीड, रिविडिक, मुंड, मंड।	मंड
तुड।	तोड़, तुट, खुट, खुड, उक्खुड, उलुक्क, णिलुक्क, लुक्क, उल्लूर, उञ्चूर, तुड।	टूट, तोड़, खुट्ट, उखड़
घूर्ण।	घुल, घोल, घुम्म, पहल्ल।	घुल, घोल घुम्म, घूम
वि-वृत।	ढंस, विवट्ट	विवर (ब्यौरा)
क्थ।	अट्ट, कढ	औंट, कढ़
ग्रन्थ।	गॅठ	गेंठ, गांठ
मंथ।	घुसल, विरोल, मथ, मह।	मथ, मह, चिलों, रिड़क घुसल, घोल।
ह्लाद्।	अवअच्छ,	
नि-सद्।	णुमज्ज, निमज्ज	निमज्ज
छिद्र।	दुहाव, णिच्छुल्ल, णिज्झोड़, णिवर णिल्लूर, लूर, छिंद, (अपूर्व कहो तो उआंदे ; उद्दाल्ल) आच्छिंद	छिद्रछेद
मृद।	मल, मढ, परिहट, खड,	मल

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप	हिन्दी धातुरूप
	चड, अड, पल्लाड ।	
स्पंद ।	चुलचुल, फंद	चुलचुल, चुलबुल, फंद, फांद ।
पद् ।	पज्ज	
नि-पद् ।	निव्वल, निप्पज्ज	निपज
वि-सं-वद्	विअट, विलाट, फंस, विसंवय	विलटा, उलटा, विसंवादी
शद् ।	झड़, पक्खोड़	झड़, झाड़,
आ-क्रन्द् ।	णीहर, अक्कन्द् ।	
खिद् ।	जूर, विसर, खिज्ज	जूर, विसर, खिज
रुध ।	उत्थंग, रुन्ध	रूंध, रुक, रोक, रुंध
नि-षिध	हक्क, सेह	निसेध; हटक
क्रुध ।	जूर, कुज्झ	कुढ, जर; कोह
जन ।	जाय, जन्म	जा, जन्म
तन ।	तड, तड्ड, तड्डव, विरल्ल, तण	
तृप ।	थिप्प ।	
उप-सृप ।	अल्लिप, उवसप्प ।	
सं-तप ।	झंख	झीख, झंख
वि-आप ।	ओअग्ग, वाव ।	
सं-आप ।	समाण, समाने समा,	समाव (समाना)
क्षिप ।	गलत्थ, साल्ल, पेल्ल, णोल्ल, बुह, पर, धत्त, पार, पचार, धत्त, णुल, हुल, खिव, अडक्ख, छुहपरी,	पेल, फेंक, हूल, खेप, खेप ।

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
उत्-क्षिप	गुलुगुंछ, उत्यङ्घ, अल्लत्थ उब्भुत्त; उस्सिक्क हक्खुप्प हक्खुव, उक्खिव, उक्खेड़ (आ-क्षिप) उक्खेड़, णीरव, अक्खिव।	उठा; उलट उसीक, उछाल उखाड़
स्वप।	कमवस कमठस; लिस लोट्ट सुअ।	सो; सूत, लेट, लोट।
वेप।	आयम्ब; आयज्झ;	वेव
वि-लप।	झंख; वड़वड़, विलव	झंख; बड़बड़ विलप।
लिंप	लिंप	लिप।
गुप।	विर; णड; गुप्प वरा गुप्प नठ।	गुप; छिप;
क्रुप।	अवहाव	
प्र-दीप।	तेअव; सन्दुम; संधुक्क; अब्भुत्त; पलीव; धौंख	देव; धौंक धौंख; बाल, भड़का सुलगा (पलीता)

(१०)*

लुभ।	संभाव, लुब्भ।	लुभा।
क्षुभ।	खउर; पड्डह पड्डुह खुब्भ	खुभ; खउर
आ-रभ।	आरम्भ; आढव, आरभ	आरम्भ।
उप-आ-लभ	झंख पचार; वेलव ओलंभ	झंख; ओलंभ; उलंभ।

* 'हिनवार्ता' (ता० ५ अगस्त सन् १९०९) से उद्धृत।

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप	हिन्दी धातुरूप
जृम्भ ।	जंभा, विअम्भ;	जंभा जमुहा, उवास
नम ।	(भाराक्रान्ते कर्त्तरि) निसुढ़	निहुर, निहुड़, नौ नव;
वि-श्रम ।	णिवा; वीसम; निउ;	बिसम; नीव ।
आ-क्रम	ओहाव, ऊत्थार	
	उच्छार; छुन्द; अक्कम ।	
भ्रम ।	टिरिटिल्ल; ढुणढुल्ल	भय; भरम;
	ढढल्ल; चक्कम्म भम्मड़ भमड़	
	भमाड़; तलअंट; झण्ट; झम्प;	
	रु`ट; भुम, गुम, फुम, फुस, ढुम,	
	ढुस, पर, भम; परी,	
गम ।	अई; अइच्छ; अनुवज्ज	
	अवज्जस; अवसज्ज, उक्कुस, पच्चड्डु,	
	पच्छन्द णिम्महणी; णीण;	
	णीलुक्क; पदअ; रम्भ; परिअल्ल;	
	वोल णिरिणास णिवह; अवसेह	
	अवहर, गच्छ, हम्म	जा ।
	णिहम्म आहम्म पहम्म	
आ-गम ।	अहिपच्च अ आगच्छ	आ ।
सं-गम ।	अब्भिड़, संगच्छ ।	भिड़ ।
अभि-आ-गम	उम्मत्थ; अब्भागच्छ ।	
प्रति-आ-गम;	पलोट्ट; पच्चागच्छ ।	पलट, लौट
शम ।	पाड़सा, परिसाम ।	सम, समा
रम ।	संखुड्ड; खेडड; उब्भाव	रम खेल;
	किलिकिंच कोट्ट रुम;	

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
	मोट्टाय, णोसर, वेल्ल, रम।	
पूर।	अग्घाड़, अग्घव, अघा, उद्गुमा, पूर।	
	उद्गुय, अंगुम, पूर, अहिरेम,	
त्वर।	तुवर, जअड़, तूर, तुर, तुरंत	तुवर तुरंत।
क्षर।	खिर, झर, पझर, पच्चड़, णिच्चल	झर
	णिवल, णिट्टुअ।	
उत्-छल।	उत्थल्ल, उच्छुल्ल।	उथल, उछल
वि-गल।	थिप्प, णिट्टुह।	पिघल, निचुड़
दल।	विसट्ट, दल।	दरदरा, दल
वल।	वम्फ, वल	वल।
भ्रंश।	फिड, फिट्ट, फुड, फिड़।	
	फुट्ट, चुक, भुल्ल, फिट्ट, भंस।	फूट चूक, भुल, भूल
नश।	णिरणास, णिवह, अवसेह,	नास, नस।
	पड़िसा, सेह, अवहर, नस्स।	
अव-काश।	ओवास	ओकास
सं-दिश।	अप्पाह संदिस	संदेस
दृश।	निअच्छ, पेच्छ, देख, अवयज्झ,	अवयज्झ पेख, देख,
	वज्ज, चज्ज, सव्वव, सच्चव,	आपेख, निआर।
	ओअक्ख, अवक्ख, अवअक्ख,	
	पुलोए, पुलए, निअ	
	अवआस, पास, निज्झाअ।	
स्पृश।	फास, फंस, फरिस, छिव	
	छिह आलुयंखह, आलिह, परस।	परस, छू छे।
पूर।	आग्घाड़, अग्घव,	अघा

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप	हिन्दी धातुरूप
	उद्धुम, अंग्रम, अहिरेम, पूर।	पूर पुर
वि-गल।	थिप्प, णिट्टुह, निट्टुह विगल।	निचुड़ पिछल विगल।
दल।	विसट्ट, दल।	दल, पीस दरदरा।
मील।	मिल, मील।	मिल, मेल।
भ्रंश।	फिड, फिट्ट, फिट्ट, फुडफुट्ट, चुक्क, भुल्ल, भंस, भुल्ल, अक्क।	फूट चूक, टूट, भूल
प्र-विश।	परिप, पविस प्रविस्स, पविस	ढुक घुस।
प्र-आ-मृष।	पम्हुस।	मूस।
पिष।	णिवह, णिरिणास, णिरिणज, रिणिज्ञ, रीञ्ज, चड्ड पीस, चड्ड	पीस
भष।	भुक्क, भस, भुक्क	भूक, भौंक, भूस भास,
कृष।	कड्ढ, साअड्ढ, अञ्छ, अणच्छ, अयच्छ, आइच्छ, करिस कड्ढ अक्खोड़, पँच, खोड़, निकास, करस।	काढ़, खींच निकास, खोल,
गवेष।	ढुण्ढुल्ल, ढँढोल, गमेस, घत्त, गवेस।	ढूंढ़, टटोल, गवेस।
श्लिष।	सामग्गा, अवयास, परिअन्त, सिलेस।	लेस
म्रक्ष।	चोप्पड, मक्ख।	चोपड़, चुमड़, मक्ख मख।
कांक्ष।	आह, अहिलंघ, अहिलंख, वच्च,	अभिलाख, चाह।

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
धातुरूप	धातुरूप	धातुरूप
	चउक्क, मह	
	सिह, विलुम्प, लुम्फ, कंख।	
प्रति-ईक्ष।	सायप,विहार, चिरमाल पड़िक्ख	चिलम विरम परिख।
तक्ष।	तच्छ, चच्छ, रप, रम्फ तक्ख।	छील, काट, रंद, तरख, तक्ख।
नि-कस।	काआस, वोसट्ट, विअस।	विकस, विअस, खिल।
हस।	गुञ, हस।	हँस।
स्रंस।	लुहस, डिम्भ स्रस।	डिग।
त्रस।	डर, वोज्ज, वज्ज तस।	डर, बोद (बोदा ?)
नि-अस।	णिम, णुम, निड, न्यू	निम, निव।
परि-अस	पलोट्ट, पलट्ट, पल्हत्थ, उत्थ	पलोट, पलट।
नि-श्वस।	झंख, नीसस।	निसास, हँफ, हांफ।
उत्-लस।	ऊसल, उसुम्भ, णिल्लस, पुलआअ, गुञोल्ल गुञुल्ल, अरोअ, उल्लस।	हुलस, उलस, हुलास, उल्लस।
भास।	भिस, भास।	भास।
ग्रस।	घिस, गस।	गँस, गिरस ग्रस।
अव-गाह	ओवाह, उवा, ओगाह, उगा।	औगाह, अवगाह।
आ-रुह।	चड, वलग्ग, आरुह।	चढ़, आरोह।
मुह।	मुम्म, गुम्मड़, मुज्झ।	मूढ़, मोह।
दह।	अहिऊल, आलुंख, उह।	दह, दाह, दाघ।
ग्रह।	वल, गेह्ल, हर, पंग निरुवार, अहिपच्चु।	ले, धर, गह, टह।

अधिक दृष्टान्तोंके लिखनेकी कुछ आवश्यकता नहीं। हिन्दीकी प्राःय

सब धातुओं का सादृश्य आर्ष प्राकृतकी मूल धातुओंसे सुस्पष्ट दिखता है। सामान्य परिवर्त्तन भी जो कहीं हुआ है, वह प्राकृत सूत्रोंके ही अनुसार हुआ है। क्त, क्त्वा, तुम्, तव्य प्रत्यय आदिके कारण स्थल विशेषमें धातुओंका विशेष रूपान्तरित होना नीचे लिखे अनुसार प्राकृत भाषाके व्याकरणोंमें देखनेमें आता है। इनसे भी हिन्दीके वर्त्तमान धातुरूपोंका बहुत कुछ साम्य और सम्बन्ध है।

संस्कृत।	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत
ग्रह।	गेज्झ, घेत्।	वृध।	वड्।
वच।	वच्च, वात, वोल्ल।	स-वेष्ट।	सं-वेल्ल।
गम।	गच्छ।	उत्-वेष्ट।	उवेल-वेढ़।
इष।	इच्छ।	खाद्।	खा।
यम।	जच्छ।	धाव।	धा, धाव।
अस।	अच्छ।	सृज।	सिर्ज, सिरज।
छिद्।	छिन्द्।	शक।	शक्क।
भिद्।	भिन्द्।	लग।	लग्ग।
युध।	जुज्झ।	कुप।	कुप्प।
बुध।	बुज्झ।	नश।	नस्स।
गृध।	गिज्झ।	रु।	रुव, रोव।
क्रुध।	कुज्झ।	बन्ध।	बज्झ, बन्ध।
सिध।	सिज्झ।	रुध।	रुज्झ, रुन्ध।
मुह।	मुज्झ।	स्पृश।	छिप्प, छिव।
रुध।	रुन्ध, रुम्भ, रुज्झ।	आ-स्वद्।	चक्ख।
सद्।	सड्।	दा।	दे, दइ।
पत।	पड्।	आ-चक्षो।	आ-आक्ख।



कृत वैयाकरणोंने, संस्कृतकी धातुके पर्य्यायमें जितनी प्राकृत धातुओंका चलन था, प्रायः सबके रूपोंका एक ही स्थानमें सुगमताके लिये प्रयोग किया है। रूप ऐसे भी हैं कि जिनका मूल स्वतन्त्र है या जो दूसरी ही धातुसे निकले हैं। विज्ञ पाठकोंको इस विषयके समझानेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह ृतकी बहुत सी धातु ऐसी हैं कि वे प्राकृत भाषाकी ही निज जायँगी। संस्कृत धातुओंसे उनका किसी प्रकारका सादृश्य देखनेमें नहीं आता। वररुचिने स्वरचित प्राकृत-प्रकाशके ेदमें सूत्रोंसे धातु रूपोंका परिवर्त्तन दिखाया है। "भुवौ उनका यह पहला सूत्र है। सब समेत ७१ सूत्र धातुरूप विषयके वररुचिने दिये हैं। "कृ घेजूर।" ६४। "दृशोः ृ अवक्खा"। ६६। आदि वररुचिके सूत्रोंसे तथा हमारे कृत और प्राकृत धातु रूपोंसे भली भांति इसका निश्चय होता त मूल धातुका जिस अर्थमें प्रयोग होता है, पर्य्याय रूपसे ी अनेकों धातुओंका चलन भी उस अर्थमें बराबरसे चला प्राकृत व्याकरणोंमें उन विविध प्राकृत रूपोंको संस्कृत ादेश रूपसे माननेपर भी उन रूपोंकी परीक्षा और उनको वेचार करनेसे ही प्राकृतकी प्राचीनता और विभिन्नताके में तिलमात्र सन्देह भी नहीं रहने पाता है। हिन्दीमें उन धातुओंका इतना अधिक प्रयोग आज भी किया जाता है कि

ारती। ता० १२ अगस्त सन् १६०६) से उद्धृत।

संस्कृत वा तद्भव धातु रूपोंसे उनकी गिनती कमती न होकर अधिक ही ठहरेगी। औंट, ढूँढ़, टटोल, भंख आदि प्राकृतकी मूल धातुओंसे ही हिन्दीमें आयी दिखती हैं। इसीसे इनका सादृश्य भी संस्कृतकी धातुओंसे नाम मात्रको नहीं दिखता। इस स्थानपर वर्त्तमान, अतीत, भविष्यकाल और अनुज्ञाके प्राकृत धातु रूपोंका और क्त, तव्य आदि प्रत्ययोंसे सिद्ध रूपोंका दिखाना भी उचित है।

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप
भवति	हवइ, हवति, हुवेई, होइ, भादि, होज्ज, होज्यइ, होज्जाइ।
भवन्ति	हवन्ति, हुन्ति।
भवसि	हवसि, हवेसि, होसि।
भविष्यति	होज्ज, होज्जा, होज्जाहइ, होज्यहिइ. होसइ, होहिइ, होहो।
भविष्यसि	होहिसि
भविष्यामि	होस्सम, होस्सामि, होहामि, होहिमि।
भविष्यामः	होस्साम, होस्सामु, होस्सामो, होहाम, होहामु, होहामो, होहित्था, होहिस्सा, होहिम, होहिमु, होहिमो।
भवतु	भोदु, होदु, होज्ज, होज्जउ, होज्जा, होउ।
भवन्तु	हवन्तु।
भव	हवेहि।
भवत	होह।
अभूत, अभवत्, बभूव	हुवीअ, होज्ज।
भवेत्	हुज्ज, हुज्जइ

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप
भवति, भवेत्, भवतु, भूयात्, भविता, भविष्यति	होज्ज।
अभविष्यत्	होज्ज, होज्जा, होमाण।
अभविष्याम	होन्ता।
भावयति	भावेइ।
भूयते	होइज्जइ, होईअइ।
भूत	हुअ, हुअ, हुय।
भवत्	होइऊण, होउण, होहूण हविय, होत्ता।

॥ कृ धातु ॥

करोति	करइ, करेइ।
कुर्वन्ति	करहिं।
करोषि	करसि, करेसि।
करोमि	करउं।
कुर्मः	कलिमो।
करिष्यन्ति, कर्त्तारः	काहिन्ति।
करिष्यामि	काहं, काहिमि।
कुरु	करसु, करहि, करि, करे, कर।
कुरुत	करहा।
कुर्य्याः	करेहु।
अकार्षीत्	अकासि, कासी, काही, काहीअ।

संस्कृत धातुरूप	प्राकृत धातुरूप
क्रियते	किज्जदि, किज्जदे, कीरते
क्रिये	कीसु।
अकार्य्यत	अकारि।
कारयति	करावइ, करावेइ, कारइ, कारावेइ, कारेइ।
कारयामि	करावउं, करावेमि।
कार्य्यते	कारीअइ, करावीअइ, कराविज्जइ, कारिज्जइ।
कृत	कत, कद, कअ कअ, कय, किअ, किय।
कारित	कराविअ, कारिअ।
क्रियमाण	कीरन्ती।
कर्त्तुम्	काउं, करेप्पि, करेप्पिणु, करेवि, करेविणु।
कृत्वा	काउं, काऊण, कीऊणं कट्टु्य, करवि, कारयु करिउ, करिय, करिवि, करेप्पि, करेप्पिणु, करेविणु, करेवि।

प्राकृत भाषामें जितने रूप समयानुसार बदले हैं, सम्भवतः उनके दिखानेकी ही चेष्टा ऊपरके दिये हुए भू और कृ धातुके इन रूपोंमें की गयी है। समयानुसार इन प्रदर्शित रूपोंमे बहुतसे रूप अप्रचलित भी हो गये दिखते हैं, तथापि हिन्दीके वर्त्तमान रूपोंका सम्बन्ध सादृश्य और परिवर्त्तन इन प्रदर्शित रूपोंसे ही हुआ दिखता है। सजीव भाषामात्र परिवर्त्तनशील हैं, इसलिये उक्त आर्ष प्राकृतका परिवर्त्तित रूप ही वर्त्तमान हिन्दीका स्वरूप मानना पड़ता है।



कृत भाषाकी नित्य व्यवहारमें आनेवाली धातुओंके रूप
और शब्दोंके प्रचलनका वर्त्तमान हिन्दीसे रहित हो
अर्थकी बात नहीं है। चन्द्वरदायीके पृथ्वीराज रासेमें
न्दी भाषामें जिन शब्दोंका विशेष प्रचलन था, आजकी
अधिकांश शब्दोंका सम्पूर्ण अभाव देखनेमें आता है।
मुक्किय, दिज्जै, भमैं, बिडुरि आदि धातु रूपोंका और षष्ठी
।" चिन्हका तथा अन्यान्य बहुतसे शब्दोंका प्रयोग इस
नहीं किया जाता। यहां तक कि वैसे अधिकांश शब्दों-
दीभाषाभाषी समझ भी नहीं सकते हैं। इसलिये प्राकृतकी
ोंका अभाव अथवा शब्दोंका इस समयकी हिन्दीमें चलन
ानेकी अथवा इस कारणसे ही हिन्दीको प्राकृतसे सर्व्वथा
मान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि युक्ति और
वैसी कल्पनाका पूरा विरोध पड़ता दिखता है। प्राकृतमें
लम्ब करना या गति नीची करनेका अर्थ प्रचलित है;
कना, हारना आदि अर्थोंमें ही "थक" धातुका प्रयोग होता
"झखई" "झंख" धातुके वर्त्तमानकालका प्राकृत रूप है।
।, उलहना देना, बिगड़कर बोलना आदि अर्थोंमें जैसा
'झंख" धातुका प्रयोग होता आता था, आज हिन्दीमें भी
में ही बिना परिवर्त्तनके "झंख" धातुका सर्व्वत्र प्रचलन
"पहरइ" (युध्यते), "संहरइ" (संवृणोति), "अनुहरइ"

री' (ता० ३० सितम्बर सन् १९०६) से उद्धृत।

(सदृशी भवति), "विहरइ" (क्रीडति), "परिहरइ" (त्यजति) आदि प्रयोग भी, प्राकृतभाषाके अनुरूप ही हिन्दीमें इस समय वर्त्तमान दिखते हैं।

संस्कृतमें भवति, करोति आदि रूप वर्त्तमान कालके हैं। प्राकृतमें पहले उस "भवतिका" "हवति" रूप बना था, तदन्तर "हवइ" "हुवेइ" रूप भी "हवतिको" थोड़ीसी विकृतिके होनेसे कालान्तरमें बने। अन्तको स्वभावकी असाधारण शक्तिके प्रभावसे सरल रूपमें "होइका" चलन चला। हिन्दीमें आज भी प्रान्तीय ग्रामीणोंकी भाषामें उक्त "होइ" रूप प्रचलित है। होय, और हो, रूप भी इसके ही हैं। स० 'अस्ति' क्रमशः और भी सरल रूपमें परिणत होनेके कारण प्राकृत हिन्दीमें "अहइ" "अहै" आदि रूपोंमें बदलकर अन्तको सुन्दर सरल "है" रूपमें इस समय प्रचलित है। वैसे ही "करोतिके" प्राकृतमें "करेइ" और "करइ' रूप तो बनही चुके थे, हिन्दीमें कुछ और भी अग्रसर हो खासे सुन्दर "करै" और "करे" रूपमें परिणत हुए। यद्यपि प्राचीन कवियोंने "करै" और "करे" आदि रूपोंका व्यवहार विशेषतासे किया है और प्रत्येक काव्य इसकी गवाही दे रहा है, तथापि दुःखका विषय है कि समयके फेरसे हिन्दीकी शिक्षाका सर्व्वथा लोप और देशमें मौलवियों और मुदर्रिसोंकी शिक्षाका दिनों दिन विशेष प्रचार फैलनेके कारण अभागी हिन्दीके इन तिङन्त रूपोंकी जड़ ही मारी गयी। ठीक शिक्षा बिना आधुनिक सुलेखकोंको विशेष सावधनतासे "करे" आदि तिङन्त प्रयोगोंका बहिष्कार (बायकाट) करना पड़ा। दुर्भाग्यवश एक "है" रूपमात्र तिङन्तका किसी प्रकारसे सर्व्वव्यापक रूपसे इस समयतक इन कट्टर संहारकोंके करुणाशून्य कठिन कुठाराघातसे बचा हुआ वर्त्तमान देखनेमें आता है। इसी प्राकरकी और भी बहुत सी हानि मुसलमानी राज्यमें हुई। विशेषतः पञ्जाब और पश्चिमोत्तर प्रदेशों सहित मध्यप्रदेश बङ्गाल, बिहार और दाक्षिणात्यमें पारसी अक्षरोंका विशेष प्रचलन ऊपर

लिखे कारणसे बद्धमूल हो गया है। पञ्जाब पश्चिमोत्तर और मध्य प्रदेशके तो अधिकांश ब्राह्मण भी उक्त यावनी लिपिमें ही पत्रव्यवहार करते हैं और देवनागरी अक्षरोंसे ही पूरे अनभिज्ञ हैं। अपना नामतक देवनागरीमें नहीं सही कर सकते। ऐसा कुछ विचित्र हठ सा अधिकांश लोगोंके सिर सवार है कि सहजमें विदेशी अक्षरोंका चलन रोककर देवाक्षरोंका चलाना इनसे बन नहीं पड़ता। देवनागरी प्रचारिणी सभाओंके कागजी घोड़े तो अच्छी घुड़दौड़ दिखाया करते हैं, परन्तु इस विषयमें जैसा चाहिये, वैसा उद्यम नहीं किया जाता। उदाहरण रूपसे यहां इस बातका कहना अनुचित वा अप्रासङ्गिक न होगा कि इन सभाओंमें सबसे पुरानी बनारसकी नागरी-प्रचारिणी सभाके वर्त्तमान रहनेपर भी आज तक बनारसकी म्युनिसिपैलिटीके नोटिस बिल आदि केवल फारसी अक्षरोंमे ही बराबर निकलते हैं। परन्तु "दीपक तले अंधेरा" इस पुरानी कहावतके अनुसार बनारसकी सभाके किये अबतक तो इन विषयोंमें कुछ भी न हो सका। जब म्युनिसिपैलिटीसे ऐसी तुच्छ बात अबतक सभा न करा सकी, तो सरकारी और अदालती अन्धेर क्या कभी सहजमें किसीके रोके रुकनेवाला है?

प्राकृत भाषामें विपरीत अर्थमें "णवी" प्रयुक्त होता है। आज भी हिन्दीमें "नभी" और "नवी" उसके रूपान्तर वर्त्तमान हैं। "थू कुत्सायाम्" "रे, अरे सम्भाषणरति कलहे" "हरे क्षेपेच" "ओ सूचानपश्चात्तापे" आदि सूत्रोंमें "थू रे, अरे, हरे" और "ओ" जिन अर्थों में प्रयुक्त होते थे, इस समय ज्योंके त्यों उन उन अर्थों मे प्राकृत ही प्रचलित दिख रहे हैं। सिवा इनके "नाईं का" सादृश्य अर्थमें हिन्दीमें आज भी प्रचलन दिखता है। उदाहरणकी भांति यहाँ प्राकृतकी एक कविता उद्धृत कर दिखाना अनुचित न होगा; यथा—

"ढोला सामला धण चम्पावणी।
नाईं सुवण रेह कसवट्टइ दिन्नी॥"

इस कविताका अन्वय इस भांति किया जा सकता है—"कसवट्टइ (कसौटीपर) दिन्नी (दीनी वा दी हुई) सुवण रेह (सुवर्ण रेखकी) नाईं, धण (नायिका वा धनी) चम्पावणी (चम्पकवर्णी) और ढोला (नायक) सामला (सांवला) है। प्राकृतकी इस कविताका भाव सुन्दर है, परन्तु मेरा अनुरोध इसकी शब्दरचनापर विशेष ध्यान देनेके लिये पाठकोंसे है। नायकके अर्थमें "ढोला" आज भी भारतमें प्रचलित है। सामला वा सांवला हिन्दीमें पक्के रंगके मनुष्यको कहते हैं। "चम्पावणी" प्राकृत रूपका सामान्य परिवर्त्तन होकर ही हिन्दीमें "चम्पावरनी" शब्द प्रचलित हुआ है। "नाईं" आज भी हिन्दीमें सम-भावसे प्रचलित है। "सुवणका" परिवर्त्तित रूप ही सुवरन" और "सोना" दोनों है। वैसेही "रेख" और "रेहमें" "ख" और "हका" बदला है। "कषपट्टिका" यह मूल संस्कृत शब्द ही अपभ्रंश प्राकृतमें "कसवट्टी" बना था। उस "कसवट्टीका" किञ्चित् रूपान्तर होकर ही "कसवटी" और "कसौटी" दोनों रूप हिन्दीमें आये हैं। "दिन्नीसे", पहले "दीनी" फिर "दियो" और "दिई" बनकर इस समय विशेष सरल "दी" रूप हिन्दीका सर्व्वत्र प्रचलित दृष्टिगोचर होता है। निस्सन्देह ऊपर लिखे उदाहरणसे हमारे सुविज्ञ पाठकमात्र अब भली भांति समझ गये होंगे कि यथार्थमें हमारी हिन्दी उस प्राचीन भारतव्यापिनी आर्ष प्राकृतका परिवर्त्तित रूप है। और उक्त परिवर्त्तन भी प्रदर्शित रीति अनु-सार कालक्रमसे स्वतः हो गया है। जो लोग हिन्दीको अभिनव वा प्राकृत-से सर्वथा अलग भाषा मानते हैं, उनसे निवेदन है कि, आग्रह छोड़कर एकाग्रचित्तसे प्राकृत भाषा और चन्दवरदायी आदि हिन्दीके प्राचीन कवि-योंकी भाषाके विशेष अनुशीलनका परिश्रम स्वीकारकर वर्त्तमान हिन्दीकी शब्दरचनाप्रणालीपर पूरे ध्यानसे पक्षपातशून्य विचार करें। आशा है कि ऐसा करनेपर वे आपसे आप हिन्दीको आर्ष प्राकृत और अपभ्रंश प्राकृत-के सम्मिश्रण और परिवर्त्तनसे ही समुद्भूत स्वीकार करेंगे।

मयानुसार उस मूल आर्ष-प्राकृतके विविध नामान्तर होनेके साथ ही शब्दोंमें भी परिवर्त्तन और अर्थान्तरों-का होना स्वाभाविक था। इसलिये प्राकृत भाषाके करणोंने लोगोंके हितके लिये स्फुटकारिका आदिकी नीचे र रचना भी भ्रमनिवारणार्थ की थी, जैसे—

क्रे बंकु तरंगौ द्वौ सम्बुध्याक्षेपयोः 'अरे'।
णं इमं इरं त्रीणि दृश्यते इदमर्थके॥
ते विस्मये च तापे च कुत्सार्थे च विदुर्बुधाः।
ठेले असे ले शब्दाश्च सम्बुध्याक्षेपयोर्मताः।
ोद्दा विहित विप्रोक्तौ प्रकृते बहिदन्तथा।
ीही भो परितोषे स्यात् ही माने हीच विस्मये।
ये अज्ञ अज्ञिआ शब्दा एवर्थी सम्मताः सताम्।

द्धृत वचनोंसे प्राकृत भाषामें एक ही अव्यय उपसर्ग और याानुसार भिन्न अर्थोंमें प्रयोग, प्रत्यक्ष रूपसे प्रमाणित है। ान्तरमें इन वचनोंसे ही काम न चलता देख सिद्ध हेमचन्द्रको नाष्टाध्यायीमें उदाहरणों सहित अनेकों सूत्र इन विषयोंके करने पड़े थे। प्राकृताष्टाध्यायीके चतुर्थ पादका ३२९ वां ी विशेषकर स्वरान्त शब्दोंकी आकृतिके परिवर्त्तनकी गवाही ेता है—

णां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे। सूत्र ३२९।" अपभ्रंशे स्वराणाम् : स्वराः भवन्ति। यथा;—कच्चु—काश्च; वेण—वीण—

वार्ता' (ता० ७ अक्तूबर सन् १९०९) से उद्धृत।

बीन, ग्राह—ग्राहा—ग्राहु, पट्टि-पिट्टि-पुट्टि, तृण-तणु-तिणु, सुकृदु-सुकिदु-सुकिओं-सुकिउ, किल्निअों-किन्नओ, लिह-लीह-लेह, गउरि-गोरि इसी रीतिसे "इदम् इमुः क्लीवे" "एतदःस्त्रीपुंक्लीवे एह एहो एहु।" "अदस ओइ" आदि सूत्रोंसे "इदम् एतत् और अदस्" शब्दके परिवर्त्तित अन्तिम रूप भी सिद्ध हेमचन्द्रको दिखाने पड़े हैं, इनके उदाहरण भी सुन्दर दिये हैं, जिनका यहां उद्धृत करना अवश्य उचित है—

एह कुमारी एहो नरु एहु मनोरह ठाणु।
एहुं उ वढ़ चिन्तन्ताहं पच्छइ होइ विहाणु॥
जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ।
विहलिअ-जन अवभुद्धरन कन्तु कुडीरइ जोइ॥

इन दोनों कविताओंकी भाषा हिन्दी काव्यकी पुरानी भाषासे ऐसी मिलती जुलती है कि इनकी व्याख्या करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। टुक ध्यानसे विचारनेपर पाठक आपही भली भांति समझ सकते हैं। एह और यह, मनोरह और मनोहर, ठाणु और स्थान, पच्छइ और पाछे या पीछे, जइ और यदि, पुच्छह और पूछो, वड्डा और बड़ा, ओइ और वही, विहलिअ और विहरित, जणु और जनु, अवभुद्दरण अभ्युद्धरण, और कन्तु कन्त, आदि एक ही शब्दके रूपान्तर हैं, इनका समझ लेना पढ़े लिखे बुद्धिमानों लिये कुछ भी कठिन नहीं है।

हेमचन्द्रके चतुर्थ पादके ३९५ अंकित सूत्रपर भी ध्यान देना उचित है। "तक्ष्यादीनां छोल्ला दयः।" अपभ्रंशे तक्षि प्रभृतीनाम् धातूनाम् बोल्ल इत्यादय आदेशाः भवन्ति"। इसके उदाहरणमें पहली कविताका उपन्यास इस भांति किया दिखता है—

जिवँ तिवँ तक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहे मुहँ कमलि सरिसिवँ कावि लहन्तु॥

"तक्ष" धातुका प्राकृतमे "छोल्ल" बना था, उसकाही और भी थोड़ा सा रूपान्तर वर्त्तमान प्राकृत इस हिन्दीमें "छोल" और "छील" दोनों हैं।

परन्तु वर्त्तमान गद्यमें "छील" ही लिखनेकी चाल है। ऊपर उद्धृत की हुई इस कविताका भावार्थ भी बड़ा ही सुन्दर है। विशेषतः इसके पदविन्यासका मेल भी हिन्दीसे इतना कुछ है कि इसे चन्दके काव्यसे पहलेके समयकी हिन्दी कहना किसी प्रकारसे भी अनुचित या असङ्गत न होगा। उद्धृत सूत्रके "आदि" शब्दसे अन्यान्य धातुओंका भी ज्ञान होता है। इसलिये हेमचन्द्रके प्रदर्शित अन्य उदाहरणोंसे चुनकर थोड़ेसे यहां दिखाये जाते हैं, कारण सबके दिखानेका स्थानाभाव है—

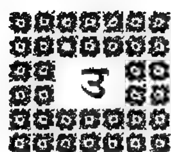
हिअइ डकइ गोरडी गयनि धुडूडकइ मेहु।
वासा रत्ति पवासु अहं विसमा संकड एहु॥
पुत्तें जाए कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जबप्पीकी भुंहड़ी चम्पज्जइ अवरेण॥
गयउ सुकेहरि पिअहु जलु निच्चिन्तइ हरिणाइं।
जसुकेरए हुंकारणए मुहँहु पड़न्ति तृणाइं॥
सिर जरखण्डी लोअडी गलि मणियड़ा न बीस।
तोवि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ-वईस॥
पिउ आइउ सुअ वत्तड़ी झुणि कन्नडइ पइट्ठ।
तहो विरहही नासन्त अहो धूलडि आविन दिट्ठ॥

प्राकृतके सूत्रोंपर ध्यान रखकर इन कविताओंकी भाषाका विचार करनेसे इनके अर्थके समझनेके साथ ही शब्दोंका क्रम परिवर्त्तन भी भली भांति ध्यानमें आ जायगा और साथ ही हिन्दीके प्राचीनतर काव्य चन्दबरदायी आदिके रासेसे पहले समयकी हिन्दीका प्राचीनतम रूप भी इन कविताओंसे प्रत्यक्ष होता है, निर्विवाद स्वीकार करना ही पड़ेगा। Philology की अभिज्ञताके अभिमानी अपनेको प्रतिपन्न करनेवाले भी, दुःखका ही विषय है कि, हिन्दीके दुर्भाग्यके कारणसे ही अबतक इस ओर ध्यान न सके। वैसे लोगोंसे मेरा विशेष अनुरोध है कि अब तो इस प्रयोजनीय विषयपर अवश्य पूरा ध्यान देकर निरपेक्ष

विचार कर देखें। ऐसा करनेसे उन्हें, आशा है कि, हिन्दीके पूर्व्वतम रूपका परिचय होनेके साथ ही कहना पड़ेगा कि, आर्ष प्राकृत और अपभ्रंश प्राकृतका परिवर्त्तित रूप ही वर्त्तमान प्राकृत यह हमारी हिन्दी है।

---

*(१४)



दाहरणकी इन कविताओंमें "एह कुमारी एहो नह" "गयउ सुकेहरि पिअहुजल" "सिर जरखण्डीलोअडी" आदि वाक्योंको देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि, वर्त्तमान हिन्दी भाषाके सिवा ये और किसी दूसरी भाषाकी उक्तियाँ हैं। विशेषतः इन अंशोंका तो वर्त्तमान हिन्दीसे इतना अधिक सादृश्य है कि केवल इतने ही अंशको देखकर इनकी भाषाको चन्दवरदायीके समयके पूर्वकी भाषा कहना ही असम्भव होगा। भाव भी इन कविताओंका कहीं कहीं बड़ा ही सुन्दर और मनोहर देखनेमें आता है। जैसे—

जिव तिवँ तिक्खा ले वे कर, जइ ससि छोल्लिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहे मुहंकमलि, सरिसिंव कावि लहन्तु॥

इस कविताका भाव बड़ा ही सुन्दर और समझने योग्य है। यदि हिन्दीमें इसके भावके दरसानेकी चेष्टा की जाय, तो नीचे लिखे दोहेसे बहुत कुछ समझनें आ जाना सम्भव है—

ज्यों ज्यों तीछन शस्त्र लहि, खुरचे जायं कुअंक।
गोरी-मुखपंकज-सरिस, हो कि न होय मयंक॥

इसमें सन्देह नहीं कि सिद्ध हेमचन्द्रके समयसे पहिले ही आर्ष प्राकृत सम्मिलित अपभ्रंश प्राकृतसे प्राचीन हिन्दीके स्वरूपका संगठन

---

* 'हितवार्त्ता' (ता० १४ अक्तूबर सन् १९०९) से उद्धृत

अवश्य होने लगा था। इन उदाहरणोंसे उसका ही परिचय भली भाँति मिलता है। "मिव पिव पिवव्ववयिअ इवर्थि।" इव (जैसा) वा सादृश्य अर्थमें प्राकृतमें इन शब्दोंका प्रयोग बहुत दिनोंसे होता आता था। हिन्दीमें इव, जिवँ आदि भी इनके ही भेद और रूपान्तरमात्र प्रचलित देखनेमें आते हैं। सिवा इसके प्राकृतमें "णवर केवले" सूत्रसे केवल अर्थमें "णवरका" प्रयोग प्रचलित मानना पड़ता है। आज भी हमारी हिन्दीमें निरा, निरे और निरी क्या अपने पूर्व्वरूप इस "णवरसे" पूरा पूरा परिचय नहीं करा रहे हैं? "अण, णाई, माई" नञ् अर्थ वा निषेधार्थमें प्राकृतमें चलित थे। वर्त्तमान समयमें भी न, नहीं, ना, मत आदि इन्होंके रूपान्तर वर्त्ते जाते हैं। "पि" और "वि" प्राकृतमें अपिके अर्थमें आते थे। आज भी "भी" और "वी" उनके ही रूपान्तर वर्त्तमान हैं।

यथार्थ क्षत्रियोचित वीरधर्म्मको नस नसमे फड़कानेवाली प्रदर्शित उदाहरणोमे "पुत्ते जाये कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण? जा बप्पीकी भूहड़ी चम्पिज्जइ अवरेण॥" यह कविता भी विशेष ध्यान देने योग्य है। इसका भावार्थ ऐसा है कि "उस पुत्रके जाये कौन गुण है, और उसके मर जानेपर ही कौनसा औगुण है? कि जिसके बापकी भूमि औरोंने चाँप, या दबा ली हुई है॥" इस कविताकी शब्दावली भी विचारने योग्य है। संस्कृत पुत्रसे प्राकृत "पुत्त" और 'पूत' शब्दोंकी उत्पत्ति हुई है; और ये इस समय भी इस रूपमें प्रचलित हैं। प्राकृत 'कवणु, गुणु' और 'अवगुणुके' परिवर्त्तित रूपही इस समय हिन्दीमें "कौन, गुन," और "औगुन" शब्द हैं। विशेषतः "जा-बप्पीकी" यह शब्द "जिसके बापकी" इस ही अर्थमें प्रयुक्त है। "जा-बप्पीकी" इस शब्दमे 'का, के, को, की' हिन्दीकी सम्बन्ध सूचन करनेवाली "की" प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है। "भूहड़ी" अर्थात् भूमि स्त्रीलिंग शब्द है; इसलिये स्त्रीलिंगसे सम्बन्ध सूचन करनेवाली 'की' ही प्रयुक्त है।

हेमचन्द्रके समयसे भी कुछ पहिलेसे इसका प्रयोग, उस ही रीतिसे होता आता है जैसा कि आज दिन भी हिन्दीमें हो रहा है। विलगाऊ सिद्धान्ती शिरोमणियोंको यों न सूझे, तो ऐनक लगाकर भी ध्यानसे देखना और सीखना उचित है कि हेमचन्द्रके समयके पहिलेसे ही "जावप्पीको" आदि प्रयोगोंमें प्राकृतमें भी साथ ही मिलाकर लिखनेकी परिपाटी थी, यह बात निस्सन्दिग्धरूपसे प्रमाणित होती है। सिवा इसके 'इँ, हिँ, ए, हो, स्स, सु, हं, हे, णं, आदि" विभक्तिके चिन्ह भी प्राकृत भाषाओंमे बराबरसे मिलाकर ही लिखे जाते हैं। अस्तु, नीचे लिखे उदाहणोंको ध्यानसे विचारनेपर आर्ष-अपभ्रंश प्राकृतसे वर्त्तमान हिन्दीकी उत्पत्ति और शब्द सादृश्यका घनिष्ठ सम्बन्ध और भी सुस्पष्टतासे दिखायी दे जायगा।

पिय-संगमि कउ निद्दडी, पिअहो परोक्खहो केवँ।
मइँ बिन्निवि विन्नासिआ, निद्द न एवँ न तेवँ ॥ १ ॥
चंचल जीविअ ध्रुव मरणु, पिअ रूसिज्जइ काइँ।
होसइँ दिअहा रूसणा, दिव्वइँ वरिस-सआइँ ॥ २ ॥
जाइज्जइ तहि देसड़इ, लब्भाइ पिअहो पमाणु।
जइ आवइ तो आणिअइ, अहवा तं जिनिवाणु ॥
जउ पवसन्ते सहुं न गअअ, न मुअ विओए तस्सु।
लज्जिज्जइ सन्देसड़ा, दिन्तेहिँ सुहय-जणस्सु ॥ ४ ॥
साव सलोनी गोरडी, नवखी कवि विस-गंठि।
भडु पच्चलिउ सो मरइ, जासु न लग्गइ कंठि ॥ ५ ॥
जिवँ सुपुरिस तिवँ वड्डलइँ, जिवँ नइ तिवँ वल खाइँ।
जिवँ डो गर तिवँ कोट्टरइँ, हिअअ बिसूरहि काइँ ॥ ६ ॥
एकु कुड़ली पंचहि रुद्धी। तह पंचह विजुअंजुअ बुद्धी।
बहिणुए तंघरु कहि किवं नन्दउ,
जेत्थु कुडुम्बउ अप्पण-छन्दउ ॥ ७ ॥

बाह विछोडवि जाहि तुहुं, हउं तेवंइ को दोस ।
हिअयट्ठिउ जइ नीसरहि, जानउ मुञ्ज सरोस ॥ ८ ॥
चम्पय कुसुम हो मज्झि, सहि भसलु पइट्ठउ ।
सोहइ इन्दनीलु जणि, कणे', बइट्ठउ ॥ ६ ॥
सिरि चिड़िया खन्ती फलइं, पुणु डालइं मोड़न्ति ।
तोवि महद्दुम सउणाहं, अवराहिउ न करन्ति ॥ १० ॥

इन उद्धृत कविताओंका भावार्थ हृदयङ्गम कर शब्दोंपर ध्यान देनेसे ही वर्त्तमान हिन्दीसे उस आर्ष प्राकृतका कैसा कुछ घनिष्ट सम्बन्ध है, आपसे आप सबको विदित हो सकता है। पहली कविताका भावार्थ है कि, प्रियके संगममें नींद कहां और प्रियतमकी प्रतीक्षामें नींद कैसी? मरण तो मैं सब तरह देखती हूँ, नींद न यों है न त्यों। दूसरी कविताका अनुवाद इस भाँति किया जा सकता है कि, जीवनकी स्थिरता नहीं; वह चञ्चल है; पर मरना ध्रुव निश्चय है; इसलिये हे पिया रूसिये क्यों? रूसनेका एक दिन देवताओंके सौ वर्षोंके समान होगा। तीसरी कविताका 'जाइये या चलिये उस देसको जहां निश्चय पिया मिलें, यदि आवे' तो आनिये अथवा वहां ही (अपना भी) निर्वाण हो।' चौथी कविताका "जो प्रवासीके (पियाके) साथ न गया और उसके वियोगमें मुआ भी नहीं, तो अब सुहृज्जनोंको सँदेसा भेजते लाज आनी चाहिये।" "सलोनी गोरी शापसे हुई कोई अनोखी विषगाँठ है, प्रत्युत वही मारता है, जिसके कण्ठ नहीं लगती"। यह पांचवी कवितामें कविकी उत्प्रेक्षाका भावार्थ है; छठी कविताका यह अभिप्राय है कि "जैसे सुपुरुष हैं तैसे खल भी हैं, नदी है तैसी नाँव भी हैं, पहाड़ हैं तैसी खोह भी हैं, हिया तू क्यों बिसूरता है।" सातवीं कविताका अर्थ है कि "एक कुठडिया पांचने रोकी, सबकी अनमिल बुद्धि त्रिलोकी। कहु बहिनी घर किमिनन्दे, जिस कुटुम्बके जन स्वच्छन्दे। आठवीं कवितामें नायिका नायकसे कहती है "तुम बाँह छुड़ाये जाते हो, मैं क्या दोष दूँ? यद्यपि

मेरे हृदयसे निकल सको, तो मैं तुम्हें सरोष जानूं।*" नवीं कवितामें नायिका सखीसे कहती है कि, "हे सखी! अनखिले फूलके मध्यमें भौंरा पैठा हुआ ऐसी शोभा देता है, जानो नीलमकी कनी जड़ी हुई सोह रही है।" दसवीं कवितामें वृक्षकी उदारता दिखाकर अन्योक्ति वर्णन है। सिरपर बैठी चिड़ियां फल खाती हैं, पुनि डालोंको मोड़ती हैं, तो भी महत्‌द्रुम उन्हें अपराधी नहीं बनाता।



†(१५)



सिद्ध हेमचन्द्रने अपनी प्राकृताष्टाध्यायीके चतुर्थ पादमें "स्यम्‌-जस्‌-शसां लुक्‌" यह सूत्र दिया है। अपभ्रंशे सी, अम्‌, जस्‌, शस्‌, इत्येतेषाम्‌ लोपो भवति" सूत्रकी इस वृत्तिसे प्रथमा और द्वितीयाकी विभक्तियोंके चिह्नोंका अपभ्रंश प्राकृतमें लोप होता है। इसके उदाहरणमें—

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणह, निरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअयसरु, खरपत्थरि तिक्खेइ॥"

यह कविता उद्धृत की गयी हुई दिखती है। इसका भावार्थ है कि "सांवली ज्यों ज्यो (अपने) बांके नयनोंको निश्चित शिक्षा देती है, त्यों त्यों कामदेवके बाण-समूहको सानपर चढ़ा, तीखे करती जाती है। इस कवितामें "वंकिम" शब्द द्वितीयान्त "लोचन" शब्दका विशेषण है। इसलिये व्याकरणके नियमानुसार उक्त वंकिमको भी द्वितीयान्त

---

* इससे सभा विलासका यह दोहा मिला देखिये,—फैंटा चले छुड़ायके, निबल जान पिय मोहि। मनकी लगन छिड़ायहौ, तौ बल बदि हौं तोहि॥"

हि० स०।

† 'हितवार्ता' (ता० २१ अक्तूबर सन्‌ १९०८) से उद्धृत।

होना उचित था, परन्तु इस सूत्रके अनुसार यहां "वंकिम" शब्दकी द्वितीया विभक्तिका चिन्ह लुप्त है। दूसरे चरणमें "निअय-सरु" संस्कृत शर-निचयका अपभ्रष्ट प्राकृत रूप है! इसमें भी द्वितीया विभक्तिका चिन्ह इस सूत्रानुसार ही लुप्त हुआ दिखता है। हिन्दीमें ऐसे प्रयोग आज भी बहुधा प्रचलित हैं। "मुंह तोड़ दिया" "हाथ काट डाला" "आम खाता है" "रोटी खाते हैं" आदि प्रयोगोंमें हिन्दीकी द्वितीया विभक्तिका चिन्ह आज भी प्राकृतके उक्त सूत्रानुसार ही लुप्त हो जाता है। इसके बादवाला सूत्र हो अपभ्रंश प्राकृतमें प्रायशः षष्ठी विभक्तिका लोप विधान करता है। आज दिन हिन्दीमें षष्ठी विभक्तिके सर्व्वथा अभावका कारण भी प्राकृतका उक्त सूत्र ही अनुमित होता है।

"ङे हिं" सूत्रसे प्राकृत भाषाकी सप्तमीके एक वचनमें "हिका" आदेश होता है। हेमचन्द्रने इसके उदाहरणमें नीचे लिखी एक बड़ी सुन्दर कविता दी है—

"वायसु उड्डावन्तिअए, पिउ दिट्ठउसहसत्ति।
अद्धावलया महिंहि गय, अद्धा फुट्ट तड्त्ति॥"

इस कविताका विपन्न अभिप्राय है कि "कौए उड़ाती हुई विरहिणीने पियाको हँसते देखा, (उस सम्मिलनकी अपूर्व दशाके वर्णनमें कविकी उक्ति है कि,) उसी समय उसकी आधी चूड़ियां पृथ्वीपर गिर पड़ीं; परन्तु (अलभ्य आनन्दसे क्षीणताके नष्ट होनेके साथ ही सहसा शरीरकी पनपने और पुष्ट होनेसे) अवशिष्ट आधी चूड़ियां चट तड़ककर टूट गयीं।" इस उदाहरणमें "महिंहि" शब्दमें सप्तमीके एक वचनमें "हिका" प्रयोग सुस्पष्ट है। हिन्दीकी कवितामें विशेषकर ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। हिन्दीकी कवितामें षष्टी विभक्तिके तत्, यत्, और किम् शब्दोंके रूप जासु, कासु आदि भी हेमचन्द्रके चतुर्थ पादके ३५८ वें सूत्रानुसार ही प्रचलित हुए हैं। प्राकृतकी कविताओंमें इनके अनेकों उदाहरण हैं जैसे—

"जीविउ कासु न वल्लहउं, धणु पुणु कासुन इट्ठु ।
दोणि वि अवसर निवडिआइं, तिण सम गणइ विसिट्ठु ॥"

इसका यह आशय है कि, जीवन किसका वल्लभ (प्रिय) नहीं और धन पुनि किसका (किसको) इष्ट नहीं, (परन्तु) विशिष्ट (जन) अवसरपर दोनोंको ही तिनके सा (तुच्छ) गिनते हैं ।

प्राकृतमें "सर्व्व" शब्दका "साहु" अथवा "सव्वु" बन जाता है । हिन्दीमें भी सबकी उत्पत्ति उक्त प्राकृत "सव्वु" शब्दसे ही हुई है । प्राकृतकी नीचे लिखी कवितामें इसका उदाहरण मिलता है—

"सव्वुवि लोउ तडंप्फडइ, वड्डतणहो तणेण ।
वड्डप्पण परिपाविथइ, हत्थिं मोक्कलडेण ॥"

"बड़प्पनके लिये सभी लोग तड़फड़ाते हैं, पर बड़प्पन मिलता है देनेवाले (उदार दानशील) हाथोंसे ।" प्राकृतकी इस उद्धृत कवितामें "वड्डप्पण" और "वड्डतण" दोनों प्रयुक्त हैं । हिन्दीका "बड़प्पन" भी इनके ही किञ्चित् परिवर्त्तनसे प्राप्त हुआ है । लोउ, लोअ, लोक, और लोग इन चारों रूपोंके ही दर्शन हिन्दीकी कवितामें इस समय भी होते हैं । "तड़प्फड़इसे" "तड़फड़ाते हैं" और "पाविअइसे" ही "पाते हैं" क्रियाका घनिष्ठ सम्बन्ध है । यद्यपि इस समय हिन्दीमें "मोक्कलु" धातुका प्रयोग नहीं किया जाता, परन्तु चन्दकी प्राचीन कवितामें इसके अनेकों उदाहरण हैं । जसे—"मोहि मुक्कहि वद्दीदिस ।" चं० ।

प्राकृताष्टाध्यायीके चतुर्थ पादके "किमः काइं कवणौवा" सूत्रसे अपभ्रंश प्राकृतमें "किम्" शब्दको विकल्प विधिसे "काइं" और "कवण" आदेश होते हैं । इस कवणका ही दूसरा रूप प्राकृतमें "कवन" है । हिन्दीमें "कवन," "कउन" और "कौन" इसीके तीनों रूप बनकर इस समय भी सर्व्वत्र प्रचलित हैं । केवल "काइं" 'काइए' मारवाड़ियोंकी कुछ दिनोंसे निज सम्पत्ति ठहर गयी है

"सुपुरिस कंगुहे अनुहरहिं, भण कज्जें कवणेण।
जिवँ जिवँ वड्डप्पण लहहिं, तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण॥"
कभी किसका अनुसरण कौनसे कार्य्यके लिये करते हैं ? (ये)
ड्डप्पन पाते हैं त्यों त्यों सिरके बल झुकते ही जाते हैं।
से "अस्मद्" शब्दकी प्रथमामे "हउँ" और तृतीयाके एक
. "आदेश भी प्राकृतमें होते हैं।

—:o:—

*(१६)

लाथवा द्विवासहनहे किराह वे दिवेसहु नाहिं"
इस ४१९वें सूत्रके अनुसार किलका किर, अथवाका
अहवे, दिवाका दिवे, सहका सहुं और नहेका नाहिं
है। ४२०वां सूत्र "पश्चाद्वमेवैवेदानीम् प्रत्युतेतसह
इजि पच्चहि पचलिउ एत्तहे" है। इस सूत्रानुसार
च्छइ, जैसे "पच्छइ होइ विहाणु।" "एवमेवस्य एम्वइ"
इ सुरउ समत्तु," एवका जि, इदानीम्का एम्वहि और
चलिउ, इतका एत्तहे, जैसे "एत्तहे मेहु पिअन्ति जलु" हो

" नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः। ४४४॥" अपभ्रंश प्राकृ-
र्में नं, नउ, नाइ, नावइ, जणि और जणु ये प्रयोग होते हैं।
नाइ आदिका चलन अबतक भी इतनी विशेषतासे है कि
श करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। जानि, जनु,
ा आदि इनके ही पर्य्यायवाचक कुछ परिवर्त्तित रूप हैं।

र्त्ता' (ता० २ दिसम्बर सन् १९०६) से उद्धृत।

परन्तु नं, इस अर्थमें इस समय प्रचलित नहीं दिखता। अवश्य चन्द-वरदायीके समय इसका चलन विशेषतासे था और पृथिवीराज रासेमें इसके अनेकों उदाहरण भी वर्त्तमान हैं। सिद्ध हेमचन्द्रने उक्त सूत्रके उदाहरणमें "नं मल्लजुज्झ ससि राहु करहिं" प्रयोग दरसाया है। जूझना युद्ध करनेके अर्थमें इस समय भी हिन्दीमें प्रचलित है। यहां मल्लयुद्धका प्राकृत अपभ्रंश रूपही "मल्लजुज्झ" प्रयुक्त है और इसकी भाषाका भी इतना कुछ सादृश्य हमारी इस वर्त्तमान प्राकृत हिन्दीसे है कि निरपेक्ष विचारशील मनुष्यमात्रको "नं मल्लजुज्झ ससि राहु करहिं" इस उद्धृत चरणको हिन्दी स्वीकार करनेमें किसी प्रकारका आगापीछा या सन्देह तो हो ही नहीं सकता।

इस समय हिन्दी भाषाके वर्त्तमान नामी लेखकोंमें "ऊपर" शब्दके सम्बन्धमें भी विचार समय समयपर होता है। संस्कृत "उपरि" शब्द प्राकृतमें "उप्परि" रूपसे प्रचलित था। इसके साधनेको सिद्ध हेमचन्द्रको "ङिङेच" इस सूत्रकी रचना करनी पड़ी थी। इसकी वृत्तिमें आपने स्पष्ट लिखा है, "अपभ्रंशे अकारस्य ङिना सह इकार एकारश्च भवतः।" उदारणमें नीचेकी यह कविता दी है ;—

> सायरु उप्परि तणु धरइ, तलि घल्लइ रयणाइं।
> सामि सुभिच्च वि परिहरइ, सम्माणेइ खलाइं॥"

इस कविताका भाव बड़ा ही मनोहर है। कवि कहता है कि सायरु अर्थात् सागर, "उप्परि" ऊपर, "तणु" तिनके, "धरइ" धारण करता है, (परन्तु) "रयणा" रत्नोंको, "तलि" तले, "घल्लइ" डाल देता है। अर्थात् हलके तृण तो समुद्र-जलके सिरपर (चढ़े) तिरते (नाचते से) सब लोगोंको दिखते हैं, परन्तु अमूल्य रत्नोंको समुद्र सबसे नीचे अपने तले डाल देता है (वैसे ही) स्वामी, राजा वा धनी, सुभिक्षु साधु सज्जनोंको छोड़ (निरादरकर) खलोंका सम्मान करते हैं इस समय भी सागर शब्दका प्राकृत 'सायर' रूप अनेक स्थलोंमें

प्रचलित दिखता है। बड़े बड़े तलावोंके नाम "कृष्णसागर" 'श्याम सागर' "रानी सागर" आदि सुने जाते हैं। हिन्दीमें ह्रस्व इकारकी मात्राका उच्चारण अत्यन्त लघु होनेके कारणसे ही गत, मत, पत आदि शब्दके लिखने और उच्चारण करनेमें ह्रस्व इकारकी मात्रा सर्व्वथा छोड़ ही दी जाती है। इस नियमानुसार ही उप्परिसे उप्पर और ऊपर इन दोनों रूपोंका चलन चल पड़ा दिखता है। "तलि घल्लइ" वा 'तले घल्लइ' दोनों रूपोंका ही प्रचलन प्राकृतमें होता था। ऊपर लिखे सूत्रकी वृत्तिसे ही इस बातका निश्चय होता है। हिन्दीमें "तले" "पीछे" "नीचे" "आगे" आदि प्रयोगोंका सम्बन्ध प्राकृतके उक्त सूत्रसे परिलक्षित होता है। खोजनेमें इस प्रकारके सादृश्योंकी इतनी अधिकता दृष्टिगोचर होने लगती है कि इस क्षुद्र लेखमें उन सबका दरसाना असम्भव है।

हिन्दीकी पञ्चमी विभक्तिमें सूं, सों और से आदेश होते हैं। प्राकृत सूत्रोंके अनुसार स, और ह का परिवर्त्तन सुसिद्ध है। सिद्ध हेमचन्द्रकी अष्टाध्यायीके चतुर्थ पादका "भ्यसो हुं" यह ३३७वां सूत्र है। इससे प्राकृतमें पञ्चमी विभक्तिके बहुवचनमें हुं का प्रयोग प्रचलित था। इसके अनेकों उदाहरण भी मिलते हैं। एक कविकी उक्ति है—

"दूरुड्डाणे पडिउ खलु, अप्पण जणु मारेइ।
जिहि गिरि सिंगहुं पडिय सिल, अन्नुवि चूर करेइ॥"

इसका भावार्थ है कि, "खलु" दुर्जन, दूर ऊंचे चढ़कर भी अधः गिरता है, तो अपनोंको ही मारता है, जैसे गिरि (पर्व्वत)-शृङ्गसे गिरकर शिला अन्य शिलाओंको भी चूर करती है। इस कवितामें "गिरिसिङ्गहुं" इस पदमें पञ्चमी विभक्तिमें "हुं" आदेश प्रत्यक्ष है। इसका ही किञ्चित् परिवर्त्तन होकर हिन्दीमें सूं, सों और अन्तको सेका प्रचलन हो गया है। हुं तो और सुं तो के पठनका क्रमशः समाप्त

होकर अन्तिम अवस्थामें प्राकृतमें हुं का प्रयोग ही पश्चमीमें विशेषतासे होने लगा था। उस प्राकृतका परिवर्त्तित रूप ही हमारी वर्त्तमान प्राकृत यह हिन्दी है, इसके अनेकों प्रमाण ढूँढ़नेसे मिलते हैं और मिलेंगे। सबसे बढ़कर प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह है कि इन कविताओंकी शब्दविन्यासप्रणाली और भाषा ऐसी है कि जिसे देख अपभ्रंश प्राकृतको हिन्दीका पूर्व्वतम रूप ही स्वीकार करना पड़ता है। भाषा सादृश्यको विशेष रूपसे हृदयङ्गम करानेके लिये ही प्राकृतकी कविताओंका बाहुल्यसे उद्धृत करना उचित समझा गया। नीचेकी इस कविताकी भाषा भी विचारने योग्य है, इसमें षष्ठी विभक्तिके सुंका प्रयोग हिन्दीकी कवितासे पूरा सादृश्य दिखाता है।

जो गुन गोवइ अप्पणा पयड़ा करइ परस्सु।
तसु हउँ कलिजुगि दुल्लहहो ; बलि किज्जउं सुअणस्सु ॥

अर्थात् जो अपने गुणको छिपाकर दूसरेके गुणोंको प्रकट करता है, कलियुगमें दुर्लभ उस सज्जनके मैं बलबल जाऊं।



सारस्वत सर्वस्व

अर्थात्

पञ्चनद प्रदेशीय सारस्वत ब्राह्मणोंकी लवपुरस्थ पञ्चजातीय

सर्वोत्तम श्रेणीविभाग क्रमकी समूलकता और

गोत्र, प्रवर, अल्ल, निकास, निवास,

जाति, कुल, शील, आदिका

शास्त्रोक्त प्रामाणिक

संक्षिप्त विवरण।

श्री १०८ श्री जयजयकुमार श्री कुलदेवपादपद्माश्रित,

कुमारीय जामदग्न्यवत्सगोत्रोद्भव

मिश्र गोविन्दनारायण (कुमड़िया)

विरचित।

(सारस्वतोंके हितार्थ प्रकाशित)

॥ ओ३म् ॥

श्रीजयजयकुमारकुलदेवताभ्यो नमः ।

भूमिका

बहुत दिनोंसे इच्छा थी कि सारस्वत ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति, निवास, निकास, गोत्र, प्रवर, अल्ल आदिकी उत्पत्तिसहित एक प्रामाणिक पुस्तक लिखूं। परन्तु प्रथम तो इस जटिल विषयका ठीक ठीक पता लगाना, विकृत शब्दोंकी मूलउत्पत्तिसहित कारणोंका यथार्थ अनुसन्धान करना, निरपेक्ष होकर ब्राह्मणोंकी सर्वप्रथम उत्पत्तिका स्थान निर्देशपूर्वक वर्णव्यवस्थाकी समूलकताके अभ्रान्त विचारके साथ ही पुरोहित-यजमान-सम्बन्धकी सृष्टि, स्थिति, विरोध आदिका कारण दिखाना, ब्राह्मणोंके दशविध मुख्य प्रचलित विभागोंका क्रमनिर्देश करना और कुलीनता और जातिभेदकी मूलउत्पत्ति आदिका प्रामाणिक लेख लिखना सहजसी बात नहीं थी। विशेषकर मुझ अल्पज्ञसे तो कथञ्चित् भी इस परम दुरूह और असाध्यसाधनका सुसिद्ध होना ही सम्भव नहीं दिखता था। दूसरे यह भी दृढ़ आशा थी कि कोई सुयोग्य बहुदर्शी पण्डित अवश्य इस ओर ध्यान देंगे। निस्सन्देह वैसे उपयुक्त लोगोंका लेख भी सर्वजनमान्य और सर्वाङ्ग सुन्दर परमोपकारी होगा। परन्तु रिजली साहब बहादुरके मनुष्यगणनाके कठिन संघर्ष और तुमुल आन्दोलनके समय भी भारतीय पण्डितकुलतिलकोंका मौनावलम्बन और इस विषयसे सर्वथा औदास्य, जिस प्रकार मेरी उस चिरसञ्चित आशालताके मूलका विनाशक हुआ, दुःखका विषय है कि अंगरेजी शिक्षासे परिमार्जितबुद्धि पण्डितम्मन्य नव्यसम्प्रदायके कतिपय क्षत्रिय युवकोंके विचित्र अद्भुत लेख उससे भी बढ़कर दुखदायी निकले! इससे यही निश्चय किया था कि जहाँ

तक हो सके शीघ्र ही अपना विचार एक छोटी सी पुस्तक द्वारा सर्व साधारणकी अवगति और परीक्षार्थ मुद्रितकरा प्रकाशित करना, इस अवसरपर परम कर्त्तव्य है।

परन्तु संसारचक्रमें पड़े चक्करखाते मुझ सरीखे परमदुर्भाग्य, प्रिय-वियोगसन्तप्तहृदय, कलिके गृहस्थाश्रमोंको अपने नित्यके रोनेपीटनेसे कब अवकाश मिलने लगा था? देखते ही देखते क्रमशः पुत्र-वियोग और जामातृवियोगविदीर्ण इस वज्रहृदयपर सुधासिञ्चन करनेवाली मधुरभाषिणी, जीवनदायिनी, आकल्पान्तस्मरणीया माता भी जब मुझे मेरी प्रारब्धके ही हवालेकर सुरपुरको सिधारीं तब तो संसार परम दुःखका आगार ही दिखा! हृदय शून्यसा प्रतीत होने लगा। उस समय उद्यम, उत्साह, आशा, कल्पना, विचारशक्ति आदि-का अभाव सा अनुभव होता था। परन्तु इसपर भी विपत्तियोंने पीछा न छोड़ा! मातृचरणोंके अदर्शन जिस दिन हुए थे, उसके षष्ठ ही दिवस प्रिय रामकृष्ण भी (बड़े जामाता) शून्यहृदयपर पुनः वज्रप्रहार कर गये! पाठक, उस अवस्थामें पुस्तककी रचना कौन कर सकता था? विशेष विलम्बका प्रधान कारण मनकी उक्त अशान्ति ही थी। अस्तु, ईश्वरको धन्यवाद है कि जिसकी कृपासे चित्तकी कथञ्चित् शान्ति और स्थिरता लाभकर, मनका वह चिरपोषित विचार कार्य्यमें परिणत हो इस क्षुद्र पुस्तकके आकारमें आज आपके नेत्रोंके सामने उपस्थित हो सका।

यह पुस्तक स्वधर्ममें आस्था और पूर्ण विश्वास रखनेवाले आस्तिक सनातन वैदिकधर्म्मावलम्बी सज्जनोंके अवलोकनार्थ लिखी गयी है। इसलिये इसमें सभी विषय शास्त्रीय प्रमाणोंका मुख्य आश्रय लेकर युक्तिपूर्वक लिपिबद्ध किये हैं। केवल तर्क अथवा हेतुवादसे पक्षसमर्थनकी चेष्टा नहीं की है। सद्युक्तिसे विषयोंको विशदकर अँगरेजी कुशिक्षासे भ्रान्त मनुष्योंके डावाँडोल चित्तको स्थिर करनेकी प्रसङ्गानुसार कहीं कहीं चेष्टा अवश्य की है। संस्कृतका अनुवाद न कर प्रयो-

अनानुसार भावार्थमात्र ही दरसाया है। संस्कृत न जाननेवाले केवल हिन्दीमात्र पढ़कर भी अभिप्राय सुन्दररीतिसे समझ जायँगे। परन्तु यथार्थ पूर्ण आनन्द तो संस्कृतज्ञोंको ही होगा।

जैसे एक ही पितामातासे उत्पन्न सहोदर भाई अति शैशवावस्थामें देशान्तरोंमें जा पड़ते हैं, वंशवृद्धि होने पर कालान्तरमें कभी उनका आपसमें साक्षात् सम्बन्ध और मिलाप होने पर भी बिना परिचय और दृढ़ प्रमाणोंके वे यह नहीं जान सकते कि हम एक ही वृक्षकी शाखा और एक ही पिताकी सन्तान हैं, ठीक वैसी ही दशा इस समय ब्राह्मणोंकी है! कल्पारम्भके समय प्रजापतिऋषि किसी एक ही प्रदेशमें उत्पन्न हुए थे। यह नहीं कि मिथिलामें प्रजापति दूसरे, उत्कलदेशमें दूसरे, गुजरातमें स्वतन्त्र और महाराष्ट्र द्रविड़ आदि देशोंमें कोई और ही उत्पन्न हुए हों। ब्राह्मणमात्र आज भी अपना वंशपरिचय उन्हीं परमर्षि भृगु, अङ्गिरा, वशिष्ठ आदिका नाम लेकर देते हैं। वंशके आदि पुरुषके निर्देश करनेमें सबका लक्ष्य (सप्तर्षि और अगस्त्य) मूल आठ ही गणोंके उन स्मरणीय नामोंकी ओर ही दिखता है। परमर्षियोंकी सन्तान, विशेष वंशवृद्धिके होने पर भी, उक्त आठगणोंके ही अन्तर्गत हैं। भृगुगणके ब्राह्मण इस समय चाहे किसी देशमें क्यों न जा बसे हों, परन्तु अपना परिचय परमर्षि भृगुके प्रवरोंको गिनाकर ही देते हैं जिससे निश्चय होता है कि एक ही मूलपुरुषसे भृगुवंशके ब्राह्मणमात्र उत्पन्न हुए हैं। केवल दूर देशोंमें बसनेके कारण इस समय भाईको भाई पहिचान नहीं सकता है! भेदबुद्धि और आपसकी इसी फूटने भारतकी पूरी दुर्दशा कर दिखायी! थोथा अभिमान आज भी नेत्रोंको दिव्यदृष्टिहीनकर, ब्राह्मणोंको अन्धा बनाये हुए है। ऐसे ही अत्रि, अङ्गिरा आदिकी सन्तानोंको भी समझो। इस भ्रमके दूर करनेकी इच्छासे ही उक्त प्रजापति ऋषिवंशप्रवर्त्तकोंकी बसती सबसे पहिले किस देशमें हुई थी? कहाँ वे उत्पन्न हुए? सर्वप्रथम उनकी सन्तानोंका नाम उस देशके कारण क्या प्रसिद्ध हुआ? और क्रमशः

दूसरे देशोंमें बसकर देशभेदके अनुसार नामभेद किस क्रमसे उत्पन्न होता गया आदि विषयोंके उल्लेखसे दशविध ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिका क्रमनिर्देशपूर्वक, ब्राह्मणमात्रका ध्यान मूलपुरुषोंकी जन्मभूमि और वंशप्रवर्त्तक गोत्रकार परमर्षियोंकी ओर आकर्षण कर ब्राह्मणोंकी मूल एकता सिद्ध करनेका प्रयत्नमात्र किया है इससे कोई महाशय यह न समझें कि सारस्वतब्राह्मणोंकी इसमें "पक्षपातिता" की गयी है। सत्यके अनुरोधसे यथार्थ विषयको गोपन न करना अपना कर्त्तव्य समझ इस पुस्तक में प्रकाशित किया जाता है; "आग्रह" से तो उसका सम्बन्धमात्र न समझना चाहिये; अवश्य, मोहनिद्रामें सोये हुए ब्राह्मणोंकी निद्राभङ्ग करानेको कहीं कहीं तीव्र वाक्योंके प्रयोगसे व्यङ्गोक्ति की गयी है। कारण, विना इसके उस प्रगाढ़ निद्रामें कौन किसकी सुनता है? निद्राभङ्ग होनेकी आशा तो तिस पर भी ईश्वर की दयादृष्टिपर ही निर्भर करती है।

"प्रमादो मानुषोभाव" इत्यादि सिद्धान्तानुसार बड़े बड़े ऋषि मुनियोंको भी समय पर भ्रम होता आया है। मनुष्यका स्वभाव ही भूलनेका है। इसलिये इस पुस्तकमें मेरे भ्रमप्रमादसे कोई असङ्गति किसी विषयमें दृष्टिमें आवे तो सुजनोंसे प्रार्थना है कि प्रमाणसहित सद्युक्तिप्रदर्शनपूर्वक अवश्य उस त्रुटिका उल्लेखकर कृपापत्र भेजें, मैं इस पुस्तकके पुनर्मुद्रणके समय धन्यवादके साथ उस भ्रमका संशोधन अवश्य करूँगा।

गोत्र, प्रवर, जातिधर्म्म, कुलधर्म्म, कुलीनता, विशुद्धाचार आदि पर इस समय लोगोंका ध्यान बहुत ही कमती है! इस कारणसे क्रमशः इनके सर्वथा नष्ट होनेका समय समीप आ गया दिखता है। बहुत से विषय तो लुप्त भी हो गये। तथापि बड़े बड़े महामहोपाध्याय पण्डितोंका तो केवल सभामें व्याकरणके कूट तर्क और न्यायकी चिर-अभ्यस्त फक्किकाकी "फुफकार" छोड़ अन्तको दाँत विदोड़, मुण्डी मटकाते, दक्षिणहस्त पसारकर दक्षिणा बटोरना ही एकमात्र पुरुषार्थ रह

गया दिखता है। उनका तो कभी ध्यान ही इन विषयोंपर नहीं आने-का। ऐसी अवस्थामें "आगलगन्ते भोपड़े जो निकले सो लाभ" समझकर, जहाँतक उद्धार और संग्रह अवतक मेरे किये हो सका उतना ही शीघ्रतासे प्रकाशित कर देना परमोचित समझ इस पुस्तक-को प्रकाशित किया है। ईश्वरकी कृपा होगी तो पुनर्मुद्रणके समय पुस्तक परिवर्द्धित और परिशोधित होकर प्रचारित होगी। अन्तको मैं परमप्रियमित्र काशीनिवासी सारस्वतकुलभूषण वैदिकपाठशालाके अध्यापक पण्डित कुन्दनलालशर्म्माको विशेष धन्यवाद प्रदान करता हूँ कि जिनसे 'प्रवररत्न' नामक पुस्तकरत्नका लाभ हुआ। इस पुस्तकने बहुतसे जटिल विषयोंकी मीमांसा सुगमतासे सम्पन्न करायी। "पञ्च-जातिकी" वंशावली संग्रह करनेमें और भी कई एक मित्रोंने विशेष सहायता की है। धन्यवाद सहित वंशावलीके साथ शीघ्र ही उनके नाम प्रकाशित करनेकी इच्छा है। किमधिकम् ॥

श्रीपरशुराम जयन्ती
वैशाख शुक्ला तृतीया
सं० १९६१ विक्रमाब्द
कलकत्ता।

भवदीय
गोविन्दनारायण शर्म्मा।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

सारस्वत-सर्वस्व

अपनी जाति और अपने देशका इतिहास ही उन्नतिका मूल है। हम कौन हैं? हमारा कुल कैसा है? हमारे बड़ोंने संसारमें कैसी कीर्ति फैलायी? इन बातोंके न जाननेसे अपनेकुलगौरव और मर्यादाकी प्रभुताका अङ्कुर हृदयमें नहीं उत्पन्न होता है। जिस मनुष्य-को आत्मगौरव और अपने कुलकी मर्य्यादाका ज्ञान नहीं है वह मनुष्य ही नहीं है। उससे किसी प्रकारकी उन्नतिकी आशा ही नहीं की जा-सकती। इसलिये ईश्वरने मनुष्यकी प्रकृतिमें यह गुण दिया है कि वह अपने ज्ञानके अनुसार, देश और जातिके, अन्ततः अपने वंशके विषयमें जहाँ तक सम्भव है, जाननेकी इच्छा और खोज भी अवश्य करता है। इस कारणसे ही संसारमें अपनी जाति और अपने देशका प्राचीन इतिहास मनुष्यमात्र लिखते और संग्रह करते हैं। जितना प्राचीनतम देश हमारा भारतवर्ष है, उतना पुराना दूसरा देश पृथ्वीपर नहीं है। भारतका इतिहास भी सबसे प्राचीनतम है। परन्तु बड़े ही दुःखका विषय है कि यवन, तूरानी मुसलमान, मुगल आदि विदेशीय लुटेरे राजाओंकी इस दुर्भाग्य भारतवर्षपर बहुत दिनोंसे अनेकों चढ़ाई, युद्ध, अत्याचार, लूट मार आदिके कारण प्राचीन ग्रन्थोंके नष्ट हो जानेसे भारतका सटीक इतिहास भी इसकी स्वाधीनताके साथही नष्ट हो गया। जिस पञ्चनद (पंजाब) सारस्वतप्रधान देशसे इस पुस्तकका सम्बन्ध है वह देश ही ऊपर लिखे आक्रमणकारी विदेशीय अत्याचारी राजा-ओंका एक मात्र प्रवेशपथ, सिंहद्वार और अतिक्रूर अत्याचारके

रंगभूमि थी। सुतरां उस देशके इतिहासके और प्राचीन आचार-व्यव-हारके सर्वथा नाश होनेमें क्या सन्देह था यही कारण है कि ब्राह्मण-जातिमें जन्म पाकर भी इस बातको छापकर प्रकाशित करनेमें एक महापुरुष लज्जित और कुण्ठित न हुए कि—'गोत्र प्रवरका विचार कन्या पुत्रके सम्बन्धमें घटता घटता घट गया"! "अपनी जातिको छोड़कर दूसरी जातिमें कन्या पुत्रका विवाह सम्बन्ध कर लेना ये बात चली!" बहुतेरे ऐसे भी निकले गे कि गोत्र जानते ही नहीं! प्रवर तो किस चिड़ियाका नाम है? मूखना और अपनी कुलमर्यादा-का ज्ञान न होनाही इस दुर्दशाका मूल है। विद्याभ्यास और आत्म-गौरव विना ब्राह्मणोंकी उन्नति कहाँ?

इधर बहुत दिनोंसे ब्राह्मणमात्रका दशविध मुख्य विभाग भरत-खण्डमें प्रचलित है। अर्थात् आर्य्यावर्तके रहनेवाले—सारस्वत, कान्य-कुब्ज, गौड़, मैथिल और उत्कल हैं। उसी प्रकार दाक्षिणात्य वा दक्षिण देशवासी ब्राह्मण--कर्नाटकी, तैलंगी, गुजराती, मरहट्टे और द्राविड़ हैं। सुतरां इसमें सन्देह नहीं कि देश और भारतभूभागके अन्तरंग स्थूल विभागके कारणसे इन दशविध, भिन्न भिन्न देशोंके रहनेवालोंकी सारस्वत, कान्यकुब्ज, तैलंग, द्रविड़ आदि मुख्य दस प्रकारकी संज्ञा बन गयी हैं। इस हिसाबसे सारस्वत देशनिवासी ब्राह्मणही "सारस्वत ब्राह्मण" नामसे प्रसिद्ध हुए—यही सिद्धान्त ठहरता है। देवनदी सरस्वती जिस सर्वोत्तम देशको अपनी परम पवित्र धारा-ओंसे पवित्र करती है उसे सारस्वत देश कहते हैं। अब देखना उचित है कि सरस्वती नदी कौन सी है। और कहाँसे निकल कर कौनसे समुद्रमें जा मिली है। एक ही किसी प्रसिद्ध नदीका नाम सरस्वती नदी है अथवा इस नामसे और और नदियाँ भी परिचित होती हैं। इति-हास-पुराण आदि शास्त्रोंको विचारपूर्वक देखनेसे भली भाँति निश्चय होता है, कि हिमालय पर्वतके प्लक्षप्रस्रवणसे सरस्वती निकली

और परम पुण्यतीर्थ पृथूदक (पिहोवा) कुरुक्षेत्रके ब्रह्मावर्त प्रदेशकी महिमा बढ़ाती क्रमशः पश्चिम दक्षिण झुकती हुई द्वारकाके समपी पश्चिम समुद्रमें जा मिली है। जिस समय सरस्वती अन्तःसलिला नहीं हुई थी और इसकी सुविस्तीर्ण प्रबल धाराका घोर प्रवाह परम वेगसे अपने प्यारे समुद्रसे मिलनेको प्रधावित होता था, उस समय भारत-वर्ष भरमें सरस्वतीके समान वेगवती बड़ी नदी दूसरी नहीं थी। सुवि-ख्यात परम प्राचीन सरस्वती नदीकी उस समयकी महिमा वेदोंमें सुस्पष्ट अबतक वर्त्तमान दिखती है! इस छोटीसी पोथीमें उन वेद-मन्त्रोंको बाहुल्यसे उद्धृत कर दिखानेका स्थानाभाव है। तथापि ऋग्वेदके षष्ठ और सप्तम मण्डलके दो एक मन्त्रोंका उल्लेख आवश्यकीय समझा गया। यथा "प्रक्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः। प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिंधुरन्याः ॥ १ ॥ एका चेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आसमुद्रात् रायश्चेतती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ २ ॥ मं० ७ सू० ९५ ॥ आय-त्साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता। याः सुष्वयंत सुदुघाः सुधारा अभिस्वेन पयसा पीप्यानाः ॥ ६ ॥ मं. ६ अ. ३ सू० ३७॥ इन मन्त्रोंका ऐतिहासिक वर्णन ही सरस्वतीके सब इतिहासोंका मूल है। इन मन्त्रोंका अर्थ विचारने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि हजारों वर्षसे सरस्वती इस समयतक अन्तःसलिला होकर नष्ट होगयी सी दिखती है, परन्तु अन्तःसलिला होनेके पूर्व इसकी धाराका प्रबल वेग और हिमगिरिसे आसमुद्रान्त प्रवाह अद्वितीय था। इस कारण इसकी उत्पादिकाशक्तिविशिष्ट अद्वितीय धाराके प्रबलप्रवाहवर्णनमें "शत्रु-ओंके आक्रमणसे बचानेको दुर्ग भूमिसी सुरक्षित, मानों सुदृढ़ लोहेका एक फाटकसा" इसे कहा है। और वेगवतीके विषयमें "रथ्येवयाति" रथपर चढ़ी हुई मानों दौड़ी जाती इस सरस्वतीने अन्य (नदियोंको) जलमात्रको अपने महत्त्वसे परास्त कर दिया; इत्यादि वर्णन स्पष्ट है।

अतः इस विषयमें सन्देह नहीं कि नष्ट होनेके पहिले सरस्वती एक बड़ी भारी वेगवती अद्वितीय नदी और सर्वोत्तम तीर्थ भी थी। तीर्थके विषयमें लिखा है--"यथा शरीरस्योद्देश्याः केचिन्मध्यतमाः स्मृताः। तथा पृथिव्यामुद्देश्याः केचित्पुण्यतमाः स्मृताः॥ प्रभावादद्भुताद्भूमेः सलिलस्य च तेजसा। परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यतास्मृता॥" स्थलविशेषके पवित्र अद्भुत जलके कारणसेही तीर्थकी पवित्रता है। यथार्थमें तीर्थ नामही जलविशेषका है। इस सरस्वती तीर्थकी परम पवित्रताके कारण इसके तीरपरही प्रजापति ब्रह्माने और देवताओंने भी पूर्वकल्पमें यज्ञ किये थे और पुण्यभूमि भारतभूमिको कर्मभूमि मानकर तपके योग्य पवित्रतम सर्वोत्तम स्थान सरस्वतीतीरस्थ ब्रह्मावर्त प्रदेशही मनोनीत किया था। मनुस्मृति "सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तन्देवनिर्मितन्देशं ब्रह्मावर्तंविदुर्बुधाः॥" तथा "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।" देवताओंके बनाये हुए ब्रह्मावर्तके उत्पन्न अग्रजन्मा ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके मनुष्यमात्रने शिक्षा पायी कहकर उसी सरस्वती और सारस्वतदेशकी महिमा घोषित कर रही है। "त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रंविशिष्यते।" ब्रह्मावर्त्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्॥ आदि म० पु० तथा—तैत्तिरीय जाबाल शतपथआदि श्रुतियोंमें सरस्वती तटस्थ कुरुक्षेत्र तीर्थकी महिमा और उसी स्थानमें पूर्व कल्पमें सम्पन्न देवताओंके यज्ञका सुस्पष्ट लेख बहुधा देखनेमें आता है। यथा—"देवा वै सत्रमासत, ऋद्धिपरिमितं यशस्कामाः। तेऽब्रुवन् यन्नः प्रथमं यश ऋच्छात्, सर्वेषां नस्तत्सहासदिति। तेषां कुरुक्षेत्रं वेदिरासीत् तस्यै खाण्डवो दक्षिणार्द्ध आसीत् तूर्घ्नमुत्तरार्द्धः परीणज्जघनार्द्धः मरवउत्करः तेषां मखं वैष्णवं यश आर्च्छत्॥" "कुरुक्षेत्रन्देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनं। कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्।" इत्यादि। ऐसी कौनसी स्मृति, कौनसा पुराण, इतिहास और उपपुराण है जिसमें सरस्वती

नदी और तत्तीरवर्ती कुरुक्षेत्रका महात्म्य वर्णन न किया हो। महाभारत शल्यपर्वमें गदायुद्धपर्वके बलदेवतीर्थयात्राध्याय और सारस्वतोपाख्यानके स्थान स्थानमें इसी सरस्वती नदी और कुरुक्षेत्रकी महिमा गायी हुई है बलदेवजी तीर्थयात्राको द्वारकासे चलकर सरस्वती नदीका जहाँ निकास है उस परम पुनीत प्लक्षप्रस्रवण पर्वतके ऊपर चढ़ गये थे। उस पर्वतोत्तमपरसे उनके उतरनेके वर्णनमें—"सोवतीर्य्याचलश्रेष्ठात् प्लक्षप्रस्रवणात् शुभात्।" स्पष्ट लिखा है। बलदेवजी महाराजने स्वयं श्रीमुखसे कहा था कि "सरस्वतीवाससमा कुत रतिः? सरस्वतीवाससमा कुतो गुणाः? सरस्वतीं प्राप्यदिवं गता जनाः। सदा स्मरिष्यन्ति नदीं सरस्वतीम् ॥१॥ सरस्वती सर्व नदीषु पुण्या, सरस्वती लोकसुखावहा सदा। सरस्वतीं प्राप्य जनाः सुदुष्कृतं सदा न शोचन्ति परत्र चेह च ॥२॥" तथा—"तीर्थम्पुण्यतमं राजन् पावनं लोकविश्रुतम्। यत्र सारस्वतो यातः सोऽङ्गिरास्तपसोनिधिः। तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेध फलं लभेत्। सरस्वतीं गतिंचैव लभतेनाऽत्र संशयः॥" इत्यादि

तदनन्तर महाभारतमें बलदेवजीकी सरस्वती नदीपर अनन्य प्रीति और भक्ति प्रमाणित कर महर्षि वेदव्यासने उनके रथ चढ़नेका कैसा सुन्दर स्वाभाविक वर्णन किया है कि "तदा मुहुर्मुहुः प्रीत्या प्रेक्ष्यमाणः सरस्वतीम्। हयैर्युक्तं रथं शुभ्रमतिष्ठत परन्तपः॥" इस परमपवित्रसलिला सर्वप्रधाना सरस्वती नदीकी महिमा वर्णनके विषय स्थानाभावके कारणसे अनिच्छा पूर्वक भी अब लेखनीको रोकना पड़ा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जब भगीरथने जन्म भी नहीं लिया था, भागीरथी गंगाका भारतमें पापियोंके उद्धारार्थ अवतरण भी नहीं हुआ था, उस प्राचीनकालमें भी सरस्वतीकी परम पवित्र तरङ्गमालाकी महिमा वेदादि शास्त्रोंमें घोषित होती थी और जन्मभूमिकी विशेष पवित्रताके कारणही इस देवनदीके तीरको ऋषियोंने अपनी आवासभूमिही बना लिया था।

जिस समय बलदेवजो तीर्थयात्रा करने गये थे, उसके भी बहुत दिनों पहिलेसे सरस्वती नदी अन्तःसलिला हो चुकी थी। कारण उसी तीर्थयात्रा प्रकरणमें द्वारकासे प्रभास, चमसोद्भेद आदि तीर्थके बाद ही विनशन प्रदेशके वर्णनमें महाभारतमें लिखा है कि "ततो विनशनं राजन् जगामाथ हलायुधः। शूद्राभीरान् प्रति द्वेषाद्यत्र नष्टा सरस्वती॥ यस्मात्सा भरतश्रेष्ठ द्वेषान्नष्टा सरस्वती। तस्मात्तदृषयो नित्यं प्राहुर्विनशनेति हि॥" जिस समय सरस्वती नदीका जिस प्रदेशमें आकर कालकी कुटिल गतिसे विनाश होगया था, उस देशका नामही उस समयसे विनशन पड़ा। यह विनशनप्रदेश वर्त्तमान उदयपुर मेवाड़ राजपुतानेके पश्चिम प्रान्तभागका मरु प्रदेशही है। अब इस स्थानपर यह शङ्का अवश्य उत्पन्न होती है कि एक तो प्रयाग तीर्थमें गङ्गा-यमुना सरस्वतीके संगमकी ही त्रिवेणी संज्ञा लोक प्रसिद्ध है; दूसरे महाभारतकी उसी बलदेवतीर्थयात्रामें सरस्वतीके लुप्त होनेके वर्णनके बाद पुनः नैमिषारण्य तीर्थमें सरस्वती नदीका वर्त्तमान प्रवाह वर्णन किया गया है। सिवा इसके पुष्कर, गया, उत्तरकोशला, ऋषभ द्वीप, गंगाद्वार, कुरुक्षेत्र, हिमालयपर्वतपर भिन्न भिन्न सरस्वती नदी विराजमान दिखती हैं। सुतरां इनमें यथार्थ मुख्य सरस्वती कौनसी है कि जिस नदीके विषय वेदके ऐतिहासिक अंशमें अनेकों श्रुति वर्त्तमान हैं? जब तक इस जटिल शंकाकी निवृत्ति अच्छे प्रमाण और सद्युक्तिसे न होगी तब तक सरस्वती नदी अथवा सारस्वत देशका निर्णय किसी प्रकार भी नहीं होसकेगा। निःसन्देह इस कठिन समस्याने बहुतसे भारतीय विद्वानोंको और पुरातत्वजिज्ञासु अँगरेज इतिहासलेखकोंको भी सरस्वतीके आवर्त्तमें डाल, श्रान्त और भ्रान्त किया है! इसलिये विविध प्रकारके भिन्न भिन्न सिद्धान्त सरस्वती नदीके विषयमें देखनेमें आते हैं। परन्तु अब विचारना उचित है कि यथार्थतः वेदोक्त वह प्रधान सरस्वती नदी कौनसी है? सरस्वतीके चरणोंमें प्रणाम

कर एकाग्रचित्तसे विचारने पर, शास्त्रीय वचनोंद्वाराही इसकी सुन्दर मीमांसा होजाती है। कारण पुष्कर, गयाजी आदि तीर्थोंमें सरस्वती नदी जो अब तक वर्त्तमान हैं, उनके एक तो स्वतन्त्र स्वतन्त्र नाम हैं; दूसरे, यज्ञके समय ब्रह्माने वा ब्रह्मर्षियोंने मन्त्रबलसे जहाँ जिस समय उनका आवाहन किया सत्यसंकल्पताके कारण उन स्थानोंमें समतल पृथ्वीको फोड़ कर उन छोटी छोटी सरस्वती नदियोंका आविर्भाव हुआ दिखता है। महाभारतमें उनके ये नाम लिखे हैं— "सुप्रभा काञ्चनाक्षी च विशाला च मनोरमा। सरस्वती चोघवती सुरेणुर्विमलोदका॥ पितामहेन यजता आहूता पुष्करेषु वै। सुप्रभा नाम राजेन्द्र नाम्ना तत्र सरस्वती॥ आजगाम महाभाग तत्र पुण्या सरस्वती।" नैमिषे काञ्चनाक्षी ... ॥ आहूता सरितां श्रेष्ठा गय यज्ञे सरस्वती। विशालान्तां गयेष्वाहुर्ऋषयः संशितव्रताः॥ उत्तरे कोशलाभागे पुण्ये राजन् महात्मनः। उद्दालकेन यजता पूर्वं ध्याता सरस्वती॥ आजगाम सरित् श्रेष्ठा तं देशं ऋषिकारणात्। मनोरमेति विख्याता ... ॥ सुरेणुर्ऋषभे द्वीपे पुण्ये राजर्षि सेविते। कुरोश्च यजमानस्य कुरुक्षेत्रे महात्मनः। आजगाम महाभाग सरित् श्रेष्ठा सरस्वती॥ ओघवत्यपि राजेन्द्र वशिष्ठेन महात्मना। समाहूता कुरुक्षेत्रे दिव्यतोया सरस्वती॥ दक्षेण यजता चापि गंगाद्वारे सरस्वती। सुरेणुरितिविख्याता प्रसृता शीघ्रगामिनी॥ विमलोदा भगवती ब्रह्मणा यजता पुनः। समाहूता ययौ तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ॥ एकीभूतास्ततः तास्तु तस्मिन् तीर्थे समागताः। सप्तसारस्वतं तीर्थं ततस्तत्प्रथितं भुवि॥ इति सप्त सरस्वत्यो नामतः परिकीर्त्तिताः। सप्तसारस्वतं चैव तीर्थं पुण्यन्तथास्मृतम्॥" महाभारतसे उठाये इन वचनोंमें सुप्रभा आदि सात स्वतन्त्र नामकी भिन्न भिन्न तीर्थोंमें यज्ञके समय आविर्भूत स्वतन्त्र स्वतन्त्र सरस्वती नदी दिखती हैं! परन्तु गिनतीमें मुख्यसरस्वती सहित सब नौ होजाती हैं कारण सुरेणुनामकी सरस्वती एक ऋषभद्वीपमें,

दूसरी गंगाद्वारमें, सुतरां दो जुदी जुदी सुरेणु हैं। सातों सरस्वतियोंका पुनः एकत्र हिमालयमें ब्रह्माके द्वारा आवाहन होनेसे सप्तसारस्वत तीर्थकी महिमा महर्षि व्यासने गायी है, यहभी सुस्पष्ट है। सुतरां इससे यह निश्चय होता है कि कुरुक्षेत्रकी प्रधान सरस्वतीका दूसरा कोई नाम न होकर सुप्रसिद्ध सरस्वती नाम ही रहा। यहाँ तक कि उसीकी शाखा महर्षि वशिष्ठके आवाहनके कारण ओघवती नामकी निराली ही सरस्वती कहायी। नाम गणनामें भी व्यासजीने मुख्य-सरस्वती नामको सब नामोंके मध्यमें सुशोभित दिखाया और इसका आवाहन भी नहीं किया; केवल "आजगाम" लिखा है। इस हिसाबसे मुख्य सरस्वतीको इनसे जुदा कर लेने पर सातही सरस्वती अन्य नाम-वाली अवशिष्ट पायी जाती हैं। इन सातोंमें दक्षके यज्ञमें जिस सुरेणु नामकी शीघ्रगामिनी सरस्वती नाम आया है वही सरस्वती कालान्तर-में गंगासे सम्मिलित सुतरां अन्तःसलिलारूपसे ही जब प्रयागतक आकर कालिन्दीसे मिलगयी तब स्वतः गंगायमुनासरस्वतीका त्रिवेणी संगम होगया यही प्रतीति होती है। नहीं तो प्लक्ष प्रस्रवणसे जिस प्रधान सरस्वतीका निकास हुआ है और कात्यायन लाट्यायन आदि श्रौत सूत्रोंमें सारस्वतसत्रकी दीक्षा जिस सरस्वतीके तटपर लिखी है उस सर्वप्रधान सरस्वतीकी तो गतिहा पूर्व दिशाको (प्रयागतीर्थ तक) नहीं पायीजाती वह तो पश्चिमाभिमुखी प्रवाहित होकर पश्चिम समुद्रमें ही जामिली है। महर्षि कात्यायनने ("शुक्लपक्षसप्तम्यां दीक्षा सरस्वतीविनशने", का० श्रौ० २४।५।१०) जिस समय यह सूत्र रचा था उस समय भी सरस्वती नदी अन्तःसलिला हो चुकीथी! इसकी दृढ़ प्रतीति तो इस सूत्रके विनशन शब्दसे ही होती है। कर्कने इसीकी व्याख्यामें लिखा है "सरस्वती विनशने, सरस्वती समुद्रसंगमें, प्रभासे, सारस्वत सत्रार्थं दीक्षाभवति।" परन्तु लाट्या यनके १०।१५।१ सूत्रमें "सरस्वती नाम नदी प्रत्यक् स्रोता

प्रवहति तस्याः प्रागपरभागौ सर्वलोकप्रत्यक्षौ, मध्यमस्तु भागः भूम्यन्तर्निमग्नः प्रवहति, नासौ केनचिद्दृश्यते तद्विनशनमुच्यते।" लिखकर माधवाचार्यने सुस्पष्ट दिखा दिया है कि "सरस्वतीका स्रोतःप्रवाह पश्चिमकी ओर जाता है। इस नदीका प्रथमांश, और शेष-का अंश तो सब लोगोंको प्रत्यक्ष दिखता है, मध्यभाग पृथ्वीके मध्य निमग्न हुआ प्रवाहित होता है, इसीसे मध्यभाग किसीको दिखता नहीं; उसको विनशन कहते है।" विनशन प्रदेश निषादपुरके पासके देशका नाम है। लिखा है "द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां दोषात् सरस्वती। प्रविष्टा पृथिवीं वीर...।" म० भा०। सुतरां अब इस विषयमें सन्देह नहीं रहा कि जिस सुविख्यात सरस्वती नदीका निकास प्लक्षप्रस्रवणसे हुआ, जिसका पूर्वांश पिहोया कुरुक्षेत्र स्थाणुतीर्थमें आजतक दृष्टिगोचर होता है, (जहाँ पिंडदान करनेसे प्राणीकी सद्गति होती है) उसका लुप्तांशही विनशन है; और शेष उसी नदीका अबतक उदयपुरसे पश्चिम दक्षिण, सिद्धपुर पाटन अर्थात् मातृगयाके समीप प्रवाहित होता, कच्छ और द्वारिकावाले पश्चिम समुद्रकी खाड़ीमें जा मिला दिखता है; वेदोक्त मुख्य सरस्वती महानदी वही है। कारण यह तो प्रसिद्ध है कि जिन नदियोंकी महिमा श्रुतियोंमें घोषित है, जिनके पवित्रतम तीरपर महर्षि निवास करते हैं, और जो नदियाँ भारतके किसी पर्वतोत्तमसे निकलकर समुद्र पर्य्यन्त स्वतन्त्रतासे जा मिलती हैं, उन्हींको महानदी मानते हैं। सरस्वती, गंगा आदि सातही महानदी मुख्य हैं, बाकी सब नदी हैं। यह मुख्य सरस्वती अन्तःसलिला होने पर भी समुद्रतक स्वतन्त्रतासे आमिली दिखती है। परन्तु "सुप्रभा" आदि अन्य नाम-वाली छोटी छोटी सातों सरस्वती दूसरी नदियोंमें, सौ दो सौ गजके अन्तरही मिल गयी हैं! उनमें एक भी स्वतन्त्रतासे समुद्र तक नहीं गयी। "धनुः सहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते। न ता नदीशब्दवहा गर्त्तास्ते परिकीर्त्तिताः॥" छन्दोगके इस वचनसे चार हजार बत्तीस

हाथसे कमती लम्बी, तो नदीही नहीं हो सकती है। सिवाय इसके ब्रह्माने उन सातों गौणसरस्वतियोंका आवाहन पुनः हिमवान् पर्वतके सप्तसारस्वत तीर्थमें कर लिया। सुतरां उन सातोंमें कोई भी अब मुख्य सरस्वती नहीं है। जो कुछ माहात्म्य वेद, स्मृति, पुराण आदिमें बाहुल्य-से लिखा दिखता है वह मुख्य सरस्वती महानदीके विषयमें ही है। एक समय वशिष्ठजीने अकथनीय महिमावाली इस सरस्वतीकी इस भाँति स्तुति की थी कि "व्याप्तञ्चेदं जगत्सर्वं तवैवाम्भोभिरुत्तमैः त्वमेवाकाशगा देवि! मेघेषूत्सृजसे पयः। सर्वाश्चापः स्त्वमेवेतित्वत्तो-वयमधीमहि। पुष्टिर्धृतिस्तथा कीर्तिः सिद्धिर्बुद्धिरुमा तथा। त्वमेव वाणी स्वाहा त्वं तवायत्तमिदं जगत्। त्वमेव सर्वभूतेषु वससोह चतुर्विधा॥" प्रधानतः इस मुख्य सरस्वतीके कारणही तीर्थप्रधान कुरुक्षेत्रकी यहांतक महिमा शास्त्रोंमें लिखी है कि "ये वसन्ति कुरु-क्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥" पृथ्वीपर सरस्वतीतटके निवासको स्वर्गतुल्य पवित्र सुखप्रद जान, ऋषियोंने सबसे पहिले सरस्वतीतीरपर बसकर, सारस्वत देशको ही * सब देशोंमें अग्रगण्य किया था। यही कारण है कि दशविध ब्राह्मणोंमें सारस्वतब्राह्मण सर्वप्रथम माने और गिनाये गये है।

---

* निदान ये हिन्दू आर्य्यलोग उस समय सुख चैनसे सारस्वत-देशमें सरस्वतीके किनारे † पंजाब और उसके आसपासमें निवास करते थे। ज्यों ज्यों संतान बढ़ती गयी पूर्वको फैलने लगे और भारी जंगलोको × आगसे जलाकर, जैसा कि अब भी उत्तर-अमेरिकामें करते हैं, रास्ते निकाले यहाँतक कि यमुना और गंगापार होकर कोशल और मिथिलातक अर्थात् अवध और उसके समीपी इलाकों तक चले आये। पश्चिमोत्तर इसलोगोंका मूलस्थान होनेमें किसी तरहका सन्देह नहीं। इतिहास तिमिरनाशक पृ० २७ का नोट।

† ऋग्वेदमें लिखा है "दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां

महानदी सरस्वतीके तीरके देशको ही सर्वोत्तम सारस्वतदेश माना है। परन्तु केवल एक पिहोया कुरुक्षेत्र देशवाली सरस्वतीकी तीरभूमि-मात्रही सारस्वत देशके नामसे प्रसिद्ध नहीं है। बल्कि अबतक पञ्चनद प्रदेशकी प्रसिद्ध पांचो नदीके तटको सिन्धुनद (अटक) तक, सारस्वत-देश मानते हैं। पण्डित तुलसीरामजी वामनजाई (मधुर उपाधिधारी) अपनी रची "जाति विभाग" नामकी पोथीमें वर्त्तमान सारस्वतदेशकी चौहद्दी सीमा इस भांति लिख गये हैं कि "पूर्वमें पृथूदक अर्थात् पहोया, दक्षिणमें रनीया और फतयाबाद, पश्चिममें मुलतान तथा अटकनदी, उत्तरमें जम्बू तथा नूरपुर। इस देशमें जो ब्राह्मण निवास करें सो सारस्वत ब्राह्मण कहलाते हैं।" अब यह विचारका स्थल है कि कुरुक्षेत्रवाली मुख्य सरस्वतीतीरके देशको सारस्वत देश मानना तो युक्तियुक्त है। परन्तु तदतिरिक्त अन्य पाँच बड़ी प्रसिद्ध नदियोंका अन्तर होनेपर भी अटकतक सारस्वतदेश क्यों गिना जाता है? पर्वत या नदीसे अन्तरित देशको भी शास्त्रमें देशान्तर संज्ञा मानी गयी है। सुतरां, पञ्जाबकी इतनी बड़ी बड़ी पाँच नदियोंका अन्तर पड़नेपर भी देशान्तर, न माना जाकर, एक अभिन्न सारस्व देश क्यों माना जाता है? प० तुलसीरामजी अपनी

देवदृग्नेदिदीहि" अर्थात् दृषद्वती जिसे अब शायद घग्घर कहते हैं और आपया और सरस्वती नदियोंके किनारे बसनेवाले मनुष्यों पर हे अग्नि! तू खूब दहक। सरस्वती उस समय अच्छी बड़ी नदी मालूम होती है सिन्धुमें गिरती होगी और सिन्धु इसीके साथ पंजाबकी पाँचो नदियों-को लेके वेदमें सप्तसिन्धुके नामसे प्रसिद्ध रही होगी, पर अब तो घटते घटते एक नाला सी रह गयी है। और बिलकुल रेगिस्तानमें खप जाती है। मालूम होता है कि ये आर्यलोग पहिलेपहल बड़ी बड़ी नदियोंके किनारे बसने लगे थें॥

* लिखा है कि राजा नहुषके आगे आग राहसाफ करती चलती थी अर्थात् जंगल जलाती थी। इ० ति० ना० प० २७ के नोटका नोट।

पुस्तकमें सारस्वतदेशकी सीमा तो मनमानी लिख गये। परन्तु उसका कोई शास्त्रोक्त प्रमाण अथवा ऊपर लिखी शंकाका कुछ भी समाधान उन्होंने न किया, यह बड़ेही दुःख और आश्चर्यकी वार्त्ता है।

वेदमन्त्रोंके ऐतिहासिक प्रमाणोंको भलीभांति विचारनेसे निश्चय होता है कि सारा पंजाब ही निस्सन्देह सारस्वत देश है। सुप्रसिद्ध सारस्वतदेशकी अपूर्व महिमाके कारण उस देशमें पंजाबकी पांचों नदी अपेने अपने नामोंको छोड़कर सरस्वती ही बन गयीं थीं। यजुर्वेदके इस एक ही मन्त्रसे इसका दृढ़ निश्चय हो जाता है। "पञ्चनद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्॥ ३४ अ० ११ कं। इस मंत्रके शेषांशकी व्याख्या महीधरने अपने सुप्रसिद्ध भाष्यमें इस प्रकार की है—"साउ सैव सरस्वत्येव पञ्चधा देशे सरिन्नदी अभवत् पञ्चाऽपि स्वनामानि त्यक्त्वा सरस्वत्येवाऽभवत्।" म० भाष्य॥ अर्थात् 'पञ्चनदसारस्वतदेशमे वही सरस्वती पाँचधारासे प्रवाहित पाँच नदीके रूपमें बहती है। पंजाबकी पाँचों नदी 'देशे' अर्थात् जिस (सारस्वत) देशमे अपने नामोंको छोड़कर सरस्वती ही बन गयीं।" सुतरां, सरस्वती नदी और उसके तीरवर्ती सारस्वतदेशके प्रतापसे जब पंजाबकी पाँचों नदी सरस्वती नामकी हो गयीं तब देशान्तरकी शंकाका तो अवकाश ही न रहा। इस कारणसे समग्र-पञ्चनदप्रदेशकी संज्ञा प्राचीनकालसे सारस्वतदेशही मानी जाती है, इसमें सन्देह नहीं। अवश्य समयके फेरफारसे और राज्यके परिवर्त्तनसे देशोंकी सीमा घटती बढ़ती रहती है। हमारे पंजाब पञ्चनद पांचाल वा सारस्वतदेशकी सीमामें भी समय समय पर फेरफार होता आया है। पंजाब सारस्वत देश ही है। यह तो वैदिक प्रमाणसे सिद्ध हो चुका। परन्तु इस स्थानमें पांचाल राज्यको भी पंजाबसे अभिन्न लिखनेका कारण यह है कि पुराण-इतिहासोंमें लिखा दिखता है—हस्तिनापुरके बसानेवाले राजा हस्तिके पीछे चन्द्रवंशीराजाओंकी अजमीढ़, द्विमीढ़

और पुरुमीढ़ नामकी तीन शाखा विशेष फैली थीं। अजमीढ़राजाकी चौथीपीढ़ीमें प्रतापी बाह्याश्वराजाने जन्म लिया। उक्त महाराज बाह्याश्वका राज्य सिन्धु-नदीके (अटकके) तटपर स्थापित था। महाराजा बाह्याश्वके मुद्गल, यवीनर, बृहद्रिपु सृञ्जय और काम्पिल्य नामके पाँच पुत्र थे। इनमें काम्पिल्यनेही काम्पिल्यनगरी बसायी थी। ऋग्वेद परिशिष्टमें मध्यदेशकी सीमाका जहाँ निर्देश है वहाँ इसी काम्पिल्यसे पूर्वके देशको दशार्ण तक मध्य देश माना है। पञ्चनद प्रदेशका प्रसिद्ध पाञ्चालिका राज्य महाराज बाह्याश्वके इन पाँचों पुत्रोंका ही प्रतिष्ठित राज्य कहलाया था। सुतरां, पाञ्चाल प्रदेश भी प्रकारान्तरसे पंजाबका ही नामान्तरमात्र था, इसमें सन्देह नहीं। महाराज बाह्याश्वके पाँचों पुत्रोंके राज्य करनेके समय पांच नदीवाले पंजाबकी राज्यसीमा पूर्वकी ओर विशेष बढ़कर इनका नाम पांचालराज्य भी होगया था। मत्स्यपुराणमें बाह्याश्वका नाम भद्राश्व लिखा है यथा: "...भद्राश्वतनयान् शृणु। मुद्गल जयश्चैव राजा बृहदिपुस्तथा। जवीनरश्च विक्रान्तः काम्पिल्यश्चैव पञ्चमः। पञ्चानाञ्चैव पाञ्चालान् एतान् जनपदान् विदुः। पञ्चाल रक्षिणो ह्येते देशानामिति नः श्रुतम्॥" म०पु०अ०५०। विशेषतः शक्तिसंगममें तो स्पष्ट है कि "कुरुक्षेत्रात्पश्चिमेतुतथा चोत्तरभागतः। इन्द्रप्रस्थान्महेशानि दशयोजनकद्वये। पाञ्चालदेशो देवेशि, सौन्दर्य्यगर्वभूषितः॥" तीर्थोत्तमकुरुक्षेत्रसेपश्चिम: और इन्द्रप्रस्थ, दिल्लीसे १२ योजन उत्तर-पश्चिम सुन्दरताकीखान: पाञ्चालदेश है। भविष्योत्तरमें भी श्रीपरशुरामजीके युद्धवर्णनमें :"गतो पञ्चनदे देवो क्षत्रियान्वयसूदनः। तत्र प्राप्तान् महाशूरान् क्षत्रियान् रणदुर्म्मदान्। युयुधेऽतिबलोरामः साक्षान्नारायणांशजः। जनन्या जनितो लोके कःशूरो ? यस्तु पार्थिवान्। पाञ्चालान् जयते युद्धे विना नारायणः स्वयम्॥" पंचनद (पंजाब) और पाञ्चालको एकही अभिन्नदेश स्थिर किया है। इस सुप्रसिद्ध सारस्वत पञ्चनद देशकी इधर बढ़ी हुई सीमाके विषयमें

और विशेष लिखनेकी क्या आवश्यकता है? देखो आज भी देहली उस पंजाबकी ही देहली प्रसिद्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि सबसे प्राचीनतम नाम वैदिक प्रमाणसे पञ्चनद प्रदेशका सारस्वतदेश ही है। इस कारणसे ही प्राचीन शास्त्रोंमें केवल सारस्वत ब्राह्मणोंका उल्लेख बहुत्रा देखनेमें आता है। कान्यकुब्ज, उत्कल, मैथिल, अथवा तैलङ्ग द्राविड़ आदि ब्राह्मणोंकी अपेक्षाकृत आधुनिक श्रेणीके नाम, प्राचीन शास्त्रोंमें नहीं पाये जाते। कल्पारम्भके जिस प्राचीनतम समयमें ऋषियों-ने सर्वप्रथम प्लक्षप्रस्रवणके समीप सरस्वती तीरवर्ती सारस्वतदेशमें बस कर वेदघोषसे हिमालयपर्वतकी कन्दराओं को प्रतिध्वनित किया था। उस समयतक तो तैलङ्ग आदि नीचेके (अथाह समुद्रमें डूबे हुए) देशोंका निदर्शनमात्र भी पृथ्वीपर कहीं नहीं था। सुतरां, उन देश-वासियोंका उल्लेख प्राचीनतम शास्त्रोंमें कैसे सम्भव था? यह उत्तम रीतिसे समझनेवाली बात है कि पृथ्वीका कारण जल है। जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है। सुतरां, आदिमें जलके भीतर ही पृथ्वी थी। कालान्तरमें हजारों वर्ष बाद समुद्रके जलसे बाहर निकली। बाराह अवतारकी अपूर्वकल्पनामयी पुराणकी गाथा, बाराहके दाँतोंपर पृथ्वी-को जलसे बाहर लानेकी कथासे, इसी वैज्ञानिक और अध्यात्मतत्त्व और सृष्टिक्रमको सुदृढ़ करती है। सबसे ऊँचे हिमालय पर्वतके शिखरों-पर भी समुद्रके जलजन्तुओंकी अति प्राचीन अस्थियोंका अबतक आधिक्यसे मिलना इसका ही एक और दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण है। कूर्म्मपुराणके छठे अध्यायमें—"ततस्तु सलिले तस्मिन् विज्ञायान्त-र्गतान्महीम्। अनुमानात्तदुद्धारं कर्त्तुकामः प्रजापतिः॥ जलक्रीड़ासु रुचिरं वाराहं रूपमास्थितः। अधृष्यं मनसाप्यन्यैर्वाङ्मयं ब्रह्मसंज्ञितम्। पृथिव्युद्धरणार्थाय प्रविश्य च रसातलम्। दंष्ट्रयाभ्युज्जहारैनां आत्मा-धारो धराधरः॥" * अथाह समुद्रमें डूबी हुई इस पृथ्वीको भगवानने

* आजकलके नयी रोशनीवाले हठी, पुराणोंको निरागपोड़ाही मानते हैं,

अद्भुत वाराह-रूप धारण कर अपने दाँतों पर जलसे बाहर निकाला था। आगे चलकर उसी अध्यायमें पुनः यह भी लिखा है कि "ततः स्वस्थानमानीय पृथिवींपृथिवीपतिः। मुमोच रूपं मनसा धारयित्वा धराधरः॥ तस्योपरि जलौघस्य महती नौरिव स्थिता। विततत्वाच्चदेहस्य न मही यातिसंप्लवम्॥ पृथिवीं स समीकृत्य, पृथिव्यांसोऽचिनोद्गिरीन्। प्राक्सर्ग दग्धानखिलान् ततः सर्गे दधन्मनः॥२५॥" शास्त्रके इन प्रमाणोंसे भली भाँति निश्चय होता है कि आदिकालमें यह पृथ्वी जलके अन्दर निमग्न थी। अतएव निश्चय है कि अपने समय पर वाराहजीने जब इसे जलसे ऊपर किया, तब सबसे पहिले इस धरतीका सबसे ऊँचा प्रदेशही समुद्रके गर्भसे बाहर निकला था।

दुःखका विषय है कि पुराणोंमें जैसे जैसे अनमोल रत्न भरे पड़े हैं अश्रद्धा और मोहान्धकारके कारण सबको उनका लाभ दुर्लभ है। परन्तु अध्यात्म दृष्टिसे विचारनेपर हियेका अँधेरा दूर होता है और तबतो फिर ऋषियोंकी अपूर्व बुद्धिकी प्रशंसा करनीही पड़ती है। यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि पदार्थमात्रका बनाने और बिगाड़नेवाला काल ही है। इसीसे "करोति कालः सकलं संहरेत् काल एव हि। कालः स्थापयते विश्वं कालाधीनमिदं जगत्॥" लिखकर शास्त्र, हाँके पुकारे कालमाहात्म्यका डङ्का दे रहा है। अब देखिये इस वर्तमान कल्पका नामही श्वेत "वाराह" कल्प है। अतः इसी कल्पमें इस पृथ्वीका संगठन भी हुआ है। निःसन्देह वाराह ही इस पृथ्वीको जलके भीतरसे बाहर लाये हैं। उक्त वाराह स्वरूप इन्द्रियग्राह्य नहीं, अतीन्द्रिय है। इसलिये औरोंके मनका भी अगोचर शब्दब्रह्मस्वरूप वर्णन इसका कूर्मपुराणमें किया है। सर्वान्तक कालकी दंष्ट्रा परही पृथ्वी रखी हुई दिखायी गयी है। अर्थात् काल वाराह अपने दाँतोंसे शेष इस पृथ्वीको चूर्ण विचूर्ण करेगे यह भी निश्चय समझो। देखो, पुराणोंका कैसा गम्भीरभावपूर्ण सुन्दर वर्णन होता है।

दूसरे ऊपर लिखे प्रमाणोंसे यह भी निश्चय होता है कि भूगोल-कके संगठन-समयमें उद्भिजसृष्टिके भी पहिले पर्वतोंकी ही सृष्टि सर्व-प्रथम हुई थी। पर्वतोंमें जो सबसे ऊंचा पर्वत था वही सबसे आगे जलसे बाहर निकला था, यह भी स्वतः सिद्ध है। पृथ्वीपर सबसे ऊंचे पर्वत हैं और पर्वतोंमें सबसे ऊँचा हिमालय और सुमेरु पर्वत हैं। सुतरां, जिस अवस्थामें समग्र भूमण्डल समुद्रकी अथाह जलराशिमें डूबा हुआ था, उस समय केवल सुमेरु और हिमालयके ऊँचे शिखरमात्रही स-बसे पहिले जलसे बाहर निकले थे। इसी हेतु शास्त्रोंमें पर्वतसृष्टिको मुख्यसर्गभी लिखा है। यथा—"मुख्या नगा इति प्रोक्ता मुख्यसर्गस्तु सः स्मृतः।" तथा "प्राक् सर्गे दह्यमाने तु तदा संवर्त्तकाग्निना। तेना-ग्निना विशीर्णास्ते पर्वता भुवि सर्वशः। शैला एकार्णवे मग्ना वायुना-पस्तु संहताः। निषक्ता यत्रयत्रासन् स्तत्र तत्राचला भवन्। भूविभागं ततः कृत्वा ...।" मार्कण्डेयपुराणमें जलमें डूबी हुई पृथ्वीकी पर्वत-सृष्टिका क्रम सुन्दररूपसे दिखाया है। वायुके दबावसे भूगोलकके भीतर जहाँ जहाँ जलने प्रवेशकर भूगर्भस्थ द्रवीभूततेजोमय धातुको वि-कृत किया वहाँ वहाँ पर्वत बन गये। आर्यभट्टने "मृदनिलसलिलज्यो-मनेजोमयोयम्।" भूपिण्डको पंचभूतात्मक वर्णन कर जैसे प्रथम स्तरमें मृत्तिका कही उसी प्रकार वायु, जल, आकाशके अनन्तर भूग-र्भको तेजोमय लिखा है। इस तेजोमय भूगर्भमें जब वायु जलको पहु-चाती है तभी तेजकी विकृतिसे पर्वतकी सृष्टि होती है। निस्सन्देह पर्वतोंकी सृष्टिमें सुमेरु और हिमालय सर्वप्रधान हैं। सुमेरु जम्बूद्वीपके मध्यमें है और हिमवान, हेमकूट और निषध, नामके तीन पर्वत तो उसके दक्षिण में तथा नील, श्वेत, और श्रृङ्गी नामके तीन पर्वत सुमे-रुके उत्तर लिखे हैं। यथा "हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्चास्य दक्षिणे।" नीलः श्वेतश्च श्रृङ्गी च उत्तरे वर्ष पर्वताः ॥१०॥ वि० पु० ॥ यद्यपि वर्त्तमान समयमें सुमेरुतक मनुष्योंकी पहुँचनेकी सामर्थ्य नहीं है,

इसासे बहुतसा गड़बड़ सुमेरु पर्वतके पहिचाननेमें मचा हुआ है। तथापि "तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारामहामते। पुण्या पुण्यतमैर्जुष्टा गंगा भागीरथी शुभा। हिमालयं विनिर्भेद्य भारतं वर्षमेत्यच। लवणाम्बुधिमभ्येति दक्षिणास्यां दिशि द्विज॥" प० पु० के इस वचनसे और "तथैवालकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनात् बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य हेमकूटहिमकूटान्यतिरभसतररंहसा लुठन्ती भारतमिमं वर्षं दक्षिणस्यान्दिशि लवणजलधिमभिप्रविशति। ११ ।"भागवतके इस लेखसे भी गङ्गाकी पवित्र धारा सुमेरुशिखरसे निकलकर हेमकूट हिमालय आदि-पर्वतोंके शृङ्गोंको तोड़ती फोड़ती हुई भारतवर्षसे दक्षिण समुद्रमें जाती है" यही निश्चय होता है। भारतसे सुमेरु सर्वथा दूर होता तो सुमेरुसे निकल कर हिमालयको भेदन करती प्रवाहित होनेका गङ्गानदीका वर्णन कैसे सम्भव था? पञ्जाबकी ऐरावती (रावी) नदी जिस स्थानसे निकली है, उस पर्वतशृङ्गके पासही अत्रि ऋषिका आश्रम और उनकी स्थापित नारायण मूर्त्तिका वर्णन—"तस्यैव पर्वतेन्द्रस्य प्रदेशं सुमनोरमम्। अगम्यं मानुषैरन्यैर्दैवयोगादुपागतः॥ ऐरावती सरिच्छ्रेष्ठा यस्माद् शाद्रिनिर्गता।" अ० ११८॥ इस प्रकार स्पष्ट मत्स्यपुराणमें आता है। उक्त स्थानके ठीक उत्तरमें ही कैलास है यथा—तस्याश्रमस्योत्तरतः त्रिपुरारिनिषेवितः। मध्ये हिमवतः पृष्ठे कैलासो नाम पर्वतः॥२॥" म० पु० अ० १२१। यह कैलासपर्वत ही सुमेरुकी दक्षिणपरिधि है; इसीसे कैलासको सुमेरुका शिखर भी पुराणोंमें लिखा है। कू० पु० के २६ वें अध्यायके आदिमें "प्रविश्य मेरुशिखरं कैलाशं कनकप्रभम्।" देखकर भी निश्चय होता है कि सुमेरु भारतवर्ष और हिमालयसे सर्वथा दूरदेशमें नहीं है। हिमालयप्रान्तमें कैलासदर्शनको अबतक साधु-सन्त जाते हैं। परन्तु पृथ्वीके उत्तरकेन्द्रका नाम भी सुमेरु है। इसलिये सुमेरुके निर्णयमें शास्त्रीय द्विविध वर्णनसे भ्रान्ति अवश्य उत्पन्न होती है। समयपर विद्वानोंमें भी सुमेरुके निर्णयका भारी

झमेला पड़ जाता है। अब तो कुछ लोग उत्तरकेन्द्रको ही मनुष्योंकी आदि जन्मभूमि भी स्थिर करने लगे हैं। परन्तु जम्बूद्वीपके मध्यमें जिस सुमेरुका वर्णन शास्त्रोंमें विस्तारसे है, वह तो कदापि उत्तरकेन्द्र नहीं हो सकता। कारण, उत्तरकेन्द्र तो पृथ्वीकी उत्तरदिशाकी परम अवधि है। उत्तरकेन्द्रसे उत्तर पृथ्वी ही नहीं है। इस पृथ्वीका शेष उत्तरकेन्द्र-तक ही है। अतः ससागरा सप्तद्वीपा पृथ्वीके चाहे जिस स्थानसे देखो वह केन्द्रवाला सुमेरु सब स्थानोंसे उत्तरहीमें अवश्य दिखेगा। उस सुमेरुसे उत्तरमें तो त्रिकालमें भी किसी नदी, पर्वत या प्रदेशका होना सम्भव नहीं है। न उस उत्तरकेन्द्र नामक सुमेरुसे मनुष्यसृष्टिरचनाका ही कभी प्रारम्भ ही हुआ है। परन्तु इस कनकाचल सुमेरु पर्वतके उत्तरके देश, पर्वत, नद, नदी, सरोवर, वृक्ष, आदिका शास्त्रोंमें विस्तारसे वर्णन है और उनमें कुछ स्थान अवतक ज्योंके त्यों वर्त्तमान हैं। सुतरां, जम्बूद्वीपका मध्यवर्ती सुमेरु, पृथ्वीकी मध्यरेखा, जो कुरुक्षेत्रसे उत्तरको गयी है उसीके समसूत्रमें हिमालय पर्वतश्रेणीके उत्तरप्रान्तके मध्यमें ही अवश्य है। भूमध्यरेखा, लंकासे सीधी उज्जैन और कुरुक्षेत्रके बीचसे निकलकर उत्तरकेन्द्रतक जाती है। लिखा है—"यल्लङ्कोज्जयिनीपुरोपरिकुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशन्, सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः।" शि० जिन बड़ी बड़ी सातों धारको अब "हिमालय पर्वतश्रेणी कहते हैं। उनके एक एक अंशको "पारिपात्र" "कैलाश" "परिमण्डल" आदि नाम हैं। पूर्वकालमें सातों धारके भिन्न भिन्न शिखरोंके स्वतन्त्र अनेकों नाम थे। भारतके पश्चिमोत्तर प्रान्तमें भूखण्डके बीचकी सबसे ऊँची धारके चारों ओरसे आठ पर्वत शृङ्गों से घिरे हुए सर्वोच्च स्वर्णशिखरका नामही सुमेरुपर्वत था। कुरुक्षेत्रके समसूत्रपर हिमालयके उत्तरप्रान्तमें कैलाशके पासही स्वर्णभूमिपर इस सुमेरुशिखरका हिमाच्छादित गुप्त रहना इस समय भी सम्भव है। सत्ययुगमें स्वर्णके विशेष व्यवहार होनेका भी यही

कारण था। अबभी पंजाब और काश्मीर प्रान्तमें नदी और मृत्तिकामें स्वर्ण बहुत मिलता है। अब सुमेरुशिखर बरफसे आच्छन्न होगया है तथापि सूर्यों-दयके समयमें सुनहरी झलक देता है। सुमेरुके पूर्वमें जठर तथा [illegible] पर्वत, और दक्षिणमें सुप्रसिद्ध कैलाशशिखरका वर्णन है। सुमेरुके पूर्वकी श्वेतवर्णकी दिव्यभूमि ही ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिका स्थान और ब्रह्म-वंशकी आदि जन्मभूमि है। लिखा हैं—"शुक्लः पीतोऽसितो रक्तः प्राचादिषु यथाक्रमम्। विप्रो वैश्यस्तथा शूद्रः क्षत्रियश्च सवर्णतः॥" मा० पु०। वह स्थान सारस्वतदेशके प्लक्षप्रसवणके समस्त्रमें और समीप ही है। इस सुमेरु विषयका विशेषनिर्णय स्वरचित 'वर्णविवेक' में किया है। उससे सुमेरुका और सुमेरुके उत्तर लालरंगकी, दक्षिण पीलेरंगकी और पश्चिम कालेरंगकी भूमिमें ही अपने अपने समय पर, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रवर्णके आदिपुरुषोंके जन्मग्रहण कर वंश वृद्धि होनेके बाद, पृथ्वीके सब देशोंमें क्रमशः जा बसनेका पूरा पता लग जायगा। परन्तु पर्वतराज हिमालयसे ऊंचा पर्वत पृथ्वीपर दूसरा नहीं है, यह तो सभी स्वीकार करेंगे। इसमेंभी सन्देह नहीं कि हिमवान्के उत्तर और जम्बूद्वीपके मध्यमें सुमेरु है। हिमवान् पर्वतराज जो कि सुमेरुके दक्षिण, पूर्वसे पश्चिम समुद्र पर्य्यन्त विस्तृत है; वही सारी पृथ्वीपर सर्व्वसम्मतिसे ऊंचेसे ऊंचा पर्वतराज है और वही भारतवर्षकी उत्तर सीमा भी है। उसीके प्लक्षप्रसवणसे सरस्वती महानदी भी निकली हैं। सुतरां, सुमेरु सहित उस हिमवान् पर्वत-श्रेणीकाही कल्पारंभमें सर्व प्रथम जलसे बाहर निकलनाभी सुसिद्ध है। इसीसे शास्त्रोंमें स्पष्ट लिखा है कि "यदिदं भारतं वर्षं यस्मिन् स्वायंभु-वादयः। चतुर्दशैव मनवः प्रजासर्गं ससर्जिरे॥" म० पु०। इस कर्मभूमि भारतभूमिमें ही चौदहों मनु प्रजासृष्टि करते हैं। सबसे प्रथम सब पदार्थोंकी सृष्टि इस भारतवर्षके सुमेरु अर्थात् हिमालयके ऊँचे प्रदेशमें ही हुई है। जिस समय पृथ्वीके अन्यान्य प्रदेश समुद्र-में डूबे पड़े थे उस समय केवल भारतका सर्वोच्च हिमवान् पर्वत

ही मनुष्योंका एकमात्र आवासस्थल था। इस कारणसे सत्ययुगके मनुष्योंका निवास केवल पर्वत वा समुद्र परही था। यथा "पर्वतो दधिस्तेत्रित्योह्यनिकेतास्तु सर्वशः।" म० पु०। अनन्तर हजारोंवर्षके बाद जब पृथ्वीका निम्नांश अर्थात् सर्वोच्च पर्वतशिखरसे नीचा भूखण्ड अपनी ऊँचाईके क्रमसे जलसे बाहर निकलता आया और कालान्तरमें वासोपयोगी सुदृढ़ हुआ तब वंशवृद्धि वा अन्य कारणोंसे उन प्रदेशोंमें भी बहुत दिनोंके पीछे, क्रम क्रमसे मनुष्योंकी बसती हो गयी। इसी कारणसे शास्त्रोंमे भारतवर्षको सबसे श्रेष्ठ और कर्मभूमि मानकर यह भी युक्तियुक्त ही लिखा है कि "भारतं नामयद्वर्षं दक्षिणेन पयोदितम्। तदकर्मभूमिर्नान्यत्र संप्राप्तिः पुण्य पापयोः। एतत् प्रधानं विज्ञेयं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् स्वर्गापवर्गौ च मानुष्यः नरकावपि। तिर्य्यक्त्वमथवाप्यन्यत्तु नरः प्राप्नोति वै द्विज॥" मा० पु०।

पृथ्वीकी आकृति गोल है। इसलिये सर्वोच्च हिमालय पर्वतके सुदूर उत्तर प्रान्तके तथा दक्षिण प्रान्तके देश अपेक्षाकृत अत्यन्त निम्न है। इसीलिये "दक्षिणोत्तरतो निम्ना मध्ये तुङ्गायता क्षितिः।" शास्त्रोंमें भूमण्डलका मध्यभाग ऊंचा और दक्षिण उत्तरका भाग नीचा लिखा है। सुतरां, सर्वथा यह सिद्ध हुआ कि हिमालय प्रदेशके प्लक्षप्रस्रवणके समीपस्थ पर्वतशिखर और तदनन्तर सारस्वत देशमें जिस समय ब्राह्मण बसते थे, उस समय तक इस धरतीके बहुतसे प्रदेश तो जलमग्नही थे। सुतरां, उनकी उस समय वार्त्ताही क्या थी? निश्चय सारस्वत ब्राह्मणोंका इस कारणसेही शास्त्रोंमें प्राचीनतम निदर्शन देखनेमें आता है। स्थान स्थानमें "यत्र सारस्वतो जातः सोऽङ्गिरास्तपसो निधः।" ऋषिः सारस्वतोऽङ्गिराः" "द्विजाः सारस्वतास्तत्र" 'सारस्वतास्तु ये विप्रा क्षत्रियाणां पुरोहिताः" इत्यादि वर्णन हैं। वेदमें भी "सारस्वत यज्ञ"-की विस्तारपूर्वक विधि पायी जाती है; परन्तु गौड़ "यज्ञ" "मैथिल-यज्ञ" "तैलङ्ग यज्ञ" आदिका कहीं नामभी नहीं है। महाभारतका प्रसिद्ध

सारस्वतोपाख्यान भी एक बहुत पुराना इतिहास महाभारत युद्धके समयसे बहुत पूर्वका सारस्वत ऋषिकी महिमाका कीर्त्तिस्तम्भ है।

पृथ्वीकी प्राचीनता और आदिसृष्टिका विचार करनेमें हमलोगोंकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। सबसे पहिले इस धरतीपर मनुष्य कहांसे आया? कैसे उसने जन्मग्रहण किया? इसका विचार करने बैठो तो अन्तमें अन्धकार ही आँखोंके सामने आता है। कुछ भी निर्णय इसका हमलोगोंकी बुद्धिसे ठीक नहीं होता। कारण, जिस समय पिता माता अथवा मनुष्यशरीरधारीमात्र भूमण्डल पर विद्यमान नहीं था, उस समय प्रथम मनुष्यका आविर्भाव किस प्रकारसे हुआ? तर्क, युक्ति, विचार, अनुमान, सभी इस स्थलपर हार मानते हैं। यथार्थ मीमांसा इसकी मनुष्योंके किये नहीं हो सकती। इसीसे शास्त्र उपदेश करता है कि "प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न बुध्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥" जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान होना असम्भव है, अनुमानसे वा और किसी उपायसे भी समझने योग्य जो विषय नहीं है, उसे वेदके प्रमाणोंसे हम जानसकते हैं। वेदका वेदत्त्व इसीसे है। 'विद्ज्ञाने' धातुसे वेद शब्द सिद्ध होता है। उस सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द विज्ञानघन पूर्णब्रह्मके अनन्त ज्ञानका आंशिक सङ्कलनमात्र वेद है। मुण्डक, शतपथ आदिमें लिखा भी है—"अस्य महतोभूतस्य निश्वसितमेवैतद्यदृग्वेदोयजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः। वाचा वै सम्राट् बन्धुः प्रज्ञायते ऋग्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टः हुतमाशितं पायितमयञ्च लोकः परश्च लोकः लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते। वाग्वै सम्राट्परब्रह्म॥" सुतरां, पापपुण्य स्वर्गापवर्ग धर्म्माधर्म्म, पुनर्जन्ममुक्ति आदि लौकिकालौकिक वैसे सभी विषयोंका परिज्ञान हमको एकमात्र "वेद" भगवान्की शरण जानेसेही होगा कि जिनका निर्णय करनेकी सामर्थ्य हमारी परिमित-

सामर्थ्यवाली मनुष्यबुद्धिमें नहीं है। यही कारण है कि श्रुतिप्रमाणसे बढ़कर संसारमें कुछ भी मान्य नहीं है। स्मृति पुराण आदि उसी श्रुतिके विशद रूपसे समझानेको हैं। "इतिहासपुराणाभ्यो वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामय प्रहरिष्यति।" अल्पज्ञ अल्पश्रुत पामरोंके मनमाने हेतुवाद और अर्थका अनर्थ देख, वेदको भी अङ्गभङ्गका भय होता है। वेदशास्त्रोंका सिद्धान्त है कि—सर्वव्यापी भगवान्‌की चैतन्यसत्ताके संयोगसे, जब प्रकृतिका विक्षोभ उत्पन्न होता है, तब कारणसे कार्य्यकी उत्पत्ति होती है। उसीका नाम सृष्टि है। प्रकृति जड़ है। सुतरां, विना चैतन्यपुरुषके संयोगके उसमें क्रियाशक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती। सृष्टिके समय उस सर्वव्यापक सूक्ष्मचैतन्यका संयोग प्रकृतिसे सर्वथा हो ही जाता है। इस कारणसे पृथिवीके कारणरूप जलको "आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वैनरसूनवः। अयनन्तस्यता यस्मात् तेन नारायणः स्मृतः॥" कू० पु०॥ नारायणका निवासस्थल वा "एकांशेनस्थितोजगत्" के हिसाबसे नारायणरूपही माना है। तथा—"स एव पुरुषः समुद्रः सर्वलोकमत्ति।" "विद्म ते धाम परमं गुहाः यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः।" आदि श्रुतियोंमें भी सर्वव्यापक उस जगन्नियन्ता नारायणको समुद्रमें व्याप्त और प्रलय तथा सृष्टिकर्त्ता कहा है। प्रसिद्ध है कि व्यापक विष्णु भगवानकी नाभिरूप समुद्रसे कल्पारम्भमें जिस प्रकाण्ड कमलकी उत्पत्ति हुई उसीसे पद्मयोनि ब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ था। पृथिवीको ही इस स्थलमें कमल कहा है। "अथ योगवतां श्रेष्ठमसृजद् भूरितेजसम्। स्रष्टारं सर्वलोकानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम्॥ यस्मिन् हिरण्मये पद्मे बहुयोजनविस्तृते। सर्वतेजोगुणमयं पार्थिवैर्लक्षणैर्वृतम्॥ तच्च पद्मं पुराणज्ञाः पृथवीरूपमुत्तमम्। नारायणसमुद्भूतं प्रवदन्ति महर्षयः॥ या पद्मा सा रसादेवी पृथवी परिचक्षते। ये पद्मसार गुरवस्तान् दिव्यान् पर्वतान् विदुः॥ हिमवन्तं च मेरुं च नीलं निषधमेव च। कैलाशं मुञ्जवन्तं

च तथान्यं गन्धमादनम् ॥" इत्यादि मत्स्यपुराणके १६९ वें अध्यायमें विस्तारपूर्वक इसका वर्णन है। निस्सन्देह पृथ्वीरूपक मलसेही सृष्टिकर्ता ब्रह्माका आविर्भाव हुआ था। इसीसे श्रुतिभी कह रही है कि "स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत। धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" अ० वे० वृह०। भूपद्मसे आविर्भूत होकर विधाताने पूर्व कल्पानुसार सृष्टि रचना की। उस अनोखे कारीगरकी बड़ीही विचित्र सृष्टिकौशल और अद्भुत सत्ता है। जब सूक्ष्मरूपमें उसकी व्यापकताको विचारो तो चतुर्दशभुवन उसके एकांशमें समा जाते है। परन्तु जब विराटरूप धारणकर सृष्टि रचनास्वरूप मदारीका सा खेल वह दिखाता है तब ब्रह्मारूपसे उसे भूपद्मसे निकलने सुनकरभी बुद्धि स्तम्भित होजाती है। इसीसे उसको "अणोरणीयान् महतो महीयान्" परमाणुसे भी सूक्ष्म और बड़ेसे बड़ा कहना, सभी सुसंगत है। उस मायावीकी सृष्टिरचनाचातुरी बड़ीही अद्भुत है। विचारनेसे जबतक उसकी पूर्ण कृपा न हो तबतक कुछ भी समझ नही आसकता है। जिस प्रकार समुद्र उसकी सत्तासे पृथ्वीको कालान्तरमे कार्य्यरूप दिखा सका उसी प्रकार उपादानकारणरूप पृथ्वीसे विविध पार्थिव शरीर उत्पन्न करके सृष्टि रचना, पितामह ब्रह्माकी सूक्ष्मसत्ता और अपरमित शक्तिकाही साध्य है। सूक्ष्म शरीरके सङ्गठन होनेके बाद स्थूलकी सृष्टि होती है। यथार्थ तो यह है कि सूक्ष्मकी वासना संकल्प और कर्म्मका बनाया ही स्थूलशरीर बनता है। ब्रह्मा सूक्ष्मशरीरमें गुणकर्म्मका जैसा विभाग रखते हैं वैसे जीवनशरीर उत्पन्न होते हैं। सिद्धान्त है कि सृष्टिकर्ता भगवान स्वयम्भू ब्रह्माजीने मनुष्यसृष्टिका प्रारम्भ प्रथम कल्पारम्भमें ऋषियोंके आविर्भाव द्वारा ही किया था। इन प्रातःस्मरणीय हमारे आदिपुरुष ऋषियोंने तपोबलसे पृथ्वीपर सर्वप्रथम ब्राह्मणोंका वंशबीजरोपण किया। वही क्रमशः फलता फैलता इस समय भारतभूमिपर व्याप्त, नाना प्रकारकी शाखा प्रशाखाओसे सुशोभित दृष्टिगोचर हो रहा

है। गोत्रप्रवर्त्तक उन श्रद्धेय ऋषियोंके प्रवरनाम गिनाकर आजभी हमको अपना वंश-परिचय देना पड़ता है। लिखा है कि "भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमंगिरसन्तथा। मरीचिन्दक्षमत्रिं च वशिष्ठञ्चैव मानसम्। नवब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः। सर्वे ते ब्रह्मणा तुल्या साधका ब्रह्मवादिनः।" मा० पु०। ऊपर लिखे ऋषि वा प्रजापति सबसे "प्रथम मनुष्य" इस पृथ्वीपर आविर्भूत हुए थे। इन्हींसे संसारमें ऋषिवंश फैला। इनको ऋषि कहनेका उद्देश्य और इनकी उत्पत्ति श्रुतिमेंभी लिखी है। अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषयोऽभवन् तदृषीणां ऋषित्वम् ॥" अस्यार्थः—"अजान् कल्पादावेव ब्रह्मणा सृष्टा नतु अस्मदादिवत् कल्प मध्येमुहुर्मुहुर्जायन्ते ततोऽजाः ते च पृश्नयः शुक्लाः स्वरूपेणैवानित्यकमालिन्यहीनाः "मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ह्यैकाग्रं परमन्तप।" इति स्मृतिप्रमाण सिद्धसकलेन्द्रियोपशमन लक्षणं पुनस्तपस्तेपुः तत्तपसा परितुष्यमाणस्वयम्भु ब्रह्मनिरतिशय-जगत्कारणं परब्रह्म, काञ्चिन्मूर्त्तिन्धृत्वा तपस्यमानान् तान् ऋषीन् अनुग्रहीतुमभ्यानर्षत् आभिमुख्येन प्रत्यक्षमागच्छन् तस्मात्ते मुनयः ऋषधात्वर्थविषयत्वात् ऋषयोऽभवन्। अन्येषां ऋषीणामपि अनयैव व्युत्पत्त्या ऋषित्वं सम्पन्नम्।" हमारी तरह एक कल्पके मध्यमें अनेकों बार पुण्य-पापोंके भोगनेको माके गर्भसे जन्म नहीं लेते, इसीसे श्रुति इस स्थलपर पूर्वोक्त ऋषियों को "अज" कहती है। कारण, कल्पकी आदिमें केवल एकही बार ब्रह्मा जिन्हें उत्पन्न करते हैं (अतः) वे अज हैं। दिव्यज्ञानविशिष्ट सुतरां, अविद्याजन्य मालिन्यके अभावसे शुक्ल अर्थात् अन्तर्बहिः प्रकाश-वाले गौरवर्णके उक्त अज ऋषियोंने मन सहित अपनी सब इन्द्रियोंका निरोधकर पुनः ऐसा घोरतप किया कि जिसके प्रभावसे स्वयम्भु ब्रह्म सकल जगत्कारणरूपको किसी मूर्त्तिमें उन ऋषियोंके सम्मुख अनुग्रहार्थ आनाही पड़ा। सुतरां, गति अर्थवाली ऋष्धातुकी ब्रह्मसा-

क्षात्कारसम्बन्धमें इस प्रत्यक्ष गतिके कारणही वे ऋषि कहाये। अन्य ऋषियोंके ऋषित्वका भी यही कारण और यही व्युत्पत्ति है। इन ऋषियोंको प्रजापति ब्रह्मातुल्य लिखा है। वेदमन्त्रोंका आविर्भाव भी अधिकांश इन्हींके द्वारा हुआ। कारण "न कश्चित् वेदकर्त्ता च वेदस्मर्त्ता चतुर्मुखः। स्मर्त्तारश्च महर्षयः।" पराशर आदि स्मृतियोंमें स्पष्ट है कि वेदका बनानेवाला कोई नहीं ब्रह्मा और महर्षियोंने तपके प्रभावसे वेदमन्त्रोंको देखा। वे ही सब मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए। मत्स्य पुराणमें लिखा हैं—"ऋषिर्हिंसागतौ धातुर्विद्या सत्यं तपः श्रुतम्। एष सन्निचयो यस्मात् ब्रह्मणस्तु ततस्त्वृषिः।" तथा—"गत्यर्थाद् ऋषतेर्धातो र्नामनिर्वृतिकारणम्। यस्मादेष स्वयम्भूतः तस्माच्चऋषितामता। सेश्वराः स्वयमुद्भूता ब्रह्मणो मानसाः सुताः।" अथवा "ऋषन्ति परिणामं पश्यन्तीति" ऋषयः। इत्यादि प्रमाण और व्युत्पत्तियोंसे मन्त्रद्रष्टा होना भी ऋषित्वका एक कारण है। इसीसे "युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा।" स्पष्ट लिखा है कि युगान्त, कल्पान्तमें जब वेदका अन्तर्धान होजाता है तब तपोबलसे ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर ब्रह्माकी अनुज्ञासे ऋषियोंको कल्पारम्भमें पुनः पुनः वेदमन्त्रोंका लाभ होता है। इस कारणसेही ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहाते हैं। सुतरां, सबप्रकारके प्रमाणोंसे निश्चय होता है कि सत्ययुगमें ब्रह्मवंशप्रवर्त्तक प्रजापति ऋषियोंनेही सर्वोच्च हेमवान्पर्वतशिखरपर घोरतपस्या की थी। उस तपके प्रभावसे इनकी सामर्थ्य अतुलनीय थी। ये सदा सत्यसंकल्प और सिद्धसंकल्प थे। अष्टसिद्धि दासीवत् हाथबाँधे इनके सामने खड़ी रहती थीं। कल्पारम्भके जिस आदियुगमें ब्राह्मणोंके आदिपुरुष उक्त ऋषि हिमालयपर्वतके स्वर्णशिखरोंपर विद्यमान थे उससमयतक हेमवान् पर्वत सर्वथा हिमवान् नहीं होने पाया था। और न तबतक क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादिकोंकीही उत्पत्ति हुई थी। इसीसे ये अग्रजन्मा भी कहाये। अग्रजन्मा

नाम इनका इस अभिप्रायसे है कि मनुष्योंमें सबके आगे पृथ्वीपर इन ऋषियोंने और इन्हींके वंशजोंने जन्म लिया। इनके शुद्ध सात्विकभावमय उससमयके उस स्वर्गीय दृश्यके विचारनेसे भी हृदयमें अबतक शान्ति और पवित्रताका आविर्भाव होकर अकथनीय आनन्द अनुभवके साथही शरीर रोमाञ्चित होने लगता है। उस समय—"अधमोत्तमता नासां निर्विशेषाः पुरञ्जय। तुल्यमायुः सुखं रूपं नासां तस्मिन् कृते-युगे। विशोकाः सत्त्वबहुला एकान्तबहुलास्तथा। ध्याननिष्ठास्तपोनिष्ठा महादेवपरायणाः। तावं निष्कामचारिण्यो नित्यम्मुदितमानसाः। पर्वतोदधिवासिन्यो ह्यनिकेताः परन्तप॥" कू० पु० अ० २८॥ "अप्रवृतिः कृतयुगे कर्म्मणोः शुभपापयोः। वर्णाश्रम व्यवस्थाश्च नतदासन्न संकरः। अनिच्छा द्वेषमुक्तास्ते वर्त्तयन्ति परस्परं। + + + लाभालाभौ नतास्वास्तां मित्रामित्रे प्रियाप्रिये॥" वा० पु०। उत्तम अधमका भेद नहीं था। सभी एकसे सदा आनन्दमग्न प्रसन्नवदन, सुन्दर दिव्य गौरवर्ण, तेजस्वी, शोकमोहरहित। सभी पूर्णायु, एकान्तमें सदा शिवजीके ध्यानमें निमग्न, निष्काम, ब्रह्मानन्दी महापुरुष थे। जिन्हें घरद्वार अथवा किसी वस्तुके संग्रहकी आवश्यकतामात्र नहीं थी। पर्वत और समुद्रके सिवाय उस समय पृथ्वीपर विशेष कुछ था ही नहीं; क्योंकि धरतीका सर्वाङ्ग तो समुद्रके गर्भमें था। केवल मस्तकस्वरूप जहाँ-तहाँ सुमेरु और हिमालयके सर्वोच्च पर्वतशिखरमात्र जलसे बाहर निकलकर मानों समुद्रकी लहर देखरहे थे। उन स्वर्णमशैलशिखरों पर सत्त्वगुणप्रधान सर्वोत्तम प्राणी सदा उस जगन्नियन्ताके ध्यानमें पद्मासन मारे लौ लगाये शोभायमान थे। सभी सतोगुणी शिष्ट शान्तप्रकृतिके। कोई भी किसीका मित्र, शत्रु, प्रिय, अप्रिय नहीं था। राग, द्वेष, लोभ मोहका संसारमें तबतक नाम भी नहीं था। पूर्ण आनन्द और पूर्ण शान्तिमय सुखका समय था। इसीसे शास्त्र "सत्त्वं कृतं रजस्त्रेता द्वापरन्तुरजस्तमौ। कलौतमस्तु विज्ञेयं युगवृत्त वशेनतु" वा०

पु० । "तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमेवहि द्वापरे यज्ञमेवा-हुर्दानमेकं कलौयुगे ।" मनुः । "श्वेतः कृतयुगे वर्णः ।" म० इत्यादिसे स्पष्ट उल्लेख करता है कि प्रथम कल्पारम्भमें वर्णभेद उत्पन्न नहीं हुआ था। केवल ऋषि वा ब्राह्मणवर्णका पूर्ण सतोगुणी युग था। उस समय शुद्धान्तःकरणविशिष्ट योगाभ्यसीगौरवर्णतेजस्वी ऋषि तपस्याहीमें विशेष नियुक्त रहते थे। संसारमें पूर्ण शान्ति थी। विशेष जनताके अभावसे किसी प्रकारका भी बखेड़ा न था। बड़े बड़े वृक्षोंका भी तबतक समुद्रसे बाहर निकले हुए पर्वतशिखरों पर कहीं दर्शनमात्र नहीं था। कालके परिवर्त्तनसे बहुत दिनों बाद अर्थात् त्रेतायुगके आदिमें जब पृथ्वीके उन पर्वतोंकी ऊष्णता कम गयी; तब "मेघेभ्यःस्तनयित्नुभ्यः प्रवृत्तं वृष्टिसर्ज्जनं। सकृदेवतयावृष्ट्या संयुक्ते पृथिवीतले। प्रादुरासंस्तथा तासां वृक्षावैगृहसंज्ञिताः। सर्वप्रत्युपयोगस्तु तासां तेभ्यः प्रजायते। वर्त्तयन्तिस्म तेभ्यस्ता त्रेता-युगमुखे प्रजाः॥" कू० पु०। त्रेतामें मेघोंने सर्वप्रथम वृष्टि प्रारम्भ की। उस वृष्टिके प्रभावसे उस समयकी प्रजाके सर्वसुखदाता गृह-स्वरूप वृक्ष उत्पन्न हुए। प्रयोजनीय सभी वस्तु उनको ये कल्पवृक्ष देने लगे। सुतरां, उस समयके इन कल्पवृक्षोंका वर्णन शास्त्रोंमें बहुत ही यथार्थ और सुसंगत है। "वस्त्राणिते प्रसूयन्ते फलान्याभरणानि च। तेष्वेव जायते तासां गन्धवर्णरसान्वितम्। अमाक्षिकं महावी-र्य्यम्पुटके पुटके मधु।" वस्त्र, फल, आभूषण, अपूर्व रसास्वादयुक्त उत्तमवर्णका विशेष पुष्टि देनेवाला मधु विशेषतासे जब इन कल्पवृक्षोंसे मिलने लगा; तब निस्सन्देह युगान्तर उपस्थित हो गया। तपस्वी योगी ऋषि और उनकी सृष्टप्रजा भी विशेष पुष्ट फल, मधु आदिके उपयोगसे हृष्ट पुष्ट और किञ्चित् विलासी होने लगी। वृक्षोंकी छालके आभूषणों-के पहिननेकी चाल भी चली। लोभका भी अङ्कुर उत्पन्न हुआ। सुतरां, योगसिद्धि तथा कल्पवृक्ष भी कहीं कहीं उजड़ने और नष्ट होने लगे।

कष्ट भी इससे उस समयकी प्रजाको प्राप्त हुआ। उपायान्तरका विचार भी आपसमें करने लगे ; परन्तु उस समय मेघोंकी वर्षाका आधिक्य था। सुतरां, सरस्वती आदि पवित्रसलिला महानदियोंकी उत्पत्ति हुई ; और तदनन्तर समयानुसार नदीकी विशेष उर्वरा तीर-भूमिमें तृण धान्यके सर्व प्रथम दर्शन हुए। सभी इतिहासपुराणोंमें इसका सुन्दर वर्णन है। "अपां भूमेश्च संयोगात् ओषध्यस्तास्तदाभवन्। अफालकृष्टाश्चानुप्ताग्राम्यारण्याश्चतुर्द्दश॥ ऋतुपुष्पफलाश्चैव वृक्ष-गुल्माश्च जज्ञिरे। ततः प्रादुरभूत् तासां रागोलोभश्च सर्वशः।" तथा—"ततस्ताः जगृहुः सर्वाः अन्योन्यं क्रोध मूर्च्छिताः। आसदार-धनाद्यास्तु बलात् कालबलेन तु। मर्य्यादायाः प्रतिष्ठार्थं ज्ञात्वैतद्भ-गवानजः। ससर्ज्ज क्षत्रियान् ब्रह्मा ब्राह्मणानां हितायवै। वर्णाश्रम-व्यवस्थाञ्च त्रेतायां कृतवान् प्रभुः॥" कू० पु०। इस प्रकार काल-धर्म्मसे योगसिद्धिके नष्ट होनेपर जब त्रेतायुगमें रागलोभात्मक उप-द्रवका आरम्भ हुआ तब मर्य्यादा-रक्षाके लिये शासनकर्त्ता बलशाली राजाकी आवश्यकताका समय आया और ब्रह्माजीने आदि त्रेतायुग-में सुमेरुके उत्तरकी रक्तवर्णाकी भूमिमें वीर क्षत्रियोंके आदि पुरुषोंको उत्पन्न किया। "मेरोरुत्तरतस्ते तु जाताः पार्थिवसत्तमाः।" म० पु०। सुतरां, आदिकल्पके आदियुगमें तो सबसे पहिले ब्राह्मणवर्णमात्र ही उत्पन्न हुआ था, सन्देह नहीं। इसीसे "विप्रस्य सर्वमेवैतद् यत् किञ्चि-ज्जगती गतम्। ज्येष्ठेनाभिजनेनेह तद्धर्म्मकुशला विदुः॥" म० भा० शा० प०। "उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्यात् ब्रह्मणश्चैव धारणात्। सर्वस्यै वास्य सर्गस्य धर्म्मतो ब्राह्मणः प्रभुः।" मनुः। संसारकी सब वस्तुके यथार्थ अधिकारी ब्राह्मण ही हैं। कारण, सबसे प्रथम उत्पन्न होनेके कारण यथार्थ स्वत्वाधिकार भूमण्डलके पदार्थमात्रपर ब्राह्मणोंका ही था, कहकर मनुजी और व्यासदेव भी ब्राह्मणोंका अग्रजन्मा होना ही सुप्रमाणित कर गये हैं। अग्रजन्मा ब्राह्मणोंको सृष्टिविषयके श्रुतिप्र-

माण भी अनेकों वर्त्तमान हैं ; परन्तु स्थानाभावके कारण निदर्शनमात्र ही बुद्धिमानोंके लिये बहुत है। "सोऽकामयत यज्ञं सृजेयेति समुखत एवत्रिवृतमसृजत तं गायत्रीछन्दोऽन्वसृज्यताग्निर्द्देवताब्राह्मणोमनुष्यो-वसन्तमृतुस्तस्मात्त्रिवृत् स्तोमानाम्मुखं, गायत्रीछन्दसां, अग्निर्द्देवतानां, ब्राह्मणो मनुष्याणां, वसन्त ऋतूनाम्। तस्मात् ब्राह्मणोमुखेन वीर्य्यं-कुरोति मुखतो हि सृष्टः॥" इसका भाष्य "सः प्रजापतिः अकामयत किमिति? सर्वसाधकं यज्ञं सृजेयेति स एतमग्निष्टोममपश्यत् तमाहरत् इत्युक्तस्यैवेदं विवरणम् सः प्रजापतिः मुखत आत्मनो मुखादेव त्रिवृत-मावृत्तित्रयसाध्यमेतन्नामकं स्तोममसृजत तं त्रिवृतमनुपश्चाद्गायत्रीछन्दः गायत्र्यन्नाम छन्दोऽसृज्य। तमनु अग्निर्द्देवताऽसृज्यततमनु मनुष्यो ब्राह्मणोऽसृज्यत तथा तमनु वसन्ताख्यश्च ऋतुरसृज्यत यस्माद्यदेते मु-खत एव सृष्टाः तस्मात् एते त्रिवृदादयः स्वस्वजातीयानामम्मध्ये मुख्या-अभवन् त्रिवृदादीनाम्मुख्यानामध्ये ब्राह्मणस्य मुख्यत्वप्रयुक्तं वीर्य्यं लोक-सिद्धं दर्शयति तस्मान्मुख सृष्टत्वेन मुख्यत्वात् ब्राह्मणो मुखेनेदानीमपि वीर्य्यं स्वाध्यायप्रवचनादिजन्यं सामर्थ्यङ्करोति तस्मादित्युक्तं विवृणोति हि यस्माद् ब्राह्मणो मुखतः सृष्टस्तस्मादित्यर्थः।" पुरुष सूक्तके प्रसिद्ध "ब्राह्मणोस्यमुखमासीदादि" मन्त्र भी इसकी पुष्टताके मान्य प्रमाण हैं कि मनुष्य सृष्टिमें ब्राह्मणही सर्वप्रथम ब्रह्माने मुखसे उत्पन्न किये। इसलिये इन मुखसर्वस्व ब्राह्मणोंमें मुख्यबल मुखका ही वेदपाठ प्रव-चनआदिमें अबतक देखनेमें आता है। ब्राह्मण ही मनुष्योंमें सबसे प्रधान हैं। मनुजी भी लिखते हैं "बुद्धिमत्सुनराश्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणा-स्मृताः। ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सुकृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु क-र्त्तारः कर्त्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥ १। ९६। ९७॥ बुद्धिवालोंमें मनुष्य सबसे उत्तम हैं ; मनुष्योंमें ब्राह्मण, ब्राह्मणोंमें भी विद्वान्, विद्वानोंमें विशेष अभिज्ञ, विशेषज्ञोंमें आचरण करनेवाले और उनमें भी ब्रह्मवेत्ता सबमें श्रेष्ठ हैं। अब सब प्रकारके प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि आदि कल्पके

आदियुगमें सर्वप्रथम ब्राह्मणोंके वंशप्रवर्त्तक अग्रजन्मा ऋषियोंकी ही सृष्टि हुई थी। सत्ययुग सतोगुणी ब्राह्मण वर्णका ही सर्वोत्तम प्रथमयुग था। जैसे युगोंमें सत्ययुगको आदियुग मानते हैं। वैसे ही मनुष्योंमें ब्राह्मणवर्ण ही आदिवर्ण है। जिस समय इनकी उत्पत्ति हुई उस समय तक औरोंकी तो बात ही क्या है? द्वितीय वर्णके क्षत्रिय राजा भी उत्पन्न नहीं हुए थे। यथार्थमें उस समय उनकी आवश्यकता भी नहीं थी। "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते।" संसारमें जब जिसका प्रयोजन उपस्थित होता है ईश्वरकी सृष्टिके परिणामशील सुन्दर प्राकृतिक नियमानुसार ठीक अपने समय पर अपने-अपने क्षेत्रमें ही वह उत्पन्न भी अवश्य होता है। सुतरां, जबतक पृथ्वीकी जलमग्नावस्था थी और पर्वतशिखरपर केवल तपस्वी ऋषि ईश्वरके ध्यानमें समाधि लगाये बैठे अपूर्व अकथनीय, ब्रह्मानन्द सुख लूटते थे; तबतक राजा और राज्यशासनका संसारमें कुछ भी प्रयोजन नहीं था। सुतरां, क्षत्रियवर्णके राजा उस समय तक भूमण्डलमें क्यों उत्पन्न होते? कल्पवृक्ष और प्रजावृद्धि होनेपर लोभके उपद्रवमें जब त्रेतायुगकी आदिमें राजाकी और राज्यशासनकी आवश्यकता हुई तब उपयुक्त समयपर क्षत्रियवर्णकी रजोगुणप्रधान आरक्तवर्ण तेजस्वी, शूरवीर प्रजाकी उत्पत्ति भी प्रजापतिने की। क्षत्रियराजा अपने स्वाभाविक वर्णधर्म्मानुसार धनुषबाण धारण किये हुए पीड़ितोंकी रक्षा और अत्याचारियोंका शासनकर, मर्य्यादा स्थापनकी चेष्टामें दृढ़प्रतिज्ञ, राज्याधिकार वृद्धिकी स्वाभाविक इच्छासे भूखण्डपर विचरते हुए, सुमेरुके उत्तरसे आकर, भारतवर्षमें सागरान्त वसुन्धराके अद्वितीय अधिपति बन गये। तदनन्तर राक्षस लोभी आततायी अत्याचारियोंका शासनकर, इन क्षत्रिय राजाओंने ब्राह्मणोंकी चिरअभ्यस्ततपस्याके विघ्न दूर किये। सुतरां, राजा उन शिष्ट ब्राह्मणोंके अनुग्रहपात्र हुए और ब्रह्मकुलकी अमोघ आशीर्वाद मन्त्र और सत्परामर्शके प्रतापसे

उनकी राज्यश्री उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होने लगी। प्रथम त्रेतायुग-के आदिमें ब्राह्मण वंशकी जिस परिमाणसे वृद्धि हुई थी ; और पृथ्वी-का जितना अंश समुद्रके गर्भसे बाहर निकलकर मनुष्योंके बसने-योग्य हो गया था ; तदनुसार प्रमाण और अनुमानसे भी यही सिद्ध होता है कि सरस्वतीतीरवर्त्ती सारस्वत देशके निवासी ब्रह्मकुलाग्रगण्य सारस्वतब्राह्मण अपनी परमप्रिय जन्मभूमिको छोड़कर दृषद्वती और सरस्वती नदीसे पूर्वके देशोंमें भी तबतक नहीं बसे थे। ऋग्वेदके पूर्व-प्रदर्शित मन्त्रोंमें सरस्वतीको इसीलिये "सुदृढ़ दुर्गभूमि" अर्थात् बहु-सी पुनः आयसी लोहेके फाटक जैसी दूसरोंके आक्रमणसे रक्षा करने-वाली लिखा है। निस्सन्देह उस समय तक पृथूदक (पिहोए) वाली सरस्वती नदी ही ऋषियोंकी जन्मभूमिकी पूर्व सीमा थी। प्रमाणोंसे यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि प्रथम त्रेतायुगकी आदिमें ही सारस्वत देशके निवासी इन अग्रजन्मा ऋषिवंशके ब्राह्मणोंकी साधा-रणसंज्ञा "सारस्वत" विख्यात हो चुकी थी। क्षत्रिय राजवंशकी उ-त्पत्ति और वृद्धि होनेपर उक्त राजाओंके साथ सारस्वत ब्राह्मणोंकी घनिष्टता बढ़ने लगी और कुछ दिनों बाद जब उपनयन और दीक्षा सं-स्कारसे यज्ञ कर्म्मका प्रारम्भ राजाओंसे ब्राह्मणोंने कराया। बस उसी समयसे निश्चय सारस्वत ब्राह्मणोंको राजपुरोहितके आसनपर विशे-षतासे सुशोभित होना पड़ा। "यत्क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति स यद्ध किंच कर्म्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणामित्रेण हैवास्मै तत्समृध्यते तस्माद्‌ क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्यमाणेनोपसत्तव्यएवब्राह्मणः सहैवास्मै तद्‌ ब्रह्मप्र-सूतं कर्म्मार्ध्यते।" श. ब्रा. ४।१।४।६। ब्राह्मणबिना क्षत्रियकी कर्म्मसमृद्धि असम्भव है। इसी हेतु श्रुति आज्ञा देती है कि जिस क्षत्रियको श्रौतस्मार्त्त कर्म्ममात्र करना है वह ब्राह्मणके पास जाकर प्रार्थना पूर्वक उस कर्म्मको उनसे करावे।

"पृथीहवै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे" इस शतपथकी

श्रुतिसे निश्चय होता है कि वेनपुत्र (वैन्य) राजा पृथु ही मनुष्योंमें सबसे पहिले राज्यभिषिक्त हुआ था। राजाके कर्त्तव्यमें शास्त्रकी सुस्पष्ट आज्ञा है कि—"क्षत्रियेणाभिजातेन पृथिवीं जेतुमिच्छता। पूर्वं पुरोहितः कार्य्यः पार्थ राज्याभिसिद्धये।" म. भा. आ. प.। राज्यसिद्धिचाहनेवाले राजाको सबसे पहिले सत्पात्र ब्राह्मणको पुरोहित मानना कर्त्तव्य है। मनुष्योंमें प्रथम राजा जिनके नामसे आज भी यह वसुन्धरा पृथ्वी कही जाती है उस महाराज पृथुने राज्य-सिंहासनप्राप्तिके समय भक्तिपूर्वक ब्राह्मणोंका अभिवादन कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य्य की थी और सारस्वतकुलभूषण शुक्राचार्य्यजीको अपना कुलपुरोहित स्वीकार कर; मन्त्री और ज्योतिषी आदि राजकीय प्रतिष्ठित पदों पर भी सब बालखिल्य गर्ग प्रभृति सारस्वतब्राह्मणोंके समूहको ही सुशोभित किया था। यथा—"ततस्तु प्राञ्जलिर्वैन्यो महर्षीन्स्तानुवाचह। ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः। एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः। पुरोधाश्चाभवत्तस्य शुक्रोब्रह्ममयोनिधिः। मन्त्रिणो बालखिल्याश्च सारस्वत्योगणस्तथा। महर्षिर्भगवान् गर्गस्तस्य सांवत्सरोऽभवत्॥" म० भा० शा० प०॥ ऊपरके इस प्रमाणसे अग्रजन्मा ऋषिवंशके ब्राह्मणोंकी सारस्वत संज्ञा और उनके ही सर्वप्रथम राजपुरोहित और मन्त्रित्वके पद्पर प्रतिष्ठित होनेके विषयमें सन्देहका तिलमात्र भी अवकाश नहीं रहता है। गौड़, मैथिल, कान्यकुब्ज, गुर्जर आदि अन्य श्रेणीके ब्राह्मणोंके विषयका जो एक भी प्राचीनतम प्रमाण नहीं मिलता; उसका भी यही प्रधान कारण दिखता है कि प्रथम सृष्टिके समय सारस्वत देशके सिवाय ब्राह्मणोंका न तो निवास अन्य देशोंमें हुआ था और न तबतक ब्राह्मणोंकी संज्ञा ही सारस्वत ब्राह्मणके सिवाय दूसरी उत्पन्न हुई थी। भागवतके दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में भी सरस्वतीतीरवासी सारस्वत ब्राह्मणोंके यज्ञका पुराना इतिहास वर्णनकर परमर्षि भृगुका ब्रह्मलोक-शिवलोकसे होकर वैकुण्ठमें जा, विष्णु-

के हृदयमें लात मारनेका प्रसङ्ग जहाँ विस्तारसे लिखा है, वहाँ भी "एवं सारस्वताविप्राणां संशयनुत्तये। पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गता: ॥" भा० १० स्कं० उ० अ० ८६ ॥ स्पष्ट सारस्वतब्राह्मणोंका ही नाम आया है। भविष्योत्तरमें भी "सारस्वतास्तुयेविप्राः क्षत्रियाणां पुरोहिताः।" अनेको स्थलोंमें सारस्वतब्राह्मणोंको राजपुरोहित लिखा है। यह यजमानपुरोहितसम्बन्ध भी बड़ा ही प्राचीनतम है। "प्रादुर्भावे तदातस्य ब्रह्माह्यासीत्पुरोहितः।" "द्वितीय नरसिंहाख्ये रुद्रोह्यास्सी पुरोहितः।" "तृतीये वामनस्यार्थेधर्म्मेण तु पुरोधसा।" म० पु०। मन्वन्तरकी आदिमें देवयज्ञके समय देवताओंके ब्रह्माजी; नृसिंह अवतारमें शिवजी तथा बलिके छलिया वामनके घर धर्म्म, स्वयं पुरोहित थे। "पुरोधीयतेऽसौ पुरोहितः।" पुरोहित शब्द-की व्युत्पत्तिसे देवकार्य्य आदि शुभकर्म्ममात्रमें जिनको सबसे आगे माननीय आसनपर सुप्रतिष्ठित किये बिना किसी कामका भी प्रारम्भ यजमानके घर न हो सके, और जिनसे बढ़कर यजमानका हितैषी दूसरा संसारमें नहीं; पुरोहितका यही अर्थ पाया जाता है। हिन्दीमें भी 'पुरोहित' अर्थात् यजमानकी हितकामनासे पूरी तरह पूर्ण-कलेवर अर्थ भी इसी व्युत्पत्तिसे निकला है। पुरोहितका लक्षण कविकल्पलतामें इस भाँति लिखा है—"पुरोहितो हितो वेदस्मृतिज्ञः सत्यवाक् शुचिः। ब्रह्मण्यो विमलाचारः प्रतिकर्त्तापदामृजुः।" सर्वथा-हितैषी, वेद और धर्म्मशास्त्रका जाननेवाला सत्यवादी, शुद्धहृदय, निर्म्म-लचरित्र, ब्रह्मण्य और सबप्रकारकी विपत्तिका प्रतिकार करनेमें समर्थ, पुरोहित होता है। देवासुरयुद्धके प्रारम्भसे अब तक पुरोहित कुलसे यजमान वंशका जैसा कुछ उपकार होता आया है उसे लिखकर यथार्थ इस स्थलपर दिखाना लेखनीकी सामर्थ्यसे बाहर है। वेदमें इतिहास है—"ते देवा बृहस्पतिं पुरोहितमुपाधावन्नुपतम्।" "उशनाहकाव्योऽसुराणां पुरोहित आस।" देवासुरयुद्धके प्रारम्भमें ही बुद्धिमें सबसे तीव्र

देवपुरोहित बृहस्पतिकी बुद्धिशक्तिको मानों पराजित करनेके अभिप्रायसे शुक्राचार्य्यजी दैत्योंके पुरोहित हुए थे। उधर देखो तो ऋग्वेदसंहिता-के प्रथम मन्त्रमें ही "अग्निमीडे पुरोहितम्।" पुरोहितजी विद्यमान दिखते हैं। निश्चय प्रथम त्रेतायुगके आदिमें ही सारस्वतोंका क्षत्रिय राजाओंके सहित शुभ यजमानपुरोहितसम्बन्ध स्थापित हुआ था। टुक ध्यानसे विचारो कि सारस्वतक्षत्रियोंका यह यजमानपुरोहितसम्बन्ध कितना प्राचीनतम है।

क्षत्रियराजाओंके कुलपुरोहित सारस्वतब्राह्मण प्रथम त्रेतायुगके समयसे ही हुए। परन्तु क्षत्रियराजा और सारस्वतोंकी विशेष बसती पंजाब सारस्वत देशमें ही हजारोंवर्ष उसके पीछेतक (बल्कि अब भी) स्थिर दिखती है। सूर्य्यचन्द्रवंशके आदिराजा पुरूरवाका राज्य भी चाक्षुषमन्वन्तरमें ऐरावतीतीरवर्त्ती मद्रदेशमें ही था। स्वयम्भू ब्रह्माका दिन सृष्टिप्रवर्तक है और रात्रिमें प्रलय होता है। ब्रह्माके दिनका नाम ही कल्प है। एक कल्पमें चौदहों मनुका समय बीत जाता है। प्रत्येक मनुके अधिकारकालको ही मन्वन्तर कहते हैं। हरएक मन्वन्तरमें सत्ययुग त्रेता द्वापर कलिकी चौकड़ी, बहत्तर बार समाप्त हो जाती हैं। स्वायम्भुवसे चाक्षुष तक ६ मनु हो चुके ; इस समय सातवें वैवस्वतमनुका अधिकार है। जब राजा पुरूरवा तीर्थयात्रा और तपस्या करने गया था उसके वर्णनमें "ददृशे स तीर्थसदनं विषयान्ते स्वके नदीम्। ऐरावतीतिविख्यातां ददर्शातिमनोरमाम्।" १८। म० पु० अ०। ११५। पुनः "सुशीतशीघ्रपानीयां द्विजसङ्घनिषेविताम्। सुतां हिमवतः श्रेष्ठां चंचद्वीचिविराजिताम्। तपोधनाश्च ऋषयस्तथा देवा सहास्वराः। लभन्ते यत्र पूताङ्गाःदेवेभ्यः प्रतिमानिताः। स्त्रियश्च नाकबहुलाः पर्वेन्दुप्रतिमाननाः।...या सदा विविधैर्विप्रैर्देवैश्चापि निषेव्यते॥" म० पु० अ० ११६। मद्रराज्यकी सीमा रावीनदीतक ही लिखी है। पूर्वके मन्वन्तरोंकी कथाको छोड़नेपर वर्त्तमान वैवस्वतमनुके अधिकारमें,

यहाँ तक कि परशुरामजीके अवतारके समय भी क्षत्रियोंसे विशेष युद्ध कुरुक्षेत्रकी भूमिमें ही हुए थे। परशुरामजी "एकोनविंशत्रेतायां सर्वक्षत्रान्तकृद्विभुः। जामदग्न्यस्तथा षष्ठो विश्वामित्रपुरस्सरः॥" म० पु० ४७ अ०॥ वैवस्वत मन्वन्तरकी १९ वीं त्रेताद्वापरकी सन्धिमें पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेकी प्रतिज्ञाकर घोर युद्धमें प्रवृत्तहुए थे। इस समय २८ वीं चौकड़ी बीत रही है। सुतरां, १९ वी चौकड़ीका कितना प्राचीन परशुरामजीका इतिहास है। उस युद्धमें क्षत्रियोंके रुधिरसे इन्होंने कुरुक्षेत्रमें पाँच बड़े तालाब भरे थे, वही 'समन्तपञ्चकतीर्थ' आज भी प्रसिद्ध है। इससे भी भलीभाँति यही प्रतीति होती है कि क्षत्रिय राजवंशका निवास पंजाबकी भूमिमें ही तबतक विशेष था। अन्यथा, दूरदेशोंमें बसते होते तो उन क्षत्रियोंके रुधिरसे कुरुक्षेत्रमें—"स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्य्येणानलद्युतिः। समन्तपञ्चके पञ्चचकार रौधिरान् ह्रदान्॥" स्यमन्तपञ्चकनामके पाँचों तालाब कैसे पूर्ण हो सकते थे?

सिवाय इसके विश्वामित्र भी परशुरामके समय में हुए। पैजवन सुदास राजाके घर पौरोहित्य कर्म्म कर विश्वामित्रजीने विशेष धनलाभ किया था। जब वहाँसे फिरे तो विश्वामित्रजी विपाशा और शतद्रू नदीके पार होनेको स्तुति और मन्त्रबलसे नदीके प्रवाहको स्तम्भित कर नदी पार हुए थे। महा ऋषिर्देवजादेवजूतोऽस्तभ्नात् सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः। विश्वामित्रोयदवहत् सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः॥" ऋग्वेद ३-५३-९ तथा—"विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव...स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययावनुययुरितरे। स नदीस्तुष्टाव गाधा भवतेति" नि० २-२४॥ ऋग्वेदके मन्त्रसे और निरुक्तसे भी विपाशा और सतलजके पार ही सुदासराजाका राज्य दिखता है। वेदमन्त्रोंमें इस इक्ष्वाकुकुलके सूर्य्यवंशीय सुदासराजाकी और वशिष्ठजीकी बहुतसी बातें हैं। स्थानाभावसे उनको नहीं दिखा सकते। यथार्थमें परमर्षि वशिष्ठ भी सारस्वतपञ्चनद्‌देश-

वासी ही थे ; इसके अनेकों प्रमाण हैं। जब विश्वामित्रने इनके पुत्रोंको मारा तब शोकाभिभूत हो पाशमें अपने हाथ-पाँव बाँध, अपने आश्रमके समीपवाली नदीमें डूबकर, वशिष्ठजीने आत्मघात करना विचारा था। "निर्जगाम स दुःखार्तः पुनरप्याश्रमात्ततः। सोऽपश्यत् सरितां पूर्णां प्राविट् काले नवाम्भसा। ततः पाशैस्तदात्मानं गाढं बध्वा महामुनिः। तस्याजले महानद्या निममज्जसुदुःखितः। अथ छित्वा नदी पाशांस्तस्यारिवलसूदन! स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत्। उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः। विपाशेति नामास्यानद्याश्चक्रे महानृषिः।" वशिष्ठजीका पाशमोचन कर किनारे लगा देनेके कारण ही तबसे यह नदी विपाशा कहायी ; महाभारतआदि पर्वमें, विस्तारसे इसीका वर्णन किया है। यास्क भी— "पाशा अस्यां विपाश्यन्तवशिष्ठस्य मुमूर्षतः तस्माद् विपाड् उच्यते। पूर्वमासीदुरुञ्जिरा।" लिखते हैं कि वशिष्ठ ऋषिका पाशबन्धन मुक्त करनेसे पूर्वकी उरुञ्जिरा नदी ही विपाशा कहायी।

उधर देखिये तो, प्रसिद्ध क्षत्रिय राजा भरत (जिनके राज करनेसे भरतखण्डनाम पड़ा) के वंशके जन्हु राजाके भतीजे महाराजा सम्वरणकी महाभारतमें कथा है कि एक समय पांचाल राजाकी सेनासे पराजित हो, भागकर सम्वरण राजाको सिन्धु (अटक) नदीके किनारे किलेमें जाछिपना पड़ा था। वहाँ वशिष्ठजीके उपस्थित होने पर राजा संवरणने कहा कि "आप पुरोहित होकर सहायता कीजिये तो अपने पूर्वपुरुषोंके प्रतिष्ठित राज्यके पुनः उद्धारका यत्न मैं करूँ।" इस पर "ओमित्येवं वशिष्ठोऽपि भारतान् प्रत्यपद्यत। यथाभ्यषिञ्चत् साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम्। विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नः श्रुतम्। भारताध्युषितं पूर्वं सोध्यतिष्ठत् पुरोत्तमम्।" वशिष्ठजीने "ॐम्" कहकर राजाकी प्रार्थना स्वीकार की और पुनः राजा सम्वरणको सब क्षत्रियोंका अधीश्वर बना, सारी पृथ्वीके शृङ्गस्वरूप सर्वोच्च पं-

जाव देशमें भरतकी बसायी उस उत्तम पुरीके राजसिंहासन पर अभि-षिक्त किया। इससे भी यही दृढ़ निश्चय होता है कि चन्द्रसूर्य्यवंशीय राजाओंकी प्रथम राजधानी भी सारस्वतप्रदेशमें ही स्थापित हुई थी। कुलपरम्परासे क्षत्रियोंने जिस प्रकार सारस्वतदेशमें निवास अधिकता-से किया उसी प्रकार वशिष्ठ, विश्वामित्र, अङ्गिरा, अत्रि आदि परमर्षि और ऋषि-पुत्रोंकी तो जन्मभूमि ही सारस्वतदेश (पंजाब) में थी। सुतरां, उनका वहां पहिले बसना ही सम्भव था। सारस्वत ब्राह्मण ही ब्राह्मणोंमें प्राचीनतम हैं।

पहिले सिद्ध हो चुका है कि हिमालयके सबसे ऊँचे शिखरपर ही प्रजापति ऋषियोंका आविर्भाव हुआ था; वर्त्तमान समयमें अँगरेजोंने "मौण्टएवरेष्ट" नामके हिमालय शृङ्गको ही सर्वोच्च स्थिर किया है। एवरेष्ट शिखरकी ऊँचाई २९००२ फुट है और नेपालकी राजधानीसे भी प्राय: एक सौ मील पूर्वमें यह स्थित है। सबसे ऊँचा तो मौण्ट एवरेष्ट है। अत: सृष्टिका प्रारम्भ भी वहां होना ही युक्तियुक्त है। अवश्य यह शङ्का और आपत्ति विचारने योग्य है। अब देखिये प्रथम तो हिमालयके सबसे ऊंचे शिखर इस समय अगम्य हैं, सभी स्वीकार करते हैं। सुतरां, उनकी प्रत्येककी नाप या पक्की जाँच बिना किये, एक तरफकी अपेक्षाकृत नीची धारके सबसे ऊँचे किसी शिखरको सब धारसे ऊँचा मान लेना यथार्थ नहीं। कई एक अँगरेजोंने हिमालय-पर चढ़नेका उद्यम किया था, और करते भी हैं; परन्तु आजतक अँगरेजोंमें भी सबसे पहिले जो अँगरेज इन पर्वतों पर जितनी दूर तक चढ़ गया था उस स्थानसे आगे जाना तो दूर रहा वहाँ तक भी उसके बादके उद्योगी नहीं पहुँच सके हैं। तथापि अब अँगरेजोंको स्वयं स्वीकार करना पड़ता है कि 'मौण्ट एवरेष्ट' से ऊँचे शिखर भी हिमा-लयके दिखायी दिये हैं। परन्तु वहांतक जाना असाध्य है। सिवाय इसके भूतत्त्व और पदार्थ विद्याके जाननेवाले उन अंगरेजोंका ही यह

भी निश्चय सिद्धान्त है कि पंजाब प्रान्तके हिमालयपर्वतसे लेकर समुद्र-तीरकी भूमितक जितना विशेष स्वाभाविक परिवर्त्तन और फेरफार होनेका निदर्शन दिखता है ; भारतवर्ष भरके अन्य किसी प्रदेशमें भी प्रायः वैसा अधिक परिवर्त्तन हुआ नहीं दिखता । सुतरां, जिस समय आदि कल्पमें ऋषि उत्पन्न हुए थे ; उस समयसे आजकी अवस्था, प्लक्षप्रस्रवणसमीपस्थ हिमालयपर्वतशिखरोंके निकटवर्त्ती सारस्वत प्रदेशका बहुत परिवर्तन हुआ है, सन्देह नहीं । सरस्वतीनदी जो कि उस समय सबसे प्रधान वेगवती अद्वितीय बड़ी नदी थी, उसका अन्तः-सलिला होकर नष्ट और अत्यन्त संकीर्ण हो जाना क्या इसी नैसर्गिक परिवर्त्तनका ही एक अद्वितीय मान्य और प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है ? विना प्लक्षप्रस्रवण नामक हिमालय शृङ्गके धरतीमें धँसे, सरस्वती जैसी महानदीका लुप्त होना कदापि सम्भव नहीं था । अतएव निश्चय है कि कल्पारम्भमें, ऋषिसृष्टिके समय, प्लक्षप्रस्रवण नामक हिमालय-शिखरके आसपासकी धारके शृङ्ग ही सबसे ऊँचे थे । समयके फेरसे जब उस प्रदेशके पर्वत धँसे, भूकम्प आदि घोर उपद्रव हुए, तभी सर-स्वतीका प्रवाह रुका और तभीसे पूर्व प्रान्तके पर्वत भी ऊँचे हो गये होंगे । वेदमें जब हमको सरस्वतीनदीतीरवर्त्ती कुरुक्षेत्र और ब्रह्मा-वर्तकी सब देशोंसे श्रेष्ठता और उक्त देश ही ब्रह्माकी उत्तरवेदी तथा देवताओंकी पुराकल्पकी यज्ञभूमि नामसे वर्णित दिखता है ; उसीके तटस्थ स्थानमें ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिका प्रमाण भी मिलता है ; इधर ने-पालसे सौ माइल पूर्व दिशापर अपेक्षाकृत निम्नभूमिपर स्थित एव-रेष्ट शृङ्गके वा उस प्रान्तके विषयका वेदशास्त्रोंमें कहीं वैसा प्रमाण भी नहीं मिलता, तब स्वतःसिद्ध यही मानना पड़ता है कि उस समय तो मौण्ट एवरेष्ट शिखर सबसे ऊँचा कदापि नहीं था ।

सरस्वती, गङ्गा, यमुना, सिन्धु, शतद्रु, ब्रह्मपुत्र, व्यासा आदि भारत-वर्षके आर्य्यावर्त्तकी सब बड़ी नदियोंका निकास और उसी प्रस्रवणान्त-

चिन्हित स्थानके आसपासमें दिखता है। सुतरां, वही सबसे ऊँचा प्रदेश और ब्राह्मणोंकी जन्मभूमि है, सन्देह नहीं। भारतके सब ओरका भूप्रदेश ही उस प्लक्षप्रस्रवण प्रान्तके (धँस जाने पर आज तक भी) सर्व्वोच्च हिमालय प्रदेशसे जो नीचा है इसका तो यही बड़ा सुन्दर प्रत्यक्षप्रमाण है कि अधिकांश बड़ी नदी उसी पर्वतके भिन्नशिखरोंसे निकलकर चारों ओरसे प्रवाहित होती दक्षिणसमुद्र और पश्चिमसमुद्रकी ओर जाती हैं। ब्रह्मपुत्र नद भी उसी स्थानसे कुछ दूर पूर्वमें स्थित निम्नभूभागके मानसरोवरके समीपसे निकल कर नेपाल और भोटके उत्तरप्रान्तसे प्रवाहित होता बराबर बंगालेकी खाड़ीमें आ-गिरा है। इधर गंगा-यमुनाको देखो तो वह भी हिमालयके दक्षिणके भूप्रदेशको पवित्र करती बराबर बंगदेशके दक्षिणसमुद्रमें आ मिली हैं। सिन्धू, शतद्रू, व्यासा आदि उसी स्थानसे पश्चिमसमुद्रमें जाती हैं। अतएव उस स्थानसे पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तरके सभी प्रदेश निश्चय नीचे दिखते हैं। अन्यथा, वहाँसे निकलकर सिन्धु, शतद्रू ब्रह्मपुत्र, गंगा, यमुना आदि नदियोंका सुदूरवर्त्ती समुद्रतक चारों ओरसे अपनी गतिसे घूमकर जाना कैसे सम्भव था? नदीका प्रवाह कभी ऊँचा नहीं चढ़ता। निम्नगा नीचे जानेसे ही कहाती हैं। अतः इस वृथा शङ्काका समाधान तो उक्त नदियोंकी गतिके देखनेसे ही हो जाता है। यह तो निश्चय है कि 'मौण्ट एवरेष्ट' इस समय अँगरेजोंकी दृष्टिमें विशेष ऊँचा माना जाने पर भी हिमालयके प्लक्षप्रस्रवणके उत्तर पार्श्वके सर्वोच्च शृङ्गोंसे अवश्य कल्पारम्भके समय नीचा था और बीचकी ऊँची धारसे आज भी नीचा ही ठहरेगा। यद्यपि बरफके जमनेसे अब उसकी उँचाई बढ़ भी गयी हो तो भी कल्पारम्भमें वह जो एक आपेक्षिक नीचा शिखर ही था, इसमें क्या सन्देह है? कारण उस समय यदपि 'मौण्ट एवरेष्ट' पर्वत प्रदेश सब शिखरोंसे ऊँचा होता तो ऊपर लिखी नदियोंकी अब जो गति दिखती है सो न दिखती। तब तो भार-

तकी सभी बड़ी नदियाँ मौण्ट एवरेष्टसे निकलतीं और निश्चय उनकी गति पश्चिमोत्तराभिमुखी होती। जब कि एक भी नदी मौण्ट एवरेष्टसे निकल कर पश्चिमोत्तरको नहीं जाती है; तब इस पर्वतको उस समयका सबसे ऊँचा पर्वत समझना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। अथवा परिवर्त्तनशील संसारके परिवर्त्तनधर्मसे इस समय यद्यपि कोई दूसरा शिखर सबसे ऊँचा हो भी जाय तो उससे यह सिद्धान्त कभी नहीं हो सकता है कि आदि कल्पके आरम्भमें भी वह सबसे ऊँचा ही था। आप्तवाक्य और शास्त्रप्रमाणसे जबतक पुराने इतिहासका पक्का प्रमाण नहीं मिलता तबतक मनमाना नवीन सिद्धान्त इस विषयका कदापि नहीं माना जा सकता है। प्राचीन इतिहासका परिज्ञान् वेदकी श्रुतियोंके ऐतिहासिक अंशासे ही निश्चय होगा। दूसरा उपाय इसके जाननेका नहीं है। श्रुतिप्रमाणसिद्ध अकाट्यसिद्धान्तोंका खण्डन असम्भव है। सरस्वतीको इस स्वाभाविक परिवर्त्तनके कारण अन्तःसलिला हुए भी तो कमतीसे कमती प्रायः पाँचहजारवर्षसे अधिक बीत चुके हैं। संसारमें समयके फेरसे क्या क्या परिवर्त्तन नहीं होता? महाभारतके आरण्यपर्वकी तीर्थमहिमाके प्रकरणमें और अन्यपुराणोंमें भी हिमालयके उसी सर्वोच्च प्लक्षप्रस्रवण प्रान्तसे निकली नदियोंमें "सिन्धुनदं पञ्चनदं देविकाऽथसरस्वती।" "ऐरावती वितस्ताच विशाला देविका कुहूः। ...इक्षुर्लौहितमित्येता हिमवत्पार्श्वनिःसृताः॥" देविका और सरस्वतीका जहाँ नाम आया है वहाँ "प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ" लिखकर, महर्षि व्यास भी निस्सन्दिग्धरूपसे उसी स्थानको ब्राह्मणोंकी सर्वप्रथमउत्पत्तिका स्थान स्थिर कर गये हैं।

अस्तु, प्रजापति ब्रह्माके मानसपुत्र भृगु आदि वेदमन्त्रोंके द्रष्टा थे और मन्त्रद्रष्टा होना ऋषित्वका एक प्रधान कारण था, यह तो श्रुतिसिद्ध मान्य प्रमाणोंसे सिद्ध होचुका है। घोर तपके प्रभावसे ही ऋषि मन्त्रद्रष्टा हुए थे। इस विषयको मत्स्यपुराणमेंभी विशदरूपसे सम-

भाया है कि किस रीतिसे परमर्षियोंने चारों वेदोंके पवित्र धर्ममूलक मन्त्रोंका साक्षात् दर्शन किया था। लिखा है—"ऋषीणां तप्यतान्तेषां तपः परमदुश्चरम्। मन्त्राः प्रादुर्भवन्त्यादौ पूर्वमन्वन्तरस्यह। असन्तोषाद्भयाद् दुःखात् मोहात् शोकाच्च पञ्चधा। ऋषीणां तारकायेन लक्षणेन यदृच्छया। ऋषीणां यादृशत्वं हि तद्वक्ष्यामीह लक्षणम्। अतीतानागतानाञ्च पंचधा ह्यार्षकं स्मृतम्।"............................

"निवृत्तिसमकालाच्च बुद्धयाव्यक्तऋषिस्त्वयम्। ऋषते परमं यस्मात्परमर्षिस्ततःस्मृतः॥ निवर्त्तमानैस्तैर्बुद्धया महान् परिगतःपरः। यस्माद्दृषपरत्वेन सह तस्मान्महर्षयः॥ ईश्वराणां सुतास्तेषां मानसाश्चौरसाश्चवै। ऋषिस्तस्मात्परत्वेन भूतादिऋषयस्ततः। ऋषिपुत्राऋषीकास्तु मैथुनाद्गर्भसंभवाः॥ परत्वेन ऋषन्ते वै भूतादीन् ऋषिकास्ततः॥ ऋषिकाणां सुता येतु विज्ञेया ऋषिपुत्रकाः। श्रुत्वा ऋषं परत्वेन श्रुतात्तस्माच्छ्रुतर्षयः। अव्यक्तात्मा महत्मा वाहङ्कारात्मा तथैवच। भूतात्मा चेन्द्रियात्माच तेषां तज्ज्ञानमुच्यते। इत्येवं ऋषिजातिस्तु पञ्चधा नाम विश्रुता॥" ८६॥ म० पु० अ० १४५॥ प्रजा सृष्टिद्वारा ब्राह्मणोंकी वंशवृद्धिके लिये ही ब्रह्माजीने इन प्रजापति भृगु आदि परमर्षियोंको उत्पन्न किया था। परन्तु ये परमर्षि थे, अविद्याके आवरणसे इनके अन्तःकरणोंमें मोहरूप घोर अन्धकार प्रवेश ही नहीं करने पाया था। सुतरां ब्रह्माकी इच्छानुसार इन परमर्षियोंने तपोबलसे ऋषिवंशकी यथासाध्य वृद्धिकी। अयोग्य मैथुनी सृष्टिमें तो सर्वथा इन परमर्षियोंकी प्रवृत्ति ही न हुई। मानसिक संकल्पमात्रसे, छूनेसे, देखनेसे, प्रजासृष्टि करना इन अपूर्व तपस्वियोंकी घोर तपस्याका ही फल था। वायुपुराणमें—"संकल्पाद्दर्शनात् स्पर्शात् पूर्वेषामभवन् प्रजाः। तपोविशेषैरिद्धानां तदात्यन्ततपस्विनाम्।" दिव्यज्ञानी सत्यसंकल्प, इन तपस्वी परमर्षियोंके संकल्पमात्रसे या दर्शन और स्पर्शसे कल्पारम्भके प्रथम सतयुगमें प्रजा

वृद्धि करनेका लेख दिखता है। तथापि इनको तपस्याद्वारा जैसा विशुद्ध आनन्द ब्रह्मसाक्षात्कारमें था वैसा और किसी विषयकी भी प्रवृत्तिमें नहीं था। इसलिये केवल तपस्यामें परमनिमग्न अव्यक्तात्मा प्रजापति ही परमर्षि कहाये। परमर्षि होनेकी सामर्थ्य दूसरे को न हुई। प्रजापति भृगु आदि इन परमर्षियोंने जब प्रजावृद्धि की तब उत्पत्तिभेद, सामर्थ्यभेद और शरीरके गुणभेदसे महर्षि, ऋषि, ऋषीक और ऋषिपुत्र नामकी चार श्रेणी कालान्तरमें और भी उत्पन्न हो गयीं। जिस प्रकार असन्तोष, भय दुःख, शोक, और मोह इन पाँचोंके कारण इनके तारक वेदमन्त्रोंका पांच प्रकारसे कल्पारम्भमे साक्षात् दर्शन ऋषियोंको हुआ था; उसी प्रकार वंशवृद्धि होने पर, अव्यक्तात्मा, महात्मा, अहङ्कारात्मा, भूतात्मा और इन्द्रियात्माके ज्ञानभेदसे, परमर्षि, महर्षि, ऋषि, ऋषीक और ऋषिपुत्रोंके पाँच श्रेणीमें विभक्त होनेसे सारस्वत ऋषिवंशमें "पञ्चजाति"की सृष्टि तो कल्पारम्भके आदि सत्ययुगमें सबसे पहिले ही हुई थी। जैसे सृष्टिक्रममें सबसे पहिले अव्यक्तसे महान् वा महत्तत्व उत्पन्न होता है। वैसेही स्वल्पविकृतिसे परमर्षिके बाद उस महान् पुरुषके ज्ञाता महर्षि उत्पन्न हुए। इन परमर्षि और महर्षियोंके संकल्पजात मानसपुत्र और औरसपुत्रोंकी संज्ञाही ऋषि हुई। ऊपरकी लिखी ये तीनों श्रेणियाँ मैथुनीसृष्टिमें नहीं हैं। इन तीनों श्रेणीकी उत्पत्तिके बाद, कालान्तरमें मैथुनीसृष्टिका प्रारम्भ हुआ था; क्योंकि ऊपर लिखे इन ऋषियोंकी मैथुनी गर्भजसन्तति ही ऋषीक नाम से प्रसिद्ध हुई थी। ऋषीकोंकी यह चतुर्थश्रेणी मैथुनी सन्तति होने पर भी तपोबलसे मन्त्रद्रष्टा हुई थी। परन्तु इसके पीछे पाँचवीं श्रेणीके ऋषिपुत्र जो उत्पन्न हुए, वे स्वयं मन्त्रद्रष्टा न हो सके। अपने पूर्वजोंसे वेदमन्त्रोंको सुनकर, ऋषिपुत्रोंने अभ्यासपूर्वक धारण किया था। सम्भव है कि तभीसे वेदमन्त्र 'श्रुति' नामसे भी संसारमें प्रसिद्ध हुए और पञ्चमश्रेणीके इन ऋषिपुत्रोंका दूसरा नाम श्रुतर्षि भी

इसीसे हुआ। इन पाँच श्रेणियोंमें विभक्त होनेके कारण सारस्वत ब्राह्मणोंका आदि ऋषिवंश कल्पारम्भके आदियुगके अन्तमेंही "पञ्चजातिविशिष्ट" होगया था। वेदमन्त्रोंमें भी ब्राह्मणोंके इन आदिमूलपुरुषोंकी अर्थात् सतयुगके मनुष्योंकी उक्त पाँचों श्रेणीका बोधक "पञ्चजनाः" वा "पञ्चमानवाः" शब्द दिखता है। शतपथकी श्रुति है "महद्द्यभरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः दिवं मर्त्यं इव बाहुभ्यां नोदापुः पञ्चमानवाः।" तथा ऐतरेय श्रुति भी "पाञ्चजन्यमेतदुक्थं यद् वैश्वदेवं सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणाञ्च पितृणाञ्च।" तथा "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" शा० सू० भाष्यके उद्धृत इस वेद मन्त्रकी व्याख्यामें २५ तत्त्वकी व्याख्याका खण्डन विस्तारसे करके पञ्चप्राण और पञ्चजातिभेद अर्थ ही स्थिर किया दिखता है। परन्तु विशेष स्पष्ट तो इस विषयके मर्म्मको व्यासजीने भा० व० के २१६ वें अध्यायमें "पाञ्चजन्य अग्नि" की उत्पत्तिके वर्णनमें दिखाया है। यथा—"काश्यपोह्यथ वाशिष्ठः प्राणश्च प्राणपुत्रकः। अग्निराङ्गिरसश्चैव च्यवनस्त्रिसुवर्चकः। अचरत् स तपस्तीव्रं पुत्रार्थे बहुवार्षिकम्। पुत्रं लभेयं धर्म्मिष्ठं यशसा ब्रह्मणा समम्। महाव्याहृतिभिर्ध्यातः पञ्चभिस्तैस्तदास्त्वथ। जज्ञे तेजोमहार्चिष्मान् पञ्चवर्णप्रभावतः। समिद्धोग्निः शिरस्तस्य बाहू सूर्य्यनिभौ तथा। त्वङ्नेत्रे च सुवर्णाभे कृष्णे जङ्घे च भारत; पञ्चवर्णः स तपसा कृतस्तैः पञ्चभिर्जनैः। पाञ्चजन्यः श्रुतो देवः पञ्चवंशकरस्तु सः॥" कश्यप, वशिष्ठ, प्राण, अङ्गिरा और च्यवन इन पाँचों ऋषियोंने मिलकर घोर तपस्या अनेको वर्ष पर्य्यन्त कुलकी वृद्धिके निमित्त की थी। इन पाँचोंके उस परम उग्र तपोबलसे अपूर्व तेजःपुञ्ज-पञ्चवर्णविशिष्ट साक्षात् पाञ्चजन्य अग्निके दर्शन हुए। उक्त पाञ्चजन्य अग्निके अनुग्रहसे ही ऋषियोंके अद्वितीय तेजस्वी पाँचों वंश वृद्धिको प्राप्त हुए थे। उक्त आदि ऋषियोंके पञ्चवंशकी संज्ञाही पञ्चजनाः अर्थात् "पञ्चजाति" नामसे प्रसिद्ध हुई थी।

जाति संज्ञा वा "अल" इतनी प्राचीनतम है कि आदिवेद ऋग्वेदमें ही "कपर्द्दिनोधियाधीवन्तो असपन्त तृत्सवः।" वशिष्ठ 'तृत्सू' 'पञ्चावा आङ्गिरसः' आदि ऋषियोंके नाम और वंशके साथ उसका घनिष्ठ सबन्ध बहधा देखनेमें आता है। "सुकेशाच भरद्वाजः" "कबन्धीकात्त्यायनः" "उपकोसलोह वै कामलायनः सत्यकामेजाबाले ब्रह्मचर्य्यमुवास" आदि अथर्ववेदके प्रश्णोपनिषद् और सामके छन्दोग्यमें भी ऐसे अनेकों उदाहरण मिलेंगे।

युगोंमें सबसे श्रेष्ठ यह सत्ययुग, धर्म्मप्रधान युग था। कारण, "तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते। सत्वस्य लक्षणं धर्म्मः श्रैष्ठयमेषां तथोत्तरम्॥" मनुः॥ धर्म्म अर्थ काम, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणके ही फलस्वरूप हैं। इसलिये प्रथम सत्ययुगके परमर्षियोंको ही साक्षात् धर्म्मका अवतार और धर्म्मके स्थापनकर्त्ता कहना योग्य है। धर्म्ममूलकवेदकल्पतरुकी स्वर्गमोक्षफलप्रद शाखा इन परमर्षियोंकी स्वाभाविक धर्म्मनिष्ठा और परमोग्रतपस्यासे ही संसारमें अबतक भी फैली हुई दिखती हैं। त्रितापसे भुने छटपटाते हुए क्लिष्ट संसारी जीव आज भी उस वेदकल्पतरुकी सुविस्तीर्ण हरीभरी सघनशाखाओंकी परमसुशीतल छायाके नीचे आश्रय लेकर परमशान्ति लाभ कर सकते हैं। (बड़ेही दुःखका विषय है कि ब्रह्मकुलके अयत्नसे इस समय बहुतसी शाखा नष्ट होगयीं। जो है उनका भी सिञ्चन यत्नपूर्वक नहीं किया जाता।) सत्त्वगुण प्रधान इन धर्म्मधुरन्धर ब्राह्मणोंके सुतरां "शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच। ज्ञानंविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्मस्वभावजम्॥" गी०। शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वरपरायणता आदि स्वभावसिद्धधर्म्म क्यों न होते?

सतयुगमें पहिले इन ब्राह्मणोंमें उत्पत्तिके समय ही ऊँच नीच, उत्तम अधमका भेद नहीं था; केवल तपस्या और प्रभावही ब्रह्मकुलकी श्रेष्ठताका कारण था। इनमें तपोबलसे जिसका प्रभाव विशेष होता

था वही श्रेष्ठ माना जाता था। विष्णु पुराणमें स्पष्ट लिखा है 'कनिष्ठयं ज्यैष्ठ्यमप्येषां पूर्वंनाभूद्विजोत्तम। तपएव गरीयोऽभूद् प्रभावश्चैव कारणम्।' परमर्षियोंके तपोबलसे और उग्रप्रभावसे कालान्तरमें वंशवृद्धि होनेपर जब ये पाँच श्रेणीमें विभक्त हुए और उस "पञ्चजाति"के ऋषिपुत्रोंने अपने पूर्वजोंसे सुनकर त्रेतायुगकी आदिमें वेदमन्त्रोंका अभ्यास प्रारम्भ किया और क्रमसे श्रुतिर्षियोंकी संख्या विशेष बढ़ी ; तब "स्वाध्यायोऽध्येतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" "वेदमेव सदाभ्यस्येत् शुचौदेशे समाहितः।" इत्यादि शास्त्रकी आज्ञासे वेदघोषके उत्तमस्वरोंकी प्रतिध्वनि सारे सारस्वतप्रदेशभरमें गूँजने लगी और ब्राह्मणोंका कर्म्म भी तभी निर्दिष्ट होगया कि "षट्कर्म्माणि निजान्याहुर्ब्राह्मणस्य महात्मनः। तैरेव सततं यस्तु वर्त्तयेत्सुखमेधते। अध्यापनं अध्ययनं याजनं यजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्म्माणीतिचोच्यते॥" हा० सं०। वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और लेना येही छै काम ब्राह्मणोंके हैं। इन छै कर्म्मोंके करनेसे ही सतयुगके परमशान्त तपस्वी उन ऋषियोंकी शिष्ट सन्तति भी युगधर्म्मसे त्रेतामें षट्कर्म्मा बन गयी। रजोगुणप्रधान त्रेतायुगमें अर्थभोगकामनासे राजाओंने भी उत्साहपूर्वक यज्ञकर्म्मकी धूम मचायी। सुतरां, अब श्रोत्रिय ब्राह्मणोंके श्रौत स्मार्त्त धर्म्मोंके बहुलप्रचारका समय उपस्थित होगया। ब्राह्मणोंकी विद्या, तप, प्रभाव और कर्म्मठता, आदिके परिचयका युगान्तर उपस्थित होनेसे योग्यताके तारतम्यसे ब्राह्मणोंमें अब विविधप्रकारकी ऊँची नीची श्रेणी और मान प्रतिष्ठाकी रुचि और चेष्टा भी उत्पन्न हुई। यथार्थमें तो जबसे विशेषतासे "विवाहसंस्कार" और मैथुनी सृष्टि उत्पन्न होनेकी परिपाटी चली, विशेषकर तभीसे कुलकी परीक्षा और ऊँचे नीचे कुलोंका भेद भी प्रारम्भ हुआ दिखता है। "कुलमग्रे परीक्षेत" गृ० "एतैरेवगुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियोवरः।" "कुलंच शीलंच वयश्चरूपं विद्यांच वित्तंच

सनाथताश्च। एतान् गुणान् सम परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्त-नीयम्" यमः। इनवचनोंके सिवाय जिसके सहित विवाह होता है उसका नाम ही "वर" अर्थात् सब प्रकारसे श्रेष्ठ है। "योऽनूचानः स्मनोमहान्" "यएवविद्वानस्तपश्चाचवृद्धः स एवपूज्योभवति द्विजानाम्" तप और विद्यासेही द्विजोंकी श्रेष्ठता है। अपने वर्णका श्रोत्रिय, यथोक्त वेदाध्यायी और कुलमें श्रेष्ठ हो तब उस वरसे कन्याका विवाह-सम्बन्ध करना, यही विवाह विषयका मानों मूलसूत्र है। इस कारण "जात्या कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च। एभियुक्तोहि यस्तिष्ठेत् नित्यं स द्विज उच्यते॥" जाति, कुल, वृत्ति, वेदपाठ, विद्याभ्यासयुक्त ही उस समय द्विज होते थे। जो महापुरुष यह कहते हैं कि ब्राह्मणोंमें "तब जाति-विभाग कोई नहीं जानता था।" उनको शास्त्रकी या तो समझ ही नहीं थी; अथवा आग्रहसे उनकी बुद्धि और विचारशक्ति सर्वथा लुप्त हो गयी थी। जिसने गीताके भी २।४ अध्यायमात्र केवल पढ़े हैं; ऐसी बेतुकी बात तो वह भी न कहेगा; क्योंकि "उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुल-धर्म्माश्च शाश्वताः।" गीतामें भी भगवान् जाति और कुलके विषय साफ कह गये हैं। अन्यथा "कुलमग्रे परीक्षेत" इस गृह्य वचनकी और 'कुल' और 'कुलीन' शब्दकी तथा "जात्या कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेनच"। "एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः।" आदि शास्त्रोक्त श्रेष्ठतावाचक "वर" शब्दकी प्रवृत्ति ही क्यों हुई थी? परन्तु जिस महापुरुषने "समानगोत्रप्रवरां कन्यामूढ्वोपगम्यच। तस्यामुत्पाद्य-चाण्डालं ब्राह्मण्यादेव हीयते।" शास्त्रके ऐसे गम्भीर वचनोंका विचार भी न किया और ब्राह्मणोंके विवाहमें गोत्रके विचारका ही सर्वथा त्यागकर उन्हें चाण्डाल बनानेका प्रयत्न किया। उसके खण्डनमें वृथा पत्रोंको कलुषित करना भी निष्प्रयोजन ही है। ब्राह्मणोंके कुलोंके विषय पैठीनसी लिख गये हैं—"येषां पुरुषतः प्रजोत्पत्तिरविच्छिन्ना

भवति ते संगतकुलीनाः । ये सम्भूयः पञ्चपुरुषञ्चायोनिश्रितशील-वृत्तसम्पन्ना श्रुतिवन्तो श्रुतिमतस्नेपितृमन्तः पितृमन्त्याऋषय आर्षेया-भवन्त्यात्त्विंजीनाः । अथ दत्तकक्रीतकृत्रिमपुत्रिकापुत्रा परपरिग्रहे णार्पेण येऽत्रजातास्तेऽसंगतकुलीनाः द्व्यामुष्यायणा भवन्ति ॥" तथा मनु-स्मृतिमें भी "आचार्यस्त्वस्ययांजातिं विधिवद् वेदपारगः । उत्पा-दयति सावित्र्या सानित्त्या साऽजराऽमरा ।" द्वितीयजन्मरूप उपनयन संस्कारसे जातिकी मुख्यता और अनेकों प्रकारकी अनुलोम विलोम जातिके विभाग और उनकी योग्यतासे विविध श्रेणीभेद किये हुए स्पष्ट दिखते हैं । जिस दिन पृथ्वीपर आचारशील सुसंस्कृत श्रोत्रिय ब्राह्मणोंका आविर्भाव और वर्णाश्रम व्यवस्थाका प्रथम प्रचलन हुआ था, निःसन्देह उसी दिनसे द्विजाति कुलमें वर्णधर्म्म जातिधर्म्म, और कुलधर्म्मकी मर्यादा भी सुदृढ़ रूपसे स्थापित हो गयी थी । इस कारण-से ही श्रद्धेय परमर्षि अङ्गिराने "चित्रं कर्म्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः । ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥" जिस प्रकार एक एक कर, अनेकों रङ्गोंसे लिखा हुआ चित्र क्रमशः सर्वाङ्गसुन्दर सजीवसा बन जाता है; उसी प्रकार विधिपूर्वक गर्भाधानादि शास्त्रोक्त सब संस्कारोंसे सुसंस्कृत होनेपर ही यथार्थ द्विजत्त्व सिद्ध होता है ।

द्विजोंके गर्भाधानादि सब संस्कार और अग्निहोत्रादि नित्यकर्म्मका मूल भी 'श्रौतस्मार्त्त धर्म्म' है । साक्षात् धर्म्मके अवतार भृगु आदि परमर्षि और भगवान् मनु ही श्रौतधर्म्म और स्मार्त्त धर्म्मके प्रवर्त्तक हुए । यथा—"साक्षात् कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्-कृतधर्म्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्राहुः ।" नि० । तथा—"दाराग्नि-होत्रसम्बन्धमिज्या श्रौतस्य लक्षणम् । स्मार्त्तो वर्णाश्रमाचारो यमैश्च नियमर्युतः । पूर्वेभ्यो वेदयित्त्वेह श्रौतं सप्तर्षयोऽब्रुवन् । ऋचो यजूंषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गानि वै श्रुतिः । मन्वन्तरस्यातीतस्य स्मृत्वा

तन्मनुरब्रवीत्। तस्मात् स्मार्त्तःस्मृतो धर्म्मो वर्णाश्रमविभागशः ॥" म० पु० १४५ अ०। सुतरां, श्रौतस्मार्त्त के अन्तर्गत ही जातिधर्म्म, कुलधर्म्म, वर्णाश्रमधर्म्म और आचारधर्म्म आदि हैं; ये सभी ऋषियोक्त सनातन धर्म्मके अङ्ग हैं। इनका यथार्थ रूपसे पालन करनेसे ही सम्यक् धर्म्म-पालन होगा अन्यथा नहीं। जिससे जितनी त्रुटि इनके यथार्थ पालनमें रह जाती थी; ज्ञानप्रधान आदित्रेतायुगमें वही श्रेणी विभागमें क्रमशः उतनी ही नीची श्रेणी, नीची जाति, और नीच कुलका भी कहलाता था। धर्म्म और समाज-व्यवस्थाके प्रवर्त्तक शिष्टाचारकी इसीसे वेदादि सब शास्त्रोंमें बहुधा प्रशंसा की है। "अथ यदि ते कर्म्म-विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ताऽयुक्ताः अलूक्षाधर्म्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथा।" श्रुतिः तथा "आचारः परमो धर्म्मः सर्वेषामिति निश्चयः। हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति। आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गा अखिलाः सयज्ञाः। काम्प्रीति मुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीया।" "अथाचारान् प्रवक्ष्याम्याचाराल्लभते धर्म्ममाचा-रादेव धनमाचारादेव सुखमाचारादेव मोक्षमाप्नुयात्। विद्याविनाशे पुनरभ्युपैति जातिप्रणाशेत्विह सर्वनाशः। कुलापदेशेन हयोऽपि पूज्यः॥ श्रुतिप्रमाणानुकूल वशिष्ठ और गौतम ऋषि भी स्पष्ट लिख गये हैं कि आचार ही परमधर्म्म है, अनाचारी, अधर्म्मी अपने लोक-परलोक दोनों नष्ट करता है। जैसे अन्धेकी रूपवती स्त्रीका सौन्दर्य व्यर्थ होता है उसी प्रकार शिक्षा कल्प व्याकरण आदि छयों अङ्गसहित समग्र चारों वेदका घनान्त पाठ भी आचारहीन ब्राह्मणका निष्फल होता है। धर्म्मकी, धनकी, सुखकी और मोक्षकी भी प्राप्ति आचार शीलको अवश्य होती है। विद्या यद्यपि नष्ट भी हो जायगी तो पुनः पढ़नेसे, अभ्यास करनेसे आजायगी। परन्तु आचारदोषसे और अधर्म्माचरणसे, जातिका नाश तो सर्वनाश-का मूल ही है। कुलाचार अश्व (पशु) को भी पूजनीय बनाता है।

"दानं सत्यं तपो लोको विद्येज्या पूजनं दमः। अष्टौ तानि चरित्राणि शिष्टाचारस्य लक्षणम्। शिष्टा यस्माच्चरन्त्येनं मनुः सप्तर्षयश्च ह। मन्वन्तरेषु सर्वेषु शिष्टाचारस्ततः स्मृतः॥" म० पु०। दान, सत्य, तपस्या, लोकाचार, विद्याभ्यास, यज्ञ करना, भगवत्पूजन, इन्द्रियनिग्रह इन आठ कर्मोंका नित्य पालन करना ही शिष्टाचार है। शिष्टशिरोमणि मनु और सप्तर्षि, प्रति मन्वन्तरमें इसका आचरण सर्वथा करते हैं इसीसे यह शिष्टाचार कहलाता है। अतः जन्मभेद और आचरणभेदसे योग्यतामें तारतम्य होना ही जातिभेदका प्रधान कारण है। सुतरां, प्रथम त्रेतायुगसे ज्यों ज्यों सृष्टिका प्रवाह क्रमशः प्रबल होता चला, जन्म और योग्यताके भेदसे उत्तरोत्तर जातिभेद भी ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें तभीसे विशेष फैला। तात्पर्य्य यह कि ब्रह्माके मानसपुत्र भृगु आदि सप्तऋषियोंकी तपःप्रभावसे उत्पन्न अयोनिज संततिकी वृद्धिके समय कल्पारम्भके प्रथम सत्ययुगके अन्तमें केवल "पञ्चजाति" मात्र ऋषियोंकी उत्पत्ति और योग्यताके तारतम्यसे, जिस प्रकार विधिबद्ध हो चुकी थी, त्रेतायुगमें उससे विशेष अनेकों प्रकारकी जाति और उत्पन्न हुई; परन्तु सतयुगकी वह "पञ्चजाति" उन सभोंमें श्रेष्ठ ही मानी गयी।

कल्पभेद और युगभेदसे ब्राह्मणोंकी सत्यसंकल्पता और इनके तपः प्रभावमें भी बहुतसा अन्तर हो गया और तदनुसार असवर्णादि विवाह भी निषिद्ध हुए। इसलिये पहिले युगोंकी विचित्र सृष्टि सर्वथा वर्त्तमान युगमें इस समय नहीं दिखती है। "ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणःस्यान्न संशयः। क्षत्रियायां तथैवस्याद् वैश्यायामपि चैवहि।" भा० दा० धर्म्म। पहिले युगोंमें ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति, क्षत्रिय और वैश्यजातिकी माताके गर्भसे भी होती थी। उसीप्रकार नारद, द्रोण, अगस्त्य आदिकी कल्पान्तर युगान्तरोंमें ब्राह्मणोंकी सत्यसंकल्पताके कारणसे ही अयोनिज उत्पत्तिके भी अनेकों उदाहरण हैं।

परन्तु वर्त्तमानयुगमें ब्राह्मणोंमें उस सत्यसंकल्पताका भी सर्वथा अभाव है, और असवर्णाविवाहका चलन भी रोक दिया गया है। इसलिये अब उस प्रकारकी विचित्र सृष्टि ही नहीं होती। ब्राह्मणकी सत्यसंकल्पता और अपनी परमउग्रतपस्याके अपूर्व प्रभावसे विश्वामित्रजी जिस प्रकार क्षत्रियसे ब्राह्मण हुए थे; उसी प्रकार पूर्वके युगोंमें राजा वीतहव्य, राजा प्रतर्द्दनसे युद्धमें हारकर परमर्षि भृगुजीकी शरणमें जब जा पड़े थे; तो सत्यसंकल्प तपस्विश्रेष्ठ भृगु महाराजके कथनमात्रसे ही वह भी क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गये थे। ऐसे ही दृष्टान्त कई एक और भी हैं।

त्रेतायुग ज्ञानप्रधान युग था; वर्णाश्रमधर्म्मकी सर्वप्रथम कार्य्यतः प्रवृत्ति उसी युगमें हुई थी; विशेषतः कल्पारम्भके प्रथम त्रेतायुगमें एक तो केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णमात्रही उत्पन्न हुए थे, दूसरे ब्राह्मणोंको भी पूर्ण धर्म्मबलसे समाजशासन करनेकी अतुलनीय शक्ति थी और राजा भी अपूर्व शक्तिसामर्थ्यवाले सभी पूर्णतया राज्यशासनमें समर्थ थे। सुतरां, राज्य और समाजके अधिष्ठाता और रक्षक श्रद्धेय ब्राह्मण और तेजस्वी राजा धर्म्मदण्डसे समाजको नियमितरूपसे शासन करनेमें सदा सन्नद्ध और दत्तचित्त रहते थे। इससे धर्म्मकर्म्ममें त्रुटि होनेसे अथवा वर्ण और स्वभावमें किसी कारणविशेषसे अन्तर पड़नेपर भी उस समय मनुष्योंको अपनी समाजके अन्तर्गत रहना असाध्य और असम्भव था। परन्तु कल्पारम्भके प्रथम त्रेतायुगमें प्रायशः ऐसी विश्रृङ्खला असम्भव थी। कारण, एक तो तबतक ब्राह्मण क्षत्रिय दो ही वर्णकी स्वल्पसंख्यक प्रजा थी, दूसरे स्वधर्म्मप्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल और स्वाभाविक थी। बहुत कालके पीछे, जब पहिले द्वापरयुगकी प्रवृत्ति हुई, तब पृथ्वीका अधिकांश समुद्रके गर्भसे बाहर निकल आया था और प्रजाकी विशेषवृद्धि भी हो गयी थी; परन्तु कृषि और वाणिज्यके विना प्रजाको जीविकार्थ विशेष उद्यम कष्ट और

आयास स्वीकार करना पड़ता था। सुतरां, अपने उपयुक्त समयपर सुमेरुशिखरके दक्षिणकी पीतवर्णकी भूमिमें ब्रह्माकी अपूर्व सृष्टिरचना-चातुरीसे पीतवर्णके वैश्य और सुमेरुकी पश्चिमकी कालीधरतीसे कृष्णवर्णके शूद्र भी कल्पारम्भके प्रथम द्वापरयुगमें ही सर्वप्रथम क्रमसे स्वतः उत्पन्न हुए। महाभारत भीष्मपर्वमें भी इस विषयको लिखा है— "जाताः कृतयुगे राजन् धनिनः प्रियदर्शनाः। प्रजायन्ते च जाताश्च मुनयो वै तपोधनाः॥ महोत्साहा महात्मानो धार्म्मिकाः सत्यवादिनः। प्रियदर्शनावपुष्मन्तो महावीर्य्याधनुर्धराः। वरार्हा युधिजायन्ते क्षत्रियाः शूरसत्तमाः। त्रेतायां क्षत्रिया राजन् सर्वे वै चक्रवर्त्तिनः। आयुष्मन्तो महावीरा धनुर्धरवरा युधि। जायन्ते क्षत्रियाः शूरास्त्रेतायां वशवर्त्तिनः। सर्वे वर्णा महाराज जायन्ते द्वापरे सति। महोत्साहा वीर्य्यवन्तः परस्परजयैषिणः॥ तेजसाल्पेन संयुक्ताः क्रोधनाः पुरुषा नृप। लुब्धा अनृतकाश्चैव तिष्ये जायन्ति भारत॥" सतयुगमें दर्शनीय मूर्त्ति तपोधन ब्राह्मणोकी उत्पत्ति हुई। त्रेतामें वीर क्षत्रियोंकी और द्वापरमें वैश्य और शूद्रवर्णकी भी उत्पत्ति हुई और होती आयी है। अवश्य, यह कल्पारंभकी पहिली चौकड़ीकी व्यवस्था है। कारण, सुमेरु शिखरके पूर्वतटकी श्वेत वर्णकी भूमि जितनी ऊंची थी, उतनी उत्तर और दक्षिणकी ऊंची नहीं थी। इसलिये कल्पारम्भके आदियुगमें केवल ब्राह्मण वर्णकी जन्मभूमिमात्रका समुद्रगर्भसे वहिर्गत होना ही स्वभावसिद्ध था। तदनन्तर उससे कम ऊंची सुमेरुके उत्तर प्रदेशकी भूमिके जलसे बाहर आजानेपर आदित्रेतायुगमें जैसे क्षत्रियोंके आदि पुरुषोंने शरीर धारण किया था, उसी प्रकार कल्पके पहिले द्वापरके आदिमें सुमेरुके दक्षिणकी पूर्वापेक्षा नीची भूमिपर समयपर वैश्योंके आदिपुरुष भी उत्पन्न हुए थे। कल्पारंभके उस प्रथम द्वापरमें ही शूद्र भी वैश्योंकी उत्पत्तिके कुछ दिनों बाद अपनी जन्मभूमिमें उत्पन्न हो गये थे। सुतरां, कल्पारम्भके प्रथम द्वापरमें ही चारों वर्णोंके

मनुष्योंसे भारतभूमि सबसे पहिले सुशोभित हुई थी। इस प्रथम द्वापर युगके पहिले तो चारों वर्णों की सृष्टि ही नहीं हुई थी। शास्त्रमें जहां कहीं सतयुग वा त्रेतामें भी चारों वर्णों का वर्णन आता है उसे कल्पारम्भके प्रथम चतुर्युगका वर्णन न समझना चाहिये। वह अन्ययुगोंका विषय है। वेद मन्त्रोंमें ब्रह्माके मुख बाहु जंघा और पांवसे चारों-वर्णोंके आदि पुरुषोंकी उत्पत्तिके वर्णनमें जिस प्रकार उनके गुण, धर्म्म, उत्पत्ति और स्वभाव आदिका परिचय बुद्धिमानोंको प्राप्त होता है; उसीप्रकार सर्वोच्च मस्तकसे पांव तक क्रमशः चारों अङ्गोंकी निम्नता, इन चारों वर्णों की जन्मभूमिकी निम्नताके क्रमको भी उत्तम रीतिसे निर्देश करती है। शरीरमें मुख जिस प्रकार सब अङ्गोंमें ऊंचा और उत्तमाङ्ग है, उसी प्रकार ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न इन सारस्वत ब्राह्मणोंकी जन्मभूमि भी पृथ्वीमें सब प्रदेशोंसे ऊंची और उत्तम भूमि थी। बाहुमूल, मुख और मस्तकसे नीचा है, वैसे ही क्षत्रियोंकी जन्मभूमि भी ब्राह्मणोंकी अपेक्षा निम्न प्रदेशमें ही थी। गर्भकी उत्पत्तिमें भी सबसे पहिले मस्तक सहित मुखकी उत्पत्तिके पीछे ही हाथ, पांव आदिकी उत्पत्ति होती है। वैसे ही ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिके पीछे ही प्रतिकल्पारम्भमें क्षत्रियादिकोंकी भी सृष्टि होती है। सृष्टिका यही क्रम स्वाभाविक है।

उस समय वर्णाश्रम धर्म्मकी प्रथम ही प्रथम पूर्णतया प्रवृत्ति हुई थी। सुतरां, धर्म्म कर्म्ममें त्रुटि होनेसे मनुष्य, वर्ण और जातिसे एकदम निकाल कर अलग कर दिये जाते थे। एक जातिसे भिन्न होकर पुनः जिस वर्ण वा जातिके योग्य गुण धर्म्म उनमें पाये जाते थे उसीके अन्तर्गत उन्हें होना पड़ता था। शास्त्रोंमे —"कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधना प्रियसाहसाः। त्यक्तस्वधर्म्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः। गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः। स्वधर्म्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यताङ्गताः। हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः। कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजा शूद्रताङ्गताः।

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरङ्गताः ॥" म० भा० शा० प० ।
कामी, भोगी, तीखेस्वभावके, अतिसाहसी, रक्तवर्णके, स्वधर्मत्यागी ब्राह्मण तो क्षत्रिय · पशुपालक कृषिसे जीविका चलानेवाले पीत वर्णके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और हिंसापरायण झूठे लोभी वैधअवैधकर्म-मात्रसे उपार्जन करनेवाले काले रंगके द्विजातिमात्र शूद्र बना दिये जाते थे। यह व्यवस्थाही प्रथम द्वापरयुगकी अति प्रबल समाजशासननीतिकी परिचायिका और पूर्वके युगोंकी वैदिक पवित्र समाजका सजीव चित्र भी है। धर्मबलके साथ राजशक्तिके मिले रहनेसे, कल्पारम्भके प्रथम द्वापर और उसके बादके युगोंमें ही समाजकी ऐसी सुदृढ़ और सुन्दर सुव्यवस्था थी। पूर्वके उन्हीं युगोंकी सुव्यवस्थाका परिचय इन वचनोंसे होता है। वर्णधर्म्म और आश्रमधर्म्म प्रथमावस्थामें ही अपने यथार्थ रूपमें पूरी मर्यादापर स्थित थे, इसमें सन्देह नहीं। दुःखका विषय है कि सामाजिक इस प्रबल नियमकी कार्यकारिताको अबके अङ्गरेजी पढ़ लिखे यह समझते हैं कि वर्णभेद ही इसी रीतिसे उत्पन्न हुआ था; परन्तु मूल चारों वर्णोंकी उत्पत्ति और स्थितिके ठीक समझनेसे यह भ्रम उनका दूर हो जायगा। विलायती शिक्षागुरुओंके अन्ध विश्वासी चेले, जब कि गुरुओंके अनुसार, गौर और कृष्ण इन दो वर्णोंको आर्य्य और अनार्य्य-का मूलवर्ण मानते हैं। तब मनुष्योंसे प्रारम्भकर खनिज उद्भिज आदि पार्थिव सभी पदार्थोंमें इन मूल चारों वर्णोंको प्रत्यक्ष देखकर भी क्यों नहीं मानते? आग्रह और हठके सिवाय यौक्तिक कारण तो इसका कोई नहीं दिखता।

प्रथम त्रेतायुगकी आदिमें यज्ञके अनुष्ठानकी प्रक्रिया अग्निहोत्री श्रोत्रिय ब्राह्मणोंने ही चलायी थी; श्रौत और स्मार्त्त अग्निके भेदसे इनमें मुख्य दो भेद तो पहिले ही उत्पन्न हुए थे। फिर होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता ये चार ऋत्विज् तो हवनमें प्रधान होते ही हैं। इन प्रत्येक ऋत्विजोंके साथ सहकारी कर्मचारी तीन तीन इस भाँति और

भी हुए। जैसे—मैत्रावरुण, अच्छावाक, ग्रावस्तुत् (होताके साथ), प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता (अध्वर्युके) ब्राह्मणाच्छंसी, अग्नीध्र, पोता (ब्रह्माके) प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता, और सुब्रह्मण्य, (उद्गाताके) सब मिलकर ये, सोलह और एक गृहपति इस रीतिसे १७ अपने कार्य्यके पूरे अभिज्ञ साङ्गवेदाध्यायी सात्त्विकब्राह्मणोंकी तो एक सोमयज्ञके करनेमेंही आवश्यकता हुई। दूसरे यज्ञोंमें विशेषता अधिकार भेदसे क्रमशः और भी बढ़ी। "त्वमध्वर्युरुतहोतासिपूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः" ऋ० १—९४—६ इस मन्त्रसे भी पुरोहितका पद इनसे स्वतन्त्र ही दिखता है। मन्त्र, संहिता और शाखाओंके अगण्य भेद सहित स्वध्यायी कर्म्मठब्राह्मणोंकी योग्यतानुसार यज्ञकर्म्ममें अधिकारभेदकी यह व्यवस्था प्रथम त्रेताके प्रारम्भमें ही चली थी। वही क्रमशः कुलपरम्पराकी वृत्ति ही स्थिर होगयी और कालान्तरमें उससे भी जातिभेद उत्पन्न हुआ। इन पुरोहितोंके कुलका क्रमशः यहां तक अधिकार बढ़ा कि राजा भी बिना इनके यज्ञकर्म्म आदि किसी दूसरेसे नहीं करा सकते थे। शास्त्रकर्त्ता दूरदर्शी ऋषियोंने इसी कारण ब्रह्मणत्वका लक्षण ही इन वैदिक श्रौत-स्मार्त्त कर्म्मोंके अनुसार विधिबद्ध किया था। यथा—"जात्या कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च। एभिर्युक्तो हि यस्तिष्ठेन्नित्यं स द्विज उच्यते॥" यथोक्त सुसंस्कृतब्राह्मणपितामाता और वेदोक्त उपनयनसंस्कारसे तो जाति, प्रशंसित श्रोत्रियकुल, शास्त्रविहित शुद्ध उपजीविका और शिष्टाचार, नित्यवेदाध्ययन और शास्त्रकी बहुज्ञता, जिसमें इतने लक्षण हों वही यथार्थ द्विजन्मा ब्राह्मण है। तात्पर्य इस लक्षण बनानेका यही था कि जिसमें भविष्यमें ब्राह्मण मूर्ख वा अनाचारी और नीच कुलके न हो जाँय; क्योंकि जिस परिमाणसे ये गुण कमते जायँगे उसी परिमाणसे ब्राह्मणवर्णमें वह नीची श्रेणीका भी गिना जायगा। यथार्थमें तो ब्राह्मणोंमें जातिभेद इस रीतिसे, गुण और योग्यताके तारतम्यसे ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था। इस प्रकारसे आदित्रेता और

द्वापर युगमें गोत्र, जाति, कुल, वृत्ति, चरणशाखासहित वेदपाठ, श्रोत्रियत्व, शिष्टाचार, पाण्डित्य, कर्म्मठता, विवाह आदि भेदसे ही ब्राह्मणोंमें बहुत प्रकारका जातिभेद उत्पन्न होगया था।

इधर, राज्यशासनकी मर्यादाके प्रतापसे उस प्रथम द्वापरयुगमें ही सुमेरुके दक्षिण भूप्रदेशसे उत्पन्न पीतवर्णके इन वैश्योंने भी भारतके सारस्वतदेशमें आकर ही सबसे पहिले कृषि और वाणिज्य द्वारा देशकी धनसम्पत्तिका बढ़ाना प्रारम्भ किया था। सम्भव है कि इनके सबसे पहिले कर्षण करनेके कारण पञ्जाबमेंही "सैरीन्ध्र" नामक देश (सिरहिन्द) की भी सृष्टि हुई थी। क्यो कि "सीर" हल को कहते हैं। 'सीरं हलन्धरतीति सीरन्ध्रः कृषकः तस्यायं सैरीन्ध्रः'। सीरधारी हलधारोंका कर्षित प्रदेश ही 'सैरीन्ध्र देशके नामसे प्रसिद्ध हुआ। अबतक उसदेशमें भूमिविशेष उर्वरा है। अन्न भी सर्वोत्तम होता है। इसीको न समझ, बादशाहों ने केवल ऊँचा प्रदेश विचार, सरहिन्द नाम किया। पृथिवीका भी अधिकांश समुद्रसे बाहर निकलकर मनुष्योंके बसनेयोग्य इस समय होचुका था, सुतरां, क्रमशः ग्राम, नगर, जनपद, आदिसे वह भूखण्ड बसगया। प्रतापी राजाओंको भी अब अपने अधिकार और राज्य बढ़ानेकी सूझी। कुलपुरोहित और मन्त्री तो पहिले ही इनके सारस्वत ब्राह्मण होचुके थे। अब उनकी सुपरामर्शसे जयी होकर जिस राजाने जहाँ अपनी राजधानी स्थापित की, उसके पुरोहित और मन्त्रिवर्गीय ब्राह्मणोंको भी राजाकी राजधानीमें ही जा बसना पड़ा। एकदेशसे दूसरेदेशमें सारस्वतोंके जा बसनेका यही प्रधानकारण हुआ। उत्तमसे उत्तम बहुज्ञ बुद्धिमान कुलीन श्रोत्रियसारस्वत ही राजपुरोहित बनाये गये थे। कारण, पौरोहित्य और मन्त्रित्व दोनों काम ही कुलपुरोहितके मुख्य थे। ऐसे दायित्वपूर्णकाममें सबसे योग्य मनुष्यको नियुक्त करना ही स्वाभाविक था। इसीसे सबसे पहिले राजापृथूने और उससे पीछे भी चन्द्रवंशी

सूर्य्यवंशी अनेकों श्रेष्ठराजाओंने परमर्षि श्रेष्ठ भृगुजी और उनके वंशजों-कोही अपना कुल पुरोहित माना। सूर्य्यवंशी इक्ष्वाकु राजाके कुलपुरोहित वशिष्ठजी हुए। इसीप्रकारसे भरद्वाज, गौतम, आत्रेय, कश्यप आदि प्रधान ऋषियो को राजपुरोहितके कार्य्यमें प्रथम त्रेतायुगकी आदिमें नियुक्त होना पड़ा था। जिस ऋषिको जिस राजाने अपना पुरोहित किया भविष्यमें उसी ऋषिके उत्तराधीश वंशजोंकी वह कौलिक पुरोहित-वृत्ति स्थिर होगयी। यजमान पुरोहित दोनों इसनियमको पालन करने-में बाध्य हुए। इसमें जरा भी चलविचल करनेकी सामर्थ्य किसीको न रही। जहाँ किसीने इस नियमका भंगकिया साथ ही घोर उपद्रव भी हुआ। इक्ष्वाकुकुलपुरोहित वशिष्ठजीका और राजा निमिका इसी कलह-से जन्मान्तर पर्य्यन्त हो गया था। राजानिमिके कुलपुरोहित वशिष्ठजीने निमिराजाकी प्रार्थनापर यह कहा था कि "पहिले इन्द्रको यज्ञ करा आवे तब तुम्हें यज्ञ करा देंगे"। इस पर निमिराजाने कहा कि "धर्मकार्य्यमें विलम्ब करना नीतिविरुद्ध है। क्योंकि जीवनकी स्थिरता नहीं और मौत किसीके लिये भी कालविलम्ब वा प्रतीक्षा करनेवाली नहीं। यज्ञके सब पदार्थ संगृहीत हैं। यद्यपि आप यज्ञ न करावेंगे तो अगत्त्या दूसरे-से कराना पड़ेगा।" तथापि वशिष्ठजीके उपस्थित न होनेसे राजा निमि-ने गौतमऋषिसे यज्ञकराया था। इसीपर वशिष्ठजीने निमिको और निमिराजाने भी वशिष्ठजीको शाप दिया था। सभी पुराणोंमें प्रायः इसका वर्णन विस्तारपूर्वक है। वशिष्ठजीके शापसे निमिको देहत्याग करनापड़ा था और निमिके शापसे वशिष्ठजीको भी मैत्रावरुणके वीर्य्यसे दूसराजन्म लेनापड़ा था। ऋग्वेदमें भी यह अतिप्राचीन इतिहास आता है। विष्णुपुराणमें भी लिखा है "तच्छा पाच्चमित्रावरुणयोस्तेजसि वशिष्ठतेजः प्रविष्टम्। उर्वशी दर्शनात् उद्भूतवीर्य्यप्रपातयोः सकाशात् वशिष्ठो देहमपरं लेभे"। तथा—"उतासिमैत्रावरुणो वशिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः। द्रप्संस्कन्नं ब्रह्मणादैव्येन विश्वेदेवा पुष्क

दैत्वाद्‌दन्त । १० । सत्रे हजाता विषिता नमोभिः कुम्भे रेता सिसिचतुः समानम् । ततोहमान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वशिष्ठम् ॥१३। ऋग्वेद म० ७—३३ । इसीकी व्याख्या निरुक्तमें भी है । तात्पर्य्य यह कि निमि और वशिष्ठके समयसे ही कुलपुरोहितों का स्वत्त्व ऐसा सुदृढ़ होगया था कि उसीके अपरिवर्त्तित रखनेमें वशिष्ठ जैसे ऋषिको भी शरीरत्याग करना पड़ा । इसलिये यथासाध्य कोई भी न तो पुरोहित बदलता था न, ब्राह्मणोंके इस कौलिक परम्परागत सुदृढ़ स्वत्वाधिकार-के उच्छेदकी वासना ही करसकता था । इस रीतिसे जब ब्राह्मणोंका "कुलपुरोहितस्वत्त्व" सुदृढ़ हो गया और धार्म्मिकराजा, पुरोहितोंकी आज्ञासे नित्य ही यज्ञानुष्ठानमें पुष्कल दान, दक्षिणा, मान और सत्कार पूर्वक, सारस्वतकुलाग्रगण्य: ब्राह्मणोंको देनेलगे, तब निस्सन्देह कुछ-दिनोंमें प्रायः सभी राजपुरोहितकुल सर्वथा सम्पन्न और विशेष धनवान् होगये । इधर क्षत्रियोंको भी कालान्तरमें राजमद और अधिकारबलका घमंड क्रमशः अन्धा करने लगा । विशेषतः भावी सबसे प्रबल होती है; इससे आपसमें यजमान पुरोहितोंके विरोधकी अग्निके सुलगनेका समय भी देखतेही देखते बहुतदिनों बाद उपस्थित होगया । "मिथोभेदाद् ब्राह्मण क्षत्रियाणां प्रजादुःखं दुःसहआविशन्ति ।" म० भा० । ब्राह्मण क्षत्रियोंमें अब पुरोहित यजमानोंके परस्पर विरोधसे भारतमें घोर कष्टकासमय उपस्थित हुआ ।

विचारनेसे चन्द्रवंशीराजाओंका राज्यप्रताप सबसे पहिले विशेष हुआ था, यह मानना ही पड़ता है । इला और इलावृत्तवर्षकी कथाको छोड़ देनेपर भी सबसे पहिला महाराजा पृथु भी चन्द्रवंशी ही हुआ दिखता है ; जिसके राज्यशासनप्रतापका निदर्शन आजतक इस पृथ्वी नामसे ही पायाजाता है । राज्यका मद भी बड़ा ही कठिन होता है । एक समय राजा पुरूरवा भी मदमत्त हो ब्राह्मणोंको सताने और लूटने मारने लगे थे । ये चन्द्रवंशी राजाओंके

आदिपुरुष थे। भृगुकुलके ब्राह्मण ही इनके पुरोहित थे। पंजाबकी रावी नदीके तीरपर मद्रदेशमें इनका राज्य था। महाभारत आदि पर्वमें लिखा है--"विप्रैः स विग्रहंचक्रे वीर्य्योन्मत्तः पुरूरवाः। जहार च स विप्राणां रत्नान्युत्क्रोशतामपि। ततो महर्षिभिः क्रुद्धैः सद्यः सतो व्यनश्यत।" अन्तको ब्राह्मणोंके शापसे ही यह नष्ट भी हुए थे। इनके पीछे इनसे बढ़ बढ़कर इन्हींके पौत्र राजा नहुष अत्याचारी हुए। उक्त चन्द्रवंशीय पुरूरवा राजाके पौत्र, प्रतापी महाराज नहुषने अपने बाहु-बलसे इन्द्रके सिंहासनका अधिकार भी कर लिया था। इससे राजा नहुष-ने ही विशेष मदमत्त हो सबसे बढ़कर ब्राह्मणोंपर घोर अत्याचार किया था। यहाँतक कि पशुओंकी भाँति बिचारे निरीह सहस्रों तपस्वी ब्राह्म-णोंको अपने रथमें जोता और उनसे अपनी पालकी तक उठवायी।

जिस प्रकार चन्द्रवंशी राजा, राज्याधिकार धन सम्पति आदिसे विशेष सम्पन्न होगये थे; उसी प्रकार सारस्वत सप्तर्षियोंके वंशमें भृगुवंशी ही सर्वप्रथम दैत्यकुलसे विपुल धन सम्पति पाकर ऋषियोंमें सबसे विशेष सम्पन्न और प्रभाववाले हुए थे। भृगुऋषिसा तपोबल, प्रभाव, बुद्धिबल, संजीविनीविद्या जैसी अपूर्वविद्या और धनसम्पन्नकुल, ऋषियोंमें दूसरा कोई भी नहीं था। इसलिये जब ब्रह्माके इस वरदानसे कि "जिससे सामना होगा उसीका तेज़ नहुषमें आजायगा" अजेय, नहुष राजाने ब्राह्मणोंपर घोर अत्याचार किया था; उस समय भी भृगु ऋषिकी तीव्र वुद्धिसे ही राजा नहुषको सर्पत्वप्राप्ति हुई थी। (स्मरण रहे कि पुरूरवाके पौत्र महाराजा नहुष भी सुप्रसिद्ध भृगुकुलके ही यज-मान थे।) लिखा है----"अथागस्त्यमृषिश्रेष्ठं वाहनायाजुहाव ह। द्रुतं सरस्वतीकूलात् स्मयन्निव महाबलः। ततो भृगुर्महातेजा मैत्रावरुणिमब्र-वीत्। निमीलयस्व नयने जटां यावद् विशामि ते'''तन्तु राजा प्रतोदेन। नोदयामास भारत; न चुकोप स धर्म्मात्मा ततः पादेन देवराट्। अग-स्तस्य तदाक्रुद्धो वामेनाभ्य हनच्छिरः। तस्मिञ्छिरस्यभिहते स जटान्त-

गतो भृगुः । शशाप बलवत्क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम् । यस्मात्पदाऽहनः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम् । तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते ! इत्युक्तः स ततस्तेन सर्पो भूत्वा पपात ह ।" अ० ९९ अनु० । महाभारतके अनुशासन पर्वमें यह कथा है कि सारस्वतऋषिश्रेष्ठ अगस्त्यजीको सरस्वतीतीरसे बुलाकर, एक समय मदमत्त राजा नहुषने मुसक्याकर हँसते हुए, सवारीमें जोता। त्रिकालज्ञ भृगुऋषि पहिलेसे ही उनकी रक्षा और नहुषको दण्ड देनेको अगस्त्य ऋषिको समझाकर योगबलसे सूक्ष्मशरीर धारण कर, उनकी जटामें छिप रहे थे। जब कोड़े और चाबुकोंसे मारकर नहुषने अगस्त्यजीको चलाया तब जान बूझकर ही उन्होंने क्रोध न किया। इसपर राजा नहुषने विशेष क्रुद्ध हो जैसे ही बलपूर्वक अगस्त्यऋषिके सिरमें बाँई लात मारी, वैसे ही भृगुजीने अत्यन्त क्रोधसे राजा नहुषको शाप दिया कि "रे दुर्बुद्धि तू सर्प होकर पृथ्वीपर विचर।" जटाके मध्यसे ऋषिश्रेष्ठ भृगुजीके मुखसे इनशब्दोंके निकलते ही उसी घड़ी राजा-नहुष भूमिपर सर्प होकर गिरा। राजानहुषको तपोबल, बुद्धिबल और ब्रह्मतेजसे, ऐसी अपार दुर्गति हुई देखकर, क्षत्रिय राजकुलकी बुद्धि कुछ ठिकाने तो अवश्य आगयी थी; क्योंकि नहुषके पीछे सारस्वत ब्राह्मणोंपर वैसा घोर अत्याचार बहुत दिनोंतक दूसरेने नहीं किया था। परन्तु इस क्षत्रिय राजवंशके हृदयमें तभीसे अपने कुलपुरोहितोंसे गुप्त बैरका मानों बीज बोया गया। कारण, ब्राह्मणों जैसा स्वाभाविक सरलहृदय क्षत्रियोंका नहीं होता। रजोगुणकी प्रधानताके सहित तमका अंश मिला रहनेसे, औसर पानेपर बहुत दिन बाद भी बदला लेना और हृदयमें गुप्तभावसे पोषित क्रोधाग्निको समयपर दहकाकर कार्य्य में लाना. क्षत्रियोंका स्वभावसिद्ध धर्म्म ही है। इससे चन्द्रवंशीय राजा गुप्तभावसे हृदयमें द्वेषका पोषण करते, औसर देखते रहे। कालान्तरमें जब चन्द्रवंशकी वृद्धि विशेष हुई और इसका उदय और

तालजंघ नामकी दोनों शाखा विशेष पराक्रमी राजाओंसे अत्यन्त पुष्ट हो गयीं ; तब राजाकृतवीर्य्य के हैहयवंशी राजाओंने आपसमें गँठकर, कुलपुरोहित भृगुऋषिकी विशेषधनसम्पन्न सन्ततिसे अपने चिरपोषित द्वेषके चरितार्थकरनेका यथार्थ औसर हाथ आया समझ, यह कहा कि "ब्राह्मणोंको धनसे क्या प्रयोजन है ? हम राजा हैं, पृथ्वीका धन सब हमारा ही है। अतएव तुम्हारे घरमें जो बहुतसा चिरकालका संचित विशेषतः हमारेही पूर्व पुरुषोंका दिया हुआ धन है, सो तुम इस समय हमको दे दो ; विशेष आवश्यकता है।" ब्राह्मणोंने "कहा यह हमारा और हमारे पूर्वजोंका न्यायोपार्जित धन है। बलपूर्वक इसकाछीन लेना राजाका धर्म्म नहीं। हमारी इच्छा इस धनको पास रक्खें, या दान करें इसमें राजाका बलप्रयोग सर्वथा धर्म्मविरुद्ध है।" परन्तु हैहयवंशी राजा और राजपुत्रोंने ब्राह्मणोंकी एक न सुनी। तब भयभीत भृगुवंशी सारस्वतोंने अपने घरोंमें भूमिमें धन गाड़ दिया, कितनोंने पुण्य दान भी कर दिया। परन्तु अनेकों ब्राह्मणोंने उपायान्तर न देख उन्हींको देदिया। तथापि उन दुष्ट राजाओंने ब्राह्मणोंके घरसे बलपूर्वक खोद खोद कर धन निकाललिया और उन ब्राह्मणोंको शरणागत होनेपर भी बालबच्चोंके सहित राक्षसोंकी भांति पूरी निर्दयतासे काटना मारना प्रारम्भ करदिया। यहां तक अपने कुलपुरोहितोंका बीजनाश किया कि गर्भिणी बिचारी निरीह ब्राह्मणियोंके गर्भके बालकोंके नाश करनेसे भी हत्यारे हैहयकुलके दुष्ट क्षत्रिय कुण्ठित न हुए। अपने कुलपूज्य पुरोहित भृगुवंशके ब्राह्मणमात्रका इन यजमान राजाओंने वध किया। एकको भी जीता न छोड़ा। तब सर्वथा निराश्रया अनाथ विधवा ब्राह्मणी बिचारी भागकर हिमालय पर्वतकी खोहमें, जंगलोंमें, आश्रय लेने लगीं"। उनके बीचमें केवल एक ही गर्भिणी किसी प्रकारसे निकल भागनेपायी थी। उस तपस्विनीने वंशरक्षक पुत्रका मुखावलोकनकरनेकी आशा से अपने गर्भको गुप्त रक्खाथा ; परन्तु किसी डाहकीमारी

राजभयभीता दुष्टाने जाकर हैहयराजपुत्रोंको गुप्तरीतिसे उसके गर्भका समाचार दे ही तो दिया। सुनतेही सबके सब हैहय अस्त्रशस्त्रोंसे लैस हो हिमालयकी उस कन्दरातक तुरंत जा ही पहुंचे। वहां उस अबला स्त्रीको मार डालनेकी इच्छासे पिशाचवत् शस्त्रप्रहार करनेकी चेष्टा करते ही गर्भस्थ अपूर्वतेजस्वी बालक ईश्वरेच्छासे माताकी जंघा (ऊरू) विदीर्णकर राजाओंके साम्हने प्रलय कालके सूर्य सा तेजःपुञ्ज उदित हुआ। उस बालकके असहनीयतेजसे सब हैहयवंशी राजा उसी घड़ी अंधे होगये और पहाड़ीके पत्थरोंपर गिरते पड़ते उस जङ्गलमें ठोकरें खाते हुए बुरीदशाको पहुँचे। अन्तको हारकर इन अन्धोंने उस अद्वितीयतेजस्वी ऋषिपुत्रकी मातासे प्रार्थना की कि "हमारी दुष्टताका अब तुम कृपापूर्वक ध्यान न करो, हम सवतरहसे परम नीच और नालायक होनेपर भी तुम्हारे ही यजमान हैं ; दयाकर हमें नेत्रदान दे, जीवन्मृतकोंको पुनः सजीव करो।" इसपर उस तेजस्वी बालककी माताने कहा "मैंने तुम्हारे नेत्र भी नहीं फोड़े ; और मुझे अब तुमपर क्रोध भी नहीं है। परन्तु मैं तुम्हारे नेत्र नहीं देसकती हूँ। तुम मेरे उसी अपूर्व तेजस्वी भृगुकुलरक्षक एकमात्र प्रियपुत्रसे प्रार्थना करोगे तो वह दयासागर है, तुम्हें अन्धेसे सुजाखा भी कर देगा। शीघ्र उसीकी शरण जाओ। जब तुमने भृगुकुलका विनाश किया था, गर्भतकके बच्चोंको भी जीता नहीं छोड़ा था, उस समय मैंने तपोबलसे सौ वर्षतक इस गर्भको ऊरू अर्थात् जङ्घामें छिपा रक्खाथा। यह तेजस्वी ऐसा प्रतापशील हुआ कि गर्भमेंही सांगवेद मूर्त्तिमान इसको प्राप्त हुए थे। ऊरूसे उत्पन्न हुआ मेरा यह पुत्र और्व नामसे प्रसिद्ध है ; वही तुम्हारे नेत्र पुनः प्रदान करेगा।" जब महात्मा और्वसे अन्धे हैहयवंशी उन यजमान राजाओंने आकर प्रार्थना की, तो उदारहृदय और्वकी कृपासे वे सब पुनः आंखोंवाले होगये। महाभारत में भी इसका सुन्दर वर्णन इस प्रकार आता है—

"कृतवीर्यइति ख्यातो बभूव पृथिवीपतिः। याज्यो वेदविदां लोके भृगूणां पार्थिवर्षभः। स तानग्रभुजस्तात! धान्येन च धनेन च। सोमान्ते तर्पयामास विपुलेन विशाम्पते। तस्मिन्नृपतिशार्दूले स्वर्यातेऽथ कथञ्चन। बभूव तत्कुलेयानां द्रव्यकार्यमुपस्थितम्। भृगूणान्तु धनं ज्ञात्वा राजानः सर्व्व एव ते। याचिष्णवोऽभिजग्मु स्तांस्ततो भार्गवसत्तमान्। भूमौ तु निदधुः केचिद् भृगवो धनमक्षयम्। ददुः केचिद्द्विजातिभ्यो ज्ञात्वा क्षत्रियतो भयम्। भृगवस्तु ददुः केचित्तेषां वित्तं यथेप्सितम्। क्षत्रियाणां तदा तात! कारणान्तरदर्शनात्। ततो महीतलं तात! क्षत्रियेण यदृच्छया। खनताधिगतं वित्तं केनचिद्भृगुवेश्मनि। तद्वित्तं ददृशुः सर्व्वे समेताः क्षत्रियर्षभाः। अवमन्यततः क्रोधाद्भृगूंस्ताञ्छरणागतान्। निजघ्नुः परमेष्वासाः सर्वांस्तान्निशितैः शरैः। आगर्भादवकृन्तन्तश्चेरुः सर्वां वसुन्धराम्। तत उच्छिद्यमानेषु भृगुष्वेवं भयात्तदा। भृगुपत्न्यो गिरिं दुर्गं हिमवन्तं प्रपेदिरे। तासामन्यतमा गर्भं भयाद्दध्रे महौजसम्। ऊरुणैकेन वामोरुर्भर्त्तुः कुलविवृद्धये। तद्गर्भमुपलभ्याशु ब्राह्मण्यास्तु भयार्द्दिता। गत्वैका कथयामास क्षत्रियाणामुपह्वरे। ततस्ते क्षत्रिया जग्मुस्तं गर्भं हन्तुमुद्यताः। ददृशुर्ब्राह्मणीं तेऽथ दीप्यमानां स्वतेजसा। अथ गर्भः स भित्त्वोरुं ब्राह्मण्यां निर्जगाम ह। मुष्णन् दृष्टीः क्षत्रियाणां मध्याह्न इव भास्करः। ततश्चक्षुर्विहीनास्ते गिरिदुर्गेषु बभ्रमुः। ततस्ते मोहमापन्ना राजानो नष्टदृष्टयः। ब्राह्मणीं शरणं जग्मुर्दृष्ट्यर्थं तामनिन्दिताम्। ऊचुश्चैनां महाभागां क्षत्रियास्ते विचेतसः। ज्योतिःप्रहीणा दुःखार्त्ताः शान्तार्च्चिष इवाग्नयः। भगवत्याः प्रसादेन गच्छेत् क्षत्रं सचक्षुषम्। उपरम्य च गच्छेम सहिताः पापकर्मणः। सपुत्रा त्वं प्रसादं नः कर्त्तुमर्हसि शोभने! पुनर्दृष्टिप्रदानेन राज्ञः सन्त्रातुमर्हसि। ब्राह्मण्युवाच। नाहं गृह्णामि वस्ताता! दृष्टीर्नास्मि रुषान्विता। अयन्तु भार्गवो नूनमूरुजः कुपितोऽद्य वः। तेन चक्षूंसि वस्ताता! व्यक्तं कोपान्महात्मना। स्मरता निहतान्

भ्रन्धूनादत्तानि न संशयः। गर्भानपि यदा नूनं भृगूणां घ्नत पुत्रकाः। तदायमूरुणा गर्भो मया वर्षशतं धृतः। षडङ्गश्चाखिलो वेद इमं गर्भस्थमेव ह। विवेश भृगुवंशस्य भूयः प्रियचिकीर्षया। सोऽयं पितृवधाद्व्यक्तं क्रोधान्धो हन्तुमिच्छति। तेजसा तस्य दिव्येन चक्षूंषि मुषितानि वः। याचध्वमौर्वं तमिम ताता मम सुतोत्तमम्। अयं वः प्रणिपातेन तुष्टो दृष्टीः प्रमोक्ष्यति। वशिष्ठ उवाच। एवमुक्तास्ततः सर्वे राजानस्ते तमूरुजम्। ऊचुः प्रसीदेति तदा प्रसादञ्च चकार सः। अनेनैव च विख्यातो नाम्ना लोकेषु सत्तमः। स और्व इति विप्रर्षिरूरुं भित्वा व्यजायत। चक्षूंषि प्रतिलभ्ध्वा च प्रतिजग्मुस्ततो नृपाः।" भा० आ०। भृगुकुलदीपक अद्वितीय तेजस्वी और्व ऋषिने जिसप्रकार हैहयवंशी ब्रह्मद्रोही पुरोहितकुलनाशक इन नीच क्षत्रियोंको भी पुनः ब्राह्मणस्वभावसिद्धदयापरवश हो नेत्रदान किये, इसपर क्षत्रियोंको विरोध छोड़कर अपने कुलपुरोहितकी सर्वथा वश्यता स्वीकार कर लेनी उचित थी। परन्तु भावी बड़ी प्रबल होती है; किसीके टाले नहीं टल सकती। सुतरां, फेर भी दुष्ट तालजङ्घ और हैहयोंने विरोध नहीं छोड़ा।

तदनन्तर जब राजासगरकी माता सती होनेको चितारोहण करने चली थी, उस समय त्रिकालज्ञ और्वऋषिने तपोबलसे उसके गर्भस्थ बालककी होनहार दशाका विचारकर, रानीको सती होनेसे रोका और अपने आश्रममें आश्रय प्रदानकर मन्त्रबलसे गर्भके बालकके शरीरसे विषका प्रभाव दूर किया। सौतियाडाह स्त्रियोंमें बराबरसे ही प्रसिद्ध है। जिस समय सगर गर्भमें आये थे उसी समय सगरकी विमाताओंने द्वेषसे सगरकी माको विष खिला, उस गर्भका स्तम्भन कर दिया था। परन्तु तब किसीने भी इसका ध्यान नहीं किया था। इधर प्रबलप्रतापी उद्दण्ड चन्द्रवंशी हैहय और तालजङ्घोंने मदमत्त हो जिसप्रकार गुरुकुलका विनाश किया था, उसी प्रकार सूर्यवंशी राजाओंपर चढ़ाई कर उनका राज्य भी छीनना प्रारम्भ कर दिया था। उसी झगड़ेमें सगरके

पिताकी मृत्यु होनेसे और राज्यके भी छिन जानेपर निराश्रया शोक-सन्तप्ता रानी सती होने चली थी। भाग्यवश त्रिकालज्ञ महात्मा और्वने उसके गर्भस्थ बालककी रक्षाकी; और गर अर्थात् विषके साथ (और्व के आश्रममें) जन्म हुआ था; इस कारण बालकका नाम ही सगर रक्खा। सगरके पिता प्रसिद्ध वशिष्ठकुलके यजमान थे। परन्तु इस समय, सगरके जातकर्म्मादि सभी संस्कार और्व ऋषिने किये और धनुर्वेदका भी उपदेशकर यथा समय सगरको शास्त्र और शस्त्र विद्यामें भी पूरा पण्डित बना दिया था। तालजङ्घोंने सगरका पैतृकराज्य छीनकर अधिकार करलिया था। उधर पुरोहित और्व से तालजङ्घ—कुलके राजा सर्वथा द्वेष रखते ही थे। सुतरां, और्व ऋषिने भी एक-मात्र राजासगरके द्वारा, अपने अपूर्व तपोबलसे अनाचारी इन दुष्ट हैहय तालजङ्घकुलके क्षत्रियोंका विध्वंश कर दिखाया था। "और्वस्तु जातकर्मादि-तस्य कृत्वा महात्मनः। अध्याप्यवेदानखिलांस्ततोऽस्त्रं प्रत्यपादयत्। आग्नेयन्तु महाबाहुरमरैरपि दुःसहम्। स तेनास्त्रबलेनाजौ बलेन च समन्वितः। हैहयान् निजघानाशु क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव। आजहार च लोकेषु कीर्त्तिं कीर्त्तिमतो वरः। ततः शकान् सयवनान् काम्बोजान् पारदांस्तथा। पह्लवांश्चैव निःशेषान् कर्त्तुं व्यवसितः किल। ते वध्यमाना वीरेण सगरेण महात्मना। वशिष्ठं शरणं गत्वा प्रणिपेतुर्मनीषिणम्। वशिष्ठस्त्वथ तान् दृष्ट्वा समयेन महाद्युतिः। सगरं वारयामास तेषां दत्त्वाऽभयं तदा। सगरः स्वां प्रतिज्ञाञ्च गुरोर्वाक्यं निशम्य च। धर्मं जघान तेषां वै वेशान्यत्वं चकार ह।" हरिवंशके चतुर्दश अध्यायमें और्व और सगरका उक्त वृत्तान्तही सर्वथा वर्णित है। ब्रह्मकुलकी सामर्थ्य पूर्वयुगोंमें अतुलनीय होती थी। त्रिकालज्ञ इन ब्राह्मणोंको भविष्य होनहार पहिलेसे ही प्रत्यक्षवत् सूझती थी। भृगुकुलके महर्षि च्यवन और्वके पूर्वजोंमें थे। उनको और्वके जन्म लेनेके बहुत दिनों पहलेसे ही इस भविष्य होनहारका पूरा परि-

ज्ञात था। एक समय राजाकुशिकके पूछनेपर त्रिकालज्ञ च्यवन ऋषिने इस भाँति भविष्य कहा था—"भृगूणां क्षत्रिया याज्या नित्यमेतज्जनाधिप! ते च भेदं गमिष्यन्ति दैवयुक्तेन हेतुना। क्षत्रियाश्च भृगून् सर्वान् वधिष्यन्ति नराधिप! आगर्भादनुकृन्तन्तो दैवदण्डनिपीडिताः। तत उत्पत्स्यतेऽस्माकं कुलगोत्रविवर्द्धनः। ऊर्वो नाम महातेजा ज्वलनार्कसमद्युतिः। स त्रैलोक्यविनाशाय कोपाग्निं जनयिष्यति। महीं सपर्वतवनां यः करिष्यति भस्मसात्।...पुत्रं तस्य महाराज ऋचीकं भृगुनन्दनम्। साक्षात् कृत्स्नो धनुर्वेदः समुपस्थास्यतेऽनघ। क्षत्रियाणामभावाय दैवयुक्तेन हेतुना। स तु तं प्रतिगृह्यैव पुत्रे संक्रामयिष्यति। जमदग्नौ महाभागे तपसा भावितात्मनि। स चापि भृगुशार्दूलस्तं वेदं धारयिष्यति। कुलात्तु तव धर्मात्मन् कन्यां सोऽधिगमिष्यति। उद्भावनार्थं भवतो वंशस्य भरतर्षभ। गाधेर्दुहितरं प्राप्य पौत्रीं तव महातपाः। ब्राह्मणं क्षत्रधर्माणं पुत्रमुत्पादयिष्यति। क्षत्रियं विप्रधर्माणं बृहस्पतिमिवौजसा। विश्वामित्रं तव कुले गाधेः पुत्रं सुधार्मिकम्। तपसा महता युक्तं प्रदास्यति महाद्युते। स्त्रियौ तु कारणं तत्र परिवर्त्ते भविष्यतः। पितामहनियोगाद् वै नान्यथैतद् भविष्यति। तृतीये पुरुषे तुभ्यं ब्राह्मणत्वमुपैष्यति। भविता त्वञ्च सम्बन्धी भृगूणां भावितात्मनाम्॥" महाभारतके अनुशासनपर्वमें यह लिखा है कि—"सदासे भृगुवंशके ब्राह्मण ही पृथ्वीपति क्षत्रियोंके कुल पुरोहित हैं। परन्तु दैवकी प्रतिकूलतासे भविष्यमें इन यजमान पुरोहितोंमें बड़ी ही भयङ्कर विद्वेषाग्नि भड़केगी। यजमान अपने कुलपूज्य पुरोहितोंका वंशनाश करेंगे। परिणाममें तेजस्वी और्व ऋषिका जन्म होगा। इन दुष्ट यजमानोंका विनाश और भृगुकुलका गौरव पुनः संसारमें इन्हींसे स्थिर होगा। इनके पुत्रऋचीकको सम्पूर्ण और साङ्ग धनुर्वेदस्वतः प्राप्त होगा। वे अपने पुत्र जमदग्निऋषिको पूराधनुर्वेद सिखावेंगे; परन्तु धनुर्वेदकी यथार्थसिद्धि पाकर भी शान्तप्रकृति जमदग्नि ईश्व-

राराधनमें ही विशेष निमग्न रहेंगे। हे कुशिक, उक्त जमदग्नि तुम्हारे वंशकी कन्याका पाणिग्रहण करेंगे। उस कन्यासे क्षत्रियधर्म्मा पुत्र परशुरामका अवतार होगा। ऋषिके दिये हुए, प्रभावशाली यज्ञचरुके बदलकर खानेसे तुम्हारे वंशमें भी बृहस्पतितुल्य अपूर्व तेजस्वी ब्राह्मणधर्म्मा विश्वामित्रका आविर्भाव होगा। जिसके तपोबलप्रभावसे तीसरी पीढ़ीमें तुम्हारा यह क्षत्रियवंश ब्राह्मण हो जायगा" इत्यादि। त्रिकालज्ञ महर्षि च्यवनने भविष्य होनहारके विषय कुशिकराजासे बहुत दिनों पहिले जो कुछ कहाथा, उसके एक एक अक्षरका यथार्थ मिलान समयपर मिलगया। जब प्रतापी राजाकृतवीर्य्यकी सन्तानोंमें हैहय और तालजङ्घकुलके उद्दण्ड क्षत्रियोंने भृगुकुलके गर्भस्थबालकोंतकका बीज नाश किया था, उसी कठिन समयमें तेजस्वी और्व उत्पन्न हुए थे। और्वकी क्रोधाग्निसे उस समय सारा संसार दग्ध हो जाता। परन्तु और्वके पितृपुरुषोंने समयपर आविर्भूत होकर "मावधीः क्षत्रियांस्तात न लोकान् सप्त पुत्रक! दूषयन्तन्तपस्तेजः क्रोधमुत्पतितंजहि।" म० भा०। कहा कि "हे पुत्र! अनर्थमूलक क्रोध परित्यागपूर्वक ब्राह्मणोचित शान्तिका अवलम्बन करो, इन क्षत्रियोंका वध न करो।" सुतरां, शरणागत अन्धे यजमानोंको नेत्रदान कर महर्षि और्वने तो स्वकुलोचित कर्म्म ही किया। तथापि इन यजमानोंने पुरोहित और्वसे यथोचित व्यवहार न किया। आंखोंके आरोग्य होते ही इन हियेके अन्धोंने अपनी राह ली और पुनः उपद्रव करनेको उद्यत हो गये। परिणाम इसका यह हुआ कि सगर राजाको निमित्तमात्र रखकर भविष्यमें प्रायशः हैहय तालजङ्घोंका विनाश एकमात्र भृगुकुलगौरव महर्षि और्वकी क्रोधाग्नि द्वारा ही हो गया। लिखा है—"तालजङ्घमहाक्षत्र मौर्वेणैकेन नाशितम्।" केवल वशिष्ठ ऋषिकी प्रार्थनासे, उस युद्धसे भागे, बचे बचाये, थोड़ेसे तालजङ्घ, स्वधर्म्म, वेदपाठ और वषट्कार आदिके सर्वथा परित्यागकी प्रतिज्ञा करके जीवित रहने पाये

थे। विष्णु पुराणमें स्पष्ट है—"अथैतान् वशिष्ठो जीवन्मृतकान् कृत्वा सगरमाह वत्स वत्सालमेभिरतिजीवन्मृतेरमुसृतैः। एते च मयैव त्वत्प्रतिज्ञापरिपालनाय निजधर्मद्विजसङ्गपरित्यागं कारिताः।. . . .निस्वाध्याय वषट्कारान् एतान् अन्यांश्च क्षत्रियांश्चकार।" विष्णु पु०। महात्मा वशिष्ठ ऋषिकी सहायता और अभयदानसे जीवन लाभकर, इन तालजङ्घवंशके क्षत्रियोंने उन्हींको अपना पूज्य माना। कुलपुरोहित भृगुवंशीय और्व ऋषिकी शरणमें इस दुर्दशा होनेपर भी सरलचित्तसे न गये। यद्यपि प्रकाश्यमें इस घटनापर किसी प्रकारका विरोध या वैरभाव वशिष्ठकुलसे भृगुकुलका उस समय दृष्टिगोचर नहीं होता है; तथापि इससे आगे चलकर इन दोनों कुलोंका जैसा व्यवहार देखनेमें आता है, उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस सामान्य घटनासे ही भविष्यमें इन उभय ऋषिवंशोंमें परस्परका प्रकाश्य विरोध खड़ा होगया था।

जब परशुराम और विश्वामित्र अवतीर्ण हुए, तब वशिष्ठजीकी गौ, और यजमान सुदासराजाके घरकी वृत्तिके छीन लेनेपर ही विश्वामित्रसे वशिष्ठकुलका घोर विद्वेष चौड़े आगया था। विश्वामित्र परशुरामजीकी ननिहालमें थे; सुतरां, नातेदारी पासकी थी। भृगुकुलकी यजमानी सम्बन्धकी पुरानी खार निकालनेको सुतरां विश्वामित्रही अग्रणी हुए। परन्तु इस विद्वेष अग्निके विशेष प्रचण्ड होनेपर जहां जहां विश्वामित्र; वशिष्ठकी अपूर्व विद्या, उग्र तपोबल और सुप्रसिद्ध ब्रह्मतेजके आगे हतप्रभ होने लगे हैं; वहां वहां समयपर परशुरामजीको पूर्ण सहायताके बलसेही विश्वामित्रजीने उत्साहित और विशेष प्रभावशाली होकर पूर्वापेक्षा चौगुनी शक्तिसे वशिष्ठजीका पुनः सामना किया है। अनुक्रमणिकाकी विवृत्तिमें सद्गुरुशिष्य लिखते हैं—"ससर्पराज्ञ्चे प्राहुरितिहासं पुराविदः। सुदासनृपतेर्यज्ञे वशिष्ठात्मजशक्तिना। विश्वामित्रस्याभिभूतं बलं वाक् च समन्ततः। वाशिष्ठेनाभिभूतः स ह्यवासीदच्चगाधिजः। तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचे ससर्परीम्। सूर्यवेश्मन

आहृत्य ददु र्वै जमदग्नयः। कुशिकानां ततः सा वाङ्मनाक् चिन्तामथालुदन्। उपप्रेतेतिकुशिकान् विश्वामित्रोन्वचोदयत्। लब्ध्वावाचं च हृष्टात्मा जमदग्नीनपूजयत्। ससर्परीरितिद्वाभ्यामृग्भ्यां वाचं स्तुवन्-स्वयम्॥" तथा ऋग्वेदमें भी ससर्परीरमतिं बाधमाना बृहद् मिमाय जमदग्निदत्ता। आसूर्यस्य दुहिता ततानश्रवो देवेष्वमृतमजुर्यम्। १५। ससर्परीरभरत् तूर्यमेभ्योऽधिश्रवः पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु। सा पक्ष्या ३ नव्यमायुर्दधाना यांमे पलस्ति जमदग्नयो ददुः। १६।" ऋग्वेद मं० ३-५३। जामदग्न्य परशुरामजीकी उस विख्यात ससर्परी विद्याकी महिमा घोषित होती है। इक्ष्वाकुवंशीय राजा सुदासके कुलपुरोहित वशिष्ठ ही थे। परन्तु विश्वामित्र, परशुरामजीकी भीतरी कुमक पाकर वशिष्ठजीपर चढ़ाई करते थे; और उनके यजमान सुदासके घरकी वृत्ति छीना चाहते थे। वशिष्ठ भी अपने यजमानका घर सहजमें क्यों छोड़ने लगे थे।

एकसमय इसी उपराचढ़ीमें सुदासराजाके घर यज्ञमें वशिष्ठके पुत्र शक्तिने मन्त्रबलसे विश्वामित्रका बल हरणपूर्वक वाक्रोध करदिया था। मन्त्रमुग्ध स्तम्भित विश्वामित्रकी ऐसी दुर्दशा देख, परशुरामने सूर्यसे प्राप्त अपूर्व प्रभावशाली ससर्परी मन्त्र विद्याके बलसे उसी समय विश्वामित्रको प्रकृतिस्थ किया था। ससर्परी मन्त्रोंकी असाधारण शक्तिसे जब पुनः वाक्शक्तिका लाभ हुआ, तब प्रसन्नचित्तसे विश्वामित्रने उन प्रभावशाली ससर्परी मन्त्रोंका ग्रहणकर, जामदग्न्यका पूजन किया था। वेदमूलक इस प्राचीन इतिहाससे जामदग्न्यकुलका वशिष्ठकुलसे यजमानवृत्ति सम्बन्धीय भीतरीविरोध और मनान्तर भलीभाँति चौड़े आगया दिखता है। आजतक वशिष्ठकुलके साक्षर-ब्राह्मण इन मन्त्रोंको अथवा विश्वामित्रकी प्रयुक्त अन्य वशिष्ठद्वेषिणी ऋचाओंको जिनमें "लोधा" का प्रयोग आता है, कभी अपने मुखसे उच्चारण भी नहीं करते। बल्कि सुननेमें भी महापाप समझते हैं। इसके विषयमें शौनकके बृहद्देवतमे यहांतक लिखा दिखता है

कि—"पराभवत्तथायास्तत्र वशिष्ठद्वेषिणीर्विदुः। विश्वामित्रेण ताःप्रोक्ता अभिशापा इति स्मृताः। द्वेषद्वेष्यास्तु ताः प्रोक्ताविद्याच्चैवाभिचारिकाः। वशिष्टास्तु न शृण्वन्ति तदाचार्यकसम्मतम्। कीर्त्तनाद् श्रवणाद्वापि महान् दोषः प्रजायते। शतधाभिद्यते मूर्द्धा कीर्त्तितेन श्रुतेन वा। तेषां बालाः प्रमीयन्ते तस्मात्तास्तु न कीर्त्तयेत्॥" यथार्थ तो यह है कि यजमान पुरोहितोंके परस्पर विद्वेषकी अग्निके विशेष प्रज्वलित होनेसे ही परस्पर उनके सहायकोंमें भी द्वेषबद्धमूल हो जाना स्वभावसिद्ध ही था। विशेषतः स्वार्थहानिके सहित पुरोहितकुलकी मानहानि ही इन घोर उपद्रवोंकी जड़ थी। जब वशिष्ठकुलके अभयदानसे और पूरे सहारेसे प्राणभिक्षा लेकर, तालजंघोंने अपने कुलपुरोहितोंसे आन्तरिक वैरभाव रक्खा और वशिष्ठजीके ही वशवर्ती हुए, तब भृगुकुलसे वशिष्ठकुलका विरोधाचरण और वैरभाव क्यों न बद्धमूल होता? विश्वामित्र और वशिष्ठके विरोधका गूढ़ हार्द्द अन्यतम मूलकारण भी ऊपर लिखा हुआ यही विरोध था, इसमें सन्देह नहीं। इसीलिये भृगुवंशी जामदग्न्य, विश्वामित्रकी बराबरसे पूरी पूरी सहायता वशिष्ठके विपक्षमें करते रहे। परशुराम और विश्वामित्रजीके यज्ञीय चरु परिवर्त्तनसे जन्मवृत्तान्त, और वशिष्ठ विश्वामित्रके घोरविद्वेषसे वशिष्ठके सौ पुत्रोंका विनाश और विश्वामित्रकी ब्राह्मणत्वप्राप्ति आदिकी कथा, इतनी सुप्रसिद्ध है कि उनके उल्लेखकी इस स्थलपर आवश्यकता ही नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य ध्यान दिलाने योग्य है कि भृगुकुलके छूटे हुए यजमान, हैहय तालजंघकुलके ये अनाचारी क्षत्रिय जब कि अपने कुलपुरोहितोंसे ही विमुख होकर सर्वथा आततायी बन गये थे; तब वशिष्ठकुलके उपकारको आजन्म स्मरणकर उनके वशवर्त्ती रहना इनका कब संभव था? अन्तको हुआ भी वही, कि कृतवीर्य्यके पुत्र सहस्राज्जुनको कुपित हो, वशिष्ठऋषिने ही यह शाप दिया था कि "तेरी इन भुजाओंको परशुराम ही काटेंगे!"

तदनन्तर परशुरामजीके पिता शान्तप्रकृति तपस्वी जमदग्निकी तपोवनवाटिकाका उजाड़ना, कामधेनुका अपहरण करना और अन्तको निरीह निरपराध जमदग्निऋषिको भी ध्यानावस्थित अवस्थामें ही वध करना आदि पुनः उन्हीं दुष्ट हैहय और तालजंघवंशजोंकी कीर्त्तिध्वजा उड़ानेवाली अन्तिम करतूत देखनेमें आयी। भागवतके नवमस्कन्धमें १६ व अध्यायमें लिखा है कि "एकदाश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते। वैरं सिसाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन्। दृष्ट्वाग्न्यगारमासीनमावेशितधियं मुनिम्। भगवत्युत्तमश्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः॥" जिस समय परशुराम अपने भाइयों सहित आश्रममें नहीं थे; और जमदग्निऋषि हवनकुण्डके साम्हने भगवान्‌के ध्यानमें नेत्रबन्द किये समाधि लगाये बैठे थे; उसी अवसरपर पुराने वैर लेनेकी इच्छासे इन धर्म्ममूर्त्ति यजमानकुलगौरवोंने चुपचाप आश्रममें चोट्टोंकी भांति प्रवेशकर, जमदग्निऋषिका वधकर ब्रह्महत्या और गुरुहत्त्याका अक्षयपुण्य सञ्चय किया था। वनसे आकर जिस समय परशुरामजीने इस हृदयविदारक भीषण दृश्यको अपने नेत्रोंसे देखा; उस समय कैसे कुछ शोक, सन्ताप, क्रोध, अनुताप, आदिसे उनका हृदय दग्ध हुआ होगा? सहृदय विचारशीलमात्र इस दुर्घटनाके कथञ्चित् वर्णनके पठनमात्रसे अपने हृदयकी गति अबतक कैसी हो जाती है इसीकी तुलनासे उसे भली भाँति समझ सकते हैं। महाभारत शान्तिपर्व्वमें—"ततः पितृवधामर्षाद्रामः परममन्युवान्। निःक्षत्रियां प्रतिश्रुत्यमहीं शस्त्रमगृह्णत। ततः स भृगुशार्दूलः कार्त्तवीर्य्यस्य वीर्य्यवान्। विक्रम्यनिजघानाशु पुत्रान् पौत्रांश्च सर्वशः। स हैहयसहस्राणिहत्वा परममन्युमान्। चकार भार्गवो राजन् महीं शोणितकर्द्दमाम्। स तथाशु महातेजा कृत्वानिःक्षत्रियां महीम्। कृपया परयाविष्टो वनमेव जगामह॥" इस प्रकारसे पिताके बधसे परम शोकसन्तप्त अतिक्रुद्ध परशुरामजीने पृथ्वीको निःक्षत्रिय

करनेकी प्रतिज्ञाकर शस्त्रधारणपूर्वक अपने बाहुबलसे कार्त्तवीर्य्यके पुत्रपौत्रादिकोंको सहस्रों हैहयवंशियोंके सहित रणमें मार, उनके रक्तके तरारोंसे पृथ्वीको तर कर दिया। अन्तको ब्राह्मणस्वभाव-सुलभ-विवेक और अनुतापसे पीड़ित हो, गभीर वनमें शान्तिलाभ करनेको प्रवेश किया।

इस घोर युद्धसे भागकर बचे हुए तथा अनुपस्थित अन्य क्षत्रियोंने पुनः कुछ दिनों बाद सिर उठाया। कारण, गर्भके बालक भी समय पाकर युद्धमें उपस्थित होने योग्य अब हो गये थे। फिर जथा इनका जब बंधा तो पुनः साम्हना करनेपर परशुरामजीकी क्रोधाग्नि भी स्वाभाविक प्रचण्ड हुई। क्षत्रियोंका दुबारा विध्वंस हुआ। इसी रीतिसे जब २१ बार क्षत्रियोंका विध्वंसकर, परशुरामजीने इन मदान्धोंका सर्वथा दर्प चूर्ण किया तब शान्तिका समय स्वतः उपस्थित हुआ। परशुरामजीने भी प्रकृतिस्थ होकर राजहत्याका प्रायश्चित्त और यज्ञानुष्ठानकर, बाहुबलसे जीती हुई समग्र पृथ्वीका दान कर दिया। और स्वर्गीय पितरोंकी आज्ञासे आगेको क्षत्रियवधसे निरस्तहुए। दानमें हाथ आयी पृथ्वीके अधीश्वर कश्यप ऋषिने सारे भारतवर्षमें शासक राजाके अभावसे घोर अराजकता फैली हुई देख, पराशर ऋषिके आश्रममें परशुरामके भयसे प्राण बचानेको सर्वकर्म्मा नामके शूद्र-वेषधारी छिपे हुए क्षत्रिय, तथा चन्द्रवंशी अन्य क्षत्रियोंको ढूंढ़ खोज, राजाओंको लाकर यथायोग्य राजगद्दी दी। पुनः मर्य्यादाका बहुत दिनों बाद स्थापन हुआ। विचार कर देखो तो यजमान पुरोहितकुलके आपसके विरोधसे ही ये यावतीय अनर्थ उत्पात और उपद्रव हुए थे। इक्कीस-बार युद्धमें अपने कुलका विध्वंस कराने बाद, अब पुनः क्षत्रियोंको चैतन्योदय हुआ। सुमति आयी।

अपने कुलपुरोहितोंकी पूजा प्रतिष्ठा और भक्तिकरनेसे पुनः क्षत्रियोंकी क्रमशः वंशवृद्धिके साथही प्रताप और अभ्युदयका सुसमय भी

आया। वर्णाश्रमधर्म और शिष्टाचारपालनके प्रतापसे अब फिरसे सर्वथा शान्तिका राज्य प्रवृत्त हुआ। कौलिकवृत्ति और पुरोहितोंकास्वत्व अपरिवर्त्तनीय है, यह भली भांति परीक्षासे सुप्रमाणित हुआ। यजमान पुरोहित वा ब्राह्मण क्षत्रियोंके परस्पर विरोधसे ही अवनति और सर्व प्रकारकी दुर्गतिकी चरमसीमातक पहुंच, देश और वैदिक चतुरंगिणी चातुर्वर्ण्य समाजका, सत्यानाश होता है, यह जिस प्रकार इन घटनाओंसे प्रत्यक्ष हुआ; उसी प्रकार इनके परस्पर सद्भाव और सहायक बने रहनेसे ही समाज उन्नतिके ऊंचे शिखर पर चढ़ सकतो है; यह भी सबने भलीभांति निश्चय कर लिया। सुतरां, सूर्य और चन्द्रवंश नव्यसम्प्रदायके धार्म्मिक क्षत्रियोंने परशुरामजीके घोर युद्धोंका अवसान होने पीछे, स्वकुलोचित गुरुभक्ति और धर्म्ममर्य्यादाका सर्वथा अनुसरण पुनः प्रारम्भ किया। परिणाममें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रका अवतार इसी सद्वृत्तिका प्रत्यक्ष सुफल प्राप्त हुआ।

जिस प्रकार प्रतिवर्ष ऋतुराजवसन्त, ग्रीष्म आदि अपने ठीक समयपर उपस्थित होकर, ऋतुधर्म्मसे समयका विचित्र परिवर्त्तन दिखा, मनुष्योंके स्वभावोंको इस पृथ्वीकी प्रकृतिके सहित सर्वथा परिवर्त्तित कर देते हैं। उसी प्रकार कल्पकी आदिसे आजतक सत्य-त्रेता आदि भी अपने नियमित समयपर ही परम्परासे चले आते हैं; और युगधर्म्मसे समयका विशेष परिवर्त्तन दिखा, प्राणीमात्रके स्वभाव चरित्रोंके घोर परिवर्त्तनके साथही भूमण्डलकी अवस्थाका भी अद्भुत परिवर्त्तन कर दिखा जाते हैं। वर्षाकी घनघोर श्यामघटा, विविध रंगरंगी पावसप्यारीकी भ्रूभंगीसी इन्द्रधनुषकी प्यारीबंकिमछटा, चञ्चला चपलाकी चितचुभी चमकदमकसे चकितमेघोंका हृत्कम्पकारी भयङ्कर कड़कड़ाहटसे सुगम्भीर गर्ज्जन तर्ज्जन, मनभावन सावनकी सुहावनी जगलुभावनी मेघमालाका उमग उमगकर अहर्निश प्रेमवारिधाराका सहस्रधाराप्रपातसे मूसलाधार वर्षण, उसीमें मोहिनी

आशाके बलसे बलवत्तर, परिश्रमी किसानोंका भीगते हुए भी प्रेमसे क्षेत्रकर्षण, आदि, वर्षा ऋतुकी महिमा और अदृश्यप्रतापके ही छाया-चित्र हैं। शरदमें इन दृश्योंके दर्शन कहां? उसी प्रकार सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुगकी चौकड़ीका समावर्त्तन, कल्पारम्भसे अपना युग-धर्म्मप्रताप और उसके कारणसे संसारके प्राणीमात्रकी जीवनीशक्ति, स्वभाव, सामर्थ्य, और मनोवृत्ति आदिका अद्भुत आकस्मिक परि-वर्त्तन दिखाता आया है और इसी भांति सदा दिखाता रहेगा। कारण-विशेषसे देशविशेषमें इस अवश्यम्भावी कालधर्म्मका कदाचित् किञ्चित् परिवर्त्तन उसी भांति सम्भव है जैसा कि कभी कभी वर्षा ऋतुमें भी देशविशेषमें सूखा पड़ता है। अन्यथा कालधर्म्म और युग-धर्म्मका परिवर्त्तन हो जाना, या, अपने समयपर सर्वथा न होना तो त्रिकालमें भी संभव नहीं है। सतयुगमें वैसे ही धर्म्म, वैसे ही जीव, वैसीही मनोवृत्ति स्वतः रहती हैं जैसी कि उसयुगधर्म्मसे होनी उचित हैं। त्रेताकी प्रवृत्ति होतेही युगधर्म्मके प्रबल अदृश्य अद्भुत प्रतापसे स्वतः संसारका विचित्र परिवर्त्तन होकर कुछ अधोगतिका सूत्रपात हो ही जाता है। पुनः द्वापरयुगकी जब प्रवृत्ति होती है; तब त्रेताकी सब सृष्टि आपसे आप देखतेही देखते रंग बदलने लग जाती है। अन्तमें कलिमहाराजके अटलराज्यप्रतापका तो पूछनाही क्या है? इस समय हम उन्हींके राज्यकी पराधीन प्रजा हैं। अपने अपने हृदयपर एक बार हाथ धर कर अन्तःकर-णकीशिश्नोदरपरायण स्वार्थान्धवृत्तियोंको स्वतः क्षणकालके लिये अपने अपने जीमें जाँच देखो, पूर्वपुरुषोंका अर्जित कुछ भी पुण्यबल होगा तो कलिमहाराजकी मनमोहिनी और प्रतापी मूर्त्तिकी अपूर्व झांकी प्रति रोम कूपसे अपना गरवीला सुन्दर मुख ऊंचाकर अवश्य दर्शन दे देगी। सिवाय इसके संसारभरमें जो व्याप रहा है, उसके दर्शानेको वृथा कलम घिस-नेकी क्या आवश्यकता है? मनुष्यमात्रका मन और संसारकी नित्यकी घटना सभी इस कलि-धर्म्मकी साक्षी देनेको घट घटमें वर्त्तमान हैं।

कल्पारम्भसे इस समयतक, बहुत कुछ परिवर्त्तन हो चुका। संसार सर सर सरकता कहांका कहां पहुंचा। ब्रह्माजीकी भी आधी आयुनिश्शेष होचुकी। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुगकी सैकड़ों चौकड़ी हिरनसी चौकड़ी भरती, अपनी छटा दिखाती, हिरन होगयीं। वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तरको भी अब अट्ठाइसवीं चौकड़ीके निश्शेष-करनेवाले चौपटहा कलिमहाराज, धार्म्मिक शत्रुओंकी छातीपर पांव धरते, वृद्ध एकपादावशिष्ट जराजर्ज्जरित निर्जीवसे, सिसकते हुए, सनातन धर्म्मकी अति निर्दयतासे बची हुई टांग तोड़ते, सन्दिग्ध संधिके समय ५००० वर्षका उल्लङ्घनकर प्रपंची बालकस्वरूपमें राज्यसिंहासनारूढ़ हो, पांचवर्षसे अपना प्रपञ्च पूर्णतया प्रचारित कररहे हैं। सुतरां, इनके प्रतापका पूरा पूरा परिचय किसको नहीं है? यह इस कलियुगका ही महात्म्य है कि वेदशास्त्रोंसे लोगोंकी आस्था जाती रही। अपने सनातनधर्म्ममें पण्डितसे मूर्खतकको किसी न किसी अंशमें तो अवश्य ही अविश्वास उत्पन्न हुआ करता है। आप तो प्रायः कुछ भी नहीं समझते, परन्तु संसारके समझानेको उपदेशक इस समय सभी बन जाते हैं। सिवा इसके अङ्गरेजी कुशिक्षाके विषका संचार क्रमशः सर्वसाधारणमें द्रुतगतिसे संचारित हो रहा है। इस कठिन अवस्थामें ब्राह्मण आदि चातुर्वर्ण्यकी मूल उत्पत्ति और तात्कालिक स्थितिपर विश्वास न करना, कमपढ़े और बिना पढ़े लिखे हिन्दुओंका भी एक संक्रामक रोगसा कुछ दिनोंसे उत्पन्न हुआ दिखता है। केवल इधर उधरसे सुनकर प्रायशः इसप्रकारकी शंका वैसेही लोग करने लगे हैं कि "शुक्राचार्य्य ब्राह्मण थे; परन्तु उनकी कन्या देवयानी, क्षत्रिय राजा ययातीसे व्याही गयी थी। व्यासपुत्र शुकदेवकी कन्या कृत्वीका पांचालाधिपसे विवाह हुआ था। सुतरां, ब्राह्मण, क्षत्रियोंको भी पहिले कन्यादेते थे, इससे प्रमाणित होता है कि पहिले वर्णभेदकी ऐसी व्यवस्था ही भारतमें नहीं थी; ब्राह्मण क्षत्रिय सब

एक थे, इत्यादि।" द्वितीय शंका क्षत्रिय राजवंशसे ब्राह्मणोंके उत्पन्न होनेकी भी इसी पक्षकी पोषिका है। तीसरी शंका राजा नहुष और युधिष्ठिरके ब्राह्मणत्व विषयके प्रश्नोत्तरके वचनोंपर लोग करते हैं। क्रमसे इन शंकाओंका समाधान संक्षेपसे किया जाता है।

स्वायंभुव मनुके समयसे अबतकके अगण्य उदाहरण, उपाख्यान इतिवृत्त पुराण और इतिहासोंमें हैं। यहाँतक कि स्वायंभुवसे कुल-परम्परा दिखाकर इस समयतकके इतिहासके आनुपूर्वी दिखानेकी चेष्टा भी पुराण ऐतिह्य ग्रन्थोंमें की हुई दिखती है। सुतराँ, क्या कारण है कि इतनेदिनोंमें उक्तप्रकारके विलोम विवाहके उदाहरण दो तीनसे अधिक नहीं मिलते? समाजका चलन ही यद्यपि ऐसा होता कि ब्राह्मणोंकी कन्या, क्षत्रियोंको व्याही जाया करती थीं; तो सहस्रों दृष्टान्त इस-प्रकारके पुराणग्रन्थोंमें अवश्य मिलते। जब ऐसे दृष्टान्तोंका सर्वथा अभाव सा दिखता है, तो अवश्य माननाही पड़ेगा कि समाजका चलन इसप्रकारके विलोम विवाहका कभी भी भारत में नहीं था। ऐसा सामाजिक चलन ही होता तो ऐसे अयोग्य विवाह जो दो एक दैवी घटनासे किसी युगमें कभी हो चुके हैं, उनके कारण निर्देशकी शास्त्रोंमें कभी आवश्यकता भी न होती? और उसका सविस्तर वृत्तान्त भी न प्राप्त होता?

सर्वथा परास्त हो, देवगुरु बृहस्पतिने अपने पुत्र कचको शुक्रा-चार्य्यसे संजीवनी विद्या सीखनेको जब भेजा, उसी अवसरपर जयन्तीगर्भसम्भूता देवयानी धर्म्मवीर कचको प्रणयवश अपने पाणि-ग्रहणका विशेष अनुरोध करनेपर भी किसीप्रकारसे प्रलोभित नहीं करसकी थी। अन्तको क्रोधसे इसने कचको जब शाप दिया, तो कचने भी देवयानीको यह शाप दिया था कि "ब्राह्मणकुलमें तेरा विवाह ही न होगा।" उसीप्रकार कृत्वीकी माता पीवरीके तपसे प्रसन्नहो वरदान देनेपर ही दूसरे जन्ममें वह योगिनी शुकदेवजीकी

स्त्री हुई ; और उसीके गर्भसे योगिनी कुन्तीका जन्म हुआ था। वर-दान और ब्रह्माके नियोगसेही उसका पांचालाधिपसे विवाह भी हुआ था। मत्स्यपुराणके पन्द्रहवें अध्यायमें इसका तथा कर्द्दम प्रजापतिकी कन्या आदि इसप्रकार दैवयोगसे उत्पन्न योगिनी और मानसी कन्या-ओंके जन्म लेनेसे विवाह तकका कारण सुस्पष्ट उल्लिखित है। उसे मनोनिवेश पूर्वक पाठकर सहजमें इन वृथाशंकाओंकी निवृत्ति धार्म्मिक सज्जन कर सकते हैं।

पहिले, नियोगसे विधवा और सधवामें भी क्षेत्रजपुत्र उत्पादन करानेकी परिपाटी चलित थी। विशेषतः परशुरामजीके २१ बार निःक्षत्रिय करने बाद तो प्रायशः नियोगोत्पन्नक्षेत्रज सन्ततिसे ही लुप्त प्राय क्षत्रियवंशकी रक्षा विशेषतया की गयी। महा-भारत सभापर्वके १३ वें अध्यायमें श्रीकृष्णमहाराजने विस्तारपूर्वक सुस्पष्टरीतिसे इस विषयको दर्पणवत् स्वच्छ और प्राञ्जल कर दिखाया है। उसे भलीभांति समझकर घटना परस्परा मिला देखनेसे ब्राह्मण पुरोहितोंसे क्षत्रियोंकी क्षेत्रजसंतानकी उत्पत्ति और उसी प्रसंगमें दैवानुकूल ब्राह्मणवंशकी शाखा भी, ब्राह्मणोंकी त्रिकालज्ञता, तपस्या और संकल्पसिद्धिसे हुई दिखती हैं। इसमें शंका उन्हींके हृदयमें उप-जती है जो लोग इसके गूढ़तत्त्वको नहीं समझसके हैं। गोत्र और प्रवरका उल्लेख जहाँ किया जायगा उसी स्थलपर प्रसङ्गसङ्गतिसे इस विषयकी स्पष्ट विवृति भी की जायगी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि क्षत्रिय राजवंशसे ब्राह्मणवंशकी शाखा उसी वंशमें दिखेगी जहाँ ब्राह्मणोंने क्षेत्रजपुत्र उत्पन्न किये थे, वा जहाँ इनकी सत्यसंकल्पता और तपःप्रभाव का सम्बन्ध था।

"न स शूद्रो भवेच्छूद्रः ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।" इस प्रकारके वचनों-को देख, जो महात्मा सिद्धान्त करते हैं कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था केवल गुणोंके ही आधारपर थी और है, शूद्रभी अपने सद्गुणोंसे ब्राह्मण कहा

सकता है और गुणहीन ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है। उनसे निवेदन है कि जहाँके ये वचन हैं उसी प्रसंगको आद्योपान्त विचारनेसे ऐसी सब शंका निर्मूल होजायगी। उत्कर्षापकर्ष और उत्तम अधमका भेदनिर्देश करनेको ही इन वचनोंकी प्रवृत्ति हुई है। चारों वर्णकी स्वतन्त्रता और समूलकताको तो यह वचन स्वयं ही परिपुष्ट करता है। चारों वर्ण यथार्थमें यद्यपि शुद्धमूलसे उत्पन्न हो अपने यथार्थ स्वरूपमें स्थित न रहते तो "वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं और वह शूद्र शूद्र नहीं है" कहनेकी प्रवृत्ति ही क्यों होती? उक्तवचनके कथनमात्रसे दृढ़ निश्चय होता है कि ब्राह्मण और शूद्रवर्ण सदासे स्वतन्त्र हैं। केवल, ब्राह्मणमें यथार्थ ब्राह्मणोचित गुणोंका सर्वथा अभाव और शूद्रमें शूद्रोचितगुणोंसे विशेष उत्तम कोटिके ब्राह्मणोचित सद्गुणोंका सद्भाव दिखाकर, इसी गुणांशमात्रमें तारतम्य निर्देश करनेको ही इस प्रकारके वाक्योंका प्रयोग होता है। इससे यह तो कदापि न समझना चाहिये कि वह शूद्र सर्वथा ब्राह्मण होगया, वा ब्राह्मण सर्वथा शूद्र। जैसे सुमधुर सर्वोत्तम आम्रफलका देनेवाला भी आमका पेड़ कहा जाता है और कभी न फलनेवाला, अथवा खट्टे चूकसे आम जिस वृक्षमें फलते हैं, वह भी आमका ही पेड़ है। गुणका इतना विशेष विसदृश परिवर्त्तन भी उस आम्र को इमलीका पेड़ कभी त्रिकालमें न बना सकेगा। इसी प्रकार कदाचित कोई अतिमधुरइमलीसे लदाहुआ अपूर्व स्वादचखानेवाली मीठी इमलीका पेड़ भाग्यवश कहीं मिल भी जाय, तो वह आमका पेड़ तो कभी नहीं हो सकेगा। सभी उसे 'इमली' वा 'मीठी इमली' ही कहेंगे। आम आम ही और इमली सदा इमली ही रहेगी। वैसे ही विशेष गुणवान शूद्र भी ब्राह्मण नहीं होजायगा। (इसका विशेष समर्थन "वर्णविवेकमें" विस्तारसे किया है।) इसीसे शास्त्रोंमें मूर्ख होनेपर भी ब्राह्मणसे द्वेष अथवा उसपर सर्वथा घृणा करनेका निषेध है। इसी विषयको पद्मपुराणके स्वर्गखण्डमें २६ वें अध्यायमें इस भांति दिखा-

या है। यथा—"हरिशर्म्मोवाच। सर्ववर्णगुरुर्विप्रस्त्वया प्रोक्तः सुरोत्तम। तेषां मध्ये च कः श्रेष्ठः कस्मैदानं प्रदीयते॥ ब्रह्मोवाच—सर्वेऽपि ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः पूजनीयाः सदैव हि। अविद्या वा सविद्या वा नात्र कार्य्याविचारणा। स्तेयादिदोषयुक्ता ये ब्राह्मणा ब्राह्मणोत्तम। आत्मभ्यद्वेषिणस्तेऽपि परेभ्यो न कदाचन। अनाचाराः द्विजाः पूज्याः न च शूद्राजितेन्द्रियाः। अभ्यक्ष्यभक्षकागावो कोलास्सुमतयो न च। क्षत्रियाणां च वैश्यानां शूद्राणां गुरवो द्विजाः। अन्योन्यङ्गुरवो ज्ञेया पूजनीयाश्च भूसुर। ब्राह्मणं प्रणमेद्यस्तु विष्णुबुद्धया नरोत्तमः। आयुः पुत्राश्च कीर्त्तिश्च सम्पत्तिस्तस्य वर्द्धते। न च नौति द्विजं यस्तुमूढधीर्मानवोशुचि। सुदर्शनेन तच्छीर्षं हन्तुमिच्छतिकेशवः॥" प०पु०। मूर्ख और आचारहीन ब्राह्मण स्वयं अपना परमद्वेषी है; दूसरोंको इसनिमित्त उससे द्वेष वा घृणा कर, पाप संचय न करना चाहिये। पण्डित, मूर्ख, योग्य, अयोग्य, कैसा भी क्यों न हो ब्राह्मणशरीर, सदा श्रेष्ठ और पूजनीय ही समझा जाता है। अभक्ष्यभोजी होनेपर भी गैयाकी ही पूजा सब करते हैं और करेंगे, पर परमशुद्ध आचारमे रक्खी हुई शूकरी, अथवा विशेष दूध देने वाली गधी कभी भी न पूजी जायगी। ब्राह्मणमात्र, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्णके गुरु हैं। इनको भक्तिपूर्वक हाथ जोड़नेसेही आयु, कीर्त्ति, धन, सन्तान, आदिकी वृद्धि होती है। ब्राह्मणशरीरको भगवानका स्वरूप समझ, भक्तिपूर्वक पूजा करनेवालेको यथोक्त फल अवश्यही मिलेगा। इन ब्राह्मणोंमें भी परस्पर परस्परके गुरु, गुण और सम्बन्धके तारतम्यसे हैं। ऊंची नीची श्रेणी भी ब्राह्मणोंमें गुणभेदसे ही हैं। तथापि ब्राह्मणशरीर ब्राह्मणोंका भी परस्पर नमस्कारयोग्य अवश्य है। इस अंशमें विचारान्तर नहीं किया है। कारण, ब्राह्मणकुलमें जन्म और ब्राह्मणशरीर ही पूर्वजन्मार्जित पुण्यका फल और चारों वर्णोंमें श्रेष्ठताका अन्यतम प्रधान कारण है।

परन्तु केवल ब्राह्मणशरीर, केवल तपस्या अथवा वेदाध्यन, वा

बहुश्रुत होना ही सर्वथा सोलहों आने ब्राह्मणत्वका कारण नहीं है। इसलिये उत्तम ब्राह्मणकुलमें जन्म पाकर भी मूर्ख और अनाचारी ब्राह्मण, ब्राह्मणवर्णमें सर्वोत्तम, शिष्ट और सर्वथा सत्पात्र कभी नहीं कहा जायगा। केवल शरीरसम्पत्तिके कारण अन्य वर्णोंका पूज्य होनेपर भी ब्राह्मणोंमें वह अधम श्रेणीमें ही गण्य होगा। इसी प्रकार बहुश्रुत होनेपर भी अनाचारी अथवा आचारशील होनेपर भी निरक्षर मूर्ख; यथार्थ सत्पात्र शिष्टब्राह्मण नहीं होसकता। ब्राह्मणत्वकी सर्वाङ्गसुन्दरता और पूर्णता तो साङ्गवेदाध्ययन यथार्थ शिष्टाचरणपूर्वक तप और उत्तम ब्राह्मणकुलमें जन्म, इन सब बातोंके एकाधारमें हुए बिना कदापि नहीं होती। जिस पुण्यवानको संसारमें ऊपर लिखे ये सब गुण और लक्षण प्राप्त हों वही यथार्थ शिष्ट ब्राह्मणोत्तम है। इसीसे "तपः श्रुतञ्च योनिश्चेत्येतद्ब्राह्मणकारणम्। तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः।" श्रुतिप्रमाणसिद्ध शब्दार्थचिन्तामणिधृत यह वचन भी तपस्याचरण और वेदज्ञानवर्जित, ब्राह्मणको केवल 'जाति ब्राह्मण" मात्र सिद्धकरनेके साथ ही तप, वेदविद्या और ब्राह्मणवर्णके पिता मातासे उत्पत्ति, युगपत् इन तीनोंको यथार्थ ब्राह्मणत्वका कारण निर्देश करता है। "जातिब्राह्मण" वा "अब्राह्मण" के अन्य विशद लक्षणोंपर ध्यान देनेसे यह विषय सर्वथा सहजबोधगम्य होजायगा। यथा "गर्भाधानादिमन्त्रैर्यो वेदोपनयनेन च। नाध्यापयति नाधीते स भवेद्ब्राह्मणब्रुवः।" व्यासः। "अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्। नैषां प्रतिग्रहो देयो न शिलतारयेच्छिलाम्॥" मनुः॥ "ब्रह्मबीजसमुत्पन्नो मन्त्रसंस्कारवर्जितः। जातिमात्रोपजीवी च भवेद्ब्राह्मणः स तु॥" "जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मण ब्रुवः॥ तथा—"अब्राह्मणास्तु षट् प्रोक्ता ऋषिणा तत्त्ववादिना। आद्यो राजभृतस्तेषां द्वितीयः क्रयविक्रयी। तृतीयो बहुयाज्यस्याच्चतुर्थो ग्रामयाजकः। पञ्चमस्तु भृतस्तेषां ग्रामस्य नगरस्य च। अनागतान्तु यः पूर्वां सादित्याञ्चैव पश्चिमाम्। नोपासीत द्विजः सन्ध्यां स षष्ठो-

ऽब्राह्मणः स्मृतः ॥" आ० त० शाता० । इन वचनोंसे "जातिब्राह्मण" तो अब्राह्मणोंसे भी अधम और सबसे नीची श्रेणीमें परिगणित दिखते हैं। "जातिब्राह्मण" को पात्रता नहीं प्राप्त होती। इसीको विशद करनेको महर्षि हारीत कहते हैं—"श्रुतिस्मृती तु विप्राणां चक्षुषी देवनिर्म्मिते। काणस्तत्रैकया हीनः द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः ॥" वेद और स्मृति (धर्म्मशास्त्र) ही ब्राह्मणोंके देवनिर्म्मित दोनों नेत्र हैं। इनमें एकसे रहित काना और वेद, स्मृति, दोनोंसे हीन ब्राह्मण, चर्म्मचक्षुके होते भी, अन्धाही है। याज्ञवल्क्यमहर्षि भी "न विद्यया केवलया तपसा वाऽपि पात्रता। यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धिपात्रं प्रकीर्त्तितम् ॥" कोरी विद्वत्ता अथवा उलटे लटक कर, पंच अग्नितापनेवालेको सत्पात्र नहीं मानते। जिसमें विद्वत्ताके साथ आचारशीलता है वही यथार्थ सत्पात्र है। अपात्रको भोजन वा भिक्षा मात्र देनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है। परन्तु संकल्प और मन्त्रपाठपूर्वक दानका अधिकारी तो सत्पात्र ब्राह्मण ही है। शातातपकी आज्ञा है—"मन्त्रपूर्वञ्च यद्दानं अपात्राय प्रदीयते। दातुर्निकृत्य हस्तन्तद्भोक्तु र्जिह्वान्निकृन्तति ॥"—कि श्राद्धादिकमें मन्त्रपाठपूर्वक संकल्प किया अन्न, जो कोई मूर्खता वा हठसे अपात्रको देता है; वा अपात्र उसे भोजन करता है; परलोकमें देनेवालेके हाथके साथही उस खानेवालेकी जिह्वाका भी छेदन होता है। अपात्रके न देनेमें धर्मशास्त्रोक्त व्यतिक्रम दोष भी नहीं होता। कारण, वही शास्त्र यह भी स्पष्ट उल्लेख कर रहा है—"यस्य चैव गृहे मूर्खः दूरे चापि बहुश्रुतः। बहुश्रुताय दातव्यं नास्ति मूर्खे व्यतिक्रमः ॥ ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति विप्रे वेदविवर्जिते। ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य न हि भस्मनि हूयते ॥" पात्रका परित्याग कर, मूर्ख अपात्रको वैसा दान देना, प्रज्वलित अग्निको छोड़ कर, भस्ममें वृथा घी डालनेके समान है।

परन्तु कुलपुरोहितोंका स्वत्वाधिकार यजमानके घर ऐसा सुदृढ़ हो गया था कि उनके विषयमें पिता माताके तुल्य ज्ञानसे, शास्त्रको भ-

निरालो पद्धतिका अवलम्बन करना पड़ा। 'आत्मनस्तु भवेत्पात्रं नान्यस्य स्यात्पुरोहितः। पुरोहिते तु स्वे दत्तं दानमक्षय्यमुच्यते।" वि० ध०। अर्थात् पुरोहित, यजमानके लिये, सदा पात्र ही है। उसकी अपात्रता कुपात्रताका विचार तो दूसरोंके लिये है। यजमान अपने कुलपुरोहितको जो देगा वह उसका अक्षयदानका फलभागी होगा। बिना पुरोहितको दिये उसको सिद्धि ही न होगी। इसी रीतिसे शास्त्रकी आज्ञा, माता, पिता, गुरु और ब्रह्मवादियोंके सम्बन्धमें भी स्वतन्त्र दिखती है। यथा—"मातृपितृगुरुब्रह्मवादिनां दीयते तु यत्। तल्लक्षगुणितं विन्द्यात् पापं वा पुण्यमेव वा॥" इत्यादि। माता, पिता, गुरु, और ब्रह्मवेत्ताके सम्बन्धके पाप और पुण्य दोनोंका ही लाखगुना फल कर्त्ताको भोगना पड़ेगा। तात्पर्य यह कि कुलपरम्परागत दृढ़ स्वत्वाधिकार और सम्बन्धके गुरुत्वके कारण ही इनके विषय शास्त्रको भी बाध्य होकर न्यायानुसार ही विशेष विधि देनी पड़ी। परन्तु केवल अपने यजमानसे प्राप्तिमात्रका सम्बन्ध अप्रतिहत रखनेके सिवाय, ब्रह्ममण्डलीमें कठिन ज्ञातिअपमानसे छुटकारा तो इस विशेष विधिके किये भी न होसका। अपात्रकुपात्रमात्र "अपाङ्क्तेय" श्रेणीमें ही गिने गये। शिष्ट कुलीन सारस्वतोंकी पंक्तिसे वहिष्कृत किये गये। एक पङ्क्तिमें बैठकर सहभोजन करनेकी भी सामर्थ्य इनकी न रही। इस समयके शिक्षिताभिमानी बिना सोचे समझे ही कुलपुरोहितोंके उस 'स्वत्व' के उच्छेदको बद्धपरिकर होते दिखते हैं। परन्तु सब प्रकारकी अवनति और अनिष्टके एकमात्र मूलकारण "समाज विप्लव" के प्रतिकारकी चेष्टा तो दूर रही, प्रत्युत स्वयं इस टूटी फूटी दशामें भी "समाज विप्लवकर्त्ता" बननेमें ही कुछ गौरव मानते हैं। परन्तु धन्य हमारे पूर्वज परिणामदर्शी ऋषियोंकी बुद्धि! उन श्रद्धेय दूरदर्शी महापुरुषोंने सामाजिक 'अपमान' और 'मानप्रतिष्ठा' रूप ऐसा सुन्दर नियामक 'यन्त्र' अपनी समाजके भावी कल्याणार्थ रच दिया था कि जबतक वह अद्भुत यन्त्र

अपनी गति पर ठीक ठीक चलता रहा; तबतक किसी प्रकारकी भी विशृङ्खला ब्राह्मण समाजमें न होने पायी। "सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।" गी०। लब्धप्रतिष्ठमानीका अपमानित होना तो मौतसे बढ़ कर है। सुतरां, जबतक समाज सजीव रही, जब तक इसकी वह सुश्रृङ्खला टूटने न पायी, तब तक पुरोहित मंडली इस विशेष विधिके होते भी, अपमान भयसे अपने पूर्वजोंकी लीकपर ही चला की। उस नियामक यन्त्रकी भयङ्कर पङ्क्तिबहिष्करणरूप अपमान करनेवाली मूर्त्तिसे ये सदा डरते और थर थर कांपते ही रहे।

उधर उसी अद्भुत नियामक यन्त्रकी दूसरी पार्श्ववर्त्तिनी मनमोहिनीमूर्त्ति, अपनी आकर्षणी शक्तिसे, सब ब्राह्मणोंमें शिरोमणि 'पङ्क्तिपावन' रूप मानप्रतिष्ठाके लाभार्थ, ब्राह्मणोंको श्रोत्रिय, बहुज्ञ, तपस्वी, और आचारशीलशिरोभूषण, बनानेको अहर्निश, सौगुने उत्साहके साथ प्रोत्साहितकर बलपूर्वक अग्रसर करने लगी। अपाङ्क्तेयों के दूषण, और पंक्तिपावनोंके सद्गुणोंपर ध्यान देनेसे ही समाजकी उस समयकी मूर्त्ति, नेत्रोंके साम्हने खड़ी होजाती है।

"ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः। तान्हव्यकव्ययोर्विप्रान नर्हान् मनुरब्रवीत्॥" यहांसे प्रारम्भकर "कृषिजीवीश्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च। औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा। प्रेतनिर्हारकश्चैव वर्जनीयः प्रयत्नतः। एतान् विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान्। द्विजातिप्रवरोविद्वानुभयत्र विवर्जयेत्। ब्राह्मणस्त्वनधीयानः तृणाग्निरिव शाम्यति। तस्मै हव्यं न दातव्यन्नहिभस्मनिहूयते" यहांतक मनुस्मृतिमें केवल इन अधम अपाङ्क्तेयोंका ही उल्लेख है। स्थानाभावसे सब उद्धृत नहीं कर सके, सज्जनोंसे अनुरोध है कि मनुस्मृति, पद्मपुराण आदिमें विस्तारपूर्वक लिखे हुए पङ्क्तिदूषकोंके लक्षणोंको अवश्य ध्यानसे पढ़ देखें। याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—"विहितस्याननुष्ठानात् निन्दितस्य च सेवनात्। अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणांनरः पतनमृच्छति।"

जिन दुष्ट आचरणोंसे धर्म्मनीति, समाजनीति, राजनीति और शिष्टाचारकी प्रतिकूलता और हानि होकर पापसंचयके साथ समाज और सुनीतिकी अवनतिका कुछ भी सम्भव दिखा, उन्हीं कामोंको ब्राह्मणाधम अपाङ्क्तेयोंके लक्षणमें सन्निवेशित किया दिखता है। विशेषतः मूढ़ और अनाचारी ब्राह्मणोंकी उससमय पूरी दुर्दशा थी। उन अपाङ्क्तेयोंके गुरुतर व्यक्तिगतदोषोंसे उनके कुल भी दोषी और पतित बना दिये जाते थे। कारण अनाचार और मूर्खता ही कुलोंके नीचे होनेकी मूलभित्ति थी। कूर्म्मपुराणके सोलहवें अध्यायमें लिखा दिखता है---"गोभिश्च दैवतैर्विप्रैः कृष्याराजोपसेवया। कुलान्यकुलतां यान्ति यानिहीनानि वृत्ततः। कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च। कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च। अनृतात् पारदार्य्याच्च तथाऽभक्ष्यस्य भक्षणात्। अश्रौतधर्म्माचरणात् क्षिप्रं नश्यति वै कुलम्। अश्रोत्रियेषु वै दानात् वृषलेषु तथैव च। विहिताचारहीनेषु क्षिप्रं नश्यति वै कुलम्।" तथा नीचकुल और श्रेणीके मनुष्योंके सम्बन्धोंसे भी अधःपतन अवश्यम्भावी समझकर उसी अध्यायमें यह भी उल्लेख है कि "याजनं योनि सम्बन्धं सहवासञ्च भाषणम्। कुर्वाणः पतते जन्तुस्तस्माद् यत्नेन वर्ज्जयेत्।" नीचकुलके अधः पतितोंके घरकी वृत्ति, उनकी कन्याका पाणिग्रहण, उनका सहवास, संसर्ग और यहां तक कि उन नीचोंसे सम्भाषणका भी निषेध है। इससे यह तो स्पष्ट है कि उस समय समाजबन्धन कैसा सुदृढ़ और सुशृंखलाबद्ध सर्वाङ्गसुन्दर था। आचारहीन और मूर्खोंके "कुल" पतित होनेके साथ ही कैसी विशेष घृणाकी दृष्टिसे देखे जाते थे? समाजके माननीय सत्पात्र कुलीन ब्राह्मण उनसे सम्भाषण तक करनेमें महापाप समझते थे। विशेष इस विषयको और कहांतक लिखें। उस उन्नतिके सर्वोत्तम समयमें सामाजिक इस अप्रतिष्ठा और अपमानसे मूर्ख ब्राह्मणोंका सर्वसाधारणमें ऐसा घोर अनादर था कि जिसके भयसे साध्यानुसार

ब्राह्मणमात्र बाल्यावस्थासे ही विद्याभ्यास और शिष्टाचरणकी शिक्षामें तन मन धनसे नियुक्त रहते थे। जबतक समाजका यह शासन ठीक-ठीक प्रवर्त्तित रहा तबतक उक्त विशेषविधि, पुरोहित कुलको किञ्चित्-मात्र भी अवनत नहीं कर सकी थी। इससमय समाज शासनके अभावसे और चौपदानन्द लोभी चौधरियोंके घोर अन्यायसे ही समाजकी यह वर्त्तमान घोर दुर्दशा हुई दिखती है।

पङ्क्तिपावन ब्राह्मण वे ही शिष्टसज्जन कहाते हैं कि जिनकी पङ्क्तिमें बैठे, जितनी दूरतक दृष्टि पहुंचती है, उतनी दूरतक बैठे हुए अपवित्रभी पुनीतदृष्टिपातमात्रसे सर्वथा पवित्र हो जाते हैं। लिखा है—"अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च। श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः। त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्नि स्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित्। ब्राह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामगएव च। वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः। शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः॥" मनुः॥ "ये सोमपा विरजसो धर्मज्ञाः शान्तचेतसः। व्रतिनोनियमस्थाश्च ऋतुकालाभिगामिनः। पञ्चाग्निरप्यधीयानो यजुर्वेदविदेव च। बह्वृचश्च त्रिसौपर्ण स्त्रिमधुर्वाऽथ यो भवेत्। त्रिणाचिकेतश्छन्दोगो ज्येष्ठसामग एव च। अथर्वशिरसोऽध्येता रुद्राध्यायी विशेषतः। अग्निहोत्रपरो विद्वान् न्यायविच्च षडङ्गवित्। मन्त्रब्राह्मणविच्चैव यश्चस्याधर्मपाठकः। ऋषीव्रती ऋषीकश्च तथा द्वादशवार्षिकः। ब्राह्मदेयानुसन्तानो गर्भशुद्धः सहस्रदः। चान्द्रायणव्रतचरः सत्यवादी पुराणवित्। गुरुदेवाग्निपूजासु प्रसक्तो ज्ञानतत्परः। विमुक्तः सर्वतोधीरो ब्रह्मभूतो द्विजोत्तमः। महादेवार्च्चनरतो वैष्णवः पङ्क्तिपावनः। अहिंसानिरतो नित्यमप्रतिग्रहणस्तथा। सत्रीचदाननिरतो विज्ञेयः पङ्क्तिपावनः। मातापित्रोर्हिते युक्तः प्रातःस्नायी तथा द्विजः। अध्यात्मविन्मुनिर्दान्तो विज्ञेयः पङ्क्तिपावनः। ज्ञाननिष्ठो महायोगी वेदान्तार्थविचिन्तकः। श्रद्धालुः श्राद्धनिरतो ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः। वेदविद्याव्रतस्नातो ब्रह्म-

चर्य्यैपरः सदा। आथर्वणोमुमुक्षुश्च ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः।" कू० पु०। साङ्गवेदाध्यायी, श्रोत्रिय, संगतकुलीन वेदार्थके ज्ञाता, त्रिणाचिकेत" अध्वर्यु, अग्निहोत्री, सुपर्णऋषिप्रवर्त्तितव्रतधारी त्रिसुपर्ण, सुवक्ता, नित्यवेदोक्त यज्ञानुष्ठानकारी, उक्त सर्वसद्गुणसम्पन्न, ब्रह्मचारी, शिष्ट ब्राह्मणोत्तम, इन पङ्क्तिपावनोंका जबतक समाजमें मान था, देवतुल्य समझ, जबतक सभी इनकी भक्तिपूर्वक पूजा करते थे, जबतक सबसे बढ़कर प्रतिष्ठा इन्हींकी होती थी, तभीतक ब्राह्मण समाज ऐसे सज्जनो-से समलङ्कृत भी दिखायी देती थी। पङ्क्तिपावनोंसे जिस समय ब्रह्म-भोजकी पुनीत पङ्क्ति, अपने पवित्रतम तेजसे दर्शकजनोंके नेत्रोंमें चकाचौंधका अपूर्व चमत्कार दिखाती थी; भारतका वह भी एक दिन था। अब कब ईश्वर फेर वैसा दिन दिखावेगा?

वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके अट्ठाइसवें द्वापरयुगके अन्ततक, इन ब्राह्मणोंमें संकल्पसिद्धि, तपोबल और सब विद्याकी पारदर्शिताके साथ वर्णाश्रमधर्म्मकी पूरी मर्य्यादा भी दिखायी देती थी; परन्तु महाभारत-के युद्धके अवसान होने पीछे तो क्रमक्रमसे भारतकी गिरती दशा ही दिखी। भारतके सौभाग्यसूर्य्य अस्ताचल शिखरपर तो महाभारतके युद्धसमयमें ही पहुंचगये थे। पीछे तो इस दुर्भाग्यदेशको घोरसे घोरतर मोहान्धकार, राक्षसवत् ग्रास करने लगा। राजविद्वेषसे अरा-जकता तककी नौबत आने लगी। ब्राह्मणोंमें भी पुनः परस्परका बड़ा भारी विद्वेष शुक्लयजुर्वेदकी वाजिसनेयी संहिताके विरोधसे खड़ा हुआ। इसी कलहके कारण राजाजनमेजयको भी शापित हो वनमें जाना पड़ा था। ब्राह्मणोंमें भी परस्परके अभिशापोंसे पूरी दुर्द्दशा हुई थी। मत्स्य-पुराणके ५० वें अध्यायमें इस विषयके मर्म्मका आभासमात्र दिखाया है। युगधर्म्मानुसार कलियुगके प्रवर्त्तनसे क्रमशः जैसी दुर्द्दशा धर्म्म, कर्म्म और समाजकी होनी उचित थी, वैसी ही उत्तरोत्तर शीघ्रतासे होने लगी। धर्म्मविप्लव, राजविद्रोह और अशान्तिने अपनी जड़ जमायी

ब्राह्मणोंमें इधर आपसका द्रोह जैसा बढ़ रहा था, साथ ही गौतम-बुद्धके आविर्भाव और जैन, बौद्धधर्म्मकी उन्नति और उपराबढ़ीसे सनातनधर्म्मकी भी वैसी ही विशेष हानि होने लगी। धनलोलुप, विदेशीय यवन राजा भी औसर पाकर भारत अधिकार करनेको उसी समय विशेषतया आगे बढ़ने लगे। इसलिये घरकी फूट और बाहरी शत्रुओंके पुनः पुनः आक्रमणसे भारतकी दुर्दशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। बीचबीचमें चन्द्रगुप्त आदि राजाओंने अपने प्रतापसे बाहरी शत्रुओंका तो कुछ कालतक यथासाध्य दमन भी किया। परन्तु भीतरी दुर्दशा, धर्म्मविप्लव और समाजविप्लवसे उत्तरोत्तर बद्धमूल ही होती गयी। प्राचीन क्षत्रिय राजवंशका विनाश महाभारतके युद्धसे और तदनन्तर यादवोंके आपसमें कटमरनेसे हो ही चुका था। जो कुछ बचे हुए थे, उनको नन्दवंशोद्भव प्रबलप्रतापी निर्दय महापद्मने नष्ट किया। विष्णुपुराणमें लिखा है—"महानन्दिसुतश्शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धः महा-पद्मोनन्दः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रान्तकारी भविता। ततः प्रभृतिशूद्रा भूपाला भविष्यन्ति। सचैकच्छत्रामनुल्लङ्घितशासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यति।...मौर्य्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्ये-ऽभिषेक्ष्यति।...मगधायां विश्वस्फटिकसंज्ञोऽन्यान् वर्णान् करिष्यति। कैवर्त्त पटुपुलिन्दब्राह्मणान् राज्येस्थापयिष्यति। उत्पाट्याखिलक्षत्रजाति-नवनागाः पद्मावत्यां कांतीपुर्यां मथुरायां अनुगंगां प्रयागं मागधाः सुह्माश्च भोक्ष्यन्ति कोशलेन्द्रताम्रलिप्तान्।" इससे वर्णसंकरोंका राज्य-प्रताप, संकरीसृष्टिका विशेषप्रचार और प्राचीन क्षत्रियराजवंशके पैतृकराज्यके साथही उन विशुद्ध क्षत्रियोंके कुलका भी सर्वथा नष्ट भ्रष्ट होना, भलीभाँति सुप्रमाणित होता है। विशुद्ध क्षत्रियजातिकी जैसी कुछ घोरदुर्दशा उसकठिन समयमें हुई थी, यद्यपि पुरोहित सारस्वत-कुलतिलक पूजनीयब्राह्मण सर्वथा अपने प्राणोंपर खेलकर उससमय इनकी रक्षा मन्त्रोपचार और संरक्षण आदिसे न करते तो आज संसारमें

इस दूसरे क्षत्रियान्तक परशुरामपद्म और यवनागोंका डसा हुआ; एक भी विशुद्धवंशका क्षत्रिय जीवित न दिखता। पुरोहितोंके बचाये हुए विशुद्धक्षत्रियकुलकी कुलोचित रीतियोंका किञ्चित् परिवर्त्तन और बिना बाजे गाजे चुपचाप विवाह करनेकी रीति भी संभवतः इस कठिन-समयमेंही उत्पन्न होकर, भविष्यमें अत्याचारी मुसलमान बादशाहोंके राज्यके समय और भी विशेष सुदृढ़ हो गयी थी। राज्य और स्वदेशके परहस्तगत होनेके कारण, ये बिचारे विशुद्ध क्षत्रियकुलके राजकुमार देश देशान्तरोंमें पूरी दुर्द्दशासे पुरोहितोंके आश्रित होकर भी शत्रुभय-से पीड़ित, गुप्तभावसे इधरसे उधर मारे मारे फिरते रहे। महापद्मके समयके भागे हुए बहुतसे क्षत्रिय जंगल और पहाड़ोंमें पशुपालककी बुरीदशामें इस समय भी जीवनरक्षा करते, हिमालयकी तराईमें केवल क्षत्रियोचित रूपछटासे ही पहिचाने जाते हैं। उनमें बहुतेरे आज भी अपना प्राचीनवंशपरिचय विशुद्धक्षत्रियोंकी जातिद्वारा ही देते हैं। और इस दुर्द्दशाको पहुंचकर भी खेतीकरना वा हल चलाना सर्वथा अयोग्य और अनुचित समझते हैं। अतएव ऐसी घोर अवनतिके समयमें पूर्वकालकी वर्णाश्रमधर्म्ममर्य्यादाका अपने यथार्थ स्वरूपमें स्थिर रहना कैसे सम्भव था? पूज्यपाद शंकराचार्य्यस्वामीका अवतार, समयपर जो न होता, तो आज सनातन धर्म्मकर्म्मका नाम भी भारतमें न रहता। तथापि गर्भाधानसे प्रारम्भकर विवाहतक सभी संस्कार समयोचित जैसी विशुद्ध शास्त्रीय पद्धतिसे इन क्षत्रियोंके होते आये यह भी कुछ कमती प्रशंसाकी बात उस समयके देखते, नहीं थी। कारण, अधिकांश प्रजा, जैन, बौद्ध, व्रात्य और वर्णसंकर उसी समयसे हुई। राजपूत छत्री और खत्रीका भेद भी उसी समय, विवाहभेदसे उत्पन्न हुआ। उस कठिनकालमें भी विशेषकर, विवाहके नियमोंकी कठिनताका पालनकर, इन लोगोंने अपनी 'नसल' को बिगड़ने न दिया था; यही क्या कम काम किया था? (दुःखका विषय है कि प्रतापी

अंगरेजोंके इस शान्तिमयराज्यमें अब क्रमशः उस 'नसल'के बिगाड़ने-की झांक सी इन क्षत्रियोंमें स्वतः चल पड़ी दिखती है।)

अस्तु, समय और राज्यके परिवर्त्तनसे समाजके स्वरूपमें भी क्रमशः कुछ विशेषरूपसे परिवर्त्तन, द्रुतगतिसे होने लगा। समाज-बन्धन पूर्वापेक्षा विशेष शिथिल हो गया। गुणसे सारस्वतोंकी उत्तम-ताकी वह सनातन सर्वोत्तम परिपाटी बदलकर इस समय केवल 'कुल'-की रक्षा और विवाहादिमें 'करतूत' दिखानेपर ही आ लगी। "गुणा-भावेऽपितद्वंश्याः कुलीनाः कल्पतः परम्॥" इसप्रकारके वचनोंका सहारा लेकर, उत्तम कुलीनकुलके गुणहीन ब्राह्मण भी केवल अपने उत्तमकुलके माहात्म्यसे ही पुजने और सर्वोत्तम गिनेजाने लगे। अन्तको सर्वोत्तम 'आढ्यकुलकी' कुलीनतारक्षाका सम्बन्ध केवल कन्याके विवाहसम्बन्धमें ही सुदृढ़ रह गया। शास्त्रोंमें लिखा भी दिखता है—"कुलंकन्यागतं प्रोक्तं, कन्या कुलमयी मता। तदादानप्रदानाभ्यां कुलं ह्रसति वर्द्धते।"—कि यथार्थतः कुल कन्यागत ही है; इसीसे कन्या कुलमयी है। अतएव कन्याके आदानप्रदानसे ही कुलोंके ऊंचे नीचे होनेका प्रधान सम्बन्ध है। अर्थात् उत्तम आढ्यकुलकी कन्या अपेक्षा-कृत नीचे कुलमें बैठेगी तो कुल बिगड़ेगा; और नीचे कुलकी कन्या सर्वोत्तम आढ्यकुलमें ब्याही जायगी तोभी भविष्यमें उस आढ्यकुलकी कुलीनतामे बट्टा लग ही जायगा। जिससमय केवल कन्याके इस विवाह सम्बन्धसे ही सर्वथा आढ्यकुलकी कुलीनताके बनने बिगड़नेका सम्बन्ध आलगा था। उसी समयसे उत्तमकुलीनोंमें गर्भस्थितिके अन-न्तर पेटके बच्चोंके ही सम्बन्ध सुदृढ़ करनेकी कुचाल भी धीरे धीरे चल पड़ी थी। और "प्रसूतिमात्रे कन्यायाः वाग्दानं कुललक्षणम्।" कन्याके भूमिष्ठ होते ही सम्बन्ध पकाकर लेनेको लोग आढ्यकुलका सर्वोत्तम एक लक्षण भी मानने लगे थे। आजतक आढ्यकुलीनोंमें "घट्टीमें बताशा" डालना और कन्याके अभिभावकोंसे उसीके साथ 'मुद्दों

अखाने की रीति कहीं कहीं दिखजाती है। परन्तु आनन्दका विषय है कि समयकी गतिसे पेटमें ही बच्चोंकी कुड़माई अर्थात् वाग्दान और विवाह सम्बन्धमें सीमातिरिक्त शीघ्रताकी कुचाल प्रायशः नष्ट होती जाती है। इससमय यह प्रथा सर्वसाधारण कुलीन सारस्वतोंकी रुचिके विरुद्ध दिखती है। जिन कुलोंमें मूर्खस्त्रियोंका ही एकाधिपत्य है, केवल उन्हींमें ऐसे सम्बन्ध इस समय भी दृष्टिगोचर होते हैं। अवश्य, आठवर्षकी अवस्थासे दस बारह वर्षकी कन्याके विवाहकी आज्ञा धर्म्मशास्त्रोंमें दिखती है ; परन्तु गर्भस्थकन्याका वाग्दान और उक्त अवस्थासे कमती अवस्थामें कन्याओंका सम्प्रदान, धर्म्मशास्त्रोंका सर्वथा अनुमोदित नहीं है। भारतवर्षमें तीनसे पाँच वर्षतककी अवस्थाके बच्चोंकी मृत्युसंख्या भी अधिकतासे दिखती है। इसलिये गर्भस्थ-कन्याका वाग्दान होजावे पर ४।५ वर्षकी अवस्थाके भीतर ही ईश्वरेच्छासे कहीं उस बालककी विपत्ती होगयी तो चलो दूधपीती कन्या ही पुनर्भूदोषसे दूषित होजाती है। दूसरे, ऐसे सम्बन्धमें कन्यावरकी अवस्था भी प्रायः समान ही होती हैं। यह भी एक बड़ाभारी दोष है। जहाँतक ऐसे सम्बन्धोंकी कुरीति उठजाय वही प्रयत्न गृहस्थमात्रका कर्त्तव्य है। कारण शास्त्रोंमें—"अन्यपूर्व्वागर्भजाता धनक्रीता रजस्वला। रोगिणी दौष्कुलेया च कन्याः पञ्चकुलाधमाः।" पुनर्भूकी कन्या, धनसे मोल ली हुई, रजस्वला, रोगिनी और अधमकुलकी कन्या, सबसे निकृष्ट और कुलकी बिगाड़नेवाली लिखी है।

विवाह सम्बन्धसेही कुलके ऊँचे नीचे होनेका सबसे विशेष घनिष्ठतम सम्बन्ध है। बल्कि इससमय तो उत्तम कुलोंकी परीक्षाका यही एकमात्र उपाय अवशिष्ट देखनेमें आता है। सर्वोत्तम आढ्यकुलके कुलीनोंसे प्रारम्भकर निम्नश्रेणीके "जाति ब्राह्मणों" तक क्रमशः ऊँची नीची श्रेणीका परिज्ञान, कन्याके आदान सम्प्रदान सम्बन्धोंके ज्ञानसे ही इस समय होता है। सातपीढ़िये आढ्यकुलीन वे ही कहलाते हैं,

जिनके कुलमें ज्येष्ठ पुत्रका विवाह, ऊपरकी पांच वा सात पीढ़ीतक सिवाय उत्तम आढ्यकुलकी कन्याके और किसी नीचे कुलकी कन्यासे कभी नहीं हुआ। सिवाय इसके जिस कुल या थोकके ब्राह्मण अपनेसे ऊँची श्रेणीमें कन्यादान कर सकते हैं, पर उस श्रेणीसे कन्या ले नहीं सकते, वे ही अपेक्षाकृत नीची श्रेणीमें गिने जाते हैं। परस्पर लेन देन जिनमें होता आया है वे सब समान श्रेणीके गिने जाते हैं। यद्यपि सनातनसे यही परिपाटी चली आती थी; परन्तु दुःखकी विषय है कि इधर थोड़े दिनोंसे मूर्खताका अधिकार विशेष बढ़ जानेसे आपसकी फूट, ईर्षा, द्वेष और कोरी ढाईघरीके अयोग्य घमण्ड और अत्याचारने, सनातन कौलीन्य मर्य्यादाका इस समय पूर्ण रीतिसे तिरस्कारकर विवाह सम्बन्धकी अनोखी नवीन प्रथा चलायी है। इस प्रथाको प्रवर्त्तित हुए अभी समय विशेष नहीं बीता, इसीसे पुरानी नातेदारीके चिन्ह और पुराना सटीक हाल जाननेवालोंकी मुँहजबानी तथा पुस्तकोंके लिखित प्रमाणसे भी, सारस्वतोंकी ऊँची नीची अन्तरङ्ग श्रेणीविभागका क्रम जानलेनेमें कुछ भी कठिनता नहीं पड़ती है। तथापि भविष्यमें इस नवीनप्रथाका परिणाम उत्तम नहीं दिखता। अदूरदर्शी लोगोंके परस्पर अनैक्यसे उत्पन्न अयोग्य विवाहसम्बन्ध और सगोत्रापरिणयकी अनर्थकारी यह कुप्रथा फैलेगी तो सम्भव है कि शीघ्रही अपना संहारकरूप भी दिखावेगी। समयपर चैतन्योदयके न होनेसे इन अग्रजन्मा सारस्वतोंकी होनहारदशा विचारशीलमात्रको बहुत ही शोचनीय दिख रही है। बड़े बड़े कठिन समयोंमें जो नहीं बिगड़ी थी; अब उस 'नसल' बिगड़नेके दिन साम्हने आते दिखते हैं।

यद्यपि पञ्जाबप्रदेशभरमें ही सारस्वतोंका निवास अधिकतासे है। परन्तु प्रतापी क्षत्रियराजकुलोंकी राजधानी मथुरा, प्रयाग, काशी, इन्द्रप्रस्थ आदि भारतवर्षके सुप्रसिद्ध महानगरोंमें भी बहुतदिनोंसे सारस्वत बसते हैं। इनस्थानोंके अतिरिक्त इतिहासोंसे यह भी पता लगता

है कि अंगरेजी ईस्वी सनकी सातवीं शताब्दीसे मुसलमानोंके अधिकार-कालतक यथार्थ क्षत्रियराज कुलकी दुर्दशा, बौद्धधर्म्मका अभ्युदय ; आततायी नवीन नीचकुलके राजाओंकी उपराचढ़ी युद्ध और अराजकता-के कठिन समयमें, पंजाबके सारस्वत ब्राह्मणोंमें बहुतसे तो अपनी जन्मभूमिसे भागभागकर दूसरे दूरदेशोंमें वा राजपूताना और सिंधके मध्यवर्ती जंगलोंमें जा बसे । परन्तु कुछ वीरधर्म्मा ब्राह्मणोंने अग्रसर हो, लड़तेभिड़ते उसीसमय काबुलतक अपना अधिकार भी करलिया था। राजा बनार इन्हींमें एक था। उसके नामसे ही काबुलप्रान्तमें बनारप्रदेश बसा। सिन्धमें भी सारस्वतोंका विशेष निवास उसीसमय-से हुआ दिखता है। उससमयके इन ब्राह्मणोंके अधिकृत देशकी राज-धानी "उहन्द" अनुमित होती है। सिन्धके ब्राह्मणराजा 'चच' थे। परन्तु मुसलमानोंके अधिकारके पीछे तो पंजाबप्रान्तके सारस्वत ब्राह्म-णोंको और भी विशेष आपत्ति झेलनी पड़ी। उससमय प्राणभयसे भागे हुए ही बहुतेरे दूरदेशों में जा पड़े। उनमें कुछ तो राज्यकी सुशृ-ङ्खला और शान्तिके पुनः प्रतिष्ठित होनेपर, अपनी स्वर्गसे भी गरीयसी जन्मभूमिमें फेर आबसे ; और कुछ दूसरे देशोंमें ही रह गये। विदेशमें रहकर भी जिनब्राह्मणोंने विवाहसम्बन्ध स्वदेशियोंसे अपनी समाजमें ही बराबर ठीकठीक किये, उनकी तो स्वतन्त्रमण्डली न बनी। परन्तु विदेशमें बसकर जिनसारस्वतोंने स्वदेश और स्वजातिसे सम्बन्ध छोड़कर विदेशमें उतरकर विवाह करलिया उनकी क्रमशः स्वतन्त्र मण्डली बनती गयी। बहुतेरे वर्णसंकरताकी वृद्धिसे भी नष्ट भ्रष्ट हुए।

लाहौर ही पञ्जाबप्रदेशकी प्राचीन राजधानी है। कहते हैं कि श्री-रामचन्द्रजीके पुत्र लवके नामानुसार इसका विशुद्ध नाम "लवपुर" था अपभ्रंशसे बिगड़कर लाहौर हुआ। सारस्वतोंमें लाहौरके निवासी आढ्यकुलके सारस्वत ही "ढाईघर लाहौरिये" कहाये। इसी प्रकार

मुलतानके मुलतानिये, पिशौरके पिशौरिये, गुजरातके गुजरातिये, पहाड़-के पहाड़ी और त्रिगर्त्त देशके निवासी सारस्वत ही 'डोगरे' आदि प्रसिद्ध हुए। तात्पर्य्य यह कि जिस प्रदेशमें जो जा बसा उसदेशके नामानुसार ही उस थोकका नाम भी पड़ा। इसप्रकारके अनेकों भीतरी अवान्तर भेद इन सारस्वतोंमें हैं। सारस्वतपञ्चनद प्रदेशकी सुप्रसिद्ध राजधानी-के बसनेवाले ब्राह्मणोंके विषयको सबसे प्रथम लिखकर, क्रमशः औरोंके विषय भी यथासाध्य लिखनेकी इच्छा है।

सर्वोत्तम 'पञ्चजातिके' सारस्वतोंका विवरण

लवपुरके सारस्वत आढ्यकुल कुलीनोंकी (लाहौरिये ढाईघर ब्राह्म-णोंकी) यह पञ्चजाति ही सबसे प्राचीनतम और उस प्रान्तके निवासी सारस्वत ब्राह्मणमात्रकी मान्य और सर्वसम्मतिसे सर्वोत्तम परिगणित होती आयी है। गोत्रप्रवर्तक प्रधानपरमर्षियोंकी सर्वप्रथम संगठित "पञ्चजातिके" ऋषियोंके आढ्यकुलके कुलीन सन्तानोंसे विभूषित होनेके कारण ही ये ब्राह्मण, प्राकृतभाषामें भी "ढाईघर"के कहाये। 'कुल-का पर्याय ही देशीभाषा में घर या घराना है। इसीप्रकार 'आढ्य' का अपभ्रंश होकर ही 'अढ़ाई' वा 'ढाई' बनगया है। 'य' और 'ई' का बदला अपभ्रंशमें बहुधा होता है। इसको उत्तम प्रकारसे न समझ-कर, मूर्ख चौधरियोंने विविध प्रकारकी मनगढ़ी कल्पना, ढाई घरका दो और आधा, अर्थ समझकर की है। उस भ्रान्तमतके विशेष प्रचार-से ही इससमय लोगोंकी बुद्धि यथार्थ तत्त्वग्रहणकी ओर नहीं जाती। इस सर्वोत्तम पञ्चजातिके ब्राह्मणोंकी संज्ञा भी अपभ्रंशसे बिगड़कर ऐसी हो गयी है कि इससमय उनका अर्थबोध सहजमें नहीं होता। 'कुमड़िये' 'जैतली' "झिंगड़" "तिक्खे" और "मोहले" इन पांच कुलके

कुलीन ब्राह्मणोंसे वर्त्तमान समयमें उक्त पञ्चजाति संगठित दिखता है। परन्तु प्रायः दो सौ वर्ष पहिले इस पञ्चजातिमें "मोहल्ले" नहीं थे। उप-मन्यु गोत्रज "पम्बू" किसी विशेष पञ्चायती झगड़ेके कारण जिस समय-से पञ्चजातिसे निकाल दिये गये ; उसी समयसे मोहलोंको पञ्चजातिके अन्तर्भुक्त किया दिखता है। इस दुर्घटनाको अनुमान दो सौ वर्ष हुए हैं। दुःखका विषय है कि लिखित प्रमाणके सर्वथा अभावसे इससमय यह यथार्थ नहीं विदित होता कि किस गुरुतर अपराधके कारण पम्बु-ओंको ऐसा कठोर दण्ड दिया गया था ? यजमान कपूरोंकी वृत्ति भी उसी समयसे पम्बुओंके अधिकारसे छिन गयी। इस जातीय घोर अपमानसे विशेष लज्जित, दग्धहृदय पम्बुओंने, न तो वृत्तिके हस्तगत करनेकी चेष्टाकी और न पञ्चजातिमें ही पुनः मिलनेकी।

"कुमड़िये" ब्राह्मण सुविख्यात परमर्षि भृगुजीके सुविशाल वंशमें, परमतेजस्वी जामदग्न्य कुलकी प्रधान शाखाके अन्तर्गत हैं। परमर्षि भृगुकी उत्पत्तिके विषयमें श्रुति प्रमाण, कुल्लूकभट्टधृत इस प्रकार है। यथा—"तस्ययद्रेतसः प्रथमं देदीप्यतेतदसावादित्योऽभवत्, यद्द्वितीयमासीद् भृगुरिति।" निरतिशयजगत्कारणरूप उक्त अग्निके वीर्यसे प्रथम सूर्यकी उत्पत्ति हुई, दूसरीवार उसी अपूर्व अग्नितेजके स्खलित होनेसे भृगुऋषि उत्पन्न हुए। कुल्लूकभट्ट इसकी व्याख्यामें "अतएव भृष्टाद्रेतस उत्पन्नत्वाद्भृगुः।" लिखगये है। निरुक्तमें भी लिखा है "अर्चिषि भृगुः सम्बभूव भृगुर्भुज्यमानो न देहे।" भृगु अग्निज्वालासे उत्पन्न हुए परन्तु उस अग्निसे उनका शरीर दग्ध नहीं हुआ।" इसवि-षयको महाभारतके अनुशासन पर्वमें भी विस्तारसे लिखा है। "देवप-त्न्यश्चकन्याश्च देवा नाश्चैवमातरः। आजग्मुः सहितास्तत्र तदाभृगु-कुलोद्वह। यज्ञं पशुपतेः प्रीता वरुणस्य महात्मनः स्वयम्भुवस्तु ता दृष्ट्वा रेतः समपतद्भुवि।...स्कन्नमात्रं च तच्छुक्रं श्रुवेण परिगृह्य सः। आज्यवद् मन्त्रतश्चापिसोऽजुहोद् भृगुनन्दन। शुक्रे हुतेऽग्नौ तस्मिंस्तु

......सहज्वालाभिरुत्पन्नो भृगुस्तस्माद् भृगुस्मृतः।" इन मान्य प्रमाणोंसे यह निश्चय होता है कि परमर्षि भृगु अग्निसे उत्पन्न हुए थे। इसी कारणसे इस वंशमें अवतारी श्रीजामदग्न्य परशुरामजी भी "अग्निवंशीय राम" नामसे ही प्रसिद्ध थे। अग्निकुमार रुद्रात्मज कार्त्तिकेय ही सदासे इस भृगुकुलके परम इष्ट एकमात्र उपास्य कुलदेव हैं। वैदिक समयकी शिवोपासनामें शिवकी सर्वप्रथमपूजनीय मूर्त्ति भी अग्नि ही है। अग्नि साक्षात् शिवरूप है। अग्निपुत्र कुमार, ब्राह्मणहितैषी, पुत्रप्रद और भृगुकुलके परम इष्ट कुलपूज्य देवता हैं। जहांकहीं श्रीकुमारका वर्णन पुराणादिग्रन्थोंमें आता है वहां "भार्गवाणां हितेरतः" "ब्राह्मणप्रियः" और "योगिनामीश्वरन्देवं" इत्यादि इनके विशेषणोंसे सुस्पष्ट, ब्राह्मणोंके भृगुकुलसे इनका घनिष्ठ सम्बन्ध सूचितदिखता है। यजुर्वेदमें "यद्-क्रन्दः प्रथमं जायमानः ."इत्यादि। यह मन्त्र ही कुमारकी पूजामें प्रयुक्त होता है। इसमन्त्रके ऋषि भी भार्गव जामदग्न्य हैं। देवसेनापति श्रीकुमार अर्थात् कार्तिकेयकी उपासना करनेवाले ही संस्कृत देववाणीमें "कुमारीय" वा कुमारोपासक विख्यात हैं। पंजाबकी प्राकृतभाषामें 'र'को बहुधा 'ड़' कहते हैं। सुतरां, देशभाषामें विकृत होकर 'कुमारीय' शब्द ही "कुमड़िया" कहा जाता है। इन 'कुमड़िये' सारस्वतमात्रके कुलदेवता, परमपूज्य इष्ट श्री १०८ "श्री जयजयकुमार" कार्त्तिकेयजी हैं। इनकी उपासना ही इन ब्राह्मणोंके 'कुमारीय' वा 'कुमड़िये' कहानेका मूल कारण है। ज्ञानप्रद परमतेजस्वी श्रीकार्त्तिकजीने शिवजीको भी एक समय प्रणवके अर्थका उपदेश किया था। इनकी अतुलशक्ति और ज्ञानका इससे बढ़कर दूसरा प्रमाण और क्या होगा?

पूर्वमें यह लिख चुके हैं कि प्रजापति, केवल कल्पकी आदिमें एकही बार अवतीर्ण होते हैं। परन्तु हरएक मन्वन्तरके सृष्टिक्रममें प्रजापतिवंशज सप्तर्षि, भिन्न भिन्न, दृष्टिगोचर होते हैं। वर्त्तमान वैवस्वतमन्वन्तरमें "अत्रिश्चैव वशिष्ठश्च कश्यपो गौतमस्तथा। भरद्वाजस्तथायोगी-

विश्वामित्रः प्रतापवान्। जमदग्निश्चलते तंसाम्प्रतं ये महर्षयः। कृत्वा धर्मं व्यवस्थानं प्रयान्ति परमम्पदम् ॥" अत्रि, वशिष्ठ कश्यप, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र और जमदग्नि, ये सात ऋषि हुए। इन सप्तर्षियोंके गोत्रज ब्राह्मण भी सुतरां इस मन्वन्तरमें विशेषतासे वर्त्तमान हैं। गोत्रप्रवरनिर्देशक शास्त्रोंमें "भृगूणामेवाग्रे व्याख्यास्यामः।" भृगुवंशका ही सबसे प्रथम उल्लेख दिखता है और भृगुवंशके वर्णनमें प्रारम्भमें ही जामदग्न्य 'वत्स' गोत्रके प्रवरोंका उल्लेख है। गोत्रसे वंशका परिचय और प्रवरोंमें उस कुलमें उत्पन्न 'मन्त्रद्रष्टा' तेजस्वी, वंशप्रवर्त्तक, श्रेष्ठ, ऋषियोंके नामोंका परिज्ञान होता है। उक्त सर्वोत्तम 'पञ्चजाति'-के अन्तर्गत इन कुमारीय वा कुमड़ियोंका गोत्र भार्गव जामदग्न्य "वत्स" वा 'वत्सस' है। इस वत्स गोत्रके पञ्चप्रवर विख्यात हैं। शास्त्रोंमें "सकारेण तु वक्तव्य गोत्रं सर्वत्रधीमता।" म० पु०। अन्तिसगोत्रानित्याद्युच्चार इति" हेमाद्रिः। गोत्रको सकारान्त उच्चारण करनेकी विधि है। इसीसे 'वत्स' 'वत्सस' गोत्र भी लिखा जाता है। महर्षि बौधायन इसके "भार्गव, च्यवन, आप्नवान्, और्व और जामदग्न्य" ये पञ्च प्रवर लिख गये हैं। (हिरण्यकेशी और आश्वलायनके मतसे इसके पांच वा तीन प्रवर भी विकल्पविधिसे माने जा सकते हैं। त्रिप्रवर माननेसे "भार्गव और जामदग्न्य" अथवा "भार्गव च्यवन आप्नवान्" भी इसके प्रवर हैं।

सारस्वत पञ्चजातीय कुमड़ियोंके वंशप्रवर्त्तक आदिपुरुष परमर्षि श्रेष्ठ भृगुजीकी कीर्त्ति कल्लोलिनीके पयःप्रवाहसे संसारप्लावित है। अतः उसके पुनरुल्लेखकी यहां क्या आवश्यकता है? महर्षि च्यवनकी त्रिकालज्ञताका परिचय तो मिलही चुका है। परन्तु इनके उग्रतपोबलसे अश्विनीकुमारोंको यज्ञभाग कैसे मिला था। उस प्रसंगका उल्लेख इस स्थलपर किये बिना आगे लेखनी नहीं सरक सकती। वैद्यप्रधान अश्विनीकुमारोंके बनाये परमोपकारीघृतका प्राशनकर, महर्षि च्यवन पुनः युवा

हो गये थे। उस घृतका नाम उसी समयसे 'च्यवनप्राश' प्रसिद्ध हुआ। इसके बदलेमें च्यवनऋषिने इन्द्रादि देवताओंसे लड़ झगड़, अपने अपूर्व तपःप्रभाव और मन्त्रबलसे इन्द्रको सर्वथा परास्त कर, अश्विनीकुमारोंको जिस प्रकार यज्ञभाग दिलाया, उसका वर्णन महाभारतके अनुशासन पर्वमें भी इस भांति है—"अश्विनोः प्रतिसंश्रुत्य च्यवनः पाकशासनम्। प्रोवाचसहितोदेवैः सोमपावश्विनौकुरु। इन्द्र उवाच। अस्माभिर्निन्दितावेतौभवेतां सोमपौकथम्? देवै र्न सम्मितावेतौ तस्मात् मैवं वदस्व नः। अश्विभ्यांसहनेच्छामः सोमं पातुं महाव्रत। यदन्यद् वक्ष्यसे विप्र तत्करिष्यामतेवचः। च्यवन उवाच। पिबेतामश्विनौ सोमं भवद्भिः सहिताबुभौ। उभावेतावपि सुरौ सूर्य्यपुत्रौ सुरेश्वर। क्रियतामद्वचो देवा यथा वै समुदाहृतम्। एतद्वः कुर्वतां श्रेयो भवेन्नै तदकुर्वताम्। इन्द्र उवाच। अश्विभ्यां सहसोमं वै न पास्यामिद्विजोत्तम! पिबन्त्वन्ये यथाकामं नाहं पातुमिहोत्सहे। च्यवन उवाच। न चेत्करिष्यसिवचोमयोक्तं बलसूदन। मया प्रमथितः सद्यः सोमं पास्यसिवैमखे। वायुरुवाच। ततः कर्म्मसमारब्धं हितायसहसाऽश्विनोः। च्यवनेन ततो मन्त्रै रभिभूताः सुराऽभवन्। तत्तु कर्म्म समारब्धं दृष्ट्वेन्द्रः क्रोधमूर्च्छितः। उद्यम्यविपुलशैलंच्यवनंसमुपाद्रवत्। तथावज्रेण भगवान् अमर्षाकुललोचनः। तमापतन्तन्दृष्ट्वैव च्यवनस्तपसान्वितः। अद्भिः सिक्त्वाऽस्तम्भयत्तं सवज्रं सहपर्वतम्। अथेन्द्रस्यमहाघोरं सोऽसृजच्छत्रुमेवहि। ..ते सम्मन्त्र्य ततोदेवा मदस्यास्य समीपगाः। अब्रुवं सहिताः शक्रं प्रणमास्मैद्विजायते। अश्विभ्यां सह सोमञ्च पिबाम विगतज्वराः। ततः स प्रणतः शक्रश्चकार च्यवनस्यतत्। च्यवनः कृतवानेतावश्विनौ सोमपायिनौ॥" अश्विनीकुमारोंसे यज्ञभाग दिलानेकी प्रतिज्ञा करने पीछे महर्षिच्यवनने आकर इन्द्रसे कहा कि सब देवताओंके सहित यज्ञमें अबसे अश्विनी कुमारोंको भी सोमपान कराया करो।" इन्द्रने कहा—"हमारे समतुल्य भी वे नहीं और देवता इसमें सम्मत भी

न होंगे। इसलिये आप इसे अनुचित प्रणको छोड़ और जो कुछ आज्ञा दें, करनेको उपस्थित हूं। परन्तु अश्विनीकुमारोंके सहित सोमपान तो मैं कदापि न करूंगा।" च्यवनऋषिने उत्तर दिया—"वे भी सूर्य्यके पुत्र हैं, देवता हैं मेरी यह बात तो माननी ही पड़ेगी। इसीमें तुम्हारा कल्याण है। अन्यथा अपना कल्याण न समझना।" परन्तु इन्द्रने इसपरभी स्वीकार न किया और उत्तर प्रत्युत्तरसे बात यहांतक बढ़ गयी कि मदमत्त इन्द्र, वज्रसहित पर्वत हाथमें लिये च्यवन ऋषिको क्रोधाभिभूत हो मारने दौड़े। इसभाँति इन्द्रको आते देख चुल्लू भर जलको अभिमन्त्रित-कर तपस्वी च्यवनने जैसे ही इन्द्रकेप्रति छींटा कि साथ ही इन्द्रदेवता स्तम्भित हो काठकेपुतले से निश्चल और अकर्म्मण्य जहांके तहां खड़े रह गये। तब भयभीत सब देवता आपसमें परामर्श कर, महर्षिच्यवनके शरणागत हो बोले, "इन्द्रसहित हमसब आपको प्रणामकर आपकी आज्ञा पालनेको उपस्थित हैं। अश्विनीकुमारोंके साथ सोमपान करनेको भी उद्यत हैं।" इसप्रकारसे इन्द्रके प्रणिपातपूर्वक च्यवनकी आज्ञा शिरोधार्य्य करलेनेपर, च्यवनऋषिकी महिमा और तपःप्रभावसे उसी दिनसे अश्विनीकुमार भी देवताओंके साथ सोमपान पूर्वक यज्ञभागके अधिकारी हुए।

महर्षि आप्नवानके नामकी व्युत्पत्ति ही उनके सद्गुण और सत्कर्म्मों-की परिचायिका है। "अप्नसा कर्म्मणा वानं गतिः सद्गतिरस्य।" अर्थात् अपने सुकर्म्मोंसे ही जिनकी सद्गति हुई। ऋग्वेदके मन्त्रोंमें बहुधा महर्षि आप्नवान का नाम आता है। यथा—"यमाप्नवानो भृगवो विरुरुचुः।" ऋ० ४०७—१। "और्वभृगुवदप्नुवान् अवदाहुवेअग्निंसमुद्र-सम्।" ऋ० ८०—१०२। तदनन्तर, महातेजस्वी और्वका परिचय तो पहिले ही मिलचुका है। यहां उनके विषयकी केवल यह एक बात अवश्य स्मरण और उल्लेखयोग्य है कि "आग्नेयास्त्र" बन्दूक वा तोपको आवि-ष्क्रिया और बारूदकी सृष्टि और्वऋषिनेही की थी। जामदग्न्य परशुधर-

राम कीर्त्तिबलसे ही सप्तचिरञ्जीवोंमें परिगणित हैं। इसलिये इस छोटीसी पोथीमें उनके सब गुणोंका समावेश असम्भव है।

कुमड़िये सारस्वतोंका वेद शुक्लयजुर्वेद, शाखा माध्यन्दिनी आदि, उपवेद, धनुर्वेद, सूत्रकात्यायन आदि, देश सारस्वत, नदी सरस्वती वृक्ष विल्व, कुलेश 'बाबा जयजय कुमार' श्रीपूज्यकार्त्तिकेयजी। औशनमतीर्थ, पृथूदकमें श्रीकुमारकार्त्तिकेय कुलदेवताकी जिस ध्यानकी मूर्ति है उसीकी उपासना। जामदग्न्यभार्गवश्रेष्ठ, वत्सगोत्रोद्भव कुमारीय (कुमड़ियोंके) वंशके यजमान पूर्वमें प्रायः सभी कुलीन राजवंशके क्षत्रिय थे। शास्त्रोंमें स्पष्ट है—"भृगूणां क्षत्रिया याज्या नित्यमेतज्जनाधिप।" म० भा० अ० प०। परन्तु इससमय 'सेठ' और 'कक्कड़' केवल ये ही दो कुल रहगये हैं। संस्कृत 'श्रेष्ठ' शब्दका अपभ्रंश होकर उक्त 'सेठ' शब्द बना है। कूर्म्मपुराणके २२ वें अध्यायमें चन्द्रवंशवर्णनमें प्रतापी राजानहुषकी सन्तति परम्परा दिखाकर लिखा है—"यदोरप्यभवन्पुत्राः पञ्चदेवसुतोपमाः सहस्रजित्तथा श्रेष्ठः क्रोष्टुर्नीलो जिनो रघुः।" राजा-यदुके पांचों पुत्रोंके नाम सहस्रजित्, क्रोष्टु, नील, जिन, और रघु हैं। 'श्रेष्ठ' यहां सामान्यतः इनका विशेषण है। क्योंकि 'श्रेष्ठ' शब्द इस वंशमें उपाधि वा जातिवाचक ही है। इसीसे उस अध्यायकी आदिमें भी "दक्षिणापरयो राजा यदुंश्रेष्ठं न्ययोजयत्" स्पष्ट लिखा दिखता है। "दक्षिण और पश्चिमके देशोंका राज्य यदुश्रेष्ठको दिया"। यहां पिताकी आज्ञा न माननेपर भी श्रेष्ठकुलके कारण यदुको भी 'श्रेष्ठ' लिखना पड़ा है। यह विशेषण गुणोंकी श्रेष्ठतासे होता तो आज्ञाकारी पुत्र पुरु ही उक्त श्रेष्ठपदवाच्य था। ज्येष्ठपुत्रका धर्म्मतः अधिकार प्राप्तहोनेपर भी साम्राज्यके सर्वप्रधान राज्यसिंहासनपर पिताने यदुका अभिषेक नहीं किया था। प्रत्युत अभिशाप ही दिया था। आज्ञाभङ्ग-दोषसे दूषित ज्येष्ठपुत्र यदुकी, सुतरां गुणसे श्रेष्ठता तो कदापि सम्भव नहीं। हरिवंशके ३० वें अध्यायमें भी "दिशिपूर्व्वोत्तरस्यान्तु यदुंश्रेष्ठं

न्ययोजयत् ।" यदुको श्रेष्ठ ही लिखा । निश्चय इनस्थलोंमें जातिवाचक उपाधिका और कुलविशेषकी श्रेष्ठताका प्रकाशक ही यह 'श्रेष्ठ' शब्द प्रयुक्त है । सुविशाल चन्द्रवंशमें राजा पुरूरवाके सर्वज्येष्ठपुत्र आयु-राजाकी सन्तानोंमें ही कुलविशेषकी 'श्रेष्ठ' संज्ञा विख्यात हुई थी।

आयुराजाके, नहुष, क्षत्रवृद्ध, रम्भ, रजि और अनेना, ये पांच पुत्र थे; इनमें जिस प्रकार राजा नहुषके पौत्र यदुसे ही 'यदुवंश' संज्ञा चली; उसी प्रकार नहुषके सहोदर क्षत्रवृद्धकी सन्तानपरम्परामें काश-राजासे ही 'काशेय' वा 'काश्य' संज्ञा भी हुई । काशराजाकी राजधानी ही काशीपुरी कहायी । इस वंशके कुलेश सनातनसे शिव हैं, अत: इनकी राजधानी काशी, शिवजीकी पुरी क्यों न प्रसिद्ध होती ? काश-राजाके पुत्र काशिराज और पौत्र धन्वन्तरि हुए। महाराज काशि-राजकी छठी पीढ़ीमें प्रतापी राजर्षि दिवोदासने जन्म लिया। दिवो-दासके पुत्र ही महाराज प्रतर्द्दन थे । ऋतध्वज, शत्रुजित्, कुवलयाश्व, और 'वत्स' नामसे भी उक्त प्रतर्द्दन ही सुप्रसिद्ध थे। विष्णुपुराणमें "तेन च प्रीतिमता मत्पुत्रो वत्सवत्सेत्यभिहितस्ततो वत्सोऽस्याऽ-भवत् ।" प्रीतिपूर्वक पिताका बारम्बार "वत्स" "वत्स" कहकर पुकारना ही प्रतर्द्दन राजाके "वत्स" नामकी विशेष प्रसिद्धिका मूलकारण दिखाया है। प्रतर्द्दन वत्ससे ही इस 'श्रेष्ठकुलकी' 'वत्स' संज्ञाका प्रारम्भ हुआ। लिखा है "..तस्मात्प्रतर्द्दन इति स्मृतः । स एव शत्रुजिद्वत्स ऋतध्वज इतीरितः । तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः । षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च । नाऽलर्कादपरोराजा मेदिनीं बुभुजे युवा ।" तथा— "प्रतर्द्दनस्य पुत्रौ द्वौ वत्सभार्गौ बभूवतुः । वत्सपुत्रो ह्यलर्कस्तु सन्नति-स्तस्य चात्मजः ।" ह० पु० अ० २९ । चन्द्रवंशके श्रेष्ठकुलकी इस 'वत्स-संज्ञा'की विशेष प्रसिद्धि और भार्गव "वत्स गोत्रीय" पुरोहितोंके विशेष घनिष्ठसम्बन्धसे राजा प्रतर्द्दनके दोनों पुत्रोंके नाम भी "वत्स" और "भार्ग" ही रक्खे गये । भविष्यमें इस कुलमें जो उत्पन्न हुए, वे

सभी 'वत्स' कहाये। राजा प्रवर्द्धनसे ही 'वत्सकुल' प्रसिद्ध हुआ। चन्द्रवंशीय राजा कुशाम्बकी बसायी 'कौशाम्बी' नगरीका नाम 'वत्स-पत्तन' भी उक्त वत्सकुलके कारण ही होगया था। उदयन वत्सराज, और वृषभराजके विषयमें कादम्बरीमें भी 'उदयनमिवानन्दित वत्सकुलम्' इसीसे लिखा है। स्मरण रहे कि वर्त्तमान मन्वन्तरमें इन चन्द्रवंशी श्रेष्ठकुलके वत्सराजाओंकी प्रयाग ही अति प्राचीन राजधानी थी। "तदनन्तर काशी और अन्तमें कौशाम्बी भी बसी। इस विशाल-वंशकी हैहय शाखामें (जिसका यदुके ज्येष्ठपुत्र सहस्रजित्‌से निकास हुआ) अन्यतम प्रतापी महिष्मान् राजाके नामसे ही नर्म्मदाके तीरपर "माहिष्मती" नगरी बसायी गयी। कार्त्तवीर्य्य सहस्रार्जुनकी यही राजधानी थी। आज भी उसके ध्वंसावशेषको वहांके निवासी 'माहे-श्वर' और 'सहस्रबाहुकी बस्ती' ही कहते हैं। कुलदेव महेश्वर शिवका सम्बन्ध ही 'माहेश्वर' नामका भी मूल है। चन्द्रवंशीय श्रेष्ठकुलोद्भव इन वत्सोंका गोत्र भी 'वत्स' ही है। कारण, क्षत्रिय राजवंशका 'गोत्रप्रवर' कुलपुरोहितोंके अनुसार ही होता आया है। श्रुति भी आज्ञा देती है "पुरोहितप्रवरा वै राजन्यः।" आश्वलायनादि श्रौतसूत्र भी—"पुरोहितस्य प्रवरेण राजा प्रवृणीत इति विज्ञायते।" "पुरोहितप्रवरास्ते प्रवृणीरन्।" पुरोहितोंके प्रवरानुसार ही इनके गोत्रप्रवरकी विधि देते हैं। मेधातिथि, विज्ञानेश्वरादिकोंका भी निचोड़ सिद्धान्त यही है कि—"विवाहे तु पुरोहितगोत्रप्रवरग्रह एवेति।" विवाहमें इनके पुरोहि-तोंके गोत्रका ही ग्रहण और उच्चारण करना।

"वत्सकुलके" इस राजवंशका, मातामहके उत्तराधिकारीसूत्रसे, दत्तकहो गोद बैठनेसे, अथवा वंशकी ह्रासवृद्धिसे, सूर्य्यवंशसे तथा चन्द्रवंशकी कई एक शाखाओंसे भी सम्बन्ध समयपर हुआ है। इसीसे पुराणोंमें कहीं कहीं इस हैहयकुल और श्रेष्ठवत्सकुलके राजाओंको सूर्य्यवंशी भी वर्णन किया है। हैहयवंशकी, पुरोहित विद्वेषसे, क्षीणता

होने और यदुवंशको बहुतसी शाखाओंके पुरुवंशके अन्तर्गत हो जाने-पर, एक समय इस सुप्रसिद्ध वत्सकुलका सम्मिलन पुरुवंशसे होगया था। हरिवंशके ३२ वें अध्यायमें इसी कारणसे क्षत्रवृद्धके पुत्र सुहोत्र-का पूरे विस्तारसे दुवारा वंशवर्णन किया है। परन्तु उस स्थलमें भी "सुहोत्रश्च सुतद्वयम्।" प्रारम्भमें लिखकर वंशवर्णन करते, मध्यमें ४२ वें श्लोकमें "वत्सस्य वत्सभूमिस्तु भृगुभूमिस्तु भार्गवात्। एते-ह्यङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथभार्गवे। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः ..।" आदि लिखकर स्पष्ट दिखाया है कि जसे सुहोत्र नामके दो राजा हुए वैसेही 'वत्स' 'वत्सभूमि' 'भार्गव' और 'भृगुभूमि' नाम गोत्रके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, अङ्गिराके कुलमें स्वतन्त्र और भृगुवंशमें इसी नामके दूसरे ही उत्पन्न हुए थे। नामकी एकता होने पर भी ये भृगुवंशके भिन्न और अङ्गिराके गणके भिन्न पुरुष थे। वायुपुराणमें भी इसीकी दृढ़ता की है और "वेणुहोत्रसुतश्चाऽपि गार्ग्यो वै नामविश्रुतः। गार्ग्यस्य गर्गभूमिस्तु वत्सो वत्सस्य धीमतः। ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव तयोः पुत्राः सुधार्म्मिकाः।" तात्पर्य्य यह है कि "भृगु, भार्ग भार्गभूमि 'वत्स' गार्ग्य गर्गभूमि सुहोत्र आदि नामके एक एक भृगुवंशमें और एक एक अङ्गिराके वंशमें थे। उसी प्रकार क्षत्रिय राजकुलमें भी इन नामोंके दो दो राजा हुए। परन्तु शकुन्तलागर्भज महाराज दुष्यन्तके पुत्र भरतके घर, पुत्रका अभाव होनेपर अन्तको भरद्वाजनामक पुत्र, मरुत् देवताओंके गर्भमें संक्रमण करानेसे उत्पन्न हुआ था। भरद्वाजके बहुतसे यज्ञोंके अनुष्ठान करनेपर इनके पुत्र राजा वितथ हुए। उक्त वितथराजाके सुहोत्र नामक दो पुत्र थे। एक अङ्गिराके पक्षमें; दूसरे भार्गव; भृगु पक्षके सुहोत्रसे वितथ राजाके समयमें ही पुरुकुल और वत्सकुल दोनों एक हो गये थे। अनन्तर इसी वंशमें उत्पन्न पाञ्चाला-धिप अजमीढ़का कुल जब क्षीण पड़ गया तो सोमकराजासे पुनः वंश चला; तथा अजमीढ़ राजाकी स्त्री धूमनीकी तपस्यासे वंशरक्षक एक

पुत्र ऋक्षनामका भी हुआ। ऋक्षराजाके पौत्र कुरुने ही प्रयागसे वत्स-कुलकी पैतृक राजधानी उठाकर कुरुक्षेत्रमें बसायी थी। कुरु ही कौरवोंके आदिपुरुष हुए। कुरुके चारों पुत्रोंमें प्रथम, सुधन्वाके उत्त-राधिकारी भी मतिमान् सुहोत्र ही हुए थे। सुहोत्र मतिमान् 'वत्स' कुलके और भृगुवंशी जामदग्न्य 'वत्स' गोत्रके कुमारीय ब्राह्मणोंके ही यजमान थे। पुरु, कुरु और वत्सकुलका सम्मिलन, हरिवंशके २९ अध्यायसे ३२ अध्यायतक-विस्तारसे वर्णित है। सम्भव है कि महाराजा पुरुरवाके सर्व ज्येष्ठपुत्र आयुराजाके वंशज ही बड़े पुत्रकी सन्तान होनेके कारण गद्दीधारी सब पुत्रोंमें श्रेष्ठ थे; इसीसे इन्हींके कुलकी "श्रेष्ठ" संज्ञा भी प्रसिद्ध हुई। "किमर्थं पौरवो वंशः श्रेष्ठत्वं प्राप-भूतले" "बभ्रु श्रेष्ठो मनुष्याणां।" "तेषां दुर्य्योधनः श्रेष्ठः सर्वक्षत्रस्य वै प्रभुः।" आदि देख, यही निश्चय होता है कि कुलविशेषकी उपाधि ही श्रेष्ठ प्रसिद्ध थी। इसीसे यदु, पुरु, बभ्रु और कुरुवंशी आदि इस वंशके सभीको स्थलविशेषमें "श्रेष्ठ" लिखा है। कूर्मपुराणमें भी इस श्रेष्ठवंशके प्रधान राजओंके नाम गिनाकर "रुद्रभक्ता महात्मानः पूजयन्तिस्म शङ्करम्।" सबको शिवपूजक ही लिखा। तथा कालय-वनकी चढ़ाईके समय मथुरापुरीके घिर जानेपर यादवोंने कृष्ण बल-देवसहित द्वारिका भागनेके कठिन समयमें जब अपने इष्ट कुलदेवका स्मरण किया था, उसके वर्णनमें हरिवंशमें भी—"कृत्वा च निश्चयं सर्वे पलायनपरायणाः। विहायमथुरां रम्यां मानयन्तः पिनाकिनम्।" इन रुद्रभक्तोंने पिनाकी शिवको ही मनाया; लिखा है। ऐसे समयमें कुलदेवताका मनाना ही स्वाभाविक है। इस सुविशालवंशके 'वत्स' 'कौकुर' और 'तालजङ्घ' जो रह गये हैं; वे सभी आज भी अपनेको 'सेठ' ही कहते हैं। कुलपुरोहितोंके गोत्रानुसार वत्सकुलोद्भव श्रेष्ठों-का गोत्र परम्परासे "वत्स" गोत्र है। विशेष ध्यानदेनेयोग्य विषय तो यह है, कि जामदग्न्य 'वत्स' गोत्रीय 'वत्सकुल' के यजमान 'श्रेष्ठ'

राजवंशप्रसूत वर्त्तमान सेठोंकी उक्त सभी संज्ञा आज भी ज्योंकी त्यों वर्त्तमान हैं। चौजातीके कुलीन क्षत्रियसमाजमें मान प्रतिष्ठा भी सेठोंकी सबसे विशेष है। प्रायः सभी प्रधाननगरोंमें इस समय भी सेठ "चौधरी" ही विशेषतासे माननीय दिखते हैं। जातीय बन्धन और देन लेन व्यवहारोंके 'बन्धान' सेठोंके ही बांधे अबतक भी चलते हैं। स्मरण दिलानेको नाईभाट "सेठ ढक्कन वा ठक्करका बन्धान पञ्चराज" कहकर इनके पूर्वप्रतापका गौरव अब भी नियमपूर्वक सुनाते हैं। विवाहोंमें सुपारी भी केवल सेठोंको ही मिलती है। चौजातिमें 'सेठाई" भी इस कुलके सिवाय दूसरेकी गोदमें नहीं पड़ती।

चन्द्रवंशके राजाओंने भृगुकुलके प्रतापी ब्राह्मणोंको ही कुलपुरोहित माना था। सृष्टिकी आदिसे अबतक इनका वह प्राचीन पुरोहित यजमान सम्बन्ध ज्योंका त्यों चला आरहा है। महाराजा ययातिने पुरोहित भृगुकी महिमा सूचनकरनेवाले "भृगुतुंग" तीर्थमें ही कुछ कालतक तप भी किया था। अन्तको अनशनव्रतसे उसी तीर्थमें शरीर परित्यागकर स्वर्गारोहण करनेपर, इनके पुत्रोंकी सन्तान सन्तति ही पृथ्वीमें विशेष फैली। हरिवंशमें लिखा है—"भृगुतुंगे तपस्तप्त्वातपसोऽन्ते महातपाः। अनश्नन्देहमुत्सृज्य सदारः स्वर्गमास्थवान्। तस्यवंशेमहाराज पञ्चराजर्षिसत्तमाः। यैर्व्याप्ताः पृथिवीः सर्वा सूर्य्यस्येवगभस्तिभिः।" महाराजा ययातिका अन्तिम आशीर्वाद यही थाकि "अपौरवा न तु मही भविष्यति कदाचन।" पृथ्वी पौरवोंसे रहित कभी न होगी।" महाराज यदुके ज्येष्ठपुत्र सहस्रजित्के वंशमें ही हैहय, वृषण, मधु, शूरसेन, तालजङ्घ आदि परमप्रतापी उत्पन्न हुए थे, जिनके नामोंसे यादवोंके कुलोंकी संज्ञा ही तालजङ्घ, हैहय, वृष्णि, माधव, शूर, शूरसेन आदि संसारमें प्रसिद्ध हुई। लिखा भी है—"वृषणाद्वृष्णयस्सर्व्वे मधोस्तु माधवास्तथा। यादवा यदुनाचाग्रे निरुच्यन्ते च हैहयाः। शूराश्च शूरवीराश्च शूरसेनास्तथाऽनघ। शूरसेनइतिख्यातस्तस्यदेशो

महात्मनः।" ह० व०। मथुराप्रान्तका नाम शूरसेनदेश भी राजाके नामके कारणसे हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दका यदुनन्दन नाम भी महाराजा यदुके कारणसे ही प्रसिद्ध है। यदुकुल ही हैहयराजाके कारण हैहयवंश भी विख्यात हुआ था। इस पुस्तकके ६८ पृष्ठमें और्व-ऋषि और हैहय वंशका पुरोहिताईयजमानीसम्बन्धका प्रमाण मिल ही चुका है। महाराजा यदुके द्वितीयपुत्र क्रोष्टुके वंशमें जब श्रीकृष्णचन्द्र अवतीर्ण हुए, उससमय यद्यपि भार्गव परशुरामजी संसारसे सर्वथा विरत थे, तथापि केवल पुरोहितकुलका कर्त्तव्यपालन करनेको ही स्वेच्छापूर्वक श्रीकृष्ण बलदेवसे मार्गमें मिलकर उन्होंने गोमन्त पर्वत-की राह अपने संग लेजाकर दिखायी थी। उस समय जैसे हितसे इनका मिलन और परस्परका सम्भाषण हुआ था, उसका वर्णन हरिवंशमें पढ़ने ही योग्य है। श्रीकृष्णचन्द्रको सुदर्शनादिदिव्य-शस्त्रोंकी और युद्धनीतिके उपदेशकी प्राप्ति, कुलगुरु परशुरामजीकी कृपासे ही हुई थी। लिखा है—"एवमावामनुप्राप्तौ मुनिश्रेष्ठ तवान्तिकम्। आवयोर्मन्त्रमात्रेण कर्त्तुमर्हसि सत्क्रियाम्।" श्रीकृष्णसे इन वाक्योंको सुन, परशुरामजीने कहा—"अपरान्तादहंकृष्ण सम्प्रतीहागतः स्वयम्। एक एव विनाशिष्यैर्युवयोर्मन्त्रकारणात्।......जानेत्वां कृष्ण गोप्तारं जगतः प्रभुरव्ययम्।.....इदं चैवामृतप्रख्यं होमधेन्वाः पयोऽद्भुतम्। पीत्वा गच्छत भद्रं वो मयोद्दिष्टेन वर्त्मना। अन्तको अपनी होमधेनुका अमृतसा दुग्ध श्रीकृष्ण बलदेवको परमप्रीतिपूर्वक पिलाकर, गोमन्त-पर भेज, जिससमय विदा होनेलगे, उससमय भी परशुरामजीने कहा कि "साधयामि महाबाहो भवतः कर्मसिद्धये। स्मर्त्तव्यश्चास्मि युद्धेषु कान्तारेषु महीक्षिताम्। इत्युक्त्वा जामदग्न्यस्तु क्लिष्टमक्लिष्टकारिणम्। जयाशिषा वर्द्धयित्वा जगामाभीप्सितं दिशम्॥" ह० अ० ९९। "मैं तुम्हारी कर्मसिद्धिका उपाय करता हूं। युद्धमें राजाओंके मध्यमें दुर्गम प्रदेशमें मेरा स्मरण करना।" 'जय हो' कहकर आशीर्वाद देनेके

अनन्तर, परशुरामजी अपने अभीष्ट प्रदेशकी ओर चले गये। सनातनसे कुलपुरोहितोंकी मन्त्रणासे ही राजवंशकी उन्नति होती आयी है। यद्यपि कंसके भयसे गुप्तरहनेके कारण नन्दके घरमें पलेहुए श्रीकृष्णजी, प्रकाश्यरूपसे अपने कुलपुरोहितोंको मानना भी नीति विरुद्ध समझ, दूसरे ब्राह्मणोंको मान लेते थे; परन्तु वह कूटनीतिके कारण छलमात्र था। कारण, श्रीकृष्णचन्द्रके वृद्धप्रपितामह कृतवर्म्मासे देवर्षि च्यवनका सम्बन्ध पुराणोंमें सर्वत्र दिखता है। यथार्थतः ये चन्द्रवंशी (यदुवंशी कौकुर और वृष्णिवंशी, वत्स काशिराज, हैहय आदि सभी) भृगुकुलके ही यजमान थे।

वसुदेव देवकीने चिरंजीवी प्रतापी पुत्रकी कामनासे अपने पुरोहित कुलके इष्टदेव कार्त्तिकेय "श्रीजयजयकुमारजीका" कार्त्तिक संक्रान्तिके दिन व्रतानुष्ठान किया था। श्रीकुमारकी कृपासे दसवें महीने ही श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द अवतीर्ण हुए। भारतमें उक्तव्रतका विशेष प्रचार भी तभीसे हुआ और श्री पूज्य जयजयकुमारजीका एक नाम "वासुदेवप्रिय" भी उसी समयसे प्रसिद्ध होगया।

उक्त "श्रेष्ठ" कुलके वर्त्तमान सेठ यजमानोंके उसी विशुद्धकुलसे उत्पन्न होनेके येही सर्वोत्तम मान्य प्रमाण हैं कि ये आज भी "सेठ" और "वत्स" ही प्रसिद्ध हैं। भृगुकुलगौरव जामदग्न्यवंशके वत्सगोत्रीय कुमारीय वा 'कुमड़िये' ही आज भी इनके मान्य कुलपुरोहित हैं। पुरोहितोंके गोत्रानुसार 'सेठ' क्षत्रियमात्रका गोत्र भी 'वत्स' है और कुलदेवता भी पूजनीय "बाबा शिवाऊ"की उक्त शिवमूर्त्ति ही है।

जबसे रिजली साहब बहादुरने मनुष्यगणनामें जातिविभागका विशेष झमेला, फैला खत्रियोंको स्वसम्मतिसे "बनिया" बनाना स्थिर किय तभीसे खत्रियोंने घबराकर, जलमें डूबता मनुष्य जिस प्रकार कर्त्तव्यविमूढ़ हो जान बचानेकी अति बलवती इच्छासे, तिरते हुए तिन

कोंका सहारा लेनेको हाथ बढ़ाबढ़ाकर गोते खाता और पानी पीता है, उसी प्रकार मनमानी थोथी युक्ति और अनोखी कल्पनाका आसरा ले, ऐसी ऐसी अद्भुत नवीन आविष्क्रिया और शब्दशास्त्रज्ञताके साथ ही उद्भावनी शक्तिका भी परिचय; पुस्तक पुस्तिका, अनुष्ठान पत्र, विज्ञापन आदिसे दिया कि जिन्हें देख, इनकी यथा योग्य प्रशंसाके शब्दोंके सर्वथा अभावसे मौनावलम्बन ही कर्त्तव्य समझा गया था। अन्तको प्रसिद्ध वर्द्धमानके परम माननीय बंगदेशीयकुलीनक्षत्रियकुलतिलक राजा बनबिहारी-कपूर बहादुरके चरणपातका आश्रयणकर जैसेतैसे इन बिचारोंने उपस्थित विपत्तिमहासमुद्रसे कुछ कालके लिये तो अवश्य गोताखानेसे रक्षापायी। परन्तु इन अतीत घटनाओंका निर्देशन तो बराबरको इतिहासोंमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखित रहगया, इसमें सन्देह नहीं। इन नवीन शिक्षित खत्रियोंके इस नवीन उद्योग पर्वके प्रथमाध्यायमें ही खत्रियोंकी जाति और कुलके विषय ऐसे अपूर्व अपूर्व प्रतिभापूर्ण शब्द-व्युत्पत्तिके उदाहरण और अलौकिक कल्पनाप्रसूत गहरी गवेषणाके अद्भुत आविष्करण, भाग्यवश दृष्टिगोचर हुए कि जिनकी प्रशंसा परिमितबुद्धिके जीवोंसे हो ही नहीं सकती। 'कक्कड़ोंकी शब्दव्युत्पत्ति और क्षत्रियोंके कुलपरिचयमें उन्हीं महापुरुषोंकी उक्तिका सारांश इस स्थानमें अविकल उद्धृत करना परम आवश्यक है। "ये चारों खत्री, मिहर, कृपाकर, शंखन, मारतंड नामके थे; जिन नामोंका अपभ्रंश मिहरे, कपूर, खन्ने, तंडन खत्रियोंमें प्रसिद्ध हो रहे हैं और राजछत्रधारी होनेके बायस सर्वखत्रियोंमें श्रेष्ठ गिने जाते हैं और खन्ने खौफ़से आधे हो गये; इससे मिहरे कपूर खन्ने ढाईघर अव्वल तिलक लगवानेके बायस परमोत्तम समझे जाते हैं और बाकी आठ सूर्य्यवंशी सूर्य नामके ये हैं। जैसे, श्रेष्ठ, धावन, महेन्द्र, बहुकर, चक्राबलि, करालाग्नि, सूर्य्य, सहस्रकर इननामोंका अपभ्रंश होकर सेठ, धौन, महींद्रू, बहोरे, चौपड़े, कक्कड़, सूर, सहगल नामोंसे सब मिलकर बारहजाई सर्नाम हैं...लौकिक उक्त ना-

मोंके बड़प्पनकी यह सुनी जाती है...कि पहिले साहब अपने बेटेको किसी अमीर खत्रीके यहां व्याहनेको गये...उसने बहुत कुछ दहेज़ दिया। इन्होंने खुश होकर बहूको गोद लेकर मंडपके बीच नाचना शुरू कर दिया। यह कुतूहल देख हँसी करके लोगोंने मिहरे खत्री कहकर पुकारा। ...दूसरे...हजारों दीनदुखिया मनुष्योंको खानेके सिवाय वर्त्तन कपड़े भी दिया करते थे। इस कीर्त्ति सुगन्धसे इनको लोग कपूर कहिने लगे। तीसरे साहब अपने पुत्रको किसी धनाढ्य खत्रीके यहां व्याहनेको बड़ी बरात लेगये...लड़केने भारी नेग मांगनेको बड़ा झगड़ा मचाया और परोसा पकवान सब सूखने लगा। यह बात देखि लड़केके बापने झट आप जैलक्ष्मीनारायण कहि खाना शुरू करि दिया...तबसे इनको लोग खन्ने कहते हैं...एकसौ पांच सारस्वत ब्राह्मण कन्योंके विवाह करा देनेके विशेष पांचसौ पच्चीस लड़कोंके जनेऊ भी करा दिये थे...श्रेष्ठ कर्म्म अवलोक श्रेष्ठ कहि उच्चारण किया जिसका अपभ्रंश सेठ... होगया। एक ब्राह्मणकी कन्या...बहुत खूबसूरति थी। उसको कन्धारी सिपेसालारने कहीं देखि पाया। उसने उसके बाप भाईको बुलाकर कहा कि "अपनी लड़कीका व्याह मेरे साथ करदो"...ब्राह्मणने कहा "मैं, ब्राह्मण हूं कन्या नहीं दे सकता हूं"...तुर्कोंने उसके बाप माय और भाई भतीजोंको मारि उसको पकरि कन्धारीके हवाले किया...कन्या विचारी-(ने)...विष ले पानकरि अपना जीवनदान करि दिया और इन साहबका वह ब्राह्मण प्रोहित था इन्होंने उसको खबरि पाकर...अपने सजातियोंकी सहायतासे पूर्वोक्त कन्धारी सरदारको जा घेरा...आग लगाकर कन्धारियोंको खाक करि डारा तबसे लोग इनको खककर पुकारने लगे जिसका अपभ्रंश कक्कर बोला गया" इत्यादि।

लालासरवनलाल टंडनरचित क्षत्रियप्रकाशमें—"मिहिरनामसूर्य्यका है। इस कारण सूर्य्यवंशी खत्रिय मिहिरे कहलाये। टंडन और टंटा दोनों एक धातुसे निकले हैं और टन्टाकरनेवालोंकी अर्थात् उन वीरोंकी

जो जिस कार्य्यको आरम्भ करे उसमें कितनी ही लड़ाई भिड़ाई क्यों न हो परन्तु कार्य्यको पूर्ण ही करना इस कारण टंडन संज्ञा हुई। खन्न नाम खत्रियोंमें आधेका है। (खन, यथा यह घर ३ खनका है, और खण्ड भी उसी धातुसे निकले हैं जिससे खन्ना शब्द बना है) अर्थात् आधा वंश ब्राह्मण होगया; आधे क्षत्रिय रह गये। इसी कारण खत्रियोंमें आजतक ढाई घर विख्यात हैं जिसमें खन्ने भी गिने जाते हैं। इत्यादि।

इन नयी आविष्क्रियाओंके सुपण्डित प्रतिभाशाली महापुरुषोंके सब अद्भुत लेख उद्धृत करनेका स्थान पुस्तकमें नहीं है। इस नमूनेसे ही बुद्धिमान तो भली भांति समझ गये होंगे। इसी प्रकारकी मनगढ़ी नयीसे नयी उपज अलापनेमें अनेकों महाशयोंने अपनी अपनी रागदानी-का प्रस्तार, पूरी उस्तादी दिखा, सुमधुरस्वरसे सुनाया है। कोई 'सूरी'-को सूर्य्यसे उत्पन्न बताता है, कोई इसमें शूरता वीरताकी झलक दर-साता है। कोई 'कपूर' को चन्द्रमाका पर्य्याय निश्चयकर चन्द्रवंशी और "भसीनोंको" 'भा' वा 'भास'से सूर्य्यवंशी बनाता है। कहीं 'वोहरा' नाममें सेनाकी व्यूहरचनासे सम्बन्ध और 'सहनी' तथा 'सेनी'में से-नानी वा सेनानायकका प्रबन्ध आता है। उसीप्रकार 'धौन' धावन दूत हरकारेसे, उप्पल' उपल अर्थात् प्रस्तरसे 'सरहोन' शूरिन् उपनाम योद्धा, 'खन्ना' (सं खन् धातुसे खनन करनेवाला) सफरमैना पलटनका फावड़ेसे जमीन खोदनेवाला और 'कक्कड़' दांतके नीचे आकर कड़ी वस्तु जैसे कड़कड़ करती है वैसा ही कड़ा सुसिद्ध होता है।

"करालाग्नि"का अपभ्रंश 'कक्कड़' किस नियमानुसार होगा? यह तो लिखनेवाले महान् पण्डित महामहोपाध्यायकुलशिरोमणिजी ही कृपाकर समझा दें तो संसारका परम हितसाधन हो। वररुचि आदि, प्राचीन विद्वानोंके विधिबद्धनियमोंके अनुसार ही संस्कृत शब्दोंका अपभ्रंश होता है। "प्राकृतप्रकाश" आदि ग्रन्थोंमें जो नियम हैं उनसे तो 'करालाग्नि' से कक्कड़ कदापि न बनेगा। लिखनेवालेको स्वयं भी

अपभ्रंशके सिद्ध होनेका विश्वास नहीं था। इसलिये लोकोक्ति और मनगढ़े प्रवादसे "कक्कड़" शब्दका "लाकर" वा "प्रककर"से सुसिद्ध दिखानेकी चेष्टा भी उसने की। परन्तु इस प्रवादका न तो मूलही है, और न यह विश्वास योग्य ही है। विशेष आपत्ति एक यह भी इसप्रकारके प्रवाद मान लेनेपर खड़ी होजाती है, कि मुसलमानी-राज्यके पहिले क्या भारतवर्षमें "कक्कड़" नहीं थे। दांतके नीचे "कड़-कड़" बोलनेवाली कठिनतासे "कक्कड़ोंका" कड़ापन दिखाना तो पूरा लड़कपन ही है। हा! समयके फेरसे प्रतापी राजकुलके क्षत्रियोंकी यह दुर्दशा भी बदी थी!

यथार्थ तो यह है कि उक्त सुविशाल चन्द्रवंशमें यदुके द्वितीयपुत्र क्रोष्टुके स्तम्भमें ही श्रीकृष्ण बलदेव अवतीर्ण हुए थे। श्रीकृष्ण महाराजसे ऊपरकी पन्द्रहवीं पीढ़ीमें अंशुराजाके पुत्र परमविद्वान् सत्त्वत-राजा थे। इनके पुत्र राजासात्त्वतसे कौशल्याके गर्भमें भजमान, अन्धक, देवावृध, वृष्णि और महाभोज हुए। उक्त अन्धकके चार पुत्र "कुकुर" भजमान, शमीक और बलगर्वित नामके थे। इसी महाराज "कुकुर" के वंशमें जो उत्पन्न हुए वे "कौकुर" कहाये। कुकुरके कनिष्ठ सहोदर भजमानके वंशमें ही ग्यारहवीं पीढ़ीमें बलराम सहित श्रीकृष्ण चन्द्रका उदय हुआ था। "कौकुर"का अपभ्रंश ही वर्त्तमान यह "कक्कड़" शब्द है। महाभारत भीष्मपर्वके पंचम अध्यायमें "कृत्वाविनशान् वार्ष्णेयान् सभोजान्धककौकुरान्।" कुकुरवंशियोंको ही 'कौकुर' कहा है। उक्त "कौकुर" ही इससमय "कक्कड़" क्षत्रिय पुकारे जाते हैं। छैजातिके क्षत्रियोंमें एक जाति कक्कड़ोंकी ही गिनी जाती है। परन्तु वत्सकुलके सेठोंकी तो वर्त्तमान समयमें भी "चौजातीके ढाईघर" कुलीन क्षत्रि-योंमें ही गणना होती है। कुलीनतामें इस समय 'कक्कड़ोंसे' 'सेठ' श्रेष्ठ है। वर्त्तमानसमयतक महाराजा आयुप्रवर्त्तित श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न सुप्रसिद्ध 'वत्सकुल' प्रसूत 'सेठ' और राजा अन्धकके 'कौकुर'

वंशज "सेठकक्कड़" दोनों ही कुल परमपूज्य बाबा शिवाऊकी कृपासे वर्त्तमान हैं। कुलपुरोहित भी इनके जामदग्न्य वत्सगोत्रीय सारस्वत 'कुमड़िये' ही हैं। केवल तालजंघ कुलके थोड़ेसे क्षत्रिय, महर्षि और्वके समयसे ही वशिष्ठकुलको मानने लगे। उनकी विशेष वृद्धि भी नहीं दिखती। कारण प्रथम तो और्वऋषिके क्रोधसे प्रायशः नष्ट होचुके थे। जो थोड़ेसे जीवित रहने पाये थे; उनकी भी वंशवृद्धि विशेष नहीं हुई। तथापि जो हैं वे अपनेको आज भी 'सेठ' कहकर परिचय देते हैं। 'वत्स' कुलके 'सेठ' आदि चौजातिके सर्वोत्तम कुलीन क्षत्रियमात्र इनका 'सेठ' कहना सहन नहीं करसकते। इसीसे इनको 'सेठी' ताल-वाड़' कहते हैं। अस्तु, आज भी उक्त तीनों कुलोंकी साधारण कुल संज्ञा 'सेठ' ही दिखती है। विशेष चमत्कार तो यह है कि वशिष्ठवंशज पराशरगोत्रीय तिक्खे सारस्वत ही आज भी इन तालजंघ वा 'ताल-वाड़ों'के पुरोहित भी हैं। परन्तु अंगके यजमान न होनेके कारण गोत्र इन तालवाड़ोंका आज भी वशिष्ठ वा पराशरके गणका नहीं है। इस समय भी तालवाड़ उत्तम कुलीन क्षत्रियोंकी चौजातिसे भिन्न निम्न-श्रेणीके अन्तर्गत ही हैं।

कुलीन क्षत्रियोंमें "कुलधर्म्म" पालनकी सनातन परिपाटी यथा-साध्य अबतक निभरही है। इसीसे नित्य "हन्तकार" अर्थात् 'हन्दा' दान किये बिना, ये भोजन नहीं करते। पंजाबमें क्षत्रियमात्र 'हन्दा' देता है। दुःखका विषय है कि उसी कुलके क्षत्रिय इधरके देशोंमें बसकर पुरोहितोंको 'हन्तकार' दान करनेकी सनातन उत्तम परिपाटी-का सर्वथा परित्याग ही कर बैठे हैं। बौधायनऋषिकी आज्ञा है "अहरहः ब्राह्मणेभ्योऽन्नंदद्यादामूलफलशाकेभ्यः अथैवं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति।" पुराणोंमें इसीको विशदकर "ग्रासप्रमाणं भिक्ष्यास्यादग्रं ग्रासचतुष्टयं। अग्राच्चतुर्गुणं प्राहुः हन्तकारं द्विजोत्तमाः। भोजनं हन्तकारं वा अग्रं भिक्षामथापि अदत्त्वा तु न भोक्तव्यं यथा

विभवमात्मनः”॥ सामर्थ्यानुसार, नित्य एक ब्राह्मणभोजनसे प्रारम्भकर, अन्ततः एक ग्रासतक भी दान किये बिना स्वयं भोजन करनेका निषेध है। चारग्रास परिमाण अन्नका नाम ‘अग्र’ और सोलह ग्रास अन्नदान ही “हन्तकार” अथवा “हन्दा” है। पंजाबी क्षत्रिय नित्य पुरोहितोंको ‘हन्दा’ देकर, तब स्वयं भोजन करते हैं।

मुसलमानोंके अधिकारकालमें हमारे पूर्वजोंमें एक माननीय महापुरुषको बादशाही निर्दयतासे इसी हन्दा लेनेके पीछे अपने प्राणतक देने पड़े थे। कहते हैं कि उक्त योग्यपुरुषको किसी बादशाहने अपना ‘दीवान’ वा मन्त्री बनाया था। फागुनके महीनेमें बसन्ती दुशाला ओढ़े हाथीपर सवार उक्त दीवानजीकी सवारी शहरके अन्दर बादशाही विभवके साथ चली जारही थी। इस औसरपर उस मुहल्लेकी रहनेवाली किसी बुढ़ियाने ‘हन्दे’की दो रोटियां हाथमें लिये, अपने कुल-पुरोहित दीवान मिश्रसाहबको सुनाकर ताना मारा कि ‘अब तो पुरोहितजी दीवान होगये, अब इनको इन रोटियोंकी क्या परवाह है? बुड्ढीके मुंहसे इतनी बातोंके निकलते ही मिश्रजीने हाथीको बैठाने की आज्ञा दी; और स्वयं हाथीसे उतर, बुढ़ियाके साम्हने जा, दुशालेकी झोली पसार कर, बोले कि “ला, देदे, इन रोटियोंको तो मैं अपनी दीवानीसे भी बढ़कर मानता हूं।”उसने भी झोलीमें रोटी डालही दीं, और मिश्रजी भी झोली दबाये पुनः अपने हाथीपर सवार हो अभीष्ट-स्थानको गये। परन्तु चुगलखोरोंने बादशाहके कानोंतक बात पहुंचा दी। सुनते ही बादशाह मारे क्रोधसे लाल होगये। अपने दीवान मिश्र-साहबको बुलाकर बादशाहने क्रोधकम्पितस्वरसे कहा कि “ऐसी ऊंची दर्बारी नौकरीसे भी क्या तुम्हारा पेट नहीं भरता कि राह चलते रोटीके टुकड़े मांगकर, बादशाही ओहदेकी धूल उड़ाते हो? मैं तुम्हारी लियाकतसे अबतक तुमपर निहायत मिहरबान रहा किया, इसीसे तुम इतना बड़ा कुसूर करनेपर भी इस वक्ततक जिन्दा रहने पाये।

खबरदार ! अब कभी ऐसी हरकत न करना । नहीं तो अपनी जानसे हाथ धो बैठोगे । अगरचे खर्च तुम्हारा पूरा न पड़ता हो, तो इस शर्त्त-पर तुम्हें दर्बारसे जागीर मिल सकती है कि इस भीख मांगनेके पेशेको बराबरके लिये कतई छोड़ दो।" परन्तु मिश्रजीने हाथ जोड़कर, विनय-पूर्वक प्रार्थनाकी कि "इस दर्बारसे मेरी पालना उत्तम प्रकार होती है। अवश्य राहमें रोटी लेनेका मैं अपराधी हूं। परन्तु उस बुड्ढीका ताना भी मैं सह नहीं सकता था। अपनीजान हथेलीपर लेकर मैंने यह काम विचारपूर्वक ही किया था। सत्य तो यह है कि आपकी दी जागीर, और नौकरी दोनोंसे, मैं अपनी कुलपरम्पराकी इस वृत्तिको विशेष मूल्यवान् समझता हूं। जिसने जन्म लिया, एक दिन उसको मरना अवश्य है। मौतसे डरकर मैं सत्यका गोपन नहीं कर सकता। आपकी कृपासे मैंने आजतक आपकी सेवाकी, अपने इस कर्त्तव्यपालनमें मैं अपनी योग्यता कुछ भी नहीं समझता, सब आपका ही प्रताप है। परन्तु मेरे मरने बाद मेरी सन्तति मूर्ख और सर्वथा अयोग्य निकलेगी तो उन्हें यह पद मिलना तो दूर रहा, आपकी दी हुई जागीर भी या तो उनसे छिन जायगी, या वे स्वयं कौड़ियोंके मोल बेच डालेंगे और दाने दानेको दूसरोंका मुंह ताकते फिरेंगे। परन्तु उस समयपर, मेरी कुलपरम्पराकी यह यजमानीवृत्ति यदि बनी रहेगी, तो वे चारको खिलाके खाने लायक अवश्य रहेंगे। दूसरेसे भीख मांगनेकी भी उन्हें कभी आवश्यकता नहीं होगी। यजमानोंकी इस अनमोल जागीरको सदासे हमारे पूर्वपुरुष भोगते आये; भविष्यमें जबतक हमारा वंश पृथ्वीपर रहेगा, इसका अधिकारी रहेगा। मैंने भलीभांति विचार देखा, इस वृत्तिको तो मैं कभी न छोड़ूंगा। मैं समयके फेरसे इस समय आपका दास अवश्य हूं। परन्तु पूर्वपुरुषोंके अर्जित इस अमोल धनके खोनेका अधिकार धर्म्मतः मुझको नहीं है। मेरे अपराधका जैसा चाहें दण्ड आप देसकते हैं। मैं आनन्दपूर्वक दण्ड भोग करनेको उद्यत

हूं।" मिश्रजीके इस ब्राह्मणोचित सुस्पष्ट सुगंभीर उत्तरसे अत्यन्त क्रुद्ध हो, बादशाहने जल्लादोंसे उनकी खालखिचवाकर उसी घड़ी जान लेली थी। तभीसे मिश्रजीके पुत्रपौत्रादिकोंकी अल्ल 'खल-खिच्च' कुमड़िये हुई; और फाल्गुनका महीना भी इस कुलमें तथा 'वत्स' कुलके सेठोंमें तभीसे 'अवारत' अर्थात् शुभकर्ममात्रके लिये त्याज्यमाना जाता है। "वत्स" कुलके सेठ यजमान तो फागुनके महीनेमें क्षौर कराना, सफेद कपड़े बदलना आदि अब भी नहीं करते। विशेषतः पुराने लोग तो फागुन भर अशौचका चिन्ह धारण किये, अपने उक्त पुरोहितजीके शोकमें ही बिताते हैं। और अबतक यजमानों-को घोर अनुताप है कि हमारे कुलका हन्देकी रोटी लेनेके कारण ही उक्त मिश्रजीके प्राण गये थे। तात्पर्य्य इस लोकोक्तिके उल्लेखका यही है कि वर्त्तमान समयतक पुरोहित यजमानका वह प्राचीनतम सम्बन्ध कितना सुदृढ़ है कि जिसकी रक्षाके लिये अमूल्य प्राणोंको भी तृणसा तुच्छ समझ परित्याग करना कोई बड़ी बात नहीं समझी जाती। दुःखका विषय है कि मुसलमानोंके राज्यकी घटना होनेपर भी लिखित प्रमाणके अभावसे इस समय उक्त मिश्रजीका वा उस बादशाहका नाम भी किसीको ठीक विदित नहीं है। और न किसीने आजतक इसके लिखित प्रमाण प्राप्त करनेकी चेष्टा और खोज ही की है। इसका लिखित पुष्टप्रमाण संग्रहकर यदि पंजाबके कोई महाशय दे सकें, तो परम धन्यवादके अधिकारी होंगे। निश्चय यह दुर्घटना पंजाबके किसी प्रधान नगरमें ही हुई थी; क्योंकि हन्देकी रोटी देनेकी चाल पंजाबके सिवाय अन्य देशोंमें नहीं है।

"कुमड़ियों" के थंभोंमें "खलखिच्च कुमड़ियोंका" थंभा भी यद्यपि एक गिना जाता है। परन्तु मेरी बुद्धिमें तो यह स्वतन्त्र थंभा नहीं हो सकता; यह भी कुमड़ियोंमें कुलविशेषकी एक "अल्ल" है। मुसलमानोंके राज्य समयमें ऊपर लिखी दुर्घटनाके बादसे मिश्र जीतमा-

मजीके थंभेके उक्त स्मरणीय मिश्रजीकी शाखाकी ही "खलखिचे" अल्ल पड़ गयी है। इसी प्रकार "रणबांकुरे" भी अल्ल ही है। जामदग्न्य वत्सकुलके कुमड़िये ब्राह्मण सदासे युद्धविद्यामें भी सर्वश्रेष्ठ निपुण हैं। कारण एक तो इनका उपवेद ही धनुर्वेद था; दूसरे, और्वऋषिका बारूदसहित आग्नेयास्त्र आविष्करण, ऋचीक और जमदग्न्यऋषिको स्वतः साङ्ग धनुर्वेदका पुनर्लाभ, परशुरामजीको शिवजीसे अलौकिक परशुकी प्राप्ति, और उनका वीर क्षत्रियोंसे घोर युद्धकर, २१ बार निःक्षत्रिय करनेका इतिहास, आदि इस वंशके अति प्राचीनकालसे ही युद्धनैपुण्यके सहित अद्वितीय शूरवीर होनेके सर्वोत्तम निदर्शन और पुष्टप्रमाण हैं। ऋग्वेदमें भृगुवंशकी युद्धविद्याका बहुधा लेख है, विशेषतः सप्तम मंडलके १८ वें मन्त्रमें तो स्पष्ट इन भार्गवोंकी जातिको ही योद्धा कहा है। वर्त्तमान समयतक उस युद्धनैपुण्यका चिन्ह इस वंशके व्यक्ति विशेषमें स्वाभाविक दिखता है। इसी वंशमें उत्पन्न मान्यवर राजा सर साहबदयाल बीरवरका सिक्खोंके राज्यके अवसान समयमें विद्रोहियोंको दमन करनेको कई एकबार सेना लेकर स्वयं युद्धक्षेत्रमें अवतीर्ण हो जयी होना, और प्रतापी अंगरेजोंके दर्बारमें भी चापतूणीरसे सुसज्जित उपस्थित होना, क्या उसी कुलधर्म्मकी सुप्रसिद्ध वीरताका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है? उदयपुरमें अबतक इसीवंशके एक युद्धविद्याकुशल वीरपुरुष वर्त्तमान हैं। स्वर्गीय परमपूज्य मेरे ताया शिवनारायणजी भी गुलेलका निशाना लगानेमें सिद्धहस्त थे। अतएव कुमड़िये वंशकी किसी शाखाकी 'अल्ल' युद्धमें वीरता दिखानेके कारण ही 'रणबाँकुरे' भी प्रसिद्ध होगयी होगी। क्षेत्रपालका थंभा, प्रयागपोत्रे मिश्र जीतरामजीका थंभा और कीतूका थंभा ही कुमड़ियोंमें प्रसिद्ध है। परन्तु थंभे और परवारोंका विशेष प्रामाणिक विवरण 'वंशावली'के साथ शीघ्र ही प्रकाशित होगा। कुमड़िये तथा इनके यजमानोंका भाट रुद्रजातिका, नाई ढूही, धम्मी वह होता है कि जिसके अधिकारमें

कुलदेवताकी मूर्त्ति रहती है। शुभकार्य्यपर कुलदेवतामूर्त्तिको लाकर अथवा नेग लागचारआदि लेना ही धम्मीका मुख्य काम है। भाजड़ोंके कठिन समयमें कुमड़ियोंके धम्मीका कुल सर्वथा नष्ट होगया प्रतीत होता है। इस कारणसे ही कुलदेवताकी मूर्त्ति भी वर्त्तमान समयमें नहीं है, केवल एक आलेमें थापे लगाकर साम्हने साल्का पर्दा लटका, कुलदेवताका मानसिक आवाहन पूजन आदिसे कार्य्य निर्वाह किया जाता है। परन्तु पूर्वमें कुलदेवताकी मयूरपर स्थित चतुर्भुजी मूर्त्ति श्रीजयजयकुमारजीकी थी। देवकार्य्यके समय उसीका दर्शन भी कराते थे। धम्मीके कुलका निश्चय होसके तो अच्छा ही है; नहीं तो श्रीकुलदेवतामूर्त्तिकी पुनः प्रतिष्ठा करना इस समय कुमड़ियोंको अवश्य उचित है। मूर्त्तिके अभावसे इस समय बहुतोंको कुलदेवताके ध्यानका निश्चय नहीं है। बहुतोंको तो देवता वा देवीका भी संदेह है। असोरत अर्थात् आश्रित 'रसोइया' ब्राह्मण; तथा कुम्हार, मिरासी, फुठेरा, डोम आदि और भी नेगी, याचक, लगायतोंका इस समय ठीक ठीक पता नहीं लगता और न इस समय वैसी आवश्यकता ही समयके फेरसे इनकी है। ये नेगी कुछ तो सर्वथा नष्ट हो गये। कुछ अंगरेजी राज्यके कारण जीविकान्तरमें विशेष लाभवान हो पैतृकवृत्ति छोड़ बैठे हैं।

त्रिगुणके तारतम्य और उपासककी मनोवृत्तिके फेरसे प्रत्येक देवताकी मूर्त्ति और ध्यानके अगण्य भेद हैं। जहां जिस ध्यानकी पूजाका अधिकार है वहाँ उसीका ग्रहण होता है। गृहस्थोंमें रजोगुणप्रधान सौम्य मूर्त्तिकी उपासना ही प्रचलित है। यहां श्रीपूज्य जय जयकुमार कुलदेवके शास्त्रोक्त ध्यानोंका उल्लेख भी अवश्य कर्त्तव्य है। अथ शिखिवाहनादिकुमारध्यानम्। "चतुर्भुजं चैकवक्त्रं त्रिनेत्रमभयं वरम्। पाशाङ्कुशदधच्चैव ज्वालाकेशशिखण्डकम्।" "चतुर्भुजश्चैकवक्त्रं करण्डमुकुटान्वितम्। शक्तिञ्चाभयदन्दक्षे सव्ये वरदवज्रके। पद्मपुष्पधरं कण्ठे देवं बालस्वरूपकम्।" "आवाहयामि देवेशं षण्मुखं

कृत्तिकासुनम्। रुद्रतेजसमुत्पन्नं देवसेनासमन्वितम्। मयूरवाहनं शक्तिपाणिं वै ब्रह्मचारिणम्। आगच्छ भगवन् स्कन्द यज्ञेऽस्मिन् सन्निधिङ्कुरु।" "ॐ नमः स्कन्दाय शैवाय घण्टाकुक्कुटधारिणे। पताकाशक्तिहस्ताय षण्मुखाय च ते नमः। मयूरवाहनस्कन्द गौरीसुत षडानन। कार्त्तिकेय महाभाग दयां कुरु दयानिधे।" "ॐ कार्त्तिकेयं महाभागं मयूरोपरिसंस्थितम्। तप्तकाञ्चनवर्णाभं शक्तिहस्तं वरप्रदम्। द्विभुजं शत्रुहन्तारं नानाऽलङ्कारभूषितम्। प्रसन्नवदनन्देवं कुमारं पुत्रदायकम्॥" इत्यादि। पूज्यकुलदेवताका महोत्सव प्रतिवर्ष स्कन्द-षष्ठीको कर्त्तव्य है। देवताओंने चैत्रमहीनेमें षष्ठीको ही इनका अभिषेक किया था, षष्ठी ही कुमारकी तिथि है। सात दिनके ही श्रीकुमार-ने तारकासुरका वध भी किया था। इनकी जन्मकथाके साथ मत्स्य-पुराणके १५६ वें अध्यायमें देववन्दिजनोंकी उच्चारित गाथा पढ़ने ही योग्य है। श्रीजयजय कुमारकी पूजाके क्रमसहित विशदरूपसे इनकी उत्पत्ति और इन्द्रकी कन्या देवसेनासे विवाह आदिका वर्णन 'कुलदेवार्चन पद्धतिमें' लिखनेकी इच्छा है।

"जैतली" सारस्वत प्रख्यातपरमर्षि अङ्गिराके गणमें सुविशाल गोतमवंशकी औशनस शाखामें हैं। मत्स्यपुराणके १६५ वें अध्यायमें—"अङ्गारेष्वङ्गिराजातो ह्यर्चिभ्योऽत्रिस्तथैव च। मरीचिभ्यो मरीचिस्तु ततो जातो महातपाः।" सकलजगत्कारणरूप उस अग्निके अङ्गारों-से अङ्गिराकी उत्पत्ति:लिखी है। यद्यपि कूर्म्मपुराणमें प्रजापतियोंकी उत्पत्तिका प्रकारान्तरसे भी वर्णन है। यथा—"प्राणाद्ब्रह्माऽसृजद्दक्षं चक्षुभ्यांश्च मरीचिकम्। शिरसोऽङ्गिरसं देवो हृदयाद्भृगुमेवच। नेत्राभ्यामत्रिनामानं···पुलस्त्यञ्च तथोदानात् व्यानाच्च पुलहम्मुनिम्। अपानात्क्रतुमव्यग्रं समानाच्च वसिष्ठकम्" परन्तु "त्वमग्ने प्रथमोऽङ्गिरा ऋषिर्देवानाम्।" "शिवो भव प्राजापत्यो मानुषीभ्यामङ्गिरा।" "अङ्गिरा अङ्गारा" यजु०। "येऽस्याङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसो भवन्।" ऐ०

आदि श्रुतियोंके अनुसार महाभारत वनपर्वमें अग्नि और अङ्गिराके संवाद-से भी इसका दृढ़ निश्चय होजाता है। दुरन्त अग्नि जिस समय क्रोध कर वनमें तप करने गया था उससमय वहीं स्वयं अङ्गिरा हो गयी थी। अङ्गिराने उसी प्रसङ्गमें अग्निसे कहा—"त्वमग्निः प्रथमं सृष्टो ब्रह्मणा तिमिरापहः। स्वस्थानं प्रतिपद्यस्व शीघ्रमेव तमोनुद। अग्नि-रुवाच। नष्टकीर्तिरहं लोके भवान् जातो हुताशनः। भवन्तमेव ज्ञास्यन्ति पावकं न तु मां जनाः। निक्षिपाम्यहमग्नित्वं त्वमग्निः प्रथमो भव। भविष्यामि द्वितीयोऽहं प्राजापत्यक एव च। अङ्गिरा उवाच। कुरु पुण्यं प्रजास्वर्ग्यं भवाग्निस्तिमिरापहः। मां च देव कुरुष्वाग्ने प्रथमं पुत्र-मञ्जसा। मार्कण्डेय उवाच। तच्छ्रुत्वाङ्गिरसो वाक्यं जातवेदास्तथा करोत्। राजन् बृहस्पतिर्नाम तस्याप्यङ्गिरसः सुतः॥" सुतरां, प्राजापत्याग्निके अङ्गारोंसे ही अङ्गिरा ऋषिकी उत्पत्ति हुई थी, सन्देह नहीं। परमर्षि अङ्गिराके उतथ्य, बृहस्पति और संवर्त नामके तीन पुत्र थे। उतथ्य ही सबसे बड़े थे। देवगुरु बृहस्पति उतथ्यसे छोटे थे। लिखा है—"त्रयोह्यङ्गिरसः पुत्रा एते सर्वत्र विश्रुताः। बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च धृतव्रतः" ॥ म० भा०। उक्त उतथ्य ऋषिका ही एक नाम उशिज भी था। महर्षि उतथ्यकी स्त्री ममताके गर्भसे ही औतथ्य वा दीर्घतमा अर्थात् गोतम ऋषिका जन्म हुआ था। जब बृहस्पतिने ममतासे गर्भावस्थामें बलात्कार किया था, उसी समय औतथ्यके बाधक होने पर, शापसे अन्धे होनेके कारण औतथ्यका नाम ही दीर्घतमा हुआ। पीछे दीर्घ-तमाके गोधर्म्म पालनसे सुप्रसन्न हो सुरभिने आघ्राण कर इनके उस तमका नाश किया जिससे दीर्घतमाको पुनः दर्शनशक्ति प्राप्त हुई थी। सुरभी गौसे, तमका विनाश हुआ इसीसे दीर्घतमा ही गोतम नामसे भी प्रसिद्ध हुए थे। परन्तु दीर्घतमाकी पत्नी प्रद्वेषीके गर्भसे इनके गौतम आदि पुत्र भी हुए थे। मत्स्यपुराणके ४८ वें अध्यायमें विस्तार पूर्वक उल्लेख है।—"अथोशिज इति ख्यात आसीद्विद्वानृषिः पुरा। पत्नी

वै ममता नाम बभूवास्य महात्मनः ॥ उशिजस्य यवीयान् वै भ्रातृपत्नी-मकामयत् । बृहस्पतिर्महातेजा ममतामेत्य कामतः ॥ उवाच ममता तन्तु देवरं वरवर्णिनी । अन्तर्वत्न्यस्मि ते भ्रातुर्ज्येष्ठस्य तु विरम्यताम् ॥ अयन्तु मे महाभाग गर्भः कुक्षौ बृहस्पते । औशिजो भ्रातृजन्यस्ते सोपाङ्गं वेदमुद्गिरन् ॥ अमोघरेतास्त्वञ्चापि न मां भजितुमर्हसि । अस्मिन्नेव गते काले यथा वा मन्यसे प्रभो ॥ एवमुक्तस्तथा सम्यग्बृहत्तेजा बृहस्पतिः । कामात्मा स महात्मापि न मनः सोऽभ्यवारयत् । सम्बभूवैव धर्म्मात्मा तया सार्द्धमकामया । उत्सृजन्तन्तु तद्रेतो वाचं गर्भोऽभ्यभाषत ॥ भो तात वाचामधिप द्वयोर्नास्तीह संस्थितिः । अमोघरेतास्त्वञ्चापि पूर्वञ्चाहमिहागतः ॥ सोऽशपत् तं ततः क्रुद्ध एवमुक्तो बृहस्पतिः । पुत्रं ज्येष्ठस्य वै भ्रातुर्गर्भस्थं भगवानृषिः ॥ यस्मात् त्वमीदृशे काले गर्भस्थोऽपि निषेधसि । मामेवमुक्तवांस्तस्मात् तमो दीर्घं प्रवेक्ष्यसि ॥ ततो दीर्घतमा नाम शापादृषिरजायत ।...ततस्तं दीर्घतमसं सुरभिर्वाक्यमब्रवीत् । विचार्य्य यस्माद्गोधर्म्मं प्रमाणं ते कृतं विभो ! ॥ भक्त्या चानन्ययास्मासु तेन प्रीतास्मि तेऽनघ । तस्मात् तुभ्यं तमो दीर्घमाघ्रायापनुदामि वै ॥ बार्हस्पत्यस्तथैवैष पाप्मा वै तिष्ठति त्वयि । जरां मृत्युं तमश्चैव आघ्रायापनुदामि ते ॥ सद्यः स घ्रातमात्रस्तु असितो मुनिसत्तम । आयुष्मांश्च वपुष्मांश्च चक्षुष्मांश्च ततोऽभवत् ॥ गोऽभ्याहते तमसि वै गौतमस्तु ततोऽभवत्" । सुतरां, औतथ्य और गौतम नामसे पिता पुत्र दोनों ही प्रसिद्ध थे । स्मृतिकार औतथ्य दीर्घतमाके पुत्र ही थे । औतथ्य गौतमशाखाके इन आङ्गिरसोंके कुलपूज्य, मथुरापुरीके सुप्रसिद्ध गोकर्णेश्वरमन्दिरस्थ महामहेश्वर ही 'बाबा महत्' नामसे जैतलीमात्रके कुलदेवता सुप्रसिद्ध हैं । स्वर्गीय पण्डित बद्रीनाथजी जैतली अमृतसरनिवासीने स्वरचित "पञ्चजातीय कुलदेवतार्चनपद्धतिमें" पुण्यपालकुलपूजित मथुरावृत्ति श्रीगोकर्णेश्वरमन्दिरस्थ महामहेश [illegible] ।" तथा "श्रीपुण्यपालकुल

पूजित गोकर्णामिश्रमात्मकुलदेवं श्रीबाबामहादाख्यं।" इत्यादि सुस्पष्ट लिखा है। आङ्गिरस उतथ्य वंशजोंका निवास वर्त्तमान मथुरापुरीके बसनेसे भी पहिले यमुनातीरवर्त्ती तपोवनवाटिकामें अति प्राचीनकालसे दिखता है। महाभारत अनुशासनपर्व में "भद्रा सोमस्य दुहिता रूपेण परमा मता। यहयाद्गुरुं पतिं सोम उतथ्यं समरयत। सा च तीव्रं तपस्तेपे महाभागा यशस्विनी। उतथ्यार्थे तु चार्वङ्गी परं नियममास्थिता। तत आहूय सोतथ्यं ददावत्रिर्यशस्विनीम्। भार्यार्थे स तु जग्राह विधिवद् भूरिदक्षिणः। तान्त्वकामयत श्रीमान् वरुणः पूर्वमेवह। स चागम्य वनप्रस्थं यमुनायां जहार ताम्। जलेश्वरस्तु हृत्वा तामनयत् स्वपुरं प्रति.. ..तत्र देवहनया सार्द्धं रेमे राजन् जलेश्वरः। अथाख्यातमुतथ्याय ततः पत्न्यवमर्दनम्। तच्छ्रुत्वा नारदात् सत्रमुतथ्यो नारदं तदा। प्रोवाच गच्छ ब्रूहि त्वं वरुणं परुषं वचः मद्वाक्यात् मुञ्च मे भार्यां कस्मात् तां हृतवानसि? लोकपालोऽसि लोकानां न लोकस्य विलुम्पकः। सोमेन दत्ता मे भार्या त्वया चापहृताऽद्य वै।... ..इति श्रुत्वा वचस्तस्य ततस्तं वरुणोऽब्रवीत्। ममैषा सुप्रिया भीरुर्नैनामुत्स्रष्टुमुत्सहे।.........गले गृहीत्वा क्षितोऽस्मि वरुणेन महामुने......नारदस्य वचः श्रुत्वा क्रुद्धः प्राज्वलदङ्गिराः। अपिबत्तेजसा वारि विष्टभ्य स महातपाः।.. ..तस्मिन् संशोषिते देशे भद्रामादाय वारिपः। अददाच्छरणं गत्वा भार्यामाङ्गिरसाय वै॥" मधुवनप्रान्तके यमुनाकूलसे ही इनकी भद्रानाम्नी स्त्रीको बलपूर्वक वरुणके अपहरण करनेका वर्णन आता है। यमुनातीरपर उस प्रान्तमें 'मथुरापुरी' तो दाशरथी रामचन्द्रजीके कनिष्ठ सहोदर शत्रुघ्नने, लवण राक्षसको मारकर बसायी थी। यथा—"शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नामराक्षसं। हत्वा मधुवनेचक्रे मथुरां नाम वै पुरीम्॥" भा० ९ स्क० ११ अ०। परन्तु उतथ्यऋषिकी स्त्री भद्राके यमुना किनारेसे

हरणका इतिहास मथुराके बसनेसे भी विशेष प्राचीनतम है। जब

नारदजीने उतथ्यऋषिके दूतका कार्य्यकर, वरुणदेवतासे जाकर कहा कि "लोकपाल होकर लोकमर्य्यादाका नाश करना आपका धर्म्म नहीं है। विवाहविधिसे सोमकी दानकी हुई, उतथ्यकी धर्म्मपत्नीका बलपूर्वक आपने क्यों अपहरण किया? उतथ्यके कथनानुसार आप अभी भद्राको छोड़ दें।" परन्तु वरुणने कुछ भी विचार इन बातोंका न कर क्रोधमें आ, नारदजीकी ही गर्दन नाप डाली। तब तो उतथ्य-ऋषिने विशेष क्रुद्ध हो, तपोबलसे जल पीकर वरुणाधिष्ठित प्रदेशको जलशून्य ही कर दिया। इतनी दुर्दशा कराने बाद वरुणदेवताने उतथ्यऋषिके शरणागत हो, अपना अपराध क्षमा करा, उनकी भद्रा उनके हवाले की थी। इस प्राचीन इतिहाससे भी उतथ्यऋषिका मथुराप्रान्त-में यमुनातीरवासी होना ही सुसिद्ध होता है। उक्त औतथ्य गौतम-ऋषिवंशका कुलेश गोकर्णेश्वर महादेवसे भी अति प्राचीन सम्बन्ध, पुराणोंमें प्रायशः उल्लिखित है। कूर्म्मपुराणके २० वें अध्यायकी आदिमें ही इक्ष्वाकुराजाके वंशज युवनाश्वराजाने गोकर्णेश्वरके मन्दिरमें ही तपस्वी गौतमऋषिसे साक्षात्कर पुत्रप्राप्तिका उपाय पूछा था। लिखा है—"स गोकर्णमनुप्राप्य युवनाश्वः प्रतापवान्। दृष्ट्वासौ गौतमं विप्रं तपन्त-मनलप्रभम्। प्रणम्यदण्डवन् भूमौ पुत्रकामी महीपतिः। अपृच्छत्कर्म्म-णाकेन धार्म्मिकं प्राप्नुयात् सुतम्॥" यद्यपि गोकर्णेश्वरकी शिवमूर्ति, पश्चिम समुद्रके निकट, दाक्षिणात्यमें, स्थाणुतीर्थमें, उत्तराखण्डमें और नैमिषारण्य आदि स्थानोंमें भी स्वतन्त्र हैं। तथापि अङ्गिराके गणके इन जैतली औतथ्योंके कुलदेवताकी मूर्ति तो मथुराके गोकर्णेश्वर मन्दिरमें ही है। इस मूर्तिका ध्यान भी "नीलरुद्र" के ध्यान भेदोंमें ही एक दिखता है। "अथर्वाङ्गिरसं नीलरुद्रन्देव्यपराजिता।" वाचस्पत्यधृत इस श्रुतिप्रमाणसे भी अङ्गिराके वंशके उपास्य कुलदेव 'नीलरुद्र' ही दिखते हैं। परमर्षि भृगुके गणमें जिसप्रकार सर्वप्रथम जामदग्न्य वत्स-गोत्रके ही प्रवरादिका वर्णन आता है उसी प्रकार अङ्गिराऋषिके गणमें

सबसे पहिले गौतमोंके प्रवरोंका ही उल्लेख है। यह तो लिख ही चुके हैं कि अङ्गिराऋषिके वंशमें भी 'वत्स' 'वत्सभूमि' 'भार्गव' वा 'उशना' आदि नामके ऋषियोंने जन्मग्रहण किया था। ऋग्वेदभाष्यमें सायनाचार्यने भी द्वितीयमण्डलके मन्त्रद्रष्टा गृत्समदऋषिके परिचयप्रसङ्गमें इसकी विवृत्ति इस भाँति की है। "मण्डलद्रष्टा गृत्समदऋषिः स च पूर्वं आङ्गिरसकुले शुनहोत्रस्य पुत्रः सन् यज्ञकालेऽसुरैर्गृहीत इन्द्रेणमोचितः पश्चात्तद्वचनेनैव भृगुकुले शुनकपुत्रोऽभूत।" मण्डलद्रष्टा गृत्समद ऋषि पूर्वजन्ममें अङ्गिराऋषिके वंशमें शुनहोत्रके पुत्र शौनहोत्रनामा थे। यज्ञमें असुरोंने इनको पकड़ लिया था, पीछे इन्द्रदेवताने छुड़ाया। इन्द्रकी आज्ञासे हो दूसरे जन्ममें उक्त शौनहोत्र, दैत्यगुरू भृगुऋषिके वंशमें शुनकके पुत्र गृत्समद नामके उत्पन्न हुए थे। अनुक्रमणिकामें भी स्पष्ट लिखा है "य आङ्गिरसः शौनहोत्रोभूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत् स गृत्समदः द्वितीयम्मण्डलमपश्यत्।" तथा उक्त शौनककी ही उक्ति है कि "त्वमग्ने इतिगृत्समदः शौनको भृगुनांगतः। शौनहोत्रप्रकृत्यातु य आङ्गिरस उच्यते।" तात्पर्य्य यह कि शुनहोत्र वा सुहोत्र, शौनक, भार्गव, कवि, वत्स, आदि एक नामके कई ऋषिवंशविशेषमें उत्पन्न हो चुके हैं। शुनहोत्र वा सुहोत्र अङ्गिराके कुलमें भी हुए थे; और भृगुवंशमें भी। इसीसे हरिवंशादिमें "वत्सस्य वत्सभूमिस्तु भृगुभूमिस्तु भार्गवात्। एतेह्यङ्गिरसः पुत्रा जातावंशेऽथभार्गवे। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयः पुत्राः सहस्रशः।" ह० वं० अ० २९। विस्तारसे इन नामोंके ऋषियोंका पहिले अङ्गिराके वंशमें तदनन्तर भृगुकुलमें जन्म लेनेका विवरण है। मनुजी भी कहते हैं—"अध्यापयामासपितॄन् शिशुराङ्गिरसः कवि।" दुःखका विषय है कि गोत्रप्रवर विषयक उत्तम विशद ग्रन्थोंके अभावसे इससमय इन विषयोंका परिज्ञान पण्डितोंको भी यथोचित नहीं है। इसलिये भ्रमप्रमादसे बहुतेरे तो अपना प्रवरनिर्णय भी ठीक ठीक नहीं कर

सकते। जबसे अपने हाथसे बनाकर यज्ञसूत्रके पहिननेकी सुरीति उठ गयी तबसे प्रवरोंका ज्ञान भी नष्ट हुआ। "उशना भार्गवः कविः।" भृगुऋषिको ही उशना भी कहते हैं। उशनाकी सन्तान परम्परा ही 'औशनस' प्रवरके अन्तर्गत रहती हैं। भार्गव, वत्स, वात्स्यायनादि गोत्रोंका उल्लेख, भृगु और अङ्गिरागणके सिवाय, काश्यप और अत्रि विश्वामित्रादिमें भी है। इनके प्रवरोंमें भी विभेद हैं। सुतरां, गोत्र और अपने गणके प्रवरोंका ठीक निश्चय कर लेना भी सहज नहीं है। इसीसे इसका ठीक बहुतोंसे इन दिनों नहीं होता। बहुतेरे ऐसे भी हैं कि प्रवर जानते ही नहीं। सर्वप्रथम जैतलियोंकी इस भूलका उल्लेख कर, मैंने एक निवेदन पत्र तीनवर्ष हुए, सारस्वतकुलतिलकायमान, मान्यशिरोमणि, परमपूज्यवर, श्रद्धेय श्रीवृन्दावनमिश्र जैतलीयकुलगौरव श्रीगुरुजीके चरण कमलोंमें भेजा था; और प्रार्थना की थी कि "इस निबंधमें मेरी भ्रान्ति हो, तो कृपा कर अवश्य उसका निर्देश कीजिये, यदि यथार्थ तो स्वीकृत कीजियेगा।" उस पत्रके उत्तरमें श्रीगुरुचरणोंकी कृपापूर्ण पत्रिका जो मुझे संस्कृतमें लिखीहुई मिली थी, उसके कुछ अंश इस स्थानमें उद्धृत किया जाता है।—"हि सभ्या भृगुभारण्ड वत्सवात्स्यायनादयः।" अन्यत्र "वात्स्यायनो भरद्वाजो वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः।" आदि प्रमाणप्रदर्शनपूर्वक श्रीगुरुचरणोंने इस अल्पज्ञको उत्साहितकर लिखा था— "वत्सवात्स्यायनौ वात्स्यइति भेदात्त्रिधा मुनौ। देशकालक्रियायोगात्र जाने क गताऽधुना। निस्सारिता त्वया वत्स, बहुकालादनन्तरम्। अस्मत् पितामहाद्याश्च न समर्था विवेचने। तद्विवेकं त्वयैवाऽद्य श्लाघनीयस्मतामसि। प्रवरा गोत्रनिर्णेया निर्णीतास्तु त्वयाऽधुना। प्रवरैणैव गोत्रस्य निर्णयो भवति स्फुटम्। तत्त्वयाऽद्यकृतं सौम्य मेधा ते त्वतिनिर्मला। दुष्कृतञ्च कृतं कर्म्म केनाद्याऽपि न शोधितम्।" इत्यादि।

वत्स गोत्रके प्रवरोंका निश्चयकरनेको जब जिसने 'प्रवराध्याय' आदि प्रचलित पुस्तकोंके पन्ने उलटे, उस को ही सबसे प्रथम भृगुके

गणके 'वत्स' गोत्रके प्रसिद्ध भार्गवच्यवन आदि पञ्चप्रवर सामने सहजमें बिना परिश्रम मिलगये। सुतरां, विशेष ध्यानसे परिश्रमपूर्वक कौन सा पण्डित इस निकम्मे, लाभशून्य, विषयको विचारने बैठता? यथार्थ प्रवरोंके यत्नपूर्वक अनुसन्धान न करनेका यही प्रधान कारण हुआ। स्वर्गीय पण्डित बद्रीनाथजी जैतलीने भी "जैतलियोंका" तो भार्गव, च्यवन आदि पञ्चप्रवर लिखा। परन्तु यजमानोंके 'कौशल्य' को "कौशिक' लिख, उसके 'कौशिक, देवरात, औतथ्य' ये तीन प्रवर लिखे। यजमानोंके प्रवरोंमें उक्त "औतथ्य" ऋषिका नाम आना, उक्त श्रद्धेय पण्डितजीकी भ्रान्तिके साथ ही मेरे पूर्वलिखित पक्षका सर्वथा पोषक है। यदि जैतलियोंका प्रसिद्ध "औतथ्य" वंशसे सम्बन्ध ही नहीं होता, तो उनके यजमानोंके प्रवरोंमें "औतथ्य" ऋषिका नाम प्राचीन पण्डितोंके बनानेकी छपाई पुस्तकमें कैसे आजाता? पुरोहितोंके अनुसार ही यजमानोंके प्रवर भी होते हैं; इसमें जब अनैक्य है, तो भूल भी अवश्य ही हुई है। जिन 'जैतली' भाइयोंको, अपने वात्स्य गोत्रके, भूलसे छपे हुए "भार्गव, च्यवन, आप्नवान्" आदि पञ्चप्रवरोंको देख, सन्देह और भ्रान्ति अपने प्रवरोंके सम्बन्धमें होती है, वे कृपापूर्वक इस पुस्तकमें प्रकाशित, निरपेक्षविचारसे निर्णीत जैतलियोंके प्रवरनिर्णयको, मनोनिवेशपूर्वक आग्रह त्यागकर पढ़ेंगे, तो आशा है कि अवश्य सन्देह उनका दूर हो जायगा। यह पहिले ही लिखा है कि मान्य श्रुतिप्रमाणानुसार इन आंगिरस जैतलियोंके कुलदेवताका ध्यान नीलरुद्रका ही ध्यानविशेष है। कारण, व्याघ्राम्बरशोभित, अक्षमाला और पानपात्रधारी त्रिनेत्र मूर्त्तिका ध्यान, रुद्रोंमें नीलकण्ठका ही है। अपराजिता नीलरुद्रकी शक्तिका ही नाम है। इधर देखो तो जयन्ती अर्थात् शमीके वृक्षका भी नाम अपराजिता दिखता है। "अश्वत्थाग्निगतो वह्निः शमीगर्भमुपाविशत्"। इत्युक्त्वा तं शमीगर्भे वह्निमालक्ष्य देवताः। देवतायतनं चक्रुः पुण्यं सर्वक्रियास्वपि। ततः प्रभृति चाग्निः स शमीगर्भेषु

दृश्यते। उत्पादने तथोपायमग्निजग्मुश्च मानवाः।" महाभारतमें कथा है—एक समय अग्निके विनष्ट हो जाने पर, देवता अग्निको खोजते फिरते थे। अग्नि भी छिपती हुई, अश्वत्थवृक्षसे निकल, जयन्ती (शमी)-के गर्भमें जा घुसी थी। तबसे अग्निगर्भा शमीको सब कर्म्मोंमें पुनीत और सब देवताओंका आश्रयस्थलमाना है। शमीके गर्भ में अग्नि तभीसे दिखी और मनुष्योंमें भी यज्ञमें शमीसे अग्नि उत्पादनका उपाय तभी-से निकला।

शमी वा जयन्तीको ही हिन्दीमें 'जैत' कहते हैं। अङ्गारोत्पन्न अङ्गिराके वंशके इन जैतलियोंका कुलवृक्ष उक्त 'जैत' ही है। भादोमें जन्माष्टमीव्रतका पालन न कर कुलवृक्ष जयन्तीके पूजनेकी पुरानी परिपाटी इनमें आज भी प्रचलित है। जैतलीब्राह्मण पहिले जयन्तीवृक्ष रोपणकर पीछे उस स्थानमें रहनेयोग्य गृहादि बनाकर रहते थे। लाहोरमें भी इन जैतलियोंके पुराने निवासस्थानमें जयन्तीका प्राचीनवृक्ष आजतक वर्त्तमान है। उसीका पूजन करनेको प्रतिवर्ष जन्माष्टमीके दिन इनके यजमान 'मेहरे' क्षत्रियोंका वहां मेला लगता है। विदेशस्थ जैतली भी अपने घरोंमें उस दिन यत्नसे संग्रहपूर्वक जयन्तीवृक्षका गमलेमें रोपणकर समारोहसे सकुटुम्बपूजनकर, यजमानोंसे भी अवश्यमेव पूजन कराते हैं। धर्म्मशास्त्रोंमें भी जयन्ती व्रत, जन्माष्टमीसे भिन्न ही लिखा है। पञ्जाबीभाषामें जयन्तीके वृक्षको ही 'जंड' कहते हैं। इसीसे इस महोत्सवका नाम जंडी पूजना वा "जंडी" ही प्रसिद्ध है। 'छटी जंडी' भी केवल जैतली और मेहरोंके कुलमें ही होती आयी है। मथुराके समीप ही पांचकोसपर जैतलियोंके आदि निवासस्थानका नाम भी 'जैत' वा 'जैतलपुर' इस 'जैत'के वृक्षके कारण ही पड़ा है। जैतली शब्दकी व्युत्पत्ति भी जयन्ती अर्थात् जैत वा शमीवृक्षसे ही सम्बन्ध रखती है। ('जयन्तीं' लाति भजतीति जयन्तिलः तत्कुले भवा जयन्तिलीयाः।) संस्कृत "जयन्तिलीय" ही हिन्दीमें 'जैतली' होगया है। राजा निमि और वशिष्ठ

ऋषिका विरोध, मैथिलराज विदेहके घर गौतम ऋषिके यज्ञ करानेसे ही हुआ था। तभीसे मिथिलाके राज घरानेमें गौतम ऋषि, कुल पुरोहित माने गये और इसी लड़से सूर्य्यवंशीय कौशल्य राजाओंमें और भी कई एक शाखाके राजा, जिनका निमिके राजवंशसे घनिष्ठ सम्बन्ध था, उक्त गौतमवंशजोंको ही कुलपुरोहित मानते चले आये। आश्चर्य नहीं कि इनके यजमानोंकी जाति "मिथिला" निवासी संस्कृत "मैथिलाः"से ही "मेहरा" वा मिहिरौतरा" प्रसिद्ध हुई हो। हिन्दीके अपभ्रंश शब्दोंमें 'थ'का'ह' और 'ल'का'र' हो ही जाता है। 'कथन'का कहना, और 'बाल'का बार इसी रीतिसे बना है। 'मैथिल-पोतरे'से ही क्रमशः 'मिहिरौतरे' कहाने लगे हो तो क्या आश्चर्य है? कारण श्रीरामचन्द्रजीके शुभविवाहके समय जनककुलपुरोहित शतानन्द ऋषि भी इसी गौतमवंशकी ही शाखाके दिखते हैं। महाभारतके समय भी कृपाचार्य्य आदि सुप्रसिद्ध गौतमवंशकी शाखाके ही अन्तर्गत थे। उधर देखिये तो पाञ्चालराजसहोदर मुद्गल राजाके पौत्र विन्ध्याश्वकी स्त्री मेनकाके गर्भसे ही राजर्षिदिवोदास और अहल्याकी उत्पत्ति हुई थी। वत्सकुलके श्रेष्ठोंके पूर्वपुरुष राजर्षि दिवोदास तो कुलपुरोहित भृगु ऋषिके पक्षमें थे। इन्हींके वंशमें पुनः अजमीढ़ने जन्म लिया था और उन्हींसे वंशकी दो शाखा होकर 'वत्सकुलके श्रेष्ठ' तो भृगुपक्षीय ही रहे; दूसरीशाखावाले अङ्गिरा और भारद्वाजके पक्षमें आगये। मत्स्य-पुराणमें भी "विन्ध्याश्वान्मिथुनंजज्ञे मेनकायामितिश्रुतिः। दिवोदासश्च राजर्षिरहल्या च यशस्विनी। शरद्वतस्तुदायादमहल्या समप्रसूयत। शतानन्दमृषिश्रेष्ठन्तस्यापि सुमहातपाः। सुतः सत्यधृतिर्नाम धनुर्वेदस्य पारगः। चासीत् सत्यधृतेः शुक्रममोघं धार्म्मिकस्य तु। स्कन्नं रेतः सत्यधृतेर्दृष्ट्वाचाप्सरसं जले। मिथुनं तत्र संभूतं तस्मिन् सरसि सम्भृतं। ततः सरसि तस्मिंस्तु क्रममाणं महीपतिः। दृष्ट्वा जग्राह कृपया शन्तनुर्मृगयांगतः। एते शरद्वतः पुत्रा आख्याता गौतमा वराः।

म० पु० अ० ५०। उक्त दिवोदासकी सहोदरा भगिनी अहल्याको ही गौतमपत्नी लिखा है। शरद्वत भी गोतमऋषिकाही नामान्तर है। सुप्रसिद्ध शतानन्द गोतमपुत्र ही थे। इनके वंशजोंसे शन्तनु राजाका सम्बन्ध जिस प्रकारसे हुआ, ऊपर मत्स्यपुराणके उद्धृत वचनोंसे स्पष्ट दिखता है। सिवाय इसके यजुर्वेदके वंशब्राह्मणमें ऋषियोंकी वंशावलीमें जहां कहीं गौतम ऋषिका नाम आता है, वहां साथ ही 'वात्स्य' ऋषिका भी नाम वर्तमान दिखता है। "गौतमाद्गौतमोवात्स्याद्वात्स्यः" इत्यादि अनेकों स्थलोंमें गौतमवंशसे वात्स्य ऋषिके घनिष्ठ कुलसम्बन्धका निर्देश करनेको ही घड़ीघड़ी पढ़ना आता है। अतएव इसमें सन्देह नहीं, कि अङ्गिराके गणके इन गौतम जैतलियोंका यही 'वात्स्य' गोत्र है। इस वात्स्यको गौतम औशनसके अन्तर्गत समझकर ही ग्रन्थोंमें इसका स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया है। जैतलियोंके इस वात्स्यगोत्रके 'आंगिरस, गौतम और औशनस' तीन प्रवर हैं। 'जैतलियोंका' शुक्ल यजुर्वेद, माध्यन्दिनीशाखा, सूत्र कात्यायनादि, देश 'मधुपुरी' समीपस्थ 'जैत' वा जैतलपुर, नदी यमुना, वृक्ष शमी, धम्मी तल्लण, भट्टचण्डीदास, नाईडाड़ी मिरासी सरवरश्योराल, माछी भरमल, फुलेरा माल, कुम्हार मोगरा, अखोरत अज्ञात, यजमान कौशल्यमेहरे वा मिहिरौतरे हैं।

मत्स्यपुराणके १९६ वें अध्यायमें इन्हीं कौशल्य राजवंशीय मेहरे-क्षत्रियोंको अङ्गिराके गणमें "कौशल्याः पार्थिवास्तथा।" लिखकर, इनके "अङ्गिरा, सुवचोतथ्य, और उशिज", ये तीन प्रवर उशिजगौतमोंके अनुसार गिनाये हैं। परन्तु विचारनेसे मत्स्यपुराणके लेख अनुसार भी उतथ्यका ही नामान्तरमात्र उशिज है। सुतरां, औतथ्य वा गौतम नामके अन्तर्गत ही उशिज अवश्य है। इसीलिये गौतम वंशकी औशनसशाखाके प्रवरोंमें उशिज नाम, सूत्रकारोंने भी नहीं गिनाया है।

इन कौशल्य मेहरोंका गोत्र भी गौतमके गणका प्रसिद्ध 'कौशल्य-गोत्र' इनके कौशिक नामके सादृश्यको रक्षाके निमित्त ही पुरोहितोंने अपने गणमें से जुदा कर दिया था। जैसे वत्स कुलके सेठोंका गोत्र भी वत्स है, वैसे ही हिरण्यनामकौशल्यके शिष्य इन कौशल्य मेहरे क्षत्रियोंका भी गोत्र कौशल्य ही है। इस कौशल्य गोत्रके त्रिप्रवर यद्यपि किसीके मतसे 'आङ्गिरस गौतम, शारद्वत ; अथवा आङ्गिरस औतथ्य और गौतम भी लिखे दिखते हैं। परन्तु वर्त्तमान समयमें तो जैतली पुरोहितोंके अनुसार इनके त्रिप्रवर आङ्गिरस, औतथ्य और औशनस ही होने उचित हैं। कारण, जब कि शारद्वत, गौतम और औतथ्य एक ही कुलके ऋषिके नामान्तर हैं ; तब इनको ऐसे स्थलमें बेमेल स्वतन्त्र लिख कर, पुरोहितोंके प्रवरोंसे वृथा भेद दिखानेकी क्या आवश्यकता है? मत्स्यपुराणके वचनोंमें भी "एते शरद्वतः पुत्राः आख्याता गौतमा वरा." लिखकर इसी को सुस्पष्ट किया है।

उक्त हिरण्यनाम कौशल्य, उतथ्य, गौतम और गोकर्ण आदि महापुरुषोंको शिवजीका अवतारोस्वरूप ही लिखा है। कूर्म्मपुराणमें महादेव शिवजीके अवतारोंका जहां उल्लेख है वहां सुस्पष्ट है कि—"महादेवावताराणि कलौ शृणुत सुव्रत।...चतुर्दशे गौतमस्तु वेदशीर्षा ततः परः। गोकर्णश्चाभवत्तस्मात् गुहावासः शिखण्डधृक्।...उतथ्यो वामदेवश्च महाकायो महानिलः।...हिरण्यनाभः कौशल्यो लोकाक्षिः कुथुमिस्तथा॥" कूर्म्म० पु० अ० ५२॥ परमोग्र तपस्या, कुलदेव शिवजीकी कृपा और उनकी यथाविधि उपासनाके प्रतापसे इन उतथ्यवंशजोंका भूमण्डलपर शिवरूपसे अवतीर्ण होना सुसंगत ही दिखता है।

जैतलियोंमें श्रीपुण्यपालके निम्न लिखित इन तीनों पुत्रोंसे ही १-खांडा, २-कुल्ला ३ रूपा नामके तीन थंभे चले हैं। परन्तु इनके यजमान मिहिरौतरोंके चार थम्भे और १४ परवार विख्यात हैं। इससमय कुलधर्म्म और पुरानी रीतियोंके परित्यागसे मेहरोंके थम्भोंका ठीक

निश्चय करना कठिन हो गया है। डांगावाल बलिये पोत्रोंके कुलवृद्ध बाबा हाड़ीका टोभा पूजने लाहौरसे मियांमीरके मध्यमें ये.मेहरे जाया करते थे ; जहां यह टोभा था। समयके फेरसे अब वहां बसती होगयी है। इन डांगावाल मिहिरोतरोंने जिसप्रकार कुछ दिनोंसे अपने कुल-वृद्धके टोभा पूजनेका और वहां जाकर देवकार्य्य करनेकी पुरानी रीति-का सर्वथा त्याग किया है। उसी प्रकार सिनन्धिये भी अब अपनेको सिनन्धिया कहनेमें आगा पीछा करते हैं। बहुत दिनोंसे लोभपरवश होकर पञ्चजातिके ब्राह्मणोंने भी यजमानोंके थंभे और परवारोंका ऐसा झमेला मचाया है कि इस समय इनके चारों थंभोमे प्रत्येकके अन्तर्गत कौन कौनसे परवार हैं ? इसका भी ठीक ठीक पता नहीं लगता। इस समय इन विषयोंका पूरा परिज्ञान भी प्रायशः किसीको नहीं है। हा! अबके लोग अपना कुलपरिचय भी भूल गये ! मथुरा-में होली दरवाजेके पास ही 'महत्पुर बाजार' 'कूचा ढाई घरका' आज-तक मेहरे खत्रियोंका आदिम निवासस्थल प्रसिद्ध है। पुरोहितोंके कुलदेव बाबा महत्के नामानुसार ही पूर्वमें "महत्पुर" बसा होगा। अब तो केवल उसका चिन्हमात्र इस महत्पुर बाजारके नामसे पाया जाता है। मथुरामें मेहरोंका बहुत दिनोंसे निवास होनेके कारणसे ही प्रायशः इनके भाटोंके मुखसे उच्चारित प्राचीन कवित्तोंमें भी "मथु-राके मेहरा।" पद सुननेमें आता था। वर्त्तमान उसी भाटवंशकी अब यह दशा है कि किसीके मुखसे उन पुराने ऐतिहासिक कवित्तोंका एक अक्षर भी नहीं निकलता है। आश्चर्य है कि इन भाटोंने अपने कुलधर्म्मरूप स्तुतिपाठके कवित्तोंसे मानों सर्वथा सम्बन्ध ही छोड़ दिया।

बाबा महत्का ध्यान, तन्त्रसारआदिके संगृहीत नीलकण्ठके ध्यानों-के ही अन्तर्गत है। नीलरुद्रकी शक्ति अपराजिता ही मेहरोंकी कुलपूज्य शिवामाता हैं। इनका महोत्सव प्रतिवर्ष भादों सुदीमें हरितालिका

तृतीयाको होती है। अब प्रायशः बाबा महन्तका वार्षिक महोत्सव नहीं होता, परन्तु चतुर्दशी सोमवार इनके साधारणतः पूजनादि महोत्सवका उत्तमदिन है।

भिंगाण सारस्वत भी परमर्षि अङ्गिराकी भारद्वाज शाखामें अग्रगण्य हैं। अंगिराऋषिके द्वितीयपुत्रही सुप्रसिद्ध देवगुरु बृहस्पति हैं। देवगुरुबृहस्पति सा बुद्धिमान् विद्वान कर्म्मठ और नीतिकुशल इस ऋषिवंशमें दूसरा नहीं हुआ। देवराज इन्द्रभी जिनके इङ्गितमात्रसे सशङ्कित हो आज्ञापालन करनेको सदा सन्नद्ध रहते थे। भगवान्ने अपनी विभूतिके गिनानेमें भी "पुरोधसांञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।" पुरोहितोंमें प्रधान, देवपुरोहित बृहस्पतिको अपनो विशेषसत्ताका स्वरूप ही कहा। बृहस्पतिके ज्येष्ठ सहोदर उतथ्य ऋषिकी स्त्री ममतासे, गर्भावस्थामें बलात्कारका प्रसङ्ग जो पहिले विस्तारसे लिख आये हैं, उसीमें बृहस्पतिके अमोघ वीर्य्यके प्रतापसे भरद्वाज ऋषिकी उत्पत्ति हुई थी। मत्स्यपुराणके ४६ वें अध्यायमें लिखा है—"ततः कामं सन्निवर्त्य तस्यानन्दाद्बृहस्पतेः। तद्रेतस्त्वद्भुमौ निवृत्तं शिशुकोऽभवत्। सद्योजातं कुमारन्तु दृष्ट्वा तं ममताऽब्रवीत्। गमिष्यामि गृहं स्वं वै भरस्वैनं बृहस्पते। एवमुक्त्वा गता सातु गतायांसोऽपि तं त्यजत्। मातापितृभ्यां त्यक्तन्तु दृष्ट्वा तं मारुतः शिशुम्। जगृहुस्तं भरद्वाजं मरुतः कृपयास्थितः।" बृहस्पतिका वीर्यस्खलित हो भूमिमें गिरनेपर भी अमोघरेता देवगुरुको संकल्पसिद्धि और तपःप्रभावसे अपूर्व तेजस्वी बालक उत्पन्न हुआ। ममताने सद्योजात उस अपूर्व बालकको देखते ही बृहस्पतिको उसका भरण पोषण करनेको कहकर अपने घरकी राह ली। परन्तु ममताके इतना कहकर चली जानेपर गुरु बृहस्पतिजी भी उसी अवस्थामें उस बच्चेको छोड़ चल दिये। तब माता पिताके त्यागे हुए उस निरीह शिशु भरद्वाजका कृपापूर्वक मरुद्गणोंने ग्रहणकर यत्नसे पालन किया था।

इधर पुरुवंशमें महाराज पुरुसे नीचे सोलहवीं पीढ़ीमें दुष्यन्तराजाने जन्म ग्रहण किया। कविकुल गुरु कालिदासके जगन्मान्य सर्वोत्तम नाटक शिरोमणि सुप्रसिद्ध "शकुन्तला" के प्रधान नायक उक्त दुष्यन्त ही थे। शकुन्तलाके गर्भसे ही दुष्यन्तपुत्र चक्रवर्ती भरतका जन्म हुआ था। महाराजा भरतके घर पुत्रका अभाव होनेपर ही मरुद्देवताओंने भरद्वाज ऋषिको उपस्थित करदिया था। लिखा है—"यदा स यजमानस्तु पुत्रं नासादयत्प्रभुः। ततः क्रतुमरुत्सोमं पुत्रार्थे समुपाहरत्। तेन तं मरुतस्तस्य मरुत्सोमेन तुष्टवुः। उपनिन्युर्भरद्वाजं पुत्रार्थं भरताय वै। दायादोऽङ्गिरसः सूनोरौरसस्तु बृहस्पतेः। संक्रामितो भरद्वाजो मरुद्भिर्भरतम्प्रति। भरतस्तु भरद्वाजं पुत्रं प्राप्यविभुर्ब्रवीत्। आदावात्महितायत्वं कृतार्थोहं त्वया विभो। पूर्वंतु वितथे तस्मिन् कृते वै पुत्र जन्मनि। ततस्तु वितथो नाम भरद्वाजो नपोऽभवत्।" म० पु० अ० ४९। हरिवंशमें भी यही विषय स्पष्ट है—"बृहस्पतिर्वीर्य्यात् उतथ्यपत्नीममतासमुत्पन्नो भरद्वाजाख्यो पुत्रो मरुद्भिर्दत्तः॥" ह० ४१२। तथा "ततोऽथ वितथो नाम भरद्वाजात्सतोऽभवत्। पौत्रेऽथवितथे जाते भरतस्तु दिवं ययौ वितथञ्चाभिषिच्याथ भरद्वाजो वनं ययौ। राजा वितथपुत्रान् स जनयामास पञ्च वै।" ह० वं० अ० ३२। मरुद्देवता, आङ्गिरस बृहस्पतिके औरस दायाद भरद्वाजऋषिको पुत्रार्थी महाराज भरतके समीप ले आये थे। उक्त भरद्वाज ऋषिसे ही भरतके पौत्र राजा वितथका जन्म हुआ था। यजमान राजवंशके कुलीन क्षत्रियोंकी वंशरक्षा सदासे पुरोहित ब्राह्मणोंने अपने मन्त्रबल तपोबल, सत्यसङ्कल्पत्व, क्षेत्रजपुत्रोत्पादन, और यहांतक कि समयपर योगबलसे जन्मान्तरपरिग्रह पूर्वक स्वयं पुत्ररूपसे उनके गर्भमें उत्पन्न होकर भी की है। जिस राजवंशमें जब कभी इस प्रकारसे ब्राह्मणोंद्वारा वंशरक्षक पुत्र उत्पन्न हुआ है, तो उस पुत्रका नाम भी प्रायशः उन वंशरक्षक ऋषियोंके नामानुसार ही रखा गया है। सिवाय इसके क्षेत्रजपुत्रो-

त्पादन करनेको राजप्रासादमें उपस्थित हो, तपोधन ब्राह्मणोंने समय समयपर राजमहिषी पट्टरानियोंके छुत्रदोषके कारणसे ही अपने पुत्र भी उसी अवसरपर बिना दारपरिग्रहके सहजमें उत्पन्न कर लिये हैं। दीर्घतमाः ऋषिने राजा बलिके घर काक्षीवान् आदि पुत्र इसी रीतिसे उत्पन्न किये थे। मत्स्यपुराणमें उक्त काक्षीवानके विषय साफ लिखा है—"ब्राह्मण्यं प्राप्य काक्षीवान् सहस्रमसृजत् सुतान्। कौष्माण्डा गौतमाश्चैव स्मृताः काक्षीवतः सुताः।" म० पु० अ० ४८। कौष्माण्ड-गौतमवंशीय ब्राह्मण उसी काक्षीवानके पुत्र हैं। जैसे तपःप्रभावसे एक ही जन्ममें दीर्घतमाके शूद्रागर्भज पुत्र काक्षीवान्, ब्राह्मण हो गये थे। उसी प्रकार तपस्या और शरीरके गुण भेदसे जन्मदाता इन ब्राह्मणोंके सङ्कुल और अपने तपोबलप्रभावसे, प्रारब्धानुसार कोई उसी जन्ममें और कोई जन्मान्तरमें ब्राह्मण हो सके हैं। इस विषयको न समझकर ही कोई कोई आधुनिक क्षत्रिय ग्रन्थकर्त्ता क्षत्रियोंको ब्राह्मणोंके भी जन्मदाता और गोत्रकार लिखकर क्षत्रियकुलमर्य्यादास्थापनकी उत्कट इच्छासे अपनी विद्वत्ताके साथ ही सुशीलता, भक्ति और ब्रह्मण्यताका भी यथार्थ परिचय देनेको अग्रसर हुए दिखते हैं। ब्रह्मवंशावतंस प्रजा-पति ऋषियोंके सिवाय, आदिगोत्रप्रवर्त्तक दूसरा कोई भी नहीं हो सकता है। क्षत्रियोंकी तो उत्पत्ति ही इन ब्राह्मण ऋषियोंकी उत्पत्तिके एक युगके अनन्तर हुई थी। ब्राह्मणोंकी सत्यसंकल्पता और अपने कर्मफलसे जो क्षत्रिय इसी जन्ममें ब्राह्मण हुए थे, वे भी आदिगोत्र-प्रवर्त्तक अग्रजन्मा प्रजापति ऋषियोंके ही गोत्र और गणोंके अन्तर्गत दिखते हैं।

लाला सखनलाल टण्डनने स्वरचित "क्षत्रियप्रकाश"में "कौशल्य" "कुशिक" "भरद्वाजादि" गोत्रकार क्षत्रिय राजाओंको लिखकर इस विषयकी पूर्ण अनभिज्ञता दिखानेके साथ ही निर्मूलक भ्रान्तमतप्रचार-की वृथा चेष्टा की है। उनके लिखे अनुसार भी सूर्य्यवंशीय राजा

रघुसे नीचे २२ वीं पीढ़ीमें हिरण्यनाभके पुत्र कौशल्य राजाका जन्म हुआ था। रघुराजासे ही गिननेपर कौशल्य २२ वीं पीढ़ीमें आये। परन्तु मनु और इक्ष्वाकुराजासे गिनती की जायगी तब तो और भी बहुत सी पीढ़ियोंके बाद ही ये आवेंगे। इनके उक्त कौशल्य ही गोत्र-प्रवर्त्तक माने जायंगे तो उनके पूर्वपुरुषोंकी क्या गति होगी? इस कौशल्य राजाके पूर्वजोंका भी गोत्र तो अवश्य ही था, सुतरां, उनका कौनसा गोत्र था? आदिगोत्रप्रवर्त्तक क्या वंशप्रवृत्तिके सैकड़ों पुरुषों-के जन्म लेनेके पीछे उत्पन्न हुआ करते हैं? इसी प्रकार कुशिक राजा और वितथ राजाको आदिगोत्रकार लिखकर भी भ्रान्तिका ही पूर्ण परिचय दिया है। गोत्रप्रवर्त्तक अंगिराके द्वितीय पुत्र वृहस्पतिके औरस पुत्र भरद्वाज ऋषि थे। राजा दुष्यन्त और भरतके जन्मग्रहण करनेसे भी हजारों लाखों वर्ष पहिले उक्त भरद्वाजऋषि अवतीर्ण हुए थे। सुतरां, वितथ राजाको केवल नाम सादृश्यसे ही गोत्रकार भरद्वाज मान लेना, अथवा "दो पिताके होनेसे इनका नाम भरद्वाज हुआ" कहना, किसी प्रकारसे भी युक्तियुक्त और प्रामाणिक नहीं है। प्रधान ऋषियोंके नामसे ही उस ऋषिवंशके अनेकोंका परिचय शास्त्रोंमें दिया है। वशिष्ठवंशमें अनेकों वशिष्ठ और भृगुवंशमें अनेकों भार्गव हुए। उसी प्रकार अङ्गिराके गणमें भी अनेकों गौतम और भरद्वाज आदि ऋषि हो चुके हैं। राजा वितथ भी उस वंशके किसी एक भरद्वाजसे उत्पन्न हुए थे; परन्तु इसलिये राजा वितथको गोत्रप्रवर्त्तक भरद्वाज कदापि नहीं कह सकते हैं।

सुकेशा भरद्वाज, अग्निभरद्वाज, अत्रिके गणके भरद्वाज और काश्यप भरद्वाज आदि कई एक भरद्वाज, आंगिरस वृहस्पतिके औरस पुत्र मुख्य भरद्वाजसे भिन्न भी कुलविशेषमें उत्पन्न हो चुके हैं। उनके प्रवरोंमें भी विभिन्नता है। इसीसे राजा वितथकी उत्पत्ति किस कुल-के भरद्वाजसे हुई थी? यह उत्तमरीतिसे दर्शानेकी ही ममताके प्रसंगसे

उत्पन्न बृहस्पतिके औरसपुत्र भारद्वाजकुलका परिचय, पौरव दुष्यन्त-राजाके पुत्रके सम्बन्धमें पुराणोंमें विशेषकर दिखाया है।

इसी प्रकार विशेष विचारपूर्वक देखो तो विनथराजकुलपुरोहित पञ्चजातिके इन बृहस्पतिपुत्र भारद्वाजगोत्रीय सारस्वतोंके प्राकृत देश-भाषाके "झिंगण" नामकी व्युत्पत्तिका घनिष्ट सम्बन्ध भी देवगुरुसे ही दिखता है। मेदिनीकोषमें 'झ' नाम बृहस्पतिका है। आंगिरस बृह-स्पतिके गणके भारद्वाजोंकी सांकेतिकसंज्ञा सन्देहकी निवृत्तिके अभि-प्रायसे ही सुतरां 'झगण भारद्वाज' उत्पन्न हुई थी। 'झ' के अर्थात् बृह-स्पतिके गणके हैं, यह, समझानेको ही "झगण" शब्दका संयोग सर्वप्रथम इन भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मणोंके कुलके साथ हुआ था। क्रमशः समयके फेर और संस्कृतकी चर्चाके अभावसे मूर्खताके अटल राज्यमें विकृत होता होता उक्त झगण भारद्वाजकुलका परिचायकशब्दही बिगड़ कर झगणसे 'झंगण' और अन्तको अब खासा सुन्दर "झिंगण" बन गया है। इस यौगिक शब्दके साथ 'गण' शब्दका नित्य सम्बन्ध इस व्युत्पत्तिकी समूलताके साथ ही मेरे इस अनुमानकी सत्यताका भी सर्वथा पोषक दिखता है।

इन झिंगण सारस्वतोंका गोत्र भारद्वाज है। आंगिरस, बार्हस्प-त्य और भारद्वाज ही इनके तीनों प्रवर हैं। इनका भी शुक्ल यजुर्वेद, माध्यन्दिनी शाखा, उपवेद धनुर्वेद, सूत्रकात्यायनादि, कुलदेवी भद्रियानी चण्डिका भवानी, भट्ट गोतम, नाई मेड़ा, भम्मो भी गोतमभट्ट ही, अ-सीरत पटींजा, रवाको जवारी, यजमान खत्री और टण्डन, देश सारस्वत, उसीमें इनके हालनिकासका स्थान उच्च मुलतानसे आगे: 'सतोद्री'को भी लोग कहते हैं। इन झिंगण भारद्वाजोंमें बारा पैड़ोंके थंभेमें सर्व-ज्येष्ठ अत्, मध्यम नत्यू और कनिष्ठ सहोदर गौतमसे ही अत्पोत्रे, नत्थ्पोत्रे और गौतमपोत्रोंकी तीन प्रधान शाखा उत्पन्न हुई हैं। गु-शांई, बावे और व्यासकी उपाधिसे भी इन्हींके तीनों थंभे प्रसिद्ध हुए

थे। इनका भट्ट ही धम्मी भी है, इसलिये इनकी कुलदेवीकी मूर्त्ति भट्टके ही घर रहती है। शुभकार्य्य उपस्थित होनेपर भट्ट अपने घरसे उक्त कुलदेवी मूर्त्ति को लाता है। अतएव भट्टके लानेसे ही "भटियानी चण्डिका" कहायी हैं। डाडड़देवकी सर्पमूर्त्ति का पूजन और मुण्डन, देवकार्य्य आदिमें दर्शन करनेकी पुरानी रीति झिंगणमात्रमें प्रचलित है। कहते हैं किसी समय झिंगणवंशमें ही किसी स्त्रीके गर्भसे उक्त सर्पदेवने जन्म लिया था। बराबर घरमें ही वह सर्प शान्तभावसे रहा किया, घरवाले इस बातको सभी जानते थे। ईश्वरेच्छासे दुर्भाग्यवश, बहुत दिनों बाद ससुरालसे आयी हुई इन झिंगणोंकी किसी लड़कीके बिना जाने 'दुअँचिये चूल्हेमें' शीघ्रतासे आँचबाल देनेसे दग्ध होकर ही सर्पदेवने शरीर परित्याग किया था। तबसे आजतक झिंगणोंमें वैसा दुअँचिया चूल्हा ही नहीं बनता। सर्पदेवके शापसे ही झिंगणोंकी स्त्रियाँ भी सर्व्वथा सुखभोग नहीं करती हैं। इनकी नूहाँ (पुत्रवधू) सर्पके साम्हने आजतक उसे अपना 'बडडा' कुलवृद्ध समझ घूंघट काढ़ती हैं। उक्त डाडड़देवके दैवी चमत्कार, मुंडनके समय कुएँमें लटकाये हुए उस्तरेको चाटजाना और शुभ औसरपर दर्शन देना आदि इस कठिन कलिके समयमें अबतक भी देखनेमें आते थे।

नत्थूपोत्रे झिंगणोंमें बिहारी गुसांईके पुत्र मिश्र मूलचन्दजीसे ही 'कक्कड़ाँवाले झिंगणोंकी' वंशावलीका प्रारम्भ हुआ। मूलचन्दके पुत्र हरजी, गुणीचन्द और फिरणदास वा दुर्णीदासजीसे ही कक्कड़ाँवाले झिंगणोंकी वर्त्तमान तीनों शाखा फैली हैं। कक्कड़में ही बाबा चन्दनतपायोगीकी गद्दी और मन्दिर मठ आदि सम्पत्ति थी। सुनते हैं कि अपने समयमें बाबा चन्दनतपा पंजाब प्रान्तमें अद्वितीय योगी, सिद्ध-पुरुष, प्रसिद्ध थे। माता कौरी भी जैतलियोंके कुलमें उत्पन्न हुई थीं। माता कौरीकी एकमात्र कन्यासे ही मिश्र मूलचन्दजीका शुभविवाह हुआ था। हरजी आदि उक्त तीनों सहोदर ही माता कौरीके दौहित्र

थे। माता कौरी साक्षात् योगसिद्धिका अवतार और वैराग्यकी मूर्त्ति थीं। बाबा चन्दनतपाको भी माता कौरीकी बारह वर्षकी अटूट समाधिकी अवस्था देख आनन्द, विस्मय, वैराग्य और अन्तको यह अनुताप भी हुआ था कि "एक गृहस्थाश्रममें रहती स्त्रीकी साधनाके तुल्य भी अबतक मेरी योगसिद्धिकी दशा न पहुंची। धिक्कार है मेरे पुरुषार्थको! इस मठ मन्दिर और गद्दीके प्रपञ्चसे ही मेरी साधनामें विघ्न हुआ।" यह विचार, बाबा चन्दनतपाने माता कौरीसे भक्ति पूर्वक कहा कि "इस गद्दी और मठका अधिकार आजसे मैंने छोड़ा, क्योंकि यही मेरी तपस्याके विघ्नस्वरूप हैं। मैं आज आपको इनका पूर्ण स्वत्त्वाधिकार समर्पणकर, तपस्याको जाता हूं।" माता कौरीने स्वयं तो गद्दी और मठ आदिका अधिकार न लिया; परन्तु अपने उत्तराधिकारी तीनों दौहित्रोंको बाबा चन्दनतपासे गद्दी आदिका पूरा अधिकार दिला दिया था। तबसे ही मूलचन्दजीके इन तीनों पुत्रोंके वंशज कक्कड़ांवाले कहाये और माता कौरी और बाबा चन्दनतपा भी तभीसे इनके कुलपूज्य माने गये। इनमें बाबा चन्दनतपाकी अर्दास करनेकी रीति प्रचलित है और उक्त मठ और गद्दी आदिका अधिकार भी अबतक गुणीचन्दके वंशमें ही है। बाबा चन्दनतपाकी इस असम्पूर्ण अर्दासके पाठमें अशुद्धि भी बहुतसी है, परन्तु शुद्ध और सम्पूर्णके यथा-समय न मिलनेसे जैसा पाठ मिला वैसाही छापदिया है। कोई सज्जन शुद्ध पाठकी पूरी अर्दास लिख भेजेंगे तो धन्यवादके पात्र समझे जायंगे। अर्दास। "चन्दन, के औतार? व्यासके बालमीक? पायो हरजो मुख्यद्वार, बाजे मेरो ताल मृदंग, तेरा दर्शनपाया महापुरुष गुणीचन्द। गुणीचन्द हरज्ञान बताया किरणदास हरचरणी लाया। सोभाभई गुरुदेवको हरदासनके दास। नाथभवानी सुमरिये शिवचरण कमलको आस। सेवक आया अच्छके माल जाज भरी भण्डार। माता कौरी, चन्दन दयाल, आई मौज करो निहाल। हकपर्दे रख लाज,

नकर आजिज न कर मुहताज। ए बाबा चन्दनतपा तेरे ही नामदा भरोसा है ॥" इसमे माता कौरी, बाबा चन्दनतपा, गुणोचन्द, हरजी, और फिरणदासके नाम आये है। बाबा हरकिशनदास जी झिंगण (जिनके अधिकारमें इस समय ककड़ांवाली गद्दी है) का कथन है कि जगन्नाथ-पुरीका सुप्रसिद्ध "चन्दन तालाब" बाबा चन्दनतपाने ही बनवाया था। उसीके मध्यमें उनकी समाधि भी है। गुणोचंदके कनिष्ठ सहोदरको अब लोग टुर्णोंदास कहते है परन्तु इस अर्दासमें फिरणदास नाम दिखता है। पञ्जाबीभाषामें टुरणा और फिरणा दोनों ही चलनेके अर्थमें बोलेजाते हैं। सम्भव है कि टुर्णोंदास और फिरणदास दोनो नाम एक ही मनुष्यके प्रसिद्ध होगये हों।

झिंगणोंके यजमान 'खन्ने' और 'टण्डन' हैं। इन्हीं खन्ने क्षत्रियोंके विषयमें विविध प्रकारकी शब्द व्युत्पत्तिका आविष्कार लोगोंने किया। सफरमैंना पलटनके खनन करनेवाले सिपाहियोंसे, आरम्भकर खन्ने (आधे) किसी महापुरुषके मतसे आधा वंश ब्राह्मण, आधा क्षत्रिय होनेसे खन्ना; और किसीके मतसे चोटी उतरवानेसे आधे हिन्दू होनेके कारण ही खन्ना कुल प्रसिद्ध हुआ, सिद्ध होचुका है। परन्तु सूक्ष्म विचारपूर्वक देखनेसे आंगिरस भारद्वाजके गणके "क्षण्य" गोत्रके कारणसे "खन्ना" और "ताण्डिन" गोत्रसे ही टण्डन नामकी भी सृष्टि हुई है। 'प्रवररत्न' 'प्रवरमंजरी' आदि ग्रन्थोंमें इन्हीं "क्षण्य" और "ताण्डिन" आदि गोत्रोंके प्रवर निर्णयमें "आश्वलायनेन केवलांगिरसेषु पाठेऽपि आपस्तम्बकात्यायनाभ्यां भारद्वाजेषु पाठाद्विष्णुपुराण संवादाच्च भरद्वाजैरविवाहेति"। यद्यपि आश्वलायन इनको केवलांगिरसोंमें लिख गये हैं, परन्तु आपस्तम्ब और कात्यायन ऋषि, भारद्वाजके गणमें इन्हें मानते हैं; विष्णुपुराणके सहित भी इन्हींके मतका ऐक्य है, "इसलिये भारद्वाजके गणसे इनका विवाह न होगा" स्पष्ट यही लिखा दिखता है। जिसप्रकार तीनों सहोदर खानचन्द मेहरचन्द और कपूर-

चन्दकी औलाद बनाकर, खन्ना, मेहरा, कपूर आदि अल्ल अपनी उस्तादीसे धूर्त चौधरियोंने मनमानी रखडालीं। जैसे अढ़ाई घरकी दो और आधा अर्थ समझ मनगढ़ी कल्पना जिसने जैसी चाही वैसी करली। उसी प्रकार अटकलपच्चीसे खन्ना शब्दकी विविध काल्पनिक व्युत्पत्तिका दिफूकरनेमें भी लोगोंने कुछ कमती कारीगिरी नहीं दिखायी। इसी कारणसे इसके यथार्थ मूल इस "क्षण्य" गोत्रतक किसीकी पहुंच न हुई। निकम्मी बातोंके झूठे जंजालमें ही उलझा किये। यथार्थमें तो "क्षण्य" गोत्रके कुलीन राजवंशके क्षत्रियोंकी ही समयके फेरसे विकृत होकर 'खन्ना' संज्ञा बनगयी है। 'खन्ना' इस "क्षण्य"का ही अपभ्रंशमात्र है, सन्देह नहीं। खन्नोंका गोत्र 'कौशल्य तो किसी प्रकारसे भी सिद्ध नहीं होता है। इस समय भ्रान्तिसे इनका कौशल्यगोत्र मानने लगे हैं। कारण 'कौशल्य' गोत्र तो अंगिराके गणमें गौतमोंके अन्तर्गत एकमात्र ही है। आदिसे अन्ततक ध्यानसे समग्र अंगिराके गणोंको भलीभांति देखनेपर भी दूसरा कोई 'कौशल्यगोत्र' नहीं दिखता। हां, 'काक्षल्य' गोत्र एक है; परन्तु इसके प्रवरोंका भी पुरोहितोंसे सर्वथा ऐक्य नहीं होता, ये पंचप्रवरोंमें हैं। अतएव खन्नोंका कौशल्यगोत्र नहीं है। 'खन्ना' संज्ञा इनके 'क्षण्य' गोत्रके कारणसे ही अवश्य उत्पन्न हुई है। अन्यथा खन्ना संज्ञाकी उत्पत्ति और प्रवृत्तिका दूसरा कोई भी यथार्थ कारण नहीं दिखता है। इस 'क्षण्य' गोत्रके भारद्वाजके अन्तर्गत माने जानेसे, सूत्रकार कात्यायन और आपस्तम्बके मान्य मतानुसार भारद्वाज गोत्रवत्, आंगिरस, बार्हस्पत्य और भारद्वाज, हो इसके तीनों प्रवर भी हैं। राजा वितथके विशाल राजवंशमें सबसे प्रधान शाखामें इन खन्नोंकी भारद्वाज ऋषिसे ही उत्पत्ति भी हुई थी। इसी प्रकार 'ताण्डिन' गोत्रके कारणही टण्डन संज्ञा भी उत्पन्न हुई थी। प्रतापी अकबरशाहके समय प्रसिद्ध टोडरमल मंत्री इस टण्डन वंशके ही हुए। इन्होंने पृथूदक तीर्थमें सरस्वतीका पक्काघाट और पुल बंधाया था।

सिवाय इसके अन्य तीर्थोंमें भी इनकी कीर्त्ति अबतक विद्यमान है। बनारसमें शिवपुरके समीप द्रौपदीकुण्ड तीर्थमें एक प्राचीन पत्थर-पर भी इस भांति लिखा है—"क्षोणीशे ऽकबरे प्रशासति महीं तस्मिन्नृपालावलिस्फूर्जन्मौलिमरीचिवीचिरुचिरोद्यत्पदाम्भोरुहे। तद्राज्यैकधुरन्धरस्य वसुधासाम्राज्यदीक्षागुरोः श्रीमट्टण्डनवंशमण्डनमणेः श्रीटोडरक्ष्मापतेः।" इत्यादि। महाकवि शेष कृष्णने इनके पुत्र राजा गोवर्द्धनधारीका वर्णन स्वरचित 'कंसवध नाटक' में किया है। उसमें भी—"तस्यास्ति तण्डनकुलामलमण्डनस्य, श्रीलोडरक्षितिपतेस्तनयो नयज्ञः। नानाकलाकुलगृहं सविदग्धगोष्ठीमेकोऽधितिष्ठतिगुरुर्गिरधारिनामा॥ १३॥" स्पष्ट 'टण्डनवंश' और 'तण्डनकुल' शब्दके प्रयोगसे इनके 'ताण्डिन' गोत्रका ही प्रकारान्तरसे परिचय दिया है। इन टण्डन क्षत्रियोंके 'ताण्डिन' गोत्रके त्रिप्रवर—आंगिरस, आमक्षय्य और औरुक्षय हैं। शुद्ध आङ्गिरसोंमें ही 'ताण्डिन' गोत्रके प्रवरोंकी गणना की है, इसीसे इस समय इनका केवल आंगिरस गोत्र कहा जाता है। यथार्थमें ताण्डिन गोत्रवाले ही टण्डन कहाते हैं। इनका गोत्र ताण्डिन ही है।

थोड़े ही दिनोंकी बात है, एक समय 'कश्यपगोत्रीय' इन खत्रोंके कुलीनवंशके सर्वथा निर्मूल होनेका समय भी उपस्थित हुआ था। पुरोहितोंके इष्टबल और तपोबलसे ही इनकी वंशरक्षा हुई थी। झिंगणवंशावतंस बाबा लालूने पुरश्चरणोंकी सिद्धिसे ही भगवती चण्डिकाको प्रसन्नकर अपने यजमानोंके डूबते कुलकी रक्षा की थी। स्मरणीय जसराय इन्हींकी उस सिद्धिका फल था। प्रतिज्ञाबद्ध भगवतीका दिया पुत्र जसराय भूलसे माके मुखसे दुर्वचन निकलते ही आलेके बीचमें देवी शक्तिसे दिवाल फोड़कर भूमिमें प्रविष्ट हुआ था। माताने चुटिया पकड़कर, बहुतसा बलप्रयोग उस एकमात्र प्रिय पुत्रके बाहर निकालनेको किया, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। पुत्र धरतीमें धंसता ही चला,

केवल उसकी चोटी हाथमें रह गयी। दैवकी इच्छाके आगे मनुष्यका पशुबल तुच्छ है। अन्तको कुलपुरोहित बाबा लालूके वहां आनेपर, स्तुतिसे सुप्रसन्न हो भगवतीके अवतारी पुत्र जसरायने उस स्थानको सिद्धपीठवत् चमत्कारी आशुफलप्रद करनेके साथ ही बाबा लालूके श्रद्धेय नामके पीछे अपना नाम जोड़कर दिपालपुरमें "बाबा लालू जसरायका" यह आला पुजाया और अपनी चोटीके बदलेमें खन्ने क्षत्रियोंकी चोटी लेनेकी प्रथा प्रवर्त्तितकर, दैवी चमत्कारसे स्ववंशकी रक्षा भी की। (दिपालपुर लाहौरसे ४० कोसपर है। पठानोंके समय उत्तरपंजाबकी यही राजधानी भी थी। यह स्थान प्राचीन और ऐतिहासिक खोज करने योग्य है।) उसी समयसे खन्नोंके कुलमें बाबाका विशेष मान्य हुआ और चोटीउतरवानेकी प्रथा भी प्रवर्त्तित हुई। पहिले समयके लोग मुण्डनसंस्कारके पीछे बाबाकी चोटी स्वतन्त्र रखाते थे और उसी रखाया हुई चोटीको बाबाके यहां जाकर उतरवाते थे। तदनन्तर उपनयन संस्कार भी शास्त्ररीतिसे ही कराते थे। दुःखका विषय है कि मूर्खताके विशेष फैलजानेसे ही अन्धपरम्पराका अनुसरण कर, अब तो प्रायः सभी वहां जाकर चूड़ाकर्मसंस्कारकी रखायी चुटिया ही कटा डालते हैं। जनेऊ भी बाबाके आलेसे छुलाकर ही गलेमें डाल, सबसे मुख्य उपनयनसंस्कारकी भी बहुतेरे 'इतिश्री' कर आते हैं। मुण्डनसंस्कारमें रखी हुई चुटियाका आजन्म कटाना निषिद्ध है। कटानेसे पुनः संस्कार कराके चुटिया रखानी उचित है। इसी प्रकार बाबाके आलेसे छुलाकर गलेमें पहिनलेनेसे ही उपनयनसंस्कार नहीं सिद्ध होता, आजन्म वह पतित और व्रात्य ही बना रहता है। ये दोनों घोर अनर्थकरी कुप्रथा थोड़ेही दिनोंसे चली हैं। यत्नपूर्वक शीघ्र ही इनका प्रतिविधान सारस्वत क्षत्रिय मात्रको करना चाहिये। क्षत्रियोंकी वर्त्तमान घोर दुर्दशाके कारणोंमें यह कुप्रथा भी एक प्रधानतम है। मुण्डन पड्मुण्डनके बादही बाबाकी चोटी

रखानेकी चाल चली आती है। उस दिनसे रखायी हुई चोटीका चूड़ाकर्मको चोटीसे अन्यत्र यत्नपूर्वक संरक्षणकर उसीको करना ही उचित भी है। मुख्य चोटी कटाके चूड़ाकर्मकी संस्कारहानि तो कदापि न करनी चाहिये। इसी प्रकार यथाविधि उपनयनसंस्कारसे ही जनेऊ भी वहाँ सबका होना अवश्य उचित है। जातीयद्रव्य संग्रहपूर्वक चन्दा करके भी इसका सुप्रबन्ध यथासाध्य शीघ्र ही क्षत्रियमात्रका कर्त्तव्य है। इसमें आलस्य और कालविलम्ब होनेसे, व्रात्य और पतितोंकी वृद्धिसे शीघ्र ही क्षत्रियकुल नष्ट भ्रष्ट होजायगा।

खन्ने और टण्डनोंको कुलदेवी और इनके भट्ट, नाई, असीरत, आदि लगायत, पुरोहितोंके अनुसार ही सब माने जाते हैं। खन्नोंमें १ अट्टा वा जट्टमलका थंभा, २ चतरूदासका थंभा, ३ मथुरादासका थंभा, नामके तीन ही थंभे प्रसिद्ध हैं। इन तीनों थंभोंके अन्तर्गत बहुतसे परिवार हैं। स्थानाभावसे अब इनके विषयमें विशेष कुछ नहीं लिख सकते।

तिक्खे सारस्वत परमर्षि वशिष्ठके सुप्रसिद्ध कुलमें हैं। विद्या और अपूर्वतपःप्रभावसे ही महर्षि वशिष्ट ऋषिवंशमें श्रेष्ठ माने गये थे। "वशिष्ठं श्रेष्ठमासीनं ऋषीणां भास्करद्युतिम्।" "वशिष्ठमीशं विप्राणाम्। म० भा० शा० प०। "ऋषीणाञ्च वरिष्ठाय वशिष्ठाय महात्मने। वा० पु०। आदि प्रामाणिक वचनोंसे महर्षि वशिष्ठकी श्रेष्ठताका परिचय जिस प्रकार ग्रन्थोंमें बहुधा दिखता है; उसी प्रकार विश्वामित्रसे घोर विरोधके समय भी ब्राह्मणोचित शम, दम, तप, तितिक्षा, शान्ति आदि सद्गुणोंका समूह एकाधारमें इन्हींमें दिखायी देता है। इनके तपोबलकी अद्भुत सामर्थ्यको प्रत्यक्ष देखकर ही विश्वामित्र जैसे राजा भी, क्षात्रपशुबलको धिक्कार प्रदानकर क्षत्रियभावसे विमुख हो एक समय मुक्तकण्ठसे ललकारकर यही बोले थे—"धिग्बलं क्षत्रियबलं

ब्रह्मतेजोबलम्बलम्। बलाबलम्विनिश्चित्य तप एव परं बलम्।" आज भी विश्वामित्रके उच्चारित ये वाक्य सुस्पष्ट कानोंमें प्रतिध्वनित से हो रहे हैं। इन वाक्योंकी प्रतिध्वनि संसारकी जब तक स्थिति रहेगी तब तक समभावसे गूंजती ही रहेगी। परन्तु हाय, आज हमारा वही ब्रह्म-कुल, वही वशिष्ठकुल, ऐसा अपदार्थ हो गया है कि क्षत्रिय छोड़, म्लेच्छ शूद्र और वर्णसंकर अन्त्यजोंतककी सेवामें षोड़शोपचारसे नियुक्त रहकर, मिथ्यास्तुति और चाटुकारिता आदिसे अनुग्रहभिक्षा करनेपर भी समयपर प्रकाश्य "फटकार" और 'फिटकारका' ही अधिकारी बनता है। परम प्रतापी राजा होनेपर भी जिस "ब्रह्मतेजबल" के प्रतापको देख विश्वामित्रने राजपाट छोड़ तपस्वी बन, अन्तको ब्राह्मणत्व लाभ किया था। कैसे दुःखका विषय है कि उसी वशिष्ठकुलके होनेपर भी ब्राह्मणोंका आज ऐसी ऐसी घोर दुर्दशा नित्य उत्तरोत्तर विशेष हो रही है, तथापि इनको क्षणभरके लिये भी अपनी इस शोचनीय दुर्दशापर आन्तरिक ग्लानि और धिक्कार नहीं है। विश्वा-मित्रसम प्रतापी राजाके आग्नेयास्त्र छोड़नेपर भी वशिष्ठजीने जब कहा था,—"क्व ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलम्महत्। पश्यब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांशन! तस्यास्त्रं गाधिपुत्रस्य घोरमाग्नेयमुद्यतम्। ब्रह्म दण्डेन तच्छान्तमग्नेर्वेग इवाम्भसा।" और आग्नेयास्त्रको भी अपने ब्रह्मतेजसे ब्रह्मदण्डके आगे सर्वथा व्यर्थ कर दिखाया था, क्या उस समयकी स्मरणीय वशिष्ठमूर्त्तिका मानसिक ध्यान करनेकी शक्ति भी ब्रह्मकुलकी नीचतासे अप्रसन्न हो, इनसे अन्तर्ध्यान हो गयी है? क्या ये नाममात्रके ब्राह्मण अब ऐसे वज्रबधिर हो गये कि ऊपर लिखे सञ्जीवन-मन्त्रोंकी ध्वनितक इनके कानोंमें नहीं पहुँचती? जिस दिन इनके कानों-में उक्त शब्दोंकी ध्वनि प्रवेश लाभ करेगी, जिस दिन इनकी आँखें खुलेंगी, और ये अपने कुलाभिमानका कुछ भी ध्यान कर, वर्त्तमान शोचनीय दशापर अनुतापकर विद्यातपोनिष्ठ होनेका उद्यम करेंगे, उस

दिन निश्चय, नश्वर धनके मदसे अन्धे, तुच्छ जीव, जो इस समय इन-को आँख दिखाकर 'पीरबवर्चीभिश्तीखर' का काम लेनेको डाँट बतानेके साथ ही इन निराश्रयोंको केवल अपने ही आश्रित समझ, मनमानी दुर्दशा और अपमानित करनेमें ही प्रभुताकी इतिश्री समझ, मारे पैं डन-के दुहेरे तिहेरे हो रहे हैं; वे ही इनकी पदधूलि लेनेको लालायित भूमि-में औंधे पड़े हुए साष्टाङ्ग दण्डवत् करते कम्पितकलेवर, त्रस्त और सशङ्कितसे होते, चरणस्पर्श करते भी थर थर काँपते, कृपाकटाक्षमात्र-के भिक्षुक बने दिखायी देंगे। हा! गुरुवशिष्ठ, तुम कहाँ चले गये? क्या अपनी सन्ततिकी इस दुर्दशाका दर्शनकर तुम्हें भी ऐसी ही घृणा उत्पन्न हो गयी है, कि तुमने भी इधरसे सर्वथा मुहं मोड़ लिया? नि-स्सन्देह जन्मभूमि भारतभूमि इस समय तुम्हारे चरणोंके स्पर्शयोग्य भी नहीं रही। तथापि तुम अपने लोकसे ही क्षणकालके लिये तो दु-र्दशाग्रस्त सहायहीन सन्तानोंपर दयादृष्टिको वृष्टि अवश्य करो! कारण, तुम वही हो, कि एक समय इन्द्रदेवके वृष्टि न करानेपर कठिन अकाल-के समय अपने तपोबलसे मूसलाधार वर्षा करा, तुमने मरतोंको जीव-दान किया था। भागवतमें भी इसका निदर्शन मिलता है—"अव-र्षति च पर्जन्ये सर्वभूतानि भूतकृत्। वशिष्ठो जीवयामास प्रजापतिरिव प्रजाः।"

महाभारत आदिपर्वमें भी इक्ष्वाकुकुलपुरोहित परमर्षि वशिष्ठका परि-चय इस भाँति दिया है —"तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि। कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः। यस्तु नोच्छेदनं चक्रे कुशि-कानामुदारधीः। विश्वामित्रापराधेन धारयन्मन्युमुत्तमम्। पुत्रव्य-सन सन्तप्तः शक्तिमानप्यशक्तवत्। विश्वामित्रविनाशाय न चक्रे कर्म-दारुणम्। मृतांश्च पुनराहर्तुं यः स पुत्रान् यमक्षयात्। कृतान्तस्ना-तिचक्राम वेलामिव महोदधिः।" देवताओंके भी अजेय काम क्रोधको, जिस महापुरुषने सर्वथा वशीभूत किया। शक्ति सामर्थ्यके होते भी

जिसने क्षमाका अवलम्बन कर पुत्रशोककी असह्य अग्निका हृदयमें ही प्रशान्तभावसे धारण किया, तथापि विश्वामित्रके प्रति प्रतिशोध लेनेकी इच्छासे वैसा क्रूरप्रयोग एक भी न किया। वह महापुरुष ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ क्यों न गिना जाता? इनके उपयुक्त पुत्र शक्ति ऋषिका परिचय विश्वामित्रके वाक्रोध करनेके प्रसङ्गमें पहिले मिल हो चुका है। स्मरणीय पराशर इन्हींके वंशरक्षक हुए। महर्षि व्यास भी उक्त पराशरके पुत्र और वशिष्ठवंशके एक अद्वितीय परम उज्ज्वल रत्न थे। जीवन्मुक्त शुकदेवजी व्यासपुत्र प्रसिद्ध ही हैं।

ऋग्वेदके सप्तममण्डलके अनेकों मन्त्रोंमें इन वशिष्ठवंशजोंको साधारण संज्ञा "तृत्सू" देखनेमें आती है। यथा—"शिवत्यञ्चो मा दक्षिणतः कपर्दा धियं जिन्वासो अभिहि प्रमन्दुः। उत्तिष्ठन् वोचे परि बर्हिषो नन् नमे द्वारादु अवितवे वसिष्ठाः॥ १॥ उदुद्यामिवेत् तृष्णजो नाथितासो अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः। वशिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोदु उरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदुलोकम्॥ ५॥ इन्द्रावरुणावधनाभिरप्रति भेदं वन्वन्ता प्रसुदासमावतम्। ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत् पुरोहितिः॥४॥...प्रसुदासमवतं तृत्सुभिः सह॥ ६ शिवत्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः॥ ८॥" इन ऋचाओंमें वशिष्ठ वंशजोंको ही 'तृत्सू' कहा है। सम्भवतः इस तृत्सूका अपभ्रंश ही वर्त्तमान 'तिक्खा' शब्द है। मत्ससे मच्छ और मछली शब्द हिन्दीमें 'त्स' और 'च्छ' के बदलेसे ही बना। पुनः हिन्दीमें 'च्छ' का बदला 'क्ख' से भी प्रयाशः हो जाता है। मयूपुच्छ ही मोरपक्ख वा मोरपंख प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'पच्छ' और 'पक्ख' दोनोंका ही समभावसे प्रयोग होता है। अतः इस "तृत्सू" शब्दकी क्रमशः विकृति होकर ही 'त्रक्खा' वा 'तिक्खा' संज्ञा प्रसिद्ध हुई होगी। अर्थांशका विचार करनेसे भी हिंसापरायण अर्थ तृत्सूका है। उसी प्रकार तीखे स्वभाववाला क्रोधी ही तिक्खा कहाता है। मत्स्यपुराणमें

भी पराशरवंशके वर्णनमें—"इषीकहस्ताश्च ते वै पञ्चश्वेताः पराशराः। वाटिको वादरिश्चैव स्तम्बा वै क्रोधनायनाः।" 'इषीकहस्त' 'वाटिक' और 'क्रोधनायन' आदि आते हैं। ऋग्वेदके मन्त्रोक्त 'तृत्सू'के सदृश क्रोधनायन' आदि भी समपर्यायके वशिष्ठवंशकी ही आख्याके सूचकशब्द दिखते हैं। अभिप्रायका ऐक्य और शब्द सादृश्य देख 'तृत्सू' और तिक्खा' इन दोनोंको अभिन्न ही मानना पड़ता है। विशेषतः 'गृह्यसंग्रहपरिशिष्ट' आदि ग्रन्थोंमें "दक्षिणकपर्द वाशिष्ठा आत्रेयास्त्रिकपर्दिनः।" आदि देखकर भी ऋग्वेदके दक्षिण कपर्द धारी उन वशिष्ठवंशज तृत्सुओंको ही आदि समयके वैदिक तिक्खे स्वीकार करना पड़ता है।

तिक्खे बटके सप्तपत्रोंको सालूके टुकड़ेमें लपेट, शुभ कार्य्य उपस्थित होने पर उसीका पूजन करते हैं। बटवृक्षको ही अपना परम इष्ट कुलपूज्य कुलेश मानते हैं। "बोढ़माता" नामसे ही कुलदेवताका परिचय भी देते हैं। पंजाबी प्राकृत भाषामें बटके वृक्षको ही 'बोढ़' कहते हैं। तिक्खे इन्हें माता, या तो भूलसे कहते हैं या माता पार्वती सहित शिवकी उपासनाके कारण द्वन्द्व समाससिद्ध 'बोढ़माता' शब्द सिद्ध किया जाय तो संगति बैठ भी सकती है। परन्तु मूर्खताके आधिक्यके कारण इधर बहुत दिनोंसे तिक्खोंको अब अपने इष्ट कुलदेवताके यथार्थ ध्यान आदिका कुछ भी ध्यान नहीं है। बट पत्रके सिवाय दूसरी बातका ध्यानपूर्वक सोचविचार करनेका भी इनको अब प्रयोजन नहीं दिखता।

बटके वृक्षको शास्त्रोंमें शिवरूप माना है, सन्देह नहीं। पद्मपुराणमें भी प्रमाण है—"तस्मात् वृक्षत्वमापन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।...अश्वत्थरूपो भगवान् विष्णुरेव न संशयः। रूद्ररूपो वटस्तद्वत् पालाशो ब्रह्मरूपधृक्। दर्शनस्पर्शनादेव ते वै पापहराः स्मृताः॥" अतएव बटवृक्षके शिवरूप होनेमें भी सन्देह नहीं और वशिष्ठवंशजोंके शिवोपासक होनेका भी पुष्ट प्रमाण मिलता है। कूर्म पु० १९ वें अ० में—"अरुन्धत्यां वशि-

ष्टस्तु शक्तिमुत्पादयत्सुतम्। शक्तेः पराशरः श्रीमान् सर्वज्ञः तपतांवर। आराध्य देवदेवेशं ईशानं त्रिपुरान्तकम्। लेभेह्यप्रतिमं पुत्रं कृष्णद्वैपायनं प्रभुम्॥" शिवजीकी आराधनासे ही पराशर ऋषिको कृष्णद्वैपायन व्यासजी सा पुत्रलाभ हुआ था। इससे इतनाही विदित होता है कि वशिष्ठकुल शिवोपासक था, परन्तु इस वंशमें किस ध्यानकी शिवोपासना होती आयी है? इसका तो ठीक ठीक पता इतनेपर भी नहीं लगा।

सूक्ष्म विचार पूर्वक, सम्बन्ध परम्पराके देखनेसे निश्चय होता है कि, इस वंशमें दक्षिणामूर्त्ति शिवकी उपासना ही होती आयी है। शिवोंमें दक्षिणामूर्ति शिवका ध्यान ही वट वृक्षसे विशेष सम्बन्ध रखता है। यथा—"वटवृक्षं महोच्छायीपद्मरागफलोज्ज्वलम्। गारुत्मकमयैः पत्रैर्विचित्रैरुपशोभितम्। नवरत्नमहाकल्पैर्लम्बमानैरलङ्कृतम्। विचिन्त्यवटमूलस्थं चिन्तयेल्लोकनायकम्॥१॥ स्फटिकरजतवर्णां मौक्तिकी मक्षमालां अमृतकलशविद्ये ज्ञानमुद्राङ्कराब्जैः। दधतमुरगकक्षं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं विभृतविविधभूषं दक्षिणामूर्त्तिमीडे॥२॥" तिवारोंके कुलदेवताका यही ध्यान है, सन्देह नहीं। कारण, इन्हींकी आवरणपूजामें व्यासदेव और शुकदेव आदि वशिष्ठ वंशजोंकी पूजाका भी विधान है। शिवके दूसरे ध्यानकी किसी आवरण पूजामें ये नाम नहीं आते। अब इन तत्त्वकी सब बातोंको, अपने कुलदेवताके ध्यानसहित भूलजानेके कारणसे ही वटपत्रमात्रका पूजनभर इन तिवारोंमें अवशिष्ट रह गया है।

इक्ष्वाकु कुलके अन्त होनेसे, वर्त्तमान समयमें तिवारोंके यजमान एकमात्र 'तालवाड़' हैं। तालजङ्घकुलके सगरराजाके समयके स्वधर्म्महीन क्षत्रियोंके वंशज ही अब तालवाड़ नामसे विख्यात हैं। भीष्मपितामह और बलदेवजीने उस कुलका स्मारक तालवृक्षमात्र अपनी ध्वजामें रखा था, इसीसे ये तालकेतु प्रसिद्ध थे। जैसे हिन्दीमें को-

ठीवालेका सहजरूप कोठीयाल है। उसी प्रकार तालजङ्घ कुलके क्षत्रियोंको सहज भाषामें क्रमशः 'तालवाले' और 'तालवाल कह कर पुकारते पुकारते, विकृत होकर ही इस 'तालवाड़' शब्दकी सृष्टि हुई है। इन तालवाड़ोंके, सेठी, चम्म आदि आठ परिवार भेद हैं। गोत्र इनका वशिष्ठ वा पराशरके गणसे भिन्न है। उत्तम कुलीन क्षत्रियोंकी श्रेणीमें भी इनका अधिकार नहीं है। इनका गोत्र 'हंसलस' कहते हैं। इस नामका गोत्र वशिष्ठ वा पराशरके गणमें नहीं है। भृगुके गणमें 'हंसजिह्व' गोत्र एक है; जिह्वा और रसना एक ही पर्य्यायके शब्द भी हैं। आश्चर्य्य नहीं कि 'हंसजिह्व' ही क्रमशः 'हंसरसन' से 'हंसलस' भी बन गया हो। भार्गव, च्यवन, दिवोदास अथवा भार्गव, वाध्र्यश्व, दिवोदास ही इसके त्रिप्रवर भी हैं।

तिक्खोंके भी भेद, शाखा सूत्र आदि पूर्व लिखितानुसार ही हैं। इनका गोत्र पाराशर; वशिष्ठ शक्ति, और पराशर ही इसके त्रिप्रवर हैं। शिखा दक्षिण तुर्कभट्ट, तामसीनाई, तोतला मिरासी तेजपाल, असोरल-थम्मोंका पता नहीं। उज्जे, डुज्जे, पलवन्दे, ओडड़े, आदि तो इनके कुलोंका अल्ल हैं। इनको थंभा नहीं मान सकते हैं। नानकी सतीके, लकसी, धनसी, जालक और बालुकाके चारों थंभे माने भी जासकते हैं। परन्तु तिक्ख इनको थंभा नहीं कहते, परिवार मानते हैं। तिक्खोंके थंभोंका प्रामाणिक विवरण कृपापूर्वक कोई तिक्ख भाई वंशावली साथ लिख भेजेंगे तो धन्यवादके साथ शीघ्र ही पञ्चजातिकी वंशावलीमें प्रकाशित किया जायगा।

मोहले सारस्वत इस पञ्चजातिमें तबसे मिलाये गये हैं कि जबसे पश्चुओंको पञ्चजातिसे वहिष्कृत किया है। पञ्चजातीय ब्राह्मणोंकी पञ्चायतमें जिस समय इस विषयका विचार हो रहा था, कि अब किसको ग्रहण करना उचित है? उसी समय अकस्मात् एक मूसल वहां किसीके कोठेपरसे आगिरा। पञ्चोंने इस घटनाको देवी निर्द्देश समझ-

कर मोहले ब्राह्मणोंको ही उस दिनसे पञ्चजातिमें मिला लिया। कारण, पञ्जाबीभाषामें मूसलको मोहला ही कहते हैं। मोहलोंका सोमस्तम्भ गोत्र है। गोत्रप्रवरनिर्णायक ग्रन्थोंमें स्तम्भ और स्तम्ब शब्द जिन गोत्रोंके अन्तमें आता है, उनको द्व्यामुष्यायण वा दो कुलकी सन्तति-में परिगणित किया है। पुत्रिकापुत्र, कृत्रिम, दत्रिम, क्रीत, आदि दो कुलोंसे सम्बन्ध रखनेवालोंको ही द्व्यामुष्यायण कहते हैं। इन द्व्यामुष्यायणोंमें पुत्रिकापुत्र, कृत्रिम, आदिकोंके प्रवर, उभयकुलके प्रवरोंसे लिये जाते हैं। परन्तु दत्रिमपुत्रका प्रवर तो जिस कुलमें वह दे दिया गया, केवल उसीके अनुसार होता है। इसमें मुख्यता संस्कार कर्मोंकी भी की गयी है। "माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि। सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः।" पिता अथवा माता जिसे अपनी इच्छासे, अनुरूप प्रीतियुक्त पुत्रको आपत्कालमें स्वयं दे दें, वही उसका दत्रिमपुत्र होता है। बिना पिताकी अनुमतिके केवल माता, पुत्रको नहीं दे सकती। दत्रिमपुत्रके चूड़ाकरण, उपनयन, प्रभृति संस्कार पुत्र लेनेवाला ही करता है। गोत्र प्रवर भी दत्रिमके सुतरां द्व्यामुष्यायण होनेपर भी एक ही कुलसे सम्बन्ध रखते हैं। इसको मनुजीने स्पष्ट लिखा है—"गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्रिमः सुतः। गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥" अतएव देनेवाले जनककुलसे दत्रिम पुत्रकी साषिण्ड्य निवृत्तिके साथ ही प्रवरगोत्रादिकोंका भी सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है। परन्तु विवाह, जन्मदाता पिताके कुलमें इसपर भी नहीं होसकता है। इस निमित्त ही द्व्यामुष्यायणोंके गोत्र वा प्रवरमें विशेषता रखी गयी है। सभी द्व्यामुष्यायणोंके गोत्र स्तम्भ या स्तम्ब-शब्दान्त ही देखनेमें आते हैं। कारण, स्तम्ब वा स्तम्भशब्दान्त गोत्रका होना ही सब प्रकारके द्व्यामुष्यायणोंका प्रधान चिन्ह है। परन्तु द्व्यामुष्यायणोंका प्रवरनिर्णय करना ऐसा दुरुहतम है कि इस विषयमें निबन्धकारोंको उपायान्तर न सूझा। इससे इसके निर्णयमें सर्वथा

असमर्थ होकर यथार्थ मर्म्मके बिना समझे भारद्वाजको केवल पुराणोंकी गाथाके अनुसार प्रकाश्य द्व्यामुष्यायण समझ, जिसको जहांतक स्तम्ब-स्तम्भान्तगोत्र विदित थे, उन सभोंको एकमात्र भारद्वाजके ही साथ लिखकर भी सन्तुष्ट न हो, अन्तको "ये चान्ये स्तम्बस्तम्भशब्दान्ताः ।" लेखसे, इस बखेड़ेको ही निपटाकर, मानों अपने सिरका बोझा फेंक-कर बिचारे निश्चिन्त हो बैठे। निबन्धकार महाशयोंने काठिन्य, अस-मर्थता, शीघ्रता, और व्यग्रतासे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो, यह भी क्षण कालके लिये न विचारा, कि जिस भारद्वाजका पल्ला पकड़ाकर निश्चिन्त होते है ; उनके प्रवरोंमें दो कुलोंका सम्बन्ध भी है वा नही ? कारण, भारद्वाजके प्रवरोंमे तो अंगिरा और उनके पुत्र बृहस्पतिके सिवाय, किसी दूसरे कुलके नामका सम्बन्धमात्र भी नहीं है। इसलिये स्तम्बस्त-म्भान्तमात्र द्व्यामुष्यायणोंका प्रवर एकमात्र इस त्रिप्रवरवाले भारद्वाजके साथ कैसे निबद्ध होसकता है ? दुःखका विषय है, कि अबतक इस घोर घमासान मचानेका प्रतिवाद भी किसीने नहीं किया। केवल इतना ही शुभ लक्षण है कि सभी निबन्धकार इस अन्धपरम्पराके अनुवर्त्ती नहीं हुए। बहुतोंने इस दुरूह विषयका उल्लेखमात्र भी अपने ग्रन्थोंमें नहीं किया है। कौनसे दो कुलोंका किस प्रकारका सम्बन्ध है ? यह बिना जाने स्तम्बस्तम्भान्त गोत्रमात्रका प्रवर, अकेले भारद्वाजके ही त्रिप्रवरानुसार मानना सर्वथा युक्तिविरुद्ध और अप्रामाणिक है। क्या सभी द्व्यामुष्यायण एक ही कुलके थे ?

मोहलोंका सोमस्तम्भ गोत्र प्रसिद्ध है। द्व्यामुष्यायण होनेके कारण प्रायशः, निबन्धग्रन्थोंमें इसका उल्लेख भी नहीं किया है। कहीं दिखता भी है, तो बस, भारद्वाजके साथ ही अनमिल बेजोड़ लिखा दिखता है। बहुत दिनोंतक इसके यथार्थ प्रवरोंका पता लगानेमें परिश्रान्त होना पड़ा। कौनसे दो कुलोंका इससे सम्बन्ध है ? और दत्तक, क्रीत, कृत्रिम वा पुत्रिकापुत्र आदि कैसा द्व्यामुष्यायण गोत्र यह है ? अबतक

इसका निश्चय न हो, तबतक सन्तोष नहीं होता। अस्तु, कूर्म्मपुराणके १८ वें अध्यायमें यह दिखता है—"अत्रेःपुत्रोऽभवद्वन्हिः सोदर्य्यस्तस्य नैध्रुवः। कृशाश्वस्य तु विप्रर्षे घृताच्यामिति नः श्रुतम्।" कि नैध्रुवऋषि परमर्षि अत्रिके ही पुत्र थे। परन्तु अत्रिके गणमें आदिसे अन्ततक कहीं भी नैध्रुवका नाम नहीं आता। उधर कश्यपऋषिके गणके गोत्रोंमें देखो तो पहिले ही नैध्रुवका नाम प्रवरोंमें विद्यमान दिखता है। इससे पूर्णनिश्चय हो जाता है कि अत्रिपुत्र नैध्रुव निस्सन्देह काश्यपवंशमें दत्रिमपुत्र ही हुए थे। इस कारणसे ही अत्रिके गणके प्रवरोंका सम्बन्धमात्र, काश्यपकुलमें आने बाद, उक्त नैध्रुवसे नहीं रहा। काश्यपके गणके मुख्य चार विभाग हैं; जिनमें शुद्ध काश्यपोंकी गणनाके बादही सुविस्तीर्ण नैध्रुव कुलके गोत्र प्रवरोंका उल्लेख है। जिस 'मूसल'का अपभ्रंश होकर 'मोहला' संज्ञा इनकी प्रसिद्ध हुई, वह 'मुशल' भी नैध्रुवके ही अन्तर्गत है। स्तम्बान्त 'शरस्तम्ब' गोत्र भी इस काश्यप गणमें है। सिवाय इसके 'सोमभू' गोत्र भी इस नैध्रुवके ही अन्तर्गत है। विचारनेसे 'सोमस्तम्ब' और 'सोमभू'-का कुछ भी अन्तर नहीं रहता है। सोमवंशमे उत्पन्नको ही 'सोमभू' कहते हैं और सोमस्तम्भका भी सोम अर्थात् चन्द्रवंशके स्तम्भमें उत्पन्नसे ही प्रयोजन है। सुतरां, ये दोनों एकही पर्य्यायके शब्द हैं। प्रवर भी मुशल, सोमभू अथवा सोमस्तम्भ और नैध्रुव आदि सबका एकसा है। केवल सोमस्तम्भगोत्रसे द्व्यामुष्यायण, सुस्पष्ट विशेषतासे होता है। इसलिये सोमभूके बदले सोमस्तम्भका ही प्रयोग प्रचलित है।

जैसे पुरोहितोंके गोत्रप्रवरसे अंगके यजमानका निश्चय होता है; उसी प्रकार अंगके यजमानके गोत्र प्रवरसे पुरोहितकुलका भी ठीक ठीक पता लगता है। इन मोहले सारस्वतोंके यजमान "शैगल" क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं। अन्धपरम्परासे इस समय इनका गोत्र भी 'कौशल्य' ही बना डाला है। पंजाबप्रान्तमें इस कौशल्यगोत्रका ऐसा प्रादुर्भाव देखनेमें

आता है कि जिसके गोत्रका ठिकाना पता न मिला, बस उसीका तुरन्त 'कौशल्य' गोत्र होजाता है। काश्यपके नैध्रुवोंमें ही एक 'छागल्य' गोत्र भी है। इस 'छागल्य' का अपभ्रंश ही वर्त्तमान यह "शैगल" शब्द दिखता है। प्रवर भी इस छागल्यगोत्रके 'मुशल,' 'नैध्रुव,' और 'सोमभू,' वा 'सोमस्तम्भके' समतुल्य ही है। यजमान पुरोहित दोनों एक ही गणमें हैं। अतएव इन 'मुशल' सोमस्तम्भगोत्रीय वर्त्तमान मोहलोंके ही अङ्कके यजमान ये शैगल है, इसमें सन्देह नहीं। यजमान पुरोहित दोनोंके हो काश्यप अवत्सार और नैध्रुव, ये ही त्रिप्रवर हैं। शगलोंका गोत्र 'छागल्य' ही है। इस गोत्रके कारण ही ये शैगल कहाते भी हैं। क्योंकि भाषामें 'छ' बदलकर 'श' भी हो जाता है। सुप्रसिद्ध बिहारीसतसईमें 'आरसीउसास' का उसास शब्द सं० "उच्छ्वास"का ही अपभ्रंश है। पञ्जाबकी प्राकृतमें भी 'छ' औ 'श' का बदला बहुधा होता है। यजमान पुरोहित दोनोंकी कुलदेवी भी चंडिका ही हैं।

इन 'मुशल' जातीय मोहले सारस्वतोंके यद्यपि तीन थंभे दिलवालिये, सिरंदिये, और गुजरातिये, प्रसिद्ध हैं। परन्तु विचारनेपर, ये थंभ नहीं कहे जासकते। ये तो देशभेदमें बसनेसे ही देशानुसार नामभेद उत्पन्न हुआ है। इनके थंभेका प्रामाणिक लेख यजमानोंके (शैगलोंके) थंभे और परिवारोंके सहित, अङ्कके लगायत नाई भाट आदिके ब्यौरे साथ, कृपापूर्वक कोई महाशय भेजगे तो धन्यवादके अधिकारी होंगे। इनके मिरासी गुदराल हैं। इस समय बहुधा चण्डोदासभट्ट और मेढा नाई इनकी वृत्ति कमाते दिखते है।

यद्यपि इधर बहुत दिनोंसे उपमन्युगोत्रज पशुओंकी इस सर्वोत्तम पञ्चजातिसे विभिन्नता होगयी है और इनके अङ्कके यजमान चौजातीके कुलीन कपूरक्षत्रियोंकी यजमानी वृत्ति भी इन बिचारोंके हाथसे बेमौके छिन गयी हुई है। तथापि कपूरोंके गोत्रप्रवरआदिका सम्बन्ध इनसे अबतक ज्योंका त्यों अपरिवर्तित ही दिखता है। इस मलतत्वका ध्यान

न रहनेके कारणसे ही इन दिनों कपूर क्षत्रियोंके गोत्र प्रवरका गबड़ा भी मचा हुआ है। अतएव इस स्थलपर सारस्वत पम्बू और उनके अङ्कके यजमान कपूरोंका कुलविवरण भी अवश्य लिखना उचित है। पम्बू नाम इनका 'पंबयाना' देशके कारण प्रसिद्ध हुआ है। पंजाबके 'पंबयाना' प्रदेशसे इनका निकास होनेसे ही ये 'पम्बू' कहाये हैं। यथार्थमें ये वशिष्ठकुलके है। राजा निमिके शापके कारण ही वशिष्ठ ऋषिको जन्मान्तर लेना पड़ा था। सुतरां, वशिष्ठ ऋषिके दो जन्म होनेसे, भिन्न शरीरोत्पन्न दो स्वतन्त्र वंश भी प्रसिद्ध हुए थे। पराशर, व्यासदेव, शुकदेवजी आदि दूसरे ही शरीरसे हुए। मत्स्यपुराणमें भी जहां ऋषिवंशवर्णन किया है, वहां प्रथम वशिष्ठ वंशके गोत्र प्रवर आदि लिख, पुनः दूसरे अध्यायमें निमिराजाके शापकी कथा सहित पराशर वंशके प्रवरोंको गिनाया है। इसी हेतु "प्रवरनिर्णय"में लिखा दिखता है—"वशिष्ठौ द्वौ च विज्ञेयौ, ब्रह्मपुत्रोऽथशापतः। मैत्रावरुणिरित्येव वाशिष्ठो विग्रहान्तरात्। ब्रह्मात्मजाच्छक्तिपराशरव्यासशुकादयः। ज्ञेयो विवेकस्त्वनयोर्द्वितीयात्कुण्डिनादयः।" अतएव भिन्नशरीरत्वात् भिन्नगोत्र प्रवरत्वाच्च वशिष्ठवाशिष्ठगणयोर्विवाहः।" प्र० नि०। सुतरां, उपमन्युऋषिका जन्म पराशरकुलसे भिन्न वशिष्ठ वंशमें हुआ था। पम्बुओंका गोत्र उपमन्यु ही है। वाशिष्ठ, इन्द्रप्रमदा और आभरद्वसु ही इसके त्रिप्रवर हैं। इनकी कुलदेवी भगवती चण्डिका 'ईशपूज्य' माता नामसे प्रसिद्ध हैं। वैशाख शुक्लानवमीको इनका महोत्सव भी करते हैं। इनका वेद, शाखा, सूत्र, आदि पूर्वके लिखे अनुसार ही हैं। दक्षिण शिखा, भट्ट माहल, नाई मेढ़ा। इन पम्बुओंके खोती पोतरे, मनोहर पोत्रे और सरन पोतरे ये ही तीन थंभे हैं।

कपूर क्षत्रिय यथार्थमें इन पम्बुओंके ही यजमान हैं। अन्धपरम्परा और मूर्खतासे ही इस समय कपूरोंका भी 'कौशल्य' गोत्र रच डाला है। विशेषकर लोभी ब्राह्मणोंने लूटमारसे हाथ आयी इस यजमानीका

भविष्यमें ठीक पता न लग सके, इस दुष्ट अभिसन्धिसे भी इनके यथार्थ गोत्रप्रवरका अप्रकाशित रहना ही उत्तम समझा है। परन्तु सत्यका भी ऐसा अपूर्व प्रभाव और अप्रतिहत प्रखर प्रकाश है; कि यह किसीके छिपाये भी चिरकाल तक कभी नहीं छिप सकता। जैसे 'क्षण्य' गोत्रके कारण 'खन्ना' 'ताण्डिन' से 'टण्डन' और 'छागल्य' से 'शैगल' संज्ञा उत्पन्न हुई है; वैसे ही 'कापूरि' गोत्रके कारण ही खौजातिके इन कुलीन क्षत्रियोंकी संज्ञा भी 'कपूर' सुप्रसिद्ध होगयी है। वाशिष्ठगणके अन्तर्गत ही 'कापूरि' गोत्र है और वाशिष्ठ इन्द्रप्रमदा आभरद्वसु ही इसके त्रिप्रवर भी कुलपुरोहितोंके उपमन्युगोत्रतुल्य ही हैं। इन कपूरोंका 'कौशल्य' गोत्र तो त्रिकालमें भी सम्भव नहीं। नाई, भाट, आदि लगायत भी इनके अङ्कके कुलपुरोहित पम्बुओंके ही अनुसार यथार्थ आज भी माने जाते हैं। इन कुलीन क्षत्रियोंने केवल अपने कुलपुरोहितोंका ही सर्वथा परित्याग क्यों किया? इसका कोई ठीक कारण नहीं दिखता है।

'पञ्चजाति'से पम्बुओंको अलगकर, मोहलोंके मिलालेनेसे पांचकी संख्या पूरी ही बनी रह गयी। अङ्गिरा, भृगु, वशिष्ठ, कश्यप, आदि इन सर्वश्रेष्ठ पांच ऋषियोंके कुलकी वृद्धि, पाञ्चजन्य अग्निकी कृपासे ही हुई थी। यह पञ्चजाति ही कल्पारम्भके प्रथम सत्ययुगके अवसान होनेके समय सर्व प्रथम संगठित हुई थी। कुलमर्य्यादा तप, विद्या, प्रतिष्ठा, सदाचार, आदि सभी विषयोंमें इस सर्वोत्तम पञ्चजातिके सारस्वत, ब्राह्मणोंमें अग्रगण्य थे। परम दुःखका विषय है कि इधर कुछ दिनोंसे इस पञ्चजातिके उत्तम कुलीनकुलोंका भी ह्रास होता जाता है और अवनति भी इनकी उत्तरोत्तर प्रबलगतिसे विशेष ही होती दिख रही है। मूर्खताका आधिक्य, सदाचारशिक्षाका सर्वथा अभाव और कुलीनताके वृथाभिमानके विशेष बढ़ आनेसे ही इधर कुछ दिनोंसे ये ऐसे अपदार्थ और निरङ्कुश होगये, कि 'अपनी श्रेणीमें विशेष फूट

फैलाने पर भी इन्हें सन्तोष न हुआ। इतरश्रेणीके सारस्वतोंकी कन्याओंके पाणिग्रहणसे केवल अर्थोपार्जन करनामात्र इन्होंने अपना परम अभीष्ट और जीवनका मानों प्रधान उद्देश्य ही समझ लिया। लाहौर अमृतसर प्रान्तके सारस्वतमात्र इस सर्वोत्तम पञ्चजातिकी कुलीनताको सर्वजनमान्य समझ, इन कुलोंमें कन्या सम्प्रदान कर अपनेको कृतकृत्य मानते थे। और यथासाध्य क्यों? साध्यातीत द्रव्य भी दहेजमें देते थे। सिवाय इसके पञ्जाबप्रान्तके सारस्वतमात्र इनकी आज्ञामें रहकर इनको अपना मस्तकस्वरूप और सर्वथा मान्य पूज्य भी समझते थे। जबतक पुराने बहुदर्शी वृद्ध, पञ्चजातिमें विशेषतासे वर्त्तमान थे, तबतक पञ्जाबप्रान्तके सारस्वतमात्रमे प्रीतिका सुदृढ़ बन्धन और परस्परका यथोचित प्रेम भी ज्योंका त्यों बना रहा। सभी इस पञ्चजातिके सारस्वतोंको यथोचित मान प्रतिष्ठा करनेमें ही समाजका मङ्गल भी समझते रहे। इस प्रतिष्ठाके उत्तरमें पञ्चजातिके दूरदर्शी विवेकी वृद्ध भी सारस्वतमात्रको अङ्गाङ्गी भावसे एक अपनी समाजका पूरा अवयव और अपनेसे सर्वथा अभिन्न ही मानते थे। यहांतक कि प्रकाश्यभावसे सर्व साधारणके साम्हने यह कहनेमें भी इस पञ्चजातिके प्रतिष्ठित, अपनी मानहानि न समझ, प्रत्युत विशेष गौरव ही जानते थे कि "भाइयो! हम तुम्हारी कृपासे ही सर्वोत्तम कुलीन गिने जाते हैं। आपलोग हमारे कुलोंका सम्मान करते हो इसीसे हमारी पञ्चजातिका बड़प्पन है। हम तुमको लेकर ही बड़े बने हैं। अतएव यह बड़प्पन यथार्थमें हमारा नहीं, तुम्हारा ही है। कारण तुम्हारे सनातनसे इस प्रकार बड़ा कहकर मानते चले आनेसे ही तो हमारी पञ्चजातिके लोग बड़े बने हैं इत्यादि।" परन्तु कुटिल कालके प्रभावसे क्रमशः पञ्चजातिसे वैसे महापुरुष एक एक कर सुरपुरको सिधारने लगे। इधर नव्यसम्प्रदायके अभिमानी, अहङ्कारकी साक्षात् मूर्त्ति, उद्धतस्वभाव, परमलोभी, निरक्षर, मादकसेवी, उद्दंड बह्मपद्दोंसे उक्त

पञ्चजाति दिनों दिन विशेषतासे परिशोभित होने लगी । इन महात्माओं-ने दो दो चार चार विवाह कर उससे प्राप्त दहेजके द्रव्यसे अपनी मन-मानी विलासिताको चरितार्थ करना ही एक मात्र पुरुषार्थ समझ, विवाहिता अर्द्धाङ्गिनी निराश्रया अबलाओंको गहने कपड़ोंसे भी वञ्चित-कर उनके पितृकुलमें ही घृणापूर्वक परित्याग करना प्रारम्भ किया। धर्म्मभय समाजभय, विनय, प्रार्थना, समझाना, बुझाना, आदि सबको छप्परपर धर दिया। लज्जाहीन, मदमत्त निरङ्कुश हो समाजकी स्वरूपहानि करनेपर ही उतारू हो गये । यह सत्य है कि इस पञ्चजातिके सभी ऐसे ही नहीं हो गये । तथापि समाजकी सुश्रृङ्खलाके टूट जानेसे और समयपर इस पाशव अत्याचारके यथोचित प्रतिविधानके न होनेसे क्रमशः ऐसे ही कुपात्रोंकी वृद्धि होने लगी। अन्तको परिणाम उसका यह हुआ कि असहनीय कष्टको सहन करनेकी सामर्थ्यके न रहने से बिचारे बामनजाई ब्राह्मणोंमें पं० तुलसीरामजीने अग्रणी हो, "जाति विभाग" नामकी पुस्तक रच, प्रामाणिक, अप्रामाणिक, सत्य, मिथ्या, जो चाहा मनमाना लेख लिखकर, पञ्चजाति, अष्टवंश आदिसे भिन्न इतरश्रेणीके ब्राह्मणोंको विशेष उत्तेजितकर 'पञ्चजाति' आदि कुलीन श्रेणीमें कन्या देनेकी सनातन प्रथाको निम्नश्रेणीके बामनजाई ब्राह्मणों-की समवेतशक्तिसे सर्वथा रहित करदिया। परिणाम दर्शिताके अभावसे विशेष फूट फैलनेके साथ ही समाजकी विकृति और अङ्गहीनताका होना तो सर्वथा अमिट ही था। कालधर्म्मसे आपसकी फूट और ईर्षाका अवश्यम्भावी फल किसके रोके रुक सकता? सुतरां, यह तो जो हुआ, सो अच्छा ही हुआ, परन्तु विशेष दुःख तो यह देखकर होता है कि पढ़े लिखे पण्डित कहाकर भी मिथ्या कपोलकल्पनाको सत्य कहकर जनसमाजमें दुस्साहसिकतासे प्रचारित किया। अवश्य यह काम तो पूरा अन्याय और घृणार्ह ही किया गया। पं० तुलसीराम

जीके केवल इस अंश मात्रका ही प्रतिवाद, अनिच्छापूर्वक भी कर्त्तव्यके अनुरोधसे प्रसंगानुसार करना पड़ा है।

अस्तु, कट्टर विरोधी होनेपर भी पं० तुलसीरामजीको यह स्वीकार करना पड़ा, कि पञ्चजातिके कुछ दुष्टोंके दुराचारसे सताये हुए लोगोंने दुखी होकर यद्यपि इधर कुछ दिनोंसे दूसरी दूसरी आधुनिक पञ्चजाति भी संकेतसे मनमानी रच लीं हैं और थोड़े ही दिनोंसे ये नवीन संगठित पञ्चजाति आदि आधुनिक संकेतकी जातिवालोंमें कुछ लोग, वर्त्तमान बामनजाइयोंकी भांति प्रतिज्ञाबद्ध हो, पूर्वोक्त यथार्थ पञ्चजातिके सर्वोत्तम कुलीन सन्तानोंको कन्यादान करनेसे भी विमुख हो गये हैं। तथापि आजसे सौ सवासौ वर्ष पहिले उन्हींके कुलकी कन्या उक्त सर्वोत्तम पञ्चजातिमें ब्याही जाया करती थीं। ये नव्यगठित पञ्चजातिवाले और अष्टवंश, वंशपूज्य, बारा, बामनजाई, आदि सभी सारस्वत साक्षात् वा परम्परा सम्बन्धसे उक्त सर्वोत्तम पंचजातिमें अपनी कन्या सनातनसे देते आये। परन्तु उक्त पञ्चजातिके सर्वोत्तम कुलीनोंकी कन्या, अपनी उस पञ्चजातिके सिवाय कभी अन्य किसी श्रेणीमें नहीं दी गयीं। उस पञ्चजातिकी सर्ववादिसम्मत सर्वोत्तम कुलीनताका वर्त्तमान कठिन समय तक भी यही सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष अकाट्य प्रमाण दिखता है। 'जातिविभाग' में पं० तुलसीरामजीकी ही उक्ति है—" ..अरसा एक सौ सोलां ११६ वर्षका हुआ है जो कालीये १ मालीये २ कपूरीये ३ भनूरीये ४ बग्गे ५ ये पंचजातिवाले ब्राह्मण, ढाईघर लहौरिये ब्राह्मणां नूं कन्या देते से जब एनाकियां कन्या सुख नाल श्वसुरघरमें ना वस्सने लगीयाँ तब ये पंचजातिवाले ब्राह्मण आपसमें संकेत करके वरतने लगे। फेर ढाईघर लहौरीये ब्राह्मणां नूं कन्या नहि दित्तियां। ऐसे कई जाति वाले ब्राह्मण हैं जैसे पण्डित १ पाठक २ ढंडे ३ गड्डरे ४ ढौंकच ५ छकड़े ६ ये षट्जातिवाले ब्राह्मण तैसे सूधी १ रावडे २ लंब ३ नेउले ४ सरअलीये ५ ये पंचजा-

तिवाले ब्राह्मण···अबतक ये विचार किसीने नहीं किया कि प्रथम तो सभ बुञाई ब्राह्मणसे (!) पीछे हमारे बुञाईयोंसे निकलकर ये उच्चों जातिवाले बनगये (!) बुञाई ब्राह्मणसे कन्या ले लेते हैं। बुञाई ब्राह्मण-को अपनी कन्या देते नहीं...इनमें क्या बड़ाई है? कुछ भी बड़ाई सही एक तो और जातिवालोंने कन्या लेनी नाल कन्या लेकर नावीं जात बनाना, चीना कंगनी जाति कहनी। तिनांने अपनी कन्या आप्पनी संकेतवाली जातिमें देना...लहोरीया चाहो अष्टवंश चाहो वंशपूज चाहो पंचजाति जहां लटका देखना वहां कन्या देदेनी। कई तो रिजक करके कोई किसीके मुलाहजेसे कई जो अगाड़ी कन्या भगनी भूया दित्ती होइ हैं तिसदे कथनसे झट कन्या देदेतेसे एकदे पीछे दूसरा दूसरेदे पीछे तीसरा ऐसेही बात चली आई ..जो पड़े सांई व्याघ्रके तुल्य कन्या ले जावे और आपको बड़ा जाने...पञ्चजातिवाले लहौरिये और लहोरियों-को कन्या देनेवाले—अर्थात् पम्बू भारथे हाँसले इत्यादिक अष्टवंश वंशपूज्य होर जो जो जाति संकेतवालियां है, जा पिच्छे लिखीयाँ हैं न तिनांके साथ कन्या देनेका सम्बन्ध कभी कोई नहीं करेगा जो सम्बन्ध करेगा सो भाइचारेसे निकालया जावेगा तिसके साथ कोई बरतेगा नहीं ए संकेत करके एक किताब बनाई गयी है जो जो बुञाई ब्राह्मण ग्राम कसबा नगर इनमें निवास करणवाले हैं सो सो उस किताबमें आपने दस्तखत कर देवें जो जो नहीं करेंगे सो सो भाईचारेसे वाह्य होवेंगे उनके साथ कोई बुञाई बराबर साक सम्बन्ध बरतना नहीं करेगा। जो बुञाई बारी अष्टवंश वंशपूज्य दसखत करेगा पीछे कन्याका सम्बन्ध करेगा सो सब भाई-चारेके साथ शुद्ध बुञाई होगया तिसके साथ कन्या पुत्रका सम्बन्ध होवेगा।" इस लेखसे प्रमाणित होता है कि क्रोध और ईर्षासे ; सर्वो-त्तम पञ्चजातिके अनुकरणपर थोड़े दिनोंसे ही अनुरूप 'पञ्चजाति' नाम रखकर और भी कईएक नवीनसङ्गठित पञ्चजाति बनी हैं। परन्तु

सनातनकी यथार्थ सर्वोत्तम पञ्चजातिसे इस नवीन कल्पित पञ्चजाति-वालोंके गोत्र प्रवर आदि किसी कौलिक मूल विषयकी भी एकता नहीं है और इस शताब्दीके पहिले ये अपनी कन्या भी उस यथार्थ पञ्च-जातिमें दिया ही करते थे। सुतरां, सारस्वतोंकी जाति और श्रेणी विभागकी तालिकामें सामाजिक प्रतिष्ठाके क्रमानुसार ही, इनको अभि-नव पंचजाति आदि संज्ञा लिखकर प्रकाशित की जायंगी।

'अढ़ाई घर' कुमड़िये, जैतली, झिंगण, तिक्खे और मोहलोंकी आढ्यकुलकुलीन इस सर्वोत्तम 'पंचजाति'में विवाह भेदसे कुलीनताकी ऊंची नीची श्रेणीके विधिवद्ध होनेपर 'चारघर' और लुमड़िये, पेतली, पिंगण, पिक्खे, बोहले आदि भी बन गये हैं। जैसे आढ्यकुलसे अढ़ाई घर संज्ञा प्रसिद्ध हुई, वैसे ही 'चारुकुलसे' 'चारघर' भी कहाये। कारण अपनेसे परवर्त्तीनी अव्यवहित निम्न श्रेणीकी कन्याका पाणिग्रहण करने-से इनके कुलकी उस आढ्यता अर्थात् शास्त्रोक्त शिष्टताकी स्वरूपच्युति होनेपर भी सर्वथा विकृति तो नहीं उत्पन्न होती है। परन्तु ये स्थानभ्रष्ट अवश्य हो जाते हैं। महाभाष्यमें भी—"के ते शिष्टाः ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्या याः पारङ्गमास्तत्रभवन्तः शिष्टः।" भृगुवशिष्ठादि ब्रह्मर्षि और राजर्षियोंके कुलके सर्वथा सम्पन्न और योग्योंको ही शिष्ट वा आढ्य कहते हैं। मनुजीने भी इसी अभिप्रायको शिष्टब्राह्मणोंके विषयमे विशद कर—"धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदस्सपरिवृंहणः। ते शिष्टाब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिः प्रत्यक्षहेतवे।" मन्त्रद्रष्टा ऋषिकुलके माननीय महर्षियोंको ही 'शिष्टब्राह्मण'यथार्थरूपसे कहा है। उन शिष्टजनोंके कुल ही सर्वोत्तम आढ्यकुल प्रसिद्ध हुए। इसीसे विवाहदोषसे आढ्यपदका सम्बन्ध इनसे छूट जानेपर भी उस आढ्यकुलकी महिमा और उसी श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होनेके कारण इनके कुलकी 'चारुता' नहीं नष्ट होती है। अतः इस विवाहदोषसे ये चारुकुलवाले ही 'चार घर' कहाये हैं। इनसे भी

आगे बढ़कर जिन्होंने लोभवश विवाहसम्बन्धकी मर्य्यादाका ही सर्वथा उल्लङ्घन पूर्वक, निम्न श्रेणीके जातिब्राह्मणोंकी कन्याओंका पाणिग्रहण और शिष्टाचार, कुलमर्य्यादा, आदिका भी परित्याग किया ; उन निरङ्कुशोंको ही घृणापूर्वक पञ्चजातिके सत्कुलीनोंने "लुमड़िया" और "पिंगाण" आदि यथोचित विकृत नामोंसे परिचित किया।

'अष्टवंश' आदिकोंके विषयमें भी पं० तुलसीरामजीने भ्रान्त मतका ही प्रचार किया है। विक्रमादित्यके सं १४६० में सुनाम नगरसे, ब्रह्मभोजके झगड़ेसे, 'भ्रष्टवंश'के बदले 'अष्टवंश' अपनेको प्रसिद्धकर अष्टवंश ब्राह्मणोंकी श्रेणी नहीं बंधी है। उनका यह कहना तो मिथ्या-कपोलकल्पना और धूर्त्तता मात्र है। "जातिविभाग" के उस लेखके पढ़नेसे ही बुद्धिमानोंको विदित हो जाता है कि अष्टवंशोंकी श्रेणी उस समयसे बहुत पूर्वकालकी है। मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बीकानेर, राजपूताना और सिन्धके मध्यवर्त्ती प्रदेशोंमें भी अष्टवंश सारस्वतोंका विशेषतासे निवास, अन्यून हजार वर्षसे अधिक कालका दिखता है। सुनाम नगरसे अष्टवंश मात्रका निकास भी नहीं है और न वहां जाकर सभी अष्टवंश कुलकी रीति ही करते हैं। अष्टकुलके इन अष्टवंशोंकी यह संज्ञा विशेष प्राचीन है। संकेतवाली अन्यजातियां भी सभी आधुनिक ही नहीं हैं।

यह तो बड़ा ही भ्रममूलक आग्रहपूर्ण कुसिद्धान्त है, कि सबसे पहिले ५२ जातिके क्षत्रियोंके अलाउद्दीन बादशाहके समयमें विधवा-विवाहके झगड़ेमें जयी होनेसे ही क्षत्रिय, 'बौं जाई' कहाये और उन्हींके पीछे जो ब्राह्मण थे, वह भी बौंजाई प्रसिद्ध हुए। यदि संवत् १३४८ में अलाउद्दीन बादशाहके समयमें ५२ जातिके खत्रियोंकी विजय होकर, इनकी तभीसे स्वतन्त्र मण्डली बनगयी होती, तो निश्चय है कि आज भी बौंजाई खत्रियोंकी मण्डलीमें केवल ५२ जातिमात्र ही वर्त्त-मान दिखतीं। जनसंख्या बढ़कर परिवार बहुतसा फैल जाता है।

परन्तु जाति जिस श्रेणीमें जितनी निबद्ध होती है बराबर उतनी ही बनी रहती हैं; जातिकी संख्या वृद्धि होना तो सर्वथा असम्भव है। कल्पारम्भके आदि सत्ययुगके समयमें ब्राह्मणोंकी जो पञ्चजाति विधिबद्ध हुई था, आज भी वही है। इतने दीर्घ कालमें भी पञ्चजातिकी जाति संख्या न बढ़ सकी। हां, यह तो अवश्य होता है कि कभी किसी जातिका सर्वथा लोप होकर जाति संख्या घट जाती है। पञ्चजातिके लगायतोंमें भट्ट और नाई आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। अतएव अलाउद्दीनके समय यद्यपि ५२ जातिके क्षत्रियोंकी विजय होनेसे उनकी स्वतन्त्र मण्डली सङ्गठित हुई होती; तो आज भी उसमें केवल मात्र ५२ जातिके ही खत्री अवश्य दिखते। सैकड़ों प्रकारकी जाति इन बौंजाइयों-की श्रेणीमें कभी न दिखायी देती। बादशाही झगड़ेमें बौंजाइयोंकी विजयका उल्लेख ही कपोलकल्पित है। क्योंकि, उस झगड़ेके अग्रणी लहू जगधर नामक मिहिरोतरे, चौजातीके कुलीन क्षत्रिय ही प्रसिद्ध हैं। अन्तको उसमें बादशाहसे खिलत भी चौजातीके कुलीन मुखिया लोगों-को ही मिली थी। यह तो ध्यानमें ही आनेकी बात नहीं है, कि बौंजाई तो जयी हों और चौजातिवाले मुखिया क्षत्रियोंको खिलत मिले। सिवाय इसके, क्षत्रियोंके उस झगड़ेके भी बहुत दिनों पहलेसे 'बौंजाई' क्षत्रिय और 'बामनजाई' ब्राह्मणोंकी इन निम्न श्रेणियोंके अस्तित्वका शास्त्रोक्त पुष्ट प्रमाण जब हमको प्राप्त है; तब हम ऐसे झूठे कपोलक-ल्पित सिद्धान्तोंको कैसे मान सकते हैं? अलाउद्दीन बादशाहके समय केवल क्षत्रियोंको ही विधवाके पुनर्विवाह करानेकी आज्ञा हुई थी। सारस्वत ब्राह्मणमात्रका, इस आज्ञासे सम्बन्ध ही नहीं था। इसलिये, यह कहना तो सर्वथा युक्तिविरुद्ध और असम्बद्ध प्रलाप सा ही है कि "५२ जातिवाले बौंजाई खत्रियोंके नामानुसार उनके आश्रित सारस्वत भी उसी दिनसे 'बौंजाई' कहाने लगे।" यद्यपि अलाउद्दीनके समयसे ही क्षत्रिय सारस्वत, बौंजाई नामसे प्रसिद्ध हुए होते और इन्हींकी उस

सबसे बड़ी मण्डे ठीसे फटक फटककर ही अढ़ाईघर, चारघर, चौजाती पंचजाता, अष्टवंश, आदि सब स्वतन्त्र मण्डली यथार्थतः बनी होतीं, तो अवश्य बौंजाई सारस्वतोंकी श्रेणीमें भी जैतली, कुमड़िये, आदि किसी देशमें कहीं तो अवश्य दिखते ? मूल नष्ट न होता ? इसी प्रकार बौंजाई क्षत्रियोंमें भी खन्ने, मेहरे, आदि अवश्य ही दृष्टिगोचर होते ? सिवाय इसके, यह भी विचारनेका विषय है, कि जिन उद्धतस्वभावके अयोग्य उद्दण्ड पुरुषोंने सामाजिक बन्धनको तोड़, अवज्ञा और घृणा प्रदर्शन पूर्वक अपनी नवीन बांधी हुई, छोटी छोटी चौजाति, पंचजाति आदि श्रेणियोंको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर, बौंजाइयोंसे सर्वथा सम्बन्ध ही छोड़ दिया था। क्या कारण था कि बौंजाई सारस्वत क्षत्रियमात्र उनके पावंपूजकर पुनः उन्हींको अपनी कन्या सम्प्रदान करनेमें ही अपना गौरव समझते थे ? यथार्थमें यद्यपि ये ऊंची जातिके कुलीन सारस्वत खत्री, बौंजाइयोंसे ही फटककर, अपने ही मुंह "मियाँमिट्ठू" बन, अपनेको समाजमें सबसे बड़ा मान बैठे होते, तो कदापि एक भी बौंजाई पुनः इनकी ही चरणसेवाको अग्रसर हो, इन्हें कन्या सम्प्रदान न करता। क्या कारण था कि संकेतवाली जातिके लोग तो बौंजाइयोंकी श्रेणीको 'चौना कंगनी' जातिकहकर, परम घृणाकी दृष्टिसे देखते और अपनी कन्या भी अपनी ऊंची कुलीन श्रेणीमें ही बराबर देते थे, तथापि बौंजाई उनसे ही अपनी कन्याका सम्बन्ध बराबरसे करते आते थे ? बौंजाइयोंसे निकलकर कुलीनोंने अपनी स्वतन्त्रमण्डली बांधी होती तो निश्चय, कदापि बौंजाई उनका ऐसा सम्मान नहीं करते ? जिनको मिथ्यासे घृणा नहीं है और मिथ्या कपोलकल्पित अप्रामाणिक मतके प्रचारसे ही जो अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं। ऐसी बेसिरपैरकी झूठी बातें तो उन्हींके मुखसे निकलती हैं। क्या ब्रह्माने कल्पारम्भमें परमर्षियोंकी सृष्टिसे भी पूर्वमें ही ५२ जाति क्यों ? ५००सौसे भी अधिक जातिवाले इन बौंजाइयोंकी ही सर्वप्रथम सृष्टि की थी ?

श्रेणीभेद बहुत दिनोंमें उत्पन्न होता है। गुणभेद और विवाहभेदसे क्रमक्रमसे विभिन्नता बढ़कर, अनेकों प्रकारकी जातिकी सृष्टि भी कालसापेक्ष ही होती है। सर्वप्रथम ही इन जातियोंकी वा श्रेणियोंकी अधिकता नहीं उत्पन्न होती। बहुत दिनोंमें इनका विशेष फैलावा फैलता है। यथार्थ तो यह है कि "बामनजाई" और "बौंजाई" ये दो भिन्न शब्द हैं। मूर्खताके आधिक्य से इनके प्रयोगकी परिपाटी बिगड़ गयी है। ब्राह्मणोंसे तो "बामनजाई' शब्दका ही सम्बन्ध है। भाषाके प्रयोगमें 'ब्राह्मण' का 'बामन' और 'जाति' का 'जाई' शब्द बनगया है। वेद विद्या-सदाचार-तपस्यादिविहीन मूर्ख ब्राह्मणमण्डलीकी साधारण संज्ञा सनातनसे ही 'जाति ब्राह्मण' सुप्रसिद्ध है। शास्त्रोंमें इनके विषयमें स्पष्ट प्रमाण है कि "तपःश्रुतञ्च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्। तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः" अर्थात् तपस्या, वेदविद्या और शास्त्रविधिसे विवाहित ब्राह्मण पितामातासे उत्पत्ति, ये तीनों मिलकर यथोचित ब्राह्मणत्वके करनेवाली हैं। तप और विद्याहीन ब्राह्मणकी संज्ञा ही सुतरां "जातिब्राह्मण" है। वैसे जातिमात्रके ब्राह्मणोंको ही सनातनसे अधमश्रेणीमें निवेशित भी किया हुआ है और केवल जातिसे ब्राह्मण हैं, इसीसे निम्नतमश्रेणीके ब्राह्मणोंकी ही 'बामनजाई' संज्ञा भी है। इस पुस्तकमें ८५ के पृष्ठमें अब्राह्मणोंके लक्षण सहित इन निम्नश्रेणीके जाति ब्राह्मण अथवा 'बामनजाइयोंके' विषयमें विशेष लिख भी चुके हैं। सदाचार और विद्याहीन ब्राह्मण ही सदासे अधमश्रेणीमें निवेशित हैं। इन अधम पतितोंकी वृत्तिके विषय लिखा है—"सत्योद्रिक्तः शूद्रयाजी ग्रामयाजीति कीर्त्तितः। देवोपजीव्यजीवी च देवलस्तु प्रकीर्त्तितः। शूद्रपाकोपजीवी यः सूपकारः प्रकीर्त्तितः। सन्ध्यापूजाविहीनश्च प्रमत्तः, पतितः स्मृतः। एते महापातकिन" इत्यादि। ब्र० वै० ज० ख०। जिस समयसे बामनजाई अधम श्रेणीमें रखे गये हैं उस समय उनमें ये ऊपरके लिखे सभी

सुलक्षण पूरे थे। अब भी इनमें अधिकांश ऐसे ही निकलेंगे। विशेषत: इनमें ग्रामीणोंकी तो संस्कारव्यवस्था ही अद्भुत है। परन्तु विशेष लज्जा अनुताप और दुःख तो यह देखकर होता है, कि समयके फेरसे अब तो आढ्यकुल कुलीनोंकी सुलच्छनी सन्तानोंने इनको भी अपनी कुचालसे मात कर दिया है।

दूसरा बौंजाई' शब्द, क्षत्रियोंकी निम्नतम श्रेणीका ही वाचक है। शास्त्रोंमें क्षत्रियोंकी, उत्पत्तिके विषयमें लिखा है —"चन्द्रादित्यमनूनांच प्रवरा क्षत्रिया मता:। ब्रह्मणो बाहुदेशाश्चैवान्या: क्षत्रियजातय:।" ब्र, वै. पु. ब्र. ख. अ. १०। चन्द्र, सूर्य्य और मनुजीसे उत्तम कुलीन क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई थी; अन्यान्य क्षत्रिय ब्रह्माजीकी बाहु अर्थात् बांहसे उत्पन्न हुए थे। राज्य प्रताप और भुजबलसे सर्वप्रधान राजर्षिकुलके क्षत्रिय ही सर्वोत्तम आढ्यकुलके 'अढाईघर' कुलीन माने गये। जैसे सारस्वत ब्राह्मणोंकी पञ्चजातिका संगठन सबसे आदिमें हुआ था। उसी प्रकार चन्द्रवंशी सूर्य्यवंशी आदि परम प्रतापी चक्रवर्त्ती राजर्षि कुलके कुलीन उक्त चारों प्रकारके राजवंशी क्षत्रिय ही चौजातिके सर्वोत्तम कुलीन कहाये। तिलकधारी चक्रवर्त्ती राजाकी प्रधान गद्दीधारी शाखासे भिन्न,राज कुलके सामान्य लोग, अपनी योग्यतानुसार क्रमशः परवर्त्ती निम्नश्रेणीमें ही गिने गये। जिनमें राजोचित, गुण, विभव, प्रताप, विवाह सम्बन्धकी श्रेष्ठताके वैसे उत्तम सद्गुणोंका सर्वथा अभाव दिखा, वेही सबसे नीचेवाली श्रेणीमें केवल 'बाहुजात' नाम मात्रसे प्रसिद्ध हुए। संस्कृतमें बाहुसे उत्पन्नको बाहुजाता: वा 'बाहुजा:' कहते हैं। हिन्दी और पंजाबी भाषामें बाहुको ही 'बांह' वा बाओं भी बोलते हैं। संस्कृत 'बाहुजा:, का अपभ्रंश ही यह 'बाओं जाई' वा 'बौंजाई शब्द है। सबसे निम्नतम श्रेणीके गुणहीन बाहुजात क्षत्रियमात्र 'बौंजाई' इसीसे कहाये हैं। सबसे नीची श्रेणीके ब्राह्मणोंको ही 'अतिब्राह्मण' वा 'बामनबाई' भी कहते थे मूर्खताके अधिक्य

से दोनों भिन्नार्थवाचक शब्दोंका यथार्थ अर्थ और व्युत्पत्ति, न समझ कर ही लोगोंने ब्राह्मणक्षत्रियोंकी सबसे निम्नश्रेणीमें इन दोनों शब्दोंका समभावसे प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है।

क्षत्रियोंके भी विभागक्रम और जातिभेदकी उत्पत्ति आदि विषय, विस्तारसे लिखने योग्य हैं। परन्तु इस छोटीसी पुस्तकमें स्थानाभाव है इससे अनिच्छापूर्वक भी निरस्त होना पड़ता है। परन्तु संक्षेपसे इतना कह देना उचित है कि राजगद्दीके अनधिकारी क्षत्रिय, अपने कुल तथा शौर्य्यवीर्य्यादि गुणोंके तारतम्यसे सर्वोत्तम राजकुलोंमें विवाहित न होनेके कारण, विवाहके इतरविशेषसे भी अनेकों श्रेणीमें क्रमशः योग्यता और स्वकर्मानुसार ही गिने गये। ईश्वरेच्छासे समय अनुकूल रहा, तो कभी क्षत्रियोंके विषयकी एक स्वतन्त्र पुस्तक भी प्रकाशित की जायगी। अग्रे "हरेरिच्छावलीयसी।"

सारस्वतोंकी निम्नतम श्रेणीके इन 'बामनजाइयों' की जातिसंज्ञा सैकड़ों प्रकारकी वर्त्तमान हैं। सबका संग्रह इस पुस्तकमें प्रकाशित करना असम्भव सा था। तथापि सारस्वतमात्रकी जातियां, कुलीनताके क्रमानुसार यथायोग्य प्रकाशित की जाती हैं। जैसे अष्टकुलवाले अष्टवंश, पञ्जातिवाले छिजाति, प्रसिद्ध हैं। तथा कुछ बारह जातिवाले 'बारी' भी कहाते हैं। श्रेणीविभागमें बामनजाइयोंसे 'बारी' श्रेष्ठ हैं।

सर्वोत्तम सारस्वतोंका श्रेणीविभाग।

अर्थात्

आढ्यकुलके "अढ़ाईघर" कुलीन सारस्वतोंकी

"पञ्चजाति"।

१। **कुमड़िये** (कुमारीय वा कुमारोपासक, जामदग्न्य 'नन्द' गोत्र, पञ्चप्रवर, यथा—भार्गव, च्यवन, आप्नवान, और्व, जामदग्न्य।)

२। **जेतली** (जेत अर्थात् कुलवृद्ध जयन्तीसे, गौतम 'वात्स्य' गोत्र, त्रिप्रवर—आंगिरस, गौतम, औतथ्य।)

३। झिंगण (झगणका भारद्वाजगोत्र, त्रिप्रवर—आङ्गिरस, बार्हस्पत्य, भारद्वाज।)

४। तिक्खे ('तूल्स' पाराशरगोत्र, त्रिप्रवर—वशिष्ठ, शक्ति, पराशर।)

५। मोहले (मुशल, सोमस्तम्ब गोत्र, त्रिप्रवर—काश्यप, अवत्सार नैध्रुव।)

चारकुल 'चारघर' अर्थात् द्वितीयश्रेणीभुक्त 'पञ्चजाति।'

१ कुमड़िये। २ जैतली। ३ झिंगण। ४ तिक्खे। ५ मोहले। इन चारघरवालोंके गोत्रादि भी सब पूर्वोक्त।

उक्त पञ्चजातिकी तीसरी श्रेणी।

१ लुमड़िये (कुमड़िये)। २ पेतली (जैतली)। ३ पिंगण (झिंगण)। ४ पिक्खे (आंडले तिक्खे) ५ मुहले (मोहले)। इनके भी गोत्रादि सब पूर्वोक्त अनुसार।

उत्तम श्रेणीके सारस्वत।

बग्गे	प्रभाकर	पचदल	श्यामेपोतरे
मठूरिये	दत्त	चूनी	भोजेपोतरे
कालिये	छिब्बर	अणी	घघाघघपोतरे
मालिये	बाली	सरदल	शोतपाल
कपूरिये	वैद्य	बारी	खेतुपोतरे
नेवले	लव	कालिये	सिन्धुपोतरे
रावड़े	मुहाल	प्रभाकर	वट्टेपोतरे
चूनी वा लम्ब	मोहन	लखनपाल	दूबड़े
[illegible]लिये		पेढी	सोधर
पण्डित	पण्डित	[illegible]	[illegible]

(अग्रवंश)	पाठक	मन्नान	शामाद्दासी
सण्ड	ढंडे	भंवी	पुश्रत
पाठक	गडूरे	पत्ती	भारद्वाजी
कुरल	ढौंकल	चित्रचोर	काठपाल
भारद्वाजी	छकड़े	शारद	घोटके
जोशी	——	जालपोत	पुकरणे
शोरी	सज्जरेपुंज	भनोत	सिन्धुपाल
तिवाड़ी	बन्दू	——	——
मरुद	न्याली	——	

निम्नतमध्य श्रोके 'बामनजाई' सारस्वत ।

अग्निहोत्री,	अग्रफक्क,	अचारज,	अल,
अंगल,	आरी,	ईसर,	ईसराज,
ऋषि वा रिखि,	ऐरे,	ओझे,	कपाल,
कुन्दि,	कलन्द,	कुसरित,	कपाले,
कुण्ड,	कंड्यारे	कलि,	काई,
कल्हण,	कर्द्दम,	करदम	किरार,
कुतवाल,	कुरलपाल,	कलस,	कुन्दिड,
कैजर,	कोटपाल,	कारडगी,	काठपाल
खटवंश,	खेंती,	खोरे,	खिन्दड़िये
गंगाहर,	गांदर,	गांधे,	गजेसु,
गन्दे,	गांधी,	गुटरे,	घोटके
चनन,	चित्रचोर	चून्नी	चकपालिये,
चब्भे,	चित्रचोट,	चन्दन,	चूड़ामन,
जालप,	चूनी,	चुचन,	छिकने,
जालपोत,	ओलखी	जल्ली,	जेठके,

जयचन्द,	जोति,	जलप,	जसरव
टिड्डी,	जठरे,	जचरे,	झमाण,
ठोले,	टाड,	टूगले	टनिक,
तिवाड़	डगले,	डंगवाल,	ढंडे
तिवाड़ी,	त्रिपाणे,	तेजपाल,	तिनूनी,
तल्लण,	तोले,	तोते,	तिनमणी,
दंगवल,	तगाले,	तंगणवते	दगाले,
धायी,	दिद्रिये,	दवेमर,	द्वारे,
मारद,	धम्मी,	थिन्दे,	नाहर,
प्रभाकर,	नाभ,	नाद,	पराशर,
पाधे वा पांधे,	पञ्जन,	पाल,	पुंज,
पन्नि,	पलतु	पुजे,	पट्ट,
परींडे,	पंडे,	पांडे,	पिदर
पन्व,	पठल,	पठरू,	पुष्करतन
ब्रह्मी,	याहोये,	ब्राह्म जुकुल,	वटूरे,
विजराये,	वियड़े,	बन्दू,	भाखरखोरे,
भारखाबी,	भारद्वाजो,	भारथे,	भिण्ड,
भूत	भणोत,	भटरे,	भाजी,
भक्री,	भोग,	भागो,	मटेर,
मज्ज,	मोहन,	मकावर,	मन्दार,
[illegible],	मसोद्रवे,	मन्दहर,	मेत्र,
मदरखम्ब,	मेडू,	मेहद,	मच्छर,
मनै,	मुसनल,	मण्डहर,	मघरे,
यक्षी,	रतनपाल,	रूपाल,	रमदेह,
रति,	रमताल,	रतानिये,	रुधड़े,
रोसड़े,	लखनपाल,	लालड़िये,	लक्कड़फाड़,

लालीबच्चे	लुद्र,	लट्टू,	लाहद,
लुध,	विनायक,	वासुदेव,	वशिष्ठ
विरद,	व्यास,	बटेपोतरे,	विरार,
श्रीधर,	श्रीडड्डे वासुदेव,	शेतपाल	शालिवाहन
सोढी	संगद	सन्धि,	सूरन,
सूदन,	सहजपाल,	सनखोत्रे,	सोयरी,
सणवल,	सैली,	संगर	सांग,
सुन्दर	सद्दी,	हरद,	हांसले,
हंसधीर,	हरिये,	हरी,	हंसतीर

यह श्रेणीविभाग, लाहौर, अमृतसर प्रान्तसे गुरुदासपुर, बटाला, जलन्धर, मुलतान, उत्तर, झङ्ग और शाहपुर तक बसनेवाली सारस्वतब्राह्मणोंको बड़ो समुदायका है। इनसे अतिरिक्त, दत्तारपुर हुशियारपुरके बसनेवाले सारस्वतोंको तथा जम्बू जसरोटा प्रान्तके डोगरे सारस्वत, और ज्वालामुखी कांगड़ेके पहाड़ीब्राह्मणोंकी श्रेणीमें और 'जाति संज्ञा' अल्ल, आदिमें भी अन्तर देश भेदसे हैं। इसलिये उनको अन्यत्र स्वतन्त्र हो लिखा है। गोत्र, चरण और शाखाभेदके सिवाय सारस्वतोंकी 'जातिसंज्ञा' और विविध प्रकारकी 'अल्ल' कुलदेवता, कुलवृक्ष, कुलकी प्रथा, बड़ोंके निवासस्थान, आजीविका, वृत्ति, पुरानी रीतिका त्याग, अथवा नवीन रीतिका अनुसरण, सामाजिक कलह, झगड़े, उनकी निवृत्ति, नवीन नियमस्थापन, लागचारकी प्रथा, आदिके कारणसे ही बनती हैं। इनमें भी अधिकांश तो, 'निवास' और 'निकास'के देशोंको नामानुसार ही बनी दिखती हैं। परन्तु इनकी इतनी विशेषता है, कि सबका विवरण लिखना असंभव सा है।

ऊपरकी लिखी, नेवले, रावड़े आदिकोंकी पांचजातोंमें मुलतान झंग और शाहपुरवालोंमें चूनी नहीं लिये गये; वहां चूनीके बदलेमें सम्ब हैं। इसीसे दोनों नाम लिखे हैं। दत्त और प्रभाकर, सारस्वत

दानप्रतिग्रह नहीं लेते । श्रेणीभेदमें भारद्वाजी, प्रभाकर आदि नामोंका सादृश्य होनेपर भी वे सर्वथा भिन्न ही हैं। पहिले बग्गे भट्टूरियोंकी पञ्चजातिकी कन्या सर्वोत्तम पञ्चजातिमें ब्याही जाती थीं, इसका प्रमाण तो मिला ही है । इस समय भी नेवले रावड़े सरवलिये पण्डित और चूनियोंकी पञ्चजातिवाले, बग्गे भट्टूरियोंकी पञ्चजातिमें कन्या देते दिखते हैं। इनके इस प्रकारके पुराने सम्बन्ध भी हैं। अष्टवंशादि यद्यपि अपनी ही आठोंजातिमें, वा सभी श्रेणीवाले अपनी निर्दिष्ट मण्डलीमें ही प्रायशः विवाह करते हैं ; एक श्रेणीवाला समवर्त्ती दूसरी श्रेणीमें कन्या नहीं देता । तथापि सर्वोत्तमश्रेणीके आढ्यकुलोंमें इनकी कन्या सनातनसे बैठती आयीं । श्रेष्ठ कुलमें कन्या देना ही सिद्धान्त पक्ष है । पण्डित तुलसीरामजीके अप्रामाणिक सिद्धान्तानुसार गोत्रप्रवरका विचार त्याग-कर, विवाह हुआ करेगा तो शीघ्र ही सारस्वतोंके सर्वथा लुप्त होनेका सम्भव है । इसका विचार सारस्वतमात्रको कर्त्तव्य है । सगोत्रापरिणय बड़ा ही भयङ्कर है । ऐसे अयोग्य विवाहसे ब्राह्मणत्व ही नष्ट होजाता है ।

दत्तारपुर, हुशियारपुर प्रान्तके सारस्वतोंका श्रेणी-विभाग ।

उत्तम श्रेणी ।

खजूरिये	दुबे	डोगरे
पाधेघोहसनिये	पाधे खिंदड़िये	पाधे ढोल बालवैये
पाधे ददिये	लखनपाल	सरमाथी

निम्न श्रेणी ।

अल	कमाहटिये	कुटल्हैड़िये	कालिये
गदोत्तरे	चपड़ोहिये	चिबूभे	चंघियल
खिरपोल	छकोतर	जल्रेहये	झुआल

खुसमुटियार	झोल	थ्वाहाये	ढोसे
ताक	तांड़ी	थानिक	दगाड़
दलोहड़िये	पटडू	पन्याल	पाण्डत
बाघले	भरधियाल	भटोल	भसूल
भदोए	भटोहये	भटरे	भकड़े
मचले	मदोते	मिश्र	ते
मिरट	मुकातो	रजोहद	लाहद
लाठ	लई	वंटड़े	श्रीधर
शारद	समनोल	सेल	संढ

जम्मू, जसरोटा प्रान्तके पहाड़ी ब्राह्मणोंकी उत्तम श्रेणी

मगोतरे	ठप्पे	बंभवाल	सपोलिये पाधे
केसर	दबे	मोहन	खजूरे प्रोहत
नाध	लव	छिब्बर	बड़याल
लट	वैद्य	बालिये	जम्बुआल पण्डित

मध्यम श्रेणी ।

अधोत्रे	पराशर	मिश्र	समोत्रे
कटोत्रे	बड़	मस्रोत्रे	सुधालिये
कश्मीरी पण्डित,	बनालपाधे	रैणे	सुदाधिये
केणिये पण्डित	बत्रगोत्रे	ललोत्रे	पन्धोत्रे
टगोत्रे	भंगोत्रे	विल्हानोच	मलिते
भरैड़	सतोत्र	पुरोच	

अधम श्रेणी

उपाधे	गराड़िये	घरिओच	भरंगोल
उदिहल	घोड़े	धमानिये	भलोच
उत्रियाल	चरम	नभोत्रे	भैनखरे
कलान्दरी	चरगांट	पटल	भूरिये

किरले	चन्दन	पिन्धड़	भूत
कुन्दन	चकोत्रे	पृथ्वीपाल	मुण्डे
कौड़े	छछियाले	पलाधु	मरोत्रे
कमनिये	जलोत्रे	पंगे	मगाडोला
कम्बो	जखोत्रे	फौनफण	मनसोत्रे
कुड़िदव्व	जरड़	बगनाछाल	मगदियालिये
कर्नाटिये	जरंघाल	बसनोत्रे	माथर
कठियालू	जड़	बरात	महीजिये
कानूनगो	जम्बे	वड़कुलिये	मधोत्रे
कालिये	झनूगोत्रे	बाली	मखोत्र
कफलखी	झिन्धड़	बनोत्रे	मच्छर
खडोत्रे	झलू	ब्रिहाये	यन्तधारी
खणोचे	झावड़	बरगोत्रे	रजूलिये
खिँदड़िये पाधे,	झाफाड़ू	बच्छल	रजूनिये
गौड़पुरोहित,	ठकुरेपुरोहित,	बटियालये	रतनपाल
गरोच	डडोरिच	बघोत्रे	रोद
गुहलिये	तिरपद	बट्टल	रेडाथिये
गुड्डे	थमनोत्र	बिसगोत्रे	लाढ़अन
गोकुलिये गुशांई,	थन्मथ	बुधार	लखनपाल
गल्हल	दब्ब	बणदो	लावन्दे
गन्धरगाल	दुहाल	भूरे	लभोत्रे
शशगोत्रे	सांगड़े	सरोच	सैनहसन
सूदन	सुनंचाल	सरमायी	मुहरिड़ये
सुबखे	सिरखड़िये	सुथड़े	सोल्हे
सणहील	सलूर्ण	लिगाड़	सागुणिये
			सणाहोच

काँगड़ेके पहाड़ी सारस्वतोंका विभाग।

उत्तम श्रेणी।

आचारिये,	ओसदि	कुरुड़,	दीक्षित
नाग	पण्डित कश्मीरी	पञ्चकर्ण	मिश्रकश्मीरी
मद्दिहाटी,	शाइपे	सोत्रि	वेदवे

अधमश्रेणी।

खजूरे	छुरवध	गलवड्ढ	गुदरे
चियू	चलिवाले	छुतवन	डुम्बू
डांगमार	डेहैड़ी	धाभुड़	पनयालू
पश्चर	प्रोत जड़ग्रोटरोटिये,	पात्रेसराज,	पाधेखजूरे,
पात्रे	मोहिते भनवाल	मंगरूड़िये	मैते
रुक्खे	रुव्वे	विष्ट	प्रोत

प्रायशः भारतवर्षमें जहां जहां सारस्वत हैं, इन जातियोंके ही अन्तर्गत दिखते हैं। देशभेदसे ऊंची नीची श्रेणीका विभेद होना स्वाभाविक है। परन्तु विचारकर देखनेसे इनमें बहुतसी संज्ञाओंका मूल 'बारी' और 'बामनजाई' ही दिखते हैं। कालधर्मसे आचारहीनोंकी कुलसंख्या:वृद्धि होनेमें कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं है। इस कठिन-कलिकालमें कुलधर्मपालन करनेवाले कुलीनोंकी स्थिति और कुलवृद्धि असम्भव ही है। यही कारण है कि सर्वत्र कुलीनोंके उत्तमकुलोंका ह्रास दिखता है। विवाहके नियमोंका कथञ्चित् पालनकरना छोड़कर, इस समय कुलीनोंके सदाचार आदि भी प्रायः सब लुप्त होरहे हैं। अब तो धनमें ही:जाति, पांति, सब कुछ है। कुलीनोंमें भी इसीसे कन्याविक्रय-की घृणार्ह कुप्रथाने कहीं कहीं प्रवेशलाभ किया है। त्राहि! त्राहि!!

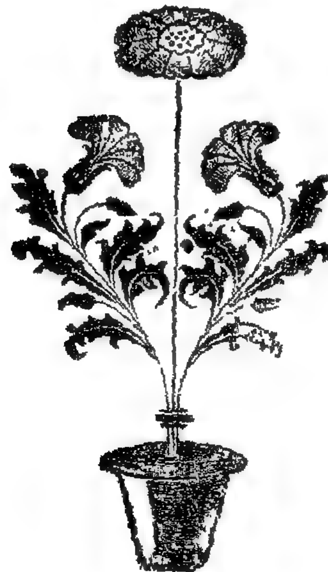
जब कालधर्मसे बहुत दिनोंमें समग्र सारस्वत प्रदेश जनतासे परिपूर्ण होगया था, तब वहांसे निकलकर दूसरे देशोंमें भी लोग आ बसे थे। उसी समय पांचालकी पूर्व सीमामें गङ्गातटपर ही गाधि-

पुर प्रतिष्ठित हुआ था। कालान्तरमें गाधिपुरका नाम ही कान्यकुब्ज भी होगया। महोदय भी इसीका नामान्तर था। कालक्रमसे कान्य-कुब्जप्रदेशके निवासी ब्राह्मण ही कान्यकुब्ज कहाने लगे। इनके यजमान भी प्रायशः 'रजपूत' और 'छत्री' ही हुए। बाद इसके और भी पूर्व-दिशाके देशोंकी बसती हो जानेपर, गौड़देश विख्यात हुआ और उस देशके निवासी ब्राह्मण भी 'गौड़' कहाये। प्रायशः केवल बनिये ही गौड़ों-के यजमान हैं। अन्तको मिथिला और उड़िष्या तक में क्रमशः ब्राह्मण आ बसे, तो ब्राह्मणोंकी मैथिल और उत्कल संज्ञा में उत्पन्न होगयी। अर्य्यावर्त्तके अन्य ब्राह्मण प्रायशः इन पाचोंकी शाखा प्रशाखाके ही अन्तर्गत है। ऐसे ही दाक्षिणात्यदेशमें भी क्रमशः ब्राह्मणोंके बस जाने-पर देशभेदसे, नामभेद उत्पन्न हुए हैं। यथार्थमें ब्राह्मणमात्र एक ही मूलसे निकले हैं। आदिमें सारस्वत ही प्रसिद्ध थे।

अब तो, सारस्वत ब्राह्मणोंकी वर्त्तमान परमशोचनीय दशा देख, विचारशीलमात्रको परम क्लेश और मर्म्मवेदना उपस्थित होती है। जिस सर्वप्रधान सारस्वत प्रदेशमें सृष्टिकी अति शैशवावस्थामें कल्पारम्भके समय, भृगु, वशिष्ठ, अत्रि, अङ्गिरा आदि परमतेजस्वी, तपोनिष्ठ, मन्त्र-द्रष्टा, ब्रह्ममूर्त्ति परमर्षियोंका अविर्भाव हुआ था; चतुर्म्मुख ब्रह्माने जिस परमपवित्र पुण्यभूमिको आदिसृष्टिके उपयुक्त समझ, दिव्य पर्वतशिखरोंपर स्वयं प्रगट हो, ब्राह्मणोंको सर्वोत्तम वंशप्रवृत्तिके निमित्त जहां प्रजापतियोंकी सबसे पहिले सृष्टि की थी; पृथ्वीके जिस सर्वोत्तम भूभागपर ब्रह्मसाक्षात्कारकर, ऋषियोंके यथार्थ 'ऋषि' नाम-की चरितार्थता हुई थी; चतुर्वर्गके कल्पवृक्ष वेदमन्त्रोंका जिस देशमें परमर्षि, महर्षि और ऋषियोंको, सबसे पहिले अलभ्य लाभ हुआ था। वेदघोषकी सुगम्भीर सुरीली गगनस्पर्शी ध्वनिसे, जिस प्रदेशकी दशों दिशा गूंजती हुई दूरके देशोंसे भी अपने गुरुत्व और अपनी अनुपम पवित्रतासे अपवित्रताके सहित, पापपुञ्जको पलमें विलीन किया करती

थीं ; जिस सर्वोत्तम स्वर्गतुल्य सुखप्रद, ऋषियोंकी जन्मभूमिमें, साक्षात् विद्यारूपिणी भगवती सरस्वती, ऋषियोंकी अलौकिक गुणावली और सरलतासे ही मानों द्रवीभूत हो महानदीरूपसे प्रवाहित होनेके मिससे, समग्र पञ्चनद प्रदेशको अनेक धाराप्रवाहसे प्रत्यक्ष प्लावित करती स्वनामानुसार प्रसिद्ध 'सारस्वतदेश'के विद्याविभवप्रतापको जगन्मान्य सुसिद्ध करती हुई, साक्षात् अवतीर्ण हुई थीं। जहां सूत्रकारोंके सहित पाणिनि जैसे वैयाकरण शिरोमणि और भाष्यादि अगण्यग्रन्थकार महानुभावोंने जन्म लिये। उव्वट, मम्मट, कल्हण, बाण, माघ, माधवसदृश अनेकों इस कठिन कलिकालमें भी जिस देशके प्राचीन पाण्डित्यकी अनुपम छटा दिखाते परमोज्वल निदर्शनरत्नसे चमक गये। अङ्कगणितसे प्रारम्भ कर, संगीत, चिकित्साशास्त्र और ज्योतिषादि सब विद्याओंकी जन्मभूमि वा आकरस्वरूप जिस सर्वश्रेष्ठ प्रदेशके उत्पन्न अग्रजन्मा ब्राह्मणोंने संसारके मनुष्यमात्रको आचारशिक्षाके साथ ही विविध विद्याका भी यथोचित उपदेश किया। जिस देशके सौन्दर्यकी दैवी अनुपम छवि अबतक भी सरलता और मधुरताकी साक्षात् मनमोहिनी एक मूर्त्ति सी सर्वदृष्टिगोचर होती है। कैसे दारुण असहनीय शोक दुःख और अनुतापका विषय है? कि आज उसी पुण्यभूमिके कदाचार, असदनुष्ठान मादकसेवन, द्यूत, घोर मूर्खता, कुप्रथा, विलायत यात्रासे प्रत्यागतोंके धर्मविप्लव, समाजविप्लव, व्यभिचार, स्वेच्छाचार, अनैक्य, भ्रष्टाचार, आदिसे दूसरे देशवाले विदेशीय भी नाक सिकोड़ते और घृणाके सहित उपहास करते दिखते हैं। लुप्तप्राय उस सरस्वतीका भी "सारस्वत" नाममात्रसे ही नाममात्रका सम्बन्ध अब तो रहगया दिखता है। भाइयो, क्या इतनेपर भी तुम्हारी मोहनिद्राभङ्ग होनेका समय नहीं आया? क्या अभी कुछ और भी दुर्दशा होनी अवशिष्ट रहगयी है? अब तो आखें खोलकर तुक ध्यानसे, अपनी दशाको संसारकी स्थिति और अपनी आदि अवस्थाके सहित क्षणकालके

लिये भी तुलना कर देखो। क्या तुम वही सारस्वत हो? कि जिस-नामीके चरणोंमें विद्याशिक्षाको एक समय भारतके संस्कारहीन ब्राह्मण-मात्र उपस्थित और दर्शनमात्रसे सफलकाम हो, गुरुभक्तिपाशसे बरा-बरके लिये दृढ़ आबद्ध हुए थे। स्ववंशप्रवर्त्तक भृगु, वशिष्ठ, आदि परमर्षियोंके नामकी लज्जा रखना तुम्हारा परमधर्म्म और अवश्य कर्त्तव्य कर्म्म नहीं है? भाइयो, चेतो अनैक्यको देशनिकाला दे, पुरुषार्थ और परस्परकी प्रीतिका पल्ला पकड़ो। बहुत सो लिये, अब मोहनिद्रा-को देशहितकी चाहसे दूर भगाओ। सब भाइयोंकी समवेत शक्तिकी उपासना करो। जातीय ऐक्य और पुरुषार्थसे क्या नहीं सुसिद्ध हो सकता है? ईश्वर शीघ्र तुम्हें सुमति दे। इस अवस्थामें केवल एक उसीका भरोसा है। शुभमस्तु।



विभक्ति-विचार

अर्थात्

हिन्दीभाषाकी विभक्ति और प्रत्ययोंके
विषयमें स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रचार।



जामदग्न्यवत्सगोत्रोद्भव

मिश्र गोविन्दनारायण कुमारीय

(कुमड़िया)

सारस्वत द्वारा

हिन्दी-हितैषियोंके हितार्थ विरचित

संवत् १९६८, विक्रमाब्द।

सूचना ।

जबसे "विभक्ति-विचार" शीर्षक लेख स्थानीय "हितवार्त्तामें" प्रकाशित हुए, तबसे अनेकों सज्जनोंने बारंबार पत्र भेजकर उन लेखों-को पुस्तकाकारमें छपवा, प्रसिद्ध करनेका विशेष अनुरोध किया। पहले 'शिक्षा' सामयिक पत्रिकामें अज्ञातनामा किसी सज्जनने इसकी सहायतामें ५ रुपये देनेकी सूचना भी दी थी। उक्त सज्जन चाहे कोई हों, परन्तु धन्यवादके पात्र हैं, इसमें सन्देह नहीं। इतने सज्जनोंकी अनुरोधरक्षा अवश्य कर्त्तव्य समझकर ही आज यह पुस्तक प्रकाशित की जाती है।

हितवार्त्ताके प्रकाशित लेखोंके संशोधन, और उनमें कुछ नये अंशके संयोजनके सिवाय, "परिशिष्ट" लेखसहित यह पोथी छपवायी गयी है। विशेष झंझटोंके कारण, यथारीति "प्रूफ" संशोधन नहीं किया जा सका; विशेषकर बंगाली कम्पोजीटरोंकी कृपासे "ब" और "व" अक्षरोंका व्यतिक्रम और चन्द्रविन्दु प्रयोगमें भी त्रुटि रह गयी है। प्रार्थना है, कि गुणग्राही विज्ञ सज्जन अपनी उदारतासे भूलोंको सुधारकर पढ़नेके साथ ही, मूल विषयमें मनुष्य स्वभावसिद्ध जो कुछ भ्रान्ति मुझसे बन पड़ी हो, उसकी सूचना भी यथासमय पत्रद्वारा दें, और मातृभाषाकी यथोचित सेवासे विमुख न हो, धन्यवादके अधि-कारी बननेकी कृपा भी अवश्य ही करें। इति शम्

मिती भादों सुदी ३ तीज
हरितालिका।
संवत् १९६८ वि०
कलकत्ता।

गोविन्दनारायण मिश्र ।

विभक्ति-विचार



ब प्राणियोंमें मनुष्योंकी श्रेष्ठताका प्रधान कारण भाषाके
द्वारा आपसके ज्ञानकी सहायता और वृद्धि करना ही है।
मनुष्य कैसा ही बुद्धिमान क्यों न हो, परन्तु भूलना उसका
है। इसलिये बड़े बड़े विज्ञ विचारवानों और मुनियोंसे भी भ्रम-
असम्भव नहीं माना जाता। परन्तु शिक्षा और मानसिक
नाके विशेष अभ्याससे क्रमशः भ्रमकी मात्रा कमती जाती है।
रण है कि, वयोवृद्ध विशेषज्ञ, परम चिन्ताशील, पूर्ण विद्वानों
विषयके वे विद्वान हैं उसमें; प्रायशः भ्रम नहीं होने पाता।
यह बात विशेष विचारनेकी है कि, ज्ञानकी अवधि नहीं है।
षयका भी निखिल पूरा ज्ञान,एक जन्ममें व्यक्ति-विशेषको होना
सा समझा जाता है। बड़े बड़े विद्वानोंकी समयपर यह दशा
र प्रत्यक्ष देखनेमें आ चुकी है कि,पहले जिस सिद्धान्तको वे भ्रम-
नते थे.कुछ दिनों बाद,ज्ञानकी वृद्धि होनेसे उनको आपही अपना

पहला सिद्धान्त भ्रान्त सूझने लगा, ऐसी दशाके उपस्थित होनेपर ही विद्वानोंकी यथार्थ परीक्षाका अवसर भी सामने आता है। अधिकांश बड़े बड़े नामी विद्वान वैसी दशाके उपस्थित होनेपर, बनी बनायी प्रतिष्ठापर धब्बा लगनेके भयसे, चोरकी भांति अपनी उस भ्रान्तिको छिपानेकी चेष्टा गुप्त भावसे करते हुए आजीवन वृथा मानसिक कष्ट भोगते रहते हैं। परन्तु ऐसे महापुरुष भी अबतक देखनेमें कभी कभी आ ही जाते हैं कि, जो व्यग्रताके साथ अति शीघ्र अपनी पहली भूलको चौड़े प्रकाशित करना ही अपना एक मात्र परम कर्त्तव्य गिनते हैं। विरल होनेपर भी, ऐसे ही महापुरुष सुपण्डितोंका आचरण अनुकरण करने योग्य है। इस श्रेणीके पण्डितोंकी संसारमें जैसी कुछ प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, वैसी पहलेकी कही हुई श्रेणीके विद्वानोंकी तो कभी हो ही नहीं सकती। वह विद्वान ही क्या कि जो जान कर भी अपने भ्रमको भ्रम स्वीकार करनेसे जी चुरावे? ज्ञानके साथ ही विवेक भी बढ़ता है और हृदयमें धर्मभीरुताका विशेष आधिक्य हो जाता है विवेकी और निरपेक्ष विचारशील पुरुषोंसेही ज्ञानोपार्ज्जन किया जाता है, चाहे वे प्रत्यक्ष मौखिक उपदेशसे ज्ञानोपार्ज्जनमें सहायता दें, चाहे स्वरचित ग्रन्थ वा लेखोंसे।

परन्तु जिस देशमें मूर्खताका अटल राज्य हो जाता है, जहां लोग मातृभाषामें शिक्षा ही नहीं प्राप्त करते, जहां पेटकी चिन्तासे दिन रात कोल्हूके बैलसे जुते रहने पर भी अभावोंकी पूर्त्तिका होना असाध्य दिखता है, वहाँ यथार्थ ज्ञानको बढ़ानेवाली इन बातों पर सहसा ध्यान ही क्यों होना है! हिन्दी भाषाके सामयिक पत्रोंमे जबसे विचारी हिन्दीकी चर्चाका आरम्भ हुआ है तबसे ही मैं देखता हूं कि, अनेकों प्रकारके भिन्न भिन्न मत और सिद्धान्त हिन्दीके सम्बन्धमें होते हैं। विशेष दुःखसे आज इतना सुचा देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि, हिन्दी साहित्यके व्यवसायी नामी और प्रतिष्ठा प्राप्त लिखनेवालोंमें

जितनी बढ़ी हुई मात्रा पण्डितम्मन्यताकी और व्यक्तिगत आक्रमणकी है उतनी ज्ञानोपार्ज्जन और विशेष परिश्रमपूर्वक यथार्थ तत्वान्वेषणकी नहीं है। इससे प्रायशः इनके किसी मतका न तो कभी स्थिर सिद्धान्त ही निश्चित होता है और न यथार्थ तर्ककी रीतिसे तत्वबोधका ही मार्ग इनके किये कभी प्रशस्त होता दिखता है। परस्परकी ईर्षा और कोरी बकवादसे पत्रका कलेवर काला करना और पढ़नेवालोंके समयको मिट्टीमें मिलाना ही इनको चिरकालसे अभ्यस्त है! जितने लिखनेवाले हैं, प्रायशः अपनेको पूर्ण अभिज्ञ और दूसरोंको अज्ञ वा अल्पज्ञ ही माने बैठे हैं।

मेरा यह सविनय निवेदन है कि, मेरे इस लेखको कोई महाशय बिना विचारे अकाट्य सिद्धान्त अथवा पूर्ण मात्रासे अभ्रान्त न मान लें परन्तु जिन बातोंका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है, उन उनपर स्थिर चित्तसे विशेष विचारपूर्व्वक जो जिनके जीसे ठीक जँचे उसे आग्रह त्यागकर स्वीकार करनेमें आगापीछा न करें। साथ ही इसलिये भी मैं सब लोगोंसे क्षमाप्रार्थी हूं कि, जिनके मुद्रित सिद्धान्तोंसे मेरा मतैक्य नहीं है अथवा जिनके मतका इस प्रसङ्गमें खण्डन किया जाय, वे कृपा-पूर्व्वक कलहमें प्रवृत्त न हों, गालिप्रदानसे विमुख रहकर, मेरी भ्रान्ति स्पष्ट रूपसे लिखा अपने पूर्व्व पक्षको उत्तम प्रमाणोंसे यथासाध्य पुष्ट करनेमें किसी प्रकारकी त्रुटि न करें। अन्यथा गालिप्रदान वा असार लेखका कुछ भी उत्तर देना कर्त्तव्यसे विरुद्ध ही समझा जायगा।

साहित्यका परम सुन्दर लेख लिखनेवाला यदि व्याकरणमें पूर्ण अभिज्ञ न होगा तो उससे व्याकरणकी अनेकों अशुद्धियाँ निस्सन्देह होंगी। वैसे ही उत्तम वैयाकरण व्याकरणसे विशुद्ध लेख लिखनेपर भी अलङ्कार शास्त्रके दूषणोंसे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता है। अल-ङ्कारभूषित साहित्यरचनाकी शैली स्वतन्त्र है। इसकी अभिज्ञता उपार्ज्जन करनेके शास्त्र भिन्न हैं, जिनके परमोत्तम विचारमें व्याकरणका

अशुद्धिविशिष्ट लेख भी साहित्यमें सर्वोत्तम माना जाता है। सारांश यह कि, अत्यन्त सुविशाल शब्दारण्यके अनेकों विभाग वर्त्तमान हैं। उनमे एक विषयकी योग्यता वा पाण्डित्यके लाभ करनेसे ही कभी कोई व्यक्ति सब विषयोंमे अभिज्ञ नहीं हो सकता है। परन्तु अभागी हिन्दीके भाग्यमें इस विषयका विचार ही मानो विधाताने नहीं लिखा! जिन महाशयोंने समाचारपत्रोंमें स्वनाम-ाङ्कित लेखोंका मुद्रित कराना कर्त्तव्य समझा, और जिनके बहुतसे लेख प्रकाशित हो चुके है, सर्व्वसाधारणमें इस समय वे सबके सब हिन्दीके भाग्यविधाता और सब विषयोंके ही सुपण्डित माने जाते हैं! मैं इस भेड़ियाधसानको हिन्दीकी उन्नतिके विषयमें सबसे बढ़कर बाधक और भविष्यमें विशेष अनिष्टोत्पादक समझता हूं। अनधिकार-चर्चा करनेवालेसे बात बातमें भ्रम प्रमाद संघटित होते हैं। नामी लेखकोंके भ्रमसे अशिक्षित समुदायकी ज्ञानोन्नतिकी राहमें विशेष प्रतिबन्धक पड़ जाते हैं। यह ही कारण है कि तत्वदर्शी विज्ञ पुरुष अपने भ्रमका परिज्ञान होते ही उसे प्रकाशित कर सर्वसाधारणका परमोपकार करनेमें क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करते, बल्कि विलम्ब करनेको महापाप मानते हैं।

स्वर्गीय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास मेरे परम प्रिय मित्र थे। उनकी प्रतिभा, रसिकता, सुजनता, कविता-शक्ति और साहित्यज्ञान आदिका आदर मैं बराबरसे करता आता हूं; और इस विषयमें मेरे हृदयपर प्रिय व्यासजीका जैसा कुछ अधिकार है, उससे अधिक सम्भवतः बहुत ही थोड़े लोगोंके हृदयपर होगा। व्यासजीने जिस समय विभक्ति प्रत्ययके विचारमें प्रवृत्त हो लेखनी धारण की थी, उस समय पत्र द्वारा मेरी भी सम्मति पूछी थी। परन्तु उनको अथवा आजतक किसी नागरी प्रचारिणी सभाको हिन्दी भाषा-विषयक प्रश्नोंका उत्तर देना मैंने उचित नहीं समझा था। इस मौनावलम्बनके कारणोंको मैं फिर कभी प्रकाशित करूंगा।

स्वर्गीय व्यासजीने जिस रीतिसे विभक्ति विचारके विषयको उठाया था प्रथम तो उस रीतिका ही मैं पोषक अथवा समर्थक नहीं हूं। कारण, प्रिय व्यासजीने विभक्ति प्रत्ययोंको जिन स्वतन्त्र शब्दोंसे बना हुआ दिखानेको अपनी ऊहापोहका विस्तार किया था, प्रथम तो वह विषय ही उनकी स्वतन्त्र विचारशक्तिका फल नहीं था। बीम्स साहबने सात भाषाओंका जो व्याकरण रचकर प्रकाशित किया था, उसकी उक्तिका ही सर्वथा अवलम्बन कर व्यासजीने अपना पक्ष पुष्ट किया था। परन्तु न जाने, बीम्सका नामोल्लेख करना व्यासजी क्यों भूल गये थे? "को, में, ने, से" आदि विभक्तियोंके जिन जिन शब्दोंसे रूपान्तरित होकर बननेका उल्लेख बीम्सने उस व्याकरणमें किया था, ठीक उन ही शब्दोंसे, उस ही रीतिसे विभक्ति प्रत्ययोंका बनना व्यासजीने भी माना और दिखाया था! 'भाषा प्रभाकरमें' भी बीम्सकी छायाका ही अनुसरण व्यासजीने किया। दूसरे, ऐसा सादृश्य केवल "घुणाक्षर-न्यायसे" होना तो कभी नहीं माना जा सकता है। साथ ही, प्रिय व्यासजी भी दूसरेके मतको सर्वथा अपना मत कहकर प्रचार करनेवाली प्रकृतिके पुरुष नहीं दिखते थे! अतएव क्यों ऐसा सादृश्य हुआ था? इसकी मीमांसा सुकठिन है।

हिन्दीमें "रामने, रामका" आदि शब्द अभिन्न हैं? अथवा "ने, के, से" आदि, और राम आदि भिन्न भिन्न हैं? इसका निर्णय हिन्दी भाषाकी प्रकृतिकी परीक्षासे ही यथार्थ रीतिसे हो सकता है। अन्यथा हठपूर्वक अपना अपना राग अलापनेसे तत्व निर्णयका होना त्रिकालमें भी असम्भव ही समझिये। मुझे किसी पक्षका आग्रह इस समय नहीं है। केवल निरपेक्ष विचार द्वारा यथार्थ परीक्षाका ही मैं पक्षपाती हूं। जो भाषाएं सजीव हैं, जिनके बोलनेवालोंकी गिनती करोड़ोंसे भी ऊपर है, उन (Living Languages) सजीव भाषाओंमें थोड़ेसे लोगोंका हठ वा दुराग्रहपूर्वक लेख प्रचलित करनेकी चेष्टा करना



कदापि भाषाकी प्रकृतिके बदलनेमें समर्थ न होगा। व्याकरणके प्रत्येक नियमका बनाना भाषाकी प्रकृति परीक्षापर ही निर्भर करता है। व्याकरण बलपूर्वक किसी भाषाकी प्रकृतिका परिवर्त्तन नहीं कर सकता है।

जिन लोगोंने "ने, के, से" आदि प्रत्ययोंको सर्वथा अलग माना है, उनकी सबसे प्रबल युक्ति यह है कि, "रामहीसे, कृष्णहीने" आदि प्रयोगोंके बीच, मूल शब्द और प्रत्ययको भिन्न भिन्न प्रमाणित करनेके लिये ही इस अव्यय वा उपसर्ग "हीका" परम्पराप्राप्त शिष्ट प्रयोगमें परिगणित होना सर्वमान्य है। इसके विरुद्ध जिन वैयाकरण पुंगवोंने अति साहस दिखाकर उक्त प्रयोगको ही अशुद्ध प्रतिपन्न करनेकी चेष्टा की है, उनका अनुमोदन करनेमें मैं असमर्थ हूं। संस्कृतमें भी निपातसे सिद्ध प्रयोग शुद्ध माने जाते हैं। यद्यपि हिन्दीकी यथार्थ प्रकृति ऐसी ही है कि, "ने, मे, से, को" आदि प्रत्ययोंके बीचमें अव्यय वा उपसर्गके आ जानेसे एक भी प्रयोग दुष्ट वा अशुद्ध नहीं होता है, तो यह बात आपसे आप कुछ कालके लिये निर्विवाद सिद्ध हो जायगी कि हिन्दीमें "मैं, ने, को, से" आदि प्रत्यय निश्चय अलग और स्वतंत्र ही हैं। इसकी परीक्षा भी विशेष कुछ कठिन नहीं है। सुगमतासे एक किसी दूसरे उपसर्गको बीचमें डाल, विद्वज्जन इस परीक्षाको कर सकते हैं। "भी" भी हिन्दीका एक प्रचलित उपसर्ग है। अतएव देखना चाहिये कि, "हीकी" भांति इस "भीका" प्रयोग भी हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल होता है या नहीं? इसके देखनेसे ही सहजमें बखेड़ा निपट सकता है। "राम भीने, कृष्णभीको, हरिभीसे, गङ्गाभीमें" आदिका मुखसे उच्चारण करते ही आबालवृद्ध सबको स्वीकार करना पड़ेगा कि, ये प्रयोग हिन्दीकी प्रकृतिसे सर्वथा विरुद्ध, दुष्ट और निस्सन्देह अशुद्ध हैं। यदि "ने, मे, को" आदि प्रत्यय स्वभावतः भिन्न होते तो अवश्य "भी" आदि उपसर्ग और अव्ययोंका "हीकी" भांति बीचमें आना किसके रोके रुक

सकता ? परन्तु जब रुकावट पूरी पूरी सामने आती है तो 'हीके' बीचमें आनेको निपातसे सिद्ध अथवा exception ही मानना पड़ता है। सिवा "हीके" दूसरा कोई उपसर्ग अव्यय वा अन्य शब्द "ने, के" आदि विभक्तिके चिन्होंके बीचमें इस रीतिसे आनेकी धृष्टता नहीं कर सकता है। अंग्रेजीमें (जिसकी कुशिक्षा और जिसकी लकीरपर फकीर हुए लोग "ने, के, में, से," आदिको "to, in, for" की भांति सर्वथा स्वतन्त्र समझ रहे हैं) क्रमशः कई एक शब्दोंके भी to आदिके बीचमें आ जानेसे भाषामें किसी प्रकारका दोष स्पर्श नहीं करने पाता। जैसे, It is to my utmost surprise आदि वाक्य इस रीतिसे ही सर्वत्र लिखे जाते हैं। यदि हिन्दीकी प्रकृति भी ठीक अंग्रेजीसी होती और इसके "नै में, को," आदि प्रत्यय स्वभावतः भिन्न होते तो निस्सन्देह उनके बीचमें भी दूसरे शब्दोंके आनेसे कभी किसी प्रकारकी हानिका होना सम्भव नहीं था।

सिवा इसके हिन्दीकी प्रकृतिके प्रवाहकी परीक्षा करनेपर यह भी स्पष्ट दिखता है कि "को, का, के" आदि विभक्तिप्रत्ययके चिन्होंके सम्बन्धसे मूल शब्दोंके रूपमें तो अन्तर पड़ता ही है, साथ ही एक यह बात और भी अनोखी देखनेमें आती है कि, विभक्तिप्रत्ययचिन्हयुक्त उस अभिन्न सिद्ध रूपके अन्तिम विभक्तिचिन्हमें भी अन्तर आ जाता है। हिन्दी भाषाकी प्रकृतिमें यह विशेषता विशेष ध्यान देने योग्य है। जैसे "उस गरीबका एकही टूटा फूटा झोंपड़ा है।" इस वाक्यमें झोंपड़ा एकवचन पुंलिङ्ग है, इस लिये सम्बन्धका "का" चिन्ह ही इसमें प्रयुक्त होगा, "के" अथवा "की" यहां सर्व्ववादिसम्मत अशुद्ध माना जायगा। परन्तु "उस गरीबके झोपड़ेके अन्दरसे उसका लड़का एक टोकरी निकाल लाया" इस वाक्यके प्रयोगमें उक्त "का" "के" क्यों हो गया ? अंग्रेजीकी भांति "का" षष्ठी विभक्तिका चिन्ह यदि अलग होता तो इसके रूप परिवर्त्तन की कभी कोई आवश्यकता ही नहीं थी; परन्तु प्रथम तो, जिससे

सम्बन्ध होता है उसके लिंगवचनानुसार इसका रूप परिवर्त्तन सर्व्व-वादी सम्मत है; दूसरे, उस मूल शब्दको परवर्त्तिनी विभक्तिके अनुरोधसे भी इसके स्वरूपमें अन्तरका होना सर्व्वमान्य माना जाता है। प्रिय व्यासजी आदि सुपण्डितोंके विचारसे जिस रूपपरिवर्त्तनके कारण ही सर्व्वनाम शब्दोंके साथ मिलाकर विभक्तिके चिन्ह लिखे जाते हैं, यदि उक्त रूपपरिवर्त्तन मात्रको ही अभिन्नताका कारण मानना पड़ेगा तो निस्सन्देह ऐसे प्रयोगमें "गरीबके झोपड़ेके अन्दरसे" इतने बड़े पूरे वाक्यको ही विभक्तियोंकी शक्तिसे जकड़बन्द और तज्जन्य ही रूपान्तरित हुआ भी अवश्य ही मानना पड़ेगा। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि, विभक्तिके चिन्ह मूल शब्दोंकी आकृतिमें तो अन्तर डालते ही हैं, सिवा इसके दूसरी विभक्तिके सम्बन्धसे विभक्तिके चिन्ह स्वयं भी उस नियमानुसारही रूपान्तरित होते हैं, विभक्तिके चिन्ह सहित शब्द का एक सिद्धरूप न माननेसे उन चिन्होंमें परिवर्त्तनकी कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ सकती है। यह परिवर्त्तन षष्ठी विभक्तिके चिन्हमें ही प्रायशः होता है। जिस शब्दसे सम्बन्ध है उसके लिङ्ग वचनके अनुसार ऊपर लिखे इस "का" रूपमें कदापि परिवर्त्तन होना न चाहिये। क्योंकि जिस झोपड़ेसे इस "काका" सम्बन्ध है, वह झोपड़ा बराबर पुंलिङ्ग और एक वचनान्त ही है। जब कि इस झोपड़ेके लिङ्ग वचनमें अन्तर नहीं आता तब केवल उससे सम्बन्ध रखनेवाले इस "काके" स्वरूपमें अन्तर हो जानेका कारण क्या है?

विभक्तिके चिन्होंको अलग माननेके पक्षमें यह युक्ति भी प्रबलताके साथ दिखायी गयी है कि भिन्न भिन्न शब्दोंसे टूट फूटकरही कालक्रमसे घिसते घिसाते छट छटा कर वर्त्तमान "ने, को, से, का, में" आदि सरल रूपोंमें परिणत हो गये हैं। इनके आदिरूप "लग्य" "कक्ष" "सम" अथवा बङ्गला "सने" वा "सङ्गे" "कृते" वा "कारित" और "मध्य" थे। अवश्य इन उक्ति-युक्तियोंका भी विशेष रूपसे विवेचन कर लेना इस

समय उचित दिखता है। इनमें दो शब्द केवल बङ्ग भाषासे हिन्दीकी विभक्तिमें आये हुए "भाषाप्रभाकरमें" दिखाये गये हैं तथा चण्डीदास और काशीदासकी पदावलीके अंशोंको उद्धृत कर इसके सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है कि "मिलिलो श्यामेर सने" और "कार सने युद्ध करे" आदि प्रयोगोंको देखकर इस बङ्गभाषाके "सने" पदसे ही हिन्दीमें विभक्तिका "से" यह रूप बना है! गङ्गाप्रसादजी अग्नि-होत्री आदि हिन्दीके अन्यान्य सुप्रसिद्ध विद्वान भी प्रकाश्यरूपसे समाचारपत्रोंमें अपने इस मतको प्रचारित करनेमें हिन्दीका गौरव समझते हैं कि "बङ्गभाषा और मराठी ये दोनों ही हिन्दीकी बड़ी बहनें हैं।" दुःखका विषय है कि, मैं इस मतका अनुमोदन करना तो दूर रहा, प्रत्युत प्रमाणसहित खण्डन कर इस बातको शीघ्र ही प्रतिपन्न करनेकी चेष्टा करूंगा कि, वर्त्तमान बङ्गला और मराठीका जिस समय जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय हिन्दीभाषाके अनेकों सुकवियोंकी लेखनी उत्तमोत्तम काव्य लिख रही थीं। बङ्गला तो इनमें सबसे छोटी कहाने योग्य है। मैथिल भाषासे बङ्गलाकी उत्पत्तिको हुए अभी विशेष समय नहीं बीतने पाया है। इस कारणसेही मैथिल कवियोंकी कविताको बङ्गाली अपनी भाषाकी आदिम कविताके रूपमें दिखानेको आज भी नोचाखसोटी करते दिख रहे हैं! इस विषयको अवकाशानुसार स्वतन्त्र लेखद्वारा दिखानेकी इच्छा है।

स्वर्गीय व्यासजीने हिन्दीभाषामें "ने" प्रयोगको विशेष आधुनिक माना है। प्रायशः सबके सब अंग्रेज भाषातत्त्वविद् ही इस मतके प्रव-र्त्तक दिखते हैं। परन्तु भली भाँति विचारकर देखनेसे इन विद्वानोंका उक्त मत असार और भ्रान्तिपूर्ण ही जंचता है। चन्द जैसे प्राचीन कवि-की कवितामें भी कर्मवाच्यके कर्त्तामें तृतीया विभक्तिके चिन्हमें "नैका" प्रयोग, और कर्मके लिङ्ग वचनानुसार क्रिया, अनेकों स्थानोंमें प्रयुक्त दिखती है। जैसे—

"भग्यो प्रभ्वती पल्ची भारखंडी,
जिन्नै भुज्ञ गोरी महल्लाज मंडी।
पक्षो थान याकुब संसार साखी।
जिन्ने दीन बन्देनकी लाज राखी।" चन्द।

"गुण गोविन्द गायो नहीं, जनम अकारथ कीन।
नानक भज रे हरि मना, जेहि विधि जलको मीन।"

बाबा नानक।

"कबिरा पीछे क्या रहा गहि पकरा जिन मूल।"
"फूले फूले चुन लिये काल हमारी बार।" कबीर।

"भवसागर जिन्ह कीन्ह यह।"
"अपने वश करि राखी रामू।"

गुसाईं तुलसीदास।

महाकवि चन्द, बाबा नानक, कबीरदास और गुसाईं तुलसीदास आदिके महाकाव्योंसे उद्धृत इन प्रयोगोंमें तृतीयाकी विभक्तिका चिन्ह "ने" कर्म्मवाच्यके प्रयोगमें सर्वत्र प्रकाश्य वा अप्रकाश्य रूपसे सस्पष्ट है। अतएव इस प्रयोगको अत्यन्त आधुनिक कैसे कह सकते हैं? दूसरी आपत्ति इस 'ने" सम्बन्धमें यह है कि "इन्" रूपसे इसकी उत्पत्ति मानने पर "न" के ऊपर 'एकार' कहाँसे आवेगा? इसके उत्तरमें इतना ही कहना यथेष्ट है कि,"तृतीयादीनां एत्वं एकत्वे स्त्रियां" "स्वरोन्योऽन्यस्य" 'यत्तस्कीनामिदेवदात्'आदि प्राकृतलक्षणके सूत्रोंको प्राकृत प्रकाश और देखने से ही इस "एकों" बुलाना भी न पड़ेगा बल्कि यह आपही कूद आवेगा। अन्यान्य विभक्तियोंके चिन्ह भी ऊपर लिखे शब्दोंसे टूट फूटकर नहीं बने दिखते, क्योंकि यदि ये कालक्रमसे छट छटाकर वर्त्तमान सूक्ष्म रूपमें परिणत हुए होते तो इनके परिवर्त्तनका क्रमभेद और समयभेद भी अवश्य ही दीखता। परन्तु एक भी ग्रन्थ या उदाहरण अबतक ऐसा देखनेमें नहीं आया कि जिसमें "कक्ष" "लग्ग" "सम"

और "मध्य" इनके भिन्न भिन्न प्रयोग प्रत्यक्ष होते और क्रमक्रमसे उनका अङ्ग भङ्ग समयान्तरमें होता दिखता। वरन इसके विपरीत, सब ग्रन्थोंमें ऐसे उदाहरण अनेकों मिलते हैं कि एक ही कविकी रची पुस्तकके एक ही पृष्ठमें इन मनगढ़े "कक्ष" "लक्ष्य" आदिको छोड़ प्रायः इन सब रूपों-के एक साथ ही दर्शन हो जाते हैं।

आजतक हिन्दी भाषाके प्राचीन काव्योंमें चन्दबरदायीके पृथ्वीराज रासोको ही सब लोग प्रामाणिक और प्राचीनतम मानते हैं। यद्यपि चन्दसे भी पुराने कवि हिन्दीके हो चुके हैं, परन्तु उनके दुष्प्राप्य ग्रन्थों-का विशेष रूपसे प्रचार भी अबतक नहीं होने पाया है, और सब लोग भलीभाँति उनसे परिचित भी नहीं हैं। इसलिये इस स्थानपर पहले चन्दकी कविताके ही कुछ अंश उदाहरणकी भाँति उद्धृत किये जाते हैं-

(१) "एकादस.से पंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपु जैपुर हरनको भये पृथिराज नरिंद॥

(२) को जानि मात बिंभनी पीर।
सौतिको साल साले सरीर॥

(३) सात कोसको दुर्ग है तापर जरत मसाल।
सो देखी मीराँ तहां तनमें उट्ठी झाल॥

(४) धकमार पञ्च मणको उठार
हजार तीर जिहिं भाथ मार॥

(५) प्रात समे बरदुजनक हुं बांहि अप्प कर दीन।

(६) करि दंडौत सबनकहं।

(७) केतीक दूर अजमेरहूंत।

(८) कहत सिद्ध किहि पुरहुंतो।

(९) किहि काज रिषि आयो घरहिं।

(१०) को किहि बंसिहं ऊपज्यो।

(११) राज मायें हेरा मधि।



(१२) डेरा माहिं पनगग

(१३) बालप्पन पृथिराजने
निसि सुपनन्तर चिन्ह ।

(१४) पृथिराज सुनि कुंवरने
आप बुलाये हित ।

(१५) तिन रक्षा कीनी सुदुज

(१६) ताके कुलते उप्पनो ।

(१७) कहे दूत पृथिराज सम ।

(१८) कहे कन्ति सम कन्त ।

(१९) मिडी दिष्टिसों दिष्टि चहुआ नकेरी

(२०) उपबाग मांझ चलि गये आप ।

(२१) को राजन कवन घर मज्झ ।

(२२) नर नारी लज्या गई ।
फागुन मास मंझार ।

(२३) देखत नृपति बलि नींदा माही ।

(२४) प्रिय रन माहैं मरे ।
नारी सती न होय ।

(२५) एक मासमें नगर बसायो ।"

मध्यके समयमें सूरदास और तुलसीदास हिन्दीके सर्वप्रधान माननीय कवि हुए। चन्दका और इन महा कवियोंका अन्तर भी कुछ थोड़ासा नहीं सैकड़ों वर्षोंका ही है। परन्तु तुलसीदासजीकी कवितामें भी "को, का, की, के, केर, केरा, करी कहँ, मधि, मध्य, माह, सम, सन, सों, से, में" आदि सब रूपोंके ही दर्शन होते हैं। थोड़ेसे उदाहरणकी भांति यहां दिखाने अनुचित न होंगे—

(१) बन्दौं राम नाम रघुबरको ।

(२) उघरहिं बिमल बिलोचन हीके

(३) पर हित हानि लाभ जिनकेरे ।

(४) तिनकहं मधुर कथा रघुवरकी ।

(५) मिटै न जीवनकेर कलेसा ।

(६) केहिके लोभ विडम्बना
कीन्ह न यह संसार ॥

(७) सुण नयननीके नैनसर
को अस लागु न आहि ।

(८) पितु आयसु सब धरमक टीका ।

(९) जिन्हको कीन्हेसि अमित बड़ाई ।

(१०) जारा नगर निमिष एक मांही ।
एक विभीषणको घर नाहीं ।

(११) कपिकर वचन सप्रेम सुनि ।

(१२) थोरे मंह जानिहहिं सयाने ।

(१३) तेहिते कुछ गुण दोष बखाने

(१४) बहुरि शक्रसम बिनवौं तेही

(१५) मोपर होहु कृपाल ।

(१६) गुरुसन किये दुराव !

(१७) चले सखा करसों कर जोरे ।

(१८) भवबन्धनसे छूटहीं
नर जपि जाकर नाम ।

(१९) पुन्य एक जगमें नहिं दूजा ।

(२०) सोइ करतूत विभीषणकेरी ।

कबीरदास, सूरदाससे और बाबा नानकसे भी पहले हो चुके हैं। उनकी कवितामें भी "को, का, को" आदि प्रयोग स्पष्ट बहुधा देखनेमें आते हैं। जैसे—

"मैं रोयो सब जगतको, मोकों रोवै न कोइ ।

मोको रोवै सो जना जो सब्दविवेकी होइ ॥ १ ॥

द्वार धनीके परि रहै धका धनीके खाय ।

साहबके दरबारमें कमो काहुकी नाहि ॥ २ ॥

बन्दा मौज न पावही चूक चाकरी माँहि ॥ ३ ॥

जिनको कछू न चाहिये, सो साहनपति साह ॥ ४ ॥

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय ।

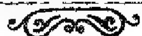
जो दिल खोजा आपना, तो मुझसे बुरा न कोय ॥५॥

पलमें परले होयगी बहुरि करेगो कब ॥६॥

पाव पलकी सुध नहीं, करे कालको साज ।

काल अचानक मारि है, ज्यों तीतरको बाज ॥ ७ ॥

अब सूक्ष्म रूपसे विचार कर निश्चय करना चाहिये कि, हिन्दी भाषामें "को" चिन्हका प्रयोग किस रीतिसे हुआ ? और स्वर्गीय व्यासजी अथवा बीम्स साहबके अनुमानानुसार संस्कृत "कक्ष" शब्दसे ही अपभ्रंश रूपमें बिगड़ता "काँख" और "कहँके" रूपमे परिणत हो अन्तको खासा सुन्दर "को" हो गया है,या नहीं ? तुष्यतुन्यायसे यदि कुछ कालके लिये मान भी लिया जाय कि "कक्षसे" ही टूटफूट बहुत दिनों बाद यह "को"प्रचलित हुआ है,तो सबसे भारी विपत्ति नेत्रोंके सामने यह आ खड़ी होती है कि,एक ही ग्रन्थकारके एक ही समयमें बनाये ग्रन्थमें इन सब रूपोंका ही सर्वत्र समावेश या तो दिखता है,या प्राचीनतर ग्रन्थोंमें शुद्ध "को" काही बहुल प्रचार देखनेमें आता है, पर काँह, कहुँ, कहँ" आदिका नहीं। यदि "कक्षका" रूपान्तर होकर कालक्रमसे "को" बना होता तो ऐसी दशा न दिखती ! साथ ही इसके, उस मूल शब्द "कक्षका" भी कहीं तो प्रयोग देखनेमें आता। परन्तु वैसा प्रयोग कहीं नहीं दिखता, और अपने ग्रन्थमें सबसे अधिक "कहँ' प्रयोग करनेवाले महात्मा तुलसीदासजी भी जब कि "को, का, की, के" आदि रूपोंका विशुद्ध प्रयोग करते हैं तब स्वर्गीय व्यासजी अथवा बीम्स साहब



बहादुरका अनुमान लाल बुझक्कड़सा ही अन्तःसारशून्य है इसमें सन्देह नहीं। ऊपरके उद्धृत काव्योंमे चन्द, कबीर और तुलसीदासने शुद्ध "को" चिन्हका प्रयोग किया है, उनके ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे ऐसे अनेकों प्रयोग देखनेमें आवेंगे।

"भाषा प्रभाकरमें" प्रिय व्यासजीने "को" विषयमें लिखा है कि,—"कदाचित् यह स्वार्थिक कसे निकला हो,पर सूक्ष्म सम्बन्ध इसका संस्कृत कक्षसे जान पड़ता है। जैसे "कक्षं-कक्खं-काखं-काहं-काहुं-कहुं-कहं-कों-कौं-को।" (१८८७ के छपे भाषा-प्रभाकरसे उद्धृत।)

"Now this (Bengali) word is from the Sanskrit कक्षे, locative of कक्ष, and means literally "in the armpit" or as we should say "at the side" कक्ष becomes in old Hindi काख, and the accusative कक्षं would become first कक्खं, then काखं As ख, like the rest of the aspirates, migrates into ह, a form काहं is legitimately presumable, whence by shortening the vowel, we get the already established form कहँ with its variant कहुँ, I confess this derivation approves itself to my mind in preference to any other. काख as a substantive, meaning "armpit" is in common daily use in the present day." (सन् १८७५ के छपे जान बीम्सके A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages Vol II. पृष्ठ २५७ से उद्धृत।)

यद्यपि बीम्स साहबने इस विषयमें बहुत कुछ विस्तारसे लिखा है, व्यासजीके लेखमें ऐसी प्रायः एक भी बात नहीं है कि जिसकी आलोचना बीम्स साहबने न की हो। विशेषतः "काछे" अथवा "सने" आदि बङ्गला शब्दोंसे हिन्दीमें "को, से" आदिके प्रचलित होनेके विषयमें हार्नेलि साहबकी उक्तिका तीव्र प्रतिवाद भी बीम्स साहबने इस भांति किया है

"Hoernle is, I think, wrong in saying that को is derived from Bengali काछे, as it is impossible to derive a twelth century Hindi word from a fifteenth century Bengali one, and Hindi is the parent. or at least the elder sister. not the daughter of Bengali."

अब विचारना उचित है कि, यथार्थमें विभक्तिका चिन्ह "को," "कक्षसे"बना हैं या नहीं? अपभ्रंशके नियमानुसार हिन्दीमें "कक्ष" शब्दका "कांख" हो जाता है। वर्त्तमान हिन्दीमें भी इसका वह रूप "काँख" ज्यों का त्यों ही वर्त्तमान दिखता है,और अर्थमें भी पूरी पूरी दमकता है। जब कि अपभ्रंशसे बिगड़कर "कक्षका" "काँख" बन गया है, तब उस "कक्षके" अपभ्रंशको "कहँ" वा "कहुँ" कैसे कह सकते हैं? दूसरे, बङ्गलामें भी जहाँ "काछेका" प्रयोग होता है वहाँ उससे सम्बन्ध दिखानेको षष्ठी विभक्तिका चिन्ह "र" बीचमें अवश्य आता है। जैसे "घरेर काछे" "आमार काछे" आदि। हिन्दीमें "काँखका" वा "मध्य" और "माँझका" प्रयोग षष्ठी विभक्तिके चिन्ह सहित ही प्रयुक्त होता है। प्रकाश्य रूपमें षष्ठीका चिन्ह जहाँ नहीं रहता, वहाँ भी षष्ठीका अध्याहार्य्य चिन्ह लुप्त रूपसे विद्यमान मानना ही पड़ता है। हिन्दीमें सम्बन्धकी विभक्तिका इस प्रकारका प्रयोग सर्व्वत्र देखनेमें आता है। द्वितीया विभक्तिके चिन्ह "कोसे" जिस अर्थका सम्बन्ध है, "कांखसे" उस अर्थका भान होना सर्वथा असम्भव है। "कक्ष" और "मध्य" आदि स्वतन्त्र शब्दोंसे यदि "को, में" आदि विभक्तिके चिन्ह बने होते तो गुसाईं तुलसीदास जैसे महाकवि "प्यारे सपने माँझमें मेरी तेरी बात" इस प्रयोगमें "माँझ" शब्दके साथ सप्तमी विभक्तिके इस "मेंको" कभी न मिलाते।"माँझका"प्रचलित अर्थ मध्य वा बीच समझकर ही "बीचमें" अर्थकी चरितार्थताको ही "माँझमें" यह प्रयोग गुसाईंजीने किया है।

"कहँ" शब्दका अर्थ भी "कक्ष" वा "कांखके" अर्थसे विभिन्न ही

है। "कहँका" प्रयोग हिन्दीमें "कहाँ" अर्थमें भी होता है, और "कहाँका" संक्षेप रूप ही वैसे प्रयोगमें उक्त "कहँ" माना भी जाता है। सिवा इसके "कर, केरी, केर, करा, कहँ, कों, कें, केराके" आदि प्रान्तीय ग्राम्य प्रयोग आज भी समभ्रावसे सर्वत्र अनेकों रूपसे दिहातोंमें बोले जाते हैं। ये कोई नवीन या अपरिचित प्रयोग नहीं हैं। भोजपुर और विहारके ग्रामोंमें "एकरा, ओकरा, तेकरा, जेकरा, हमनीके, सहुबन्नाकेर" आदि, और बनारस प्रयागादि प्रान्तोंमें "हमकहँ तुमकहँ, ओकर, रामभरोसकर" आदि प्रयोग अनेकों प्रकारके आज भी ज्योंके त्यों प्रचलित हैं। कवि इसलिये ही निरङ्कुश कहाते हैं, कि, उनकी लेखनी बिना रोकटोकके स्वच्छन्द सञ्चार करनेवाली होती है। इसलिये प्रायशः कवियोंके प्रयोगमें ऊपर लिखे प्रान्तीय गंवारू शब्द भी व्यवहृत होते हैं। परन्तु यह विषय कवियोंकी इच्छापर निर्भर करता है। सूरदास आदि बहुतेरे सुकवि इन निरे ग्राम्य प्रयोगोंको नहीं भी करते। उक्त बीम्स साहब बहादुरको भी इसलिये ही स्वीकार करना पड़ा है कि "Sur Das uses को, कौं, but not,as far as I know, कहँ or कहुं।" जब कि हिन्दी कवियोंमें "सूर्य" सूरदासके ग्रन्थोंमें "कहँ" और "कहुं" प्रयोग नहीं हैं, परन्तु "को, कौं, कों" प्रयोग सर्वत्र दिखते हैं, तब "कहंसे" ही "को" निकला यह कैसे सिद्ध हो सकता है? यह तो इसके लिखनेवाले ही भली भाँति विचार देखें।

यथार्थमें "कक्षसे" "को" नहीं बना है। "कक्षसे" अपभ्रंश होकर हिन्दीमें "काँख" शब्द ही बना है, और आजतक इस रूपसे ही बर्त्ता जाता है। जिन विद्वानोंने संस्कृत विभक्तिके चिन्ह 'अम्' 'शस्' आदिमें "को" चिन्हका कोई निदर्शन नहीं देखा, वे ही मनमानी अटकल-पच्चीकी नयी नयी कल्पना करनेपर उतारू हुए और एकसे एक बढ़-कर हेतुकी बातोंका आविष्कार और उद्भावन करने लगे!

देवभाषा संस्कृत जैसी विशेष प्राचीनतम और आदिमाषा है



तदनुरूप ही प्राकृतभाषा भी कुछ आजकी नहीं है। वैदिक संस्कृतमें भी 'गाथा रूपसे' प्राकृतके ही दर्शन होते हैं। सहस्रों वर्षोंसे भी अधिक काल बीत चुका है, और उस सुदीर्घ समयके फेरसे ही संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंने अपने अनेकों स्वरूप बदले हैं। वर्त्तमान समयमें संस्कृतभाषा किसी देशमें भी बोली नहीं जाती और उसकी सजीवता नष्ट हो गयी है इसलिये ही उसका परिवर्त्तनधर्म्म भी साथ ही नष्ट हो गया। आज वह dead language कहाती है, परन्तु प्राकृतभाषा आज भी भारतवर्ष भरमें बोली जाती है और परिवर्त्तनधर्म्मसे ही इसकी ऐसी वंशवृद्धि हुई है कि अनुमान तीन सहस्र वर्षोंमें एक ही प्राकृतके गर्भसे अनेकों प्राकृतोंने जन्म लिया है। हमारी हिन्दीका वर्त्तमानरूप भी उस मूल प्राकृतका एक परिवर्त्तित रूप ही है। हिन्दी नाम तो इसका बहुत ही आनुधिक है। गुसाईं तुलसीदासजीने भी अपनी रामायणमें "प्राकृत" और "भाषा" शब्दमात्रका ही प्रयोग किया है, हिन्दी वा हिन्दी भाषाका नहीं। मुसलमानोंके विशेष अधिकार बढ़नेपर ही हिन्द, हिन्दवी और हिन्दी शब्दोंका चलन इस देशमें क्रमशः हो गया है। तुलसीदासजीने अपनी रामायणमें "जे 'प्राकृत' कवि परम सयाने। 'भाषा जिन हरिचरित बखाने।" सुस्पष्ट लिखा है। इस लिये वर्त्तमान हिन्दी भाषाके सम्बन्धमें पुरानीसे पुरानी बातोंके खोज निकालनेका एक मात्र ठिकाना, प्राचीन प्राकृत भाषाके सिवा दूसरा नहीं है। जिन लोगोंने लल्लूलाल, राजा शिवप्रसाद वा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रको वर्त्तमान हिन्दीका जन्मदाता माना है अथवा जो लोग वर्त्तमान हिन्दीको केवल "हरिश्चन्द्री ढालमें ढली और उस सुन्दर श्यामलकी मधुर कोमल कान्त पदावली" ही माने बैठे हैं, निस्सन्देह वे भूलते हैं। लल्लूलाल अथवा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने किसी नवीन भाषाका आविष्कार कर इस देशमें प्रचार नहीं किया। वे अपनी मातृभाषाके भक्त और सेवक थे मुद्रायन्त्रके सहारे नगरोंमें प्रचलित

उस समयकी विशुद्ध हिन्दीका यथार्थ रूप मात्र उन्होंने अपनी अपनी लेखनीसे चित्रित कर साधारणके नेत्रों आगे ला धरा। अवश्य इस निमित्त वे धन्यवादके पात्र हैं और हिन्दीभाषाभाषी मात्र उनके चिरकृतज्ञ भी रहेंगे। परन्तु उनको वर्त्तमान हिन्दीको जन्मदाता कहना वा इसे उनकी "ढालमें ढली हुई" बताना उनके यथार्थ गुणोंका परिचय करानेके बदले बढ़ी हुई मात्राकी चाटुकारिताका ही परिचय देना है। यदि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजीकी जीवितावस्थाके पत्र व्यवहारोंमे उन प्राचीन पत्रोंका संग्रह कोई महाशय कर सकें, तो उन्हें साफ साफ यह बात दिखने लगेगी कि हरिश्चन्द्रजीके समसामयिक उनके अनेकों मित्रोंकी उस समयकी लिखी हुई भाषा भी बाबू हरिश्चन्द्रकी भाषासे भिन्न वा गुणोंमें सर्वथा हीन नहीं थी, प्रत्युत ऐसे भी पत्र बहुतसे दिखेंगे कि, जिनकी भाषा सर्व्वांशमें भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रकी भाषाकी समता दिखा सकती है। नगरनिवासी सुपण्डित उत्तम कुलोंके नित्य व्यवहारकी भाषाको ही चतुरतापूर्व्वक यथार्थ रूपमें भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने भी लिपिबद्ध किया था। जिस समय पुरानी "कविवचन-सुधा" प्रकाशित होती थी, उससे पहले और उस समय भी विशुद्ध हिन्दीके लिखनेवाले लोगोंका अस्तित्व वर्त्तमान था। केवल उर्दू फारसीके विशेष प्रचारके कारण हिन्दीका साधारणमें प्रचार रुका हुआ सा था। उस समय सामयिक पत्रों द्वारा आदर्श-रूपसे उक्त महात्माओंने उसका पुनः प्रचार किया था। अन्यथा मातृभाषाका जन्मदाता कहना तो प्रकारान्तरसे गाली देना ही है। हां, इसमें सन्देह नहीं कि, ऐसी भ्रान्तिका होना उन लोगोंको ही सम्भव है कि जिनकी मातृभाषा विशुद्ध हिन्दी नहीं थी और जिन्होंने ग्रामीण होनेके कारण इसके सुधरे हुए स्वरूपका सबसे पहले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके लेखोंमें ही दर्शन लाभ किया था।

अस्तु, मूल प्राचीन प्राकृतकी प्रकृतिका उत्तम रीतिसे विचार

करनेपर ही हिन्दीके अनेकों गुप्त और लुप्त अङ्गोंका आविष्कार होना सम्भव है। हिन्दीमें एक वचन और बहुवचनके सिवा द्विवचनका प्रयोग नहीं होता। प्राचीनतम "आर्ष प्राकृतमें" भी दो ही वचन हैं। लिङ्गोंकी अस्थिरता भी उस आर्ष प्राकृतके समयसे ही चली आ रही है। "लिङ्गं व्यभिचारि" "आर्षं प्राकृतं बहुलं भवति" "आर्षेहि-सर्व्वे विधयो विकल्प्यन्ते" आदि लिखकर हेमचन्द्रादि प्राकृतके प्राचीन पण्डितोंने इसकी प्राचीन प्रकृतिका ही परिचय कराया है।

किस रीतिसे प्राकृतसे संस्कृत शब्दोंका रूप-परिवर्त्तन होता है, इसका भी पाठकोंको यहां परिचय कराना परम आवश्यकीय है। क्योंकि बिना इसके दिखाये और समझाये सरलतासे इस विषयका समझ लेना कठिन है। "अनाड़ी" शब्द हिन्दीमें आज सर्वत्र प्रचलित है, परन्तु यह शब्द आधुनिक नहीं, विशेष पुराना है। आजसे तीन हजार वर्ष पहलेकी प्रचलित उस आर्ष प्राकृतमें भी इस शब्दका इस रूपसे ही चलन था। चण्डकृत "प्राकृत-लक्षणमें" सुन्दर रीतिसे इस शब्दके रूप-परिवर्त्तनका क्रम इस भांति दिखाया है—

'अज्ञानी' वर्णविश्लेषे कृते अ + ज + आ + नी। वर्ण विश्लेष करने पर उस अज्ञानीका ऐसा रूप होता है। अनन्तर "शाच्च० ३। ६ सूत्रसे ज का लोप होकर अ + ञा + नी हुआ। "ञजथानां" ३। १६ सूत्रसे 'ञ' का 'न' हो गया तो अ + ना + नी बना। अनन्तर "तवर्गस्य०" ३। १६ सूत्रसे अन्त्य न ण होकर अ + ना + णी बना। हिन्दीमें अब उस अन्तिम णी के बदले "ड़ी" लिखते हैं इस लिये वर्त्तमान समयमें वह शब्द अ + ना + ड़ी = 'अनाड़ी' लिखा जाता है। आदिमूल इस 'अनाड़ी' शब्दका संस्कृत "अज्ञानी" शब्द ही है। जिस प्रकारसे संस्कृत मूलशब्दोंकी विकृति और परिवर्त्तनसे प्राकृत शब्दोंने नया जन्म धारण किया है वैसे ही विभक्ति प्रत्ययोंका भी संस्कृतसे प्राकृतमें परिवर्त्तन होता हुआ हिन्दी-का प्रचलित वर्त्तमान रूप बन गया है। प्राकृतके व्याकरणोंमें पण्डितवर

चण्ड, वररुचि, हेमचन्द्र, कात्यायन आदि भाषातत्त्ववित् महोदयोंने परिवर्त्तनके नियमोंको सूत्र रूपसे दरसाया है। बिना उन सूत्रोंपर पूरा पूरा ध्यान रखे हिन्दीकी विभक्तिके परिवर्त्तित रूपोंका ठीक ठीक पता लगाना कठिन है।

द्वितीया विभक्तिके मूल चिन्ह संस्कृतमे "अम, औ, शस्" माने गये हैं। हिन्दीमें द्विवचनका अभाव होनेसे केवल "अम्" और "शस्" रह गये। प्राकृतमें द्वितीया विभक्तिके "अम्" और "शस्को" "अम्. आनं, एनं, ए, णो, ऊ, ओ, आक, इ आदि रूप विविध प्रक्रियाओंसे प्राप्त होते हैं। कात्यायनने अपने व्याकरणमें "अम्हाकं पस्ससि" "सब्बको" "यको सको, अमुको" आदि उदाहरण दिये हैं। और "तुम्हाम्हे हि नं आकं" "सब्बतो को" आदि सूत्रोंसे "तुम्हाकं, अम्हाकं, अम्हे" आदि अनेकों रूपोंको सिद्ध किया है। प्राकृतके इन रूपोंसे ही हिन्दीमें "हमको, हमें, तुमको तुमे आदि रूप बने हैं, और इनके आदर्श पर ही द्वितीया विभक्तिका चिह्न "को" सब शब्दोंके संग प्रचलित हो गया है। पुराने कवियोंकी कवितामें हिं, इ, या ए" आदि द्वितीया विभक्तिके चिन्ह भी ऊपरके लिखे मूल प्राकृतके चिन्होंसे ही आये हैं और प्राकृतका रूप परिवर्त्तन ही हिन्दीके वर्त्तमान रूपका प्रधान प्रवर्त्तक और कारण है। आजसे तीन चार हजार वर्ष पहले अर्य्यावर्त्तके निवासी मनुष्यमात्र जिस प्राकृतमें बोलचाल लिखना पढ़ना आदि नित्यकर्म्म सुसम्पन्न किया करते थे आज इतने बड़े देशकीव्यापक वह प्राचीन प्राकृत कहाँ उड़ गयी? क्या आर्य्यावर्त्तकी वर्त्तमान विशुद्ध हिन्दी और अनेकों ग्राम्य भाषाएं उस मूल प्राकृतके ही परिवर्त्तित रूपमें इस समय वर्त्तमान नहीं दिख रही हैं? लल्लूलाल अथवा भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीने न तो किसी नवीन भाषाका ही आविष्कार किया और न किसी दूसरी भाषाने विलायतसे आकर ही हिन्दीके रूपमें यहां अपना डेरा डाला है।

हिन्दीमें तृतीया विभक्तिका चिन्ह "ने" है। बीम्स साहब बहुत

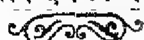
दुरने अपने उक्त व्याकरणमें इस "ने" प्रयोगका बिहारीकी सतसईके समयतक अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। इस लिये प्रिय व्यासजी-ने बीम्स साहबके भ्रान्त मतानुसार इस विषयमें भी बड़ा भारी धोखा खाया और बिहारीकी सतसईके समयतक भाषामें इसके प्रचलनको असिद्ध ही दिखाया! केवल काव्यरसिक होनेके कारण विनयपत्रिकामें "ने" प्रयोग माना है। आश्चर्य्यका विषय है कि, बीम्स साहब विनयपत्रिकामें "ने" प्रयोग स्वीकार करते हुए भी सतसईके समयतक इस प्रयोगके प्रचलनका न जाने क्यों अस्तित्व स्वीकार नहीं करते! पाठकों-को स्मरण होगा कि चन्दके प्राचीनतम काव्यसे इस प्रयोगका प्रमाण दिखाया जा चुका है। प्रायः पौने आठ सौ वर्ष, महाकवि चन्दके समयसे अबतक बीत चुके हैं। चन्दके सौ वर्ष बाद ही अलाउद्दीन खिलजीके राज्यमें दिल्लीमें फारसी भाषाका सुप्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो हुआ। अमीर खुसरोकी मृत्यु सन् १३२५ ईस्वीमें हुई थी। मुसलमान कवियोंमें उक्त अमीर खुसरो ही हिन्दी काव्यरचनाके विषयमें सर्व प्रथम और प्रधान माना जाता है। खुसरोकी बनायी गजल और पहेलियाँ इस समयतक ज्योंकी त्यों अविकृत प्रचलित देखनेमें आती हैं। एक पहेली उसकी यहां उद्धृत की जाती है रूपमें

"तरवरसे एक तिरिया उतरी, उसने खूब रिझाया।
बापका उसके नाम जो पूछा, आधा नाम बताया॥
आधा नाम पितापर वाका, बूझ पहेली मोरी।
अमीर खुसरो यों कहैं, अपने नाम निबोरी॥"

इस पहेलीके पहले ही चरणमें "उसने खूब रिझाया" यह प्रयोग ध्यान देने योग्य है। कर्मवाच्यमें "नेका" सुस्पष्ट प्रयोग अमीर खुसरोने किया है। दूसरे चरणमें "आधा नाम बताया" यह भी कर्मवाच्यका ही प्रयोग है, और इस "बताया" क्रियाका कर्त्ता भी "उसने" है। ऐसे अनेकों उदाहरण प्रत्यक्ष देखकर भी बीम्सकी भ्रान्त शैलीका अनुसरण

पूर्व्वक उसकी ही प्रतिध्वनिके साथ अपना स्वर व्यासजी जैसे सुयोग्य अभिज्ञ पुरुषने क्यों मिलाया ? अवश्य यह बड़े ही अचरमेकी बात देखनेमें आती है ! अकेले व्यासजी ही नहीं, समयके प्रवाहसे हिन्दीके नामी लेखक और कृतविद्यमात्र इस अन्धपरम्पराका ही अनुसरण करने वाले विशेष हैं। अंग्रेजोंके भ्रान्त और बेसिरपैरके सिद्धान्तोंको वेद-वाक्योंसे भी अधिक मान्य मान लेना तो मानों कुछ दिनोंसे इनमें एक चाल ही चल पड़ी है। जबतक इस छुतहे संक्रामक रोगकी उपयुक्त चिकित्सा न होगी, तबतक हिन्दीकी यथार्थ उन्नति अथवा इसके प्राचीन इतिहासकी विशुद्ध गवेषणाका अदर्शन ही रहेगा।

विचारनेसे ऊपरकी लिखी हुई "ने" प्रयोगसम्बन्धकी इस भ्रान्तिके विशेष फैलनेका एक यह भी कारण दिखता है कि, प्राचीन प्राकृत भाषा-में "ए, इन, हिं, हि" आदि तृतीया विभक्तिके कई एक चिन्ह प्रचलित थे। इस लिये "मए, मई; तए तइ" आदिका प्रयोग बेरोकटोकके किया जाता था। उक्त "मइ," और "मएसे" ही हिन्दीका "मैं" कुछ दिनों बाद बन गया। हिन्दीके प्राचीन सुकवि तो "मैं का" प्रयोग कर्म्मवाच्य और भाववाच्यमें ही करते थे, परन्तु आधुनिक परिपाटी उससे सर्वथा भिन्न हो गयी है; और वर्त्तमान समयमें उक्त "मैं को" प्रथमा विभक्तिके एक वचनका रूप ही सब मानते हैं। कालक्रमसे हिन्दी भाषाके इस परिवर्त्तनके कारण ही बहुतसे लोगोंको भ्रमजालमें फंसना पड़ा है। एक ही विभक्तिके अनेकों रूपोंका चलन भी उक्त भ्रमका अन्यतम प्रधान कारण हुआ। प्राकृतके चण्डकृत "प्राकृत-लक्षण" नामके विशेष पुराने व्याकरणके "विभक्ति विधान" नामक प्रथम अध्यायका २३ वां सूत्र तृतीयाके एक वचनमें अकेले "युष्मद्" शब्दके चार रूप सिद्ध करता है "ते तुमे तइ तये टायां" इस सूत्रके उदाहरणमें "किंते कतं" अर्थात् "किं त्वया कृतं" "तुमें दिट्ठो" "त्वया दृष्टः" "तइ मज्झं कतं" "त्वया मह्यं कृतं" आदि और "मे मए टायां" २७ वां सूत्र, 'मे कतं' मए दिट्ठ



रूपोंको सिद्ध करता है। सुतरां आजसे अन्यून अढ़ाई हजार वर्ष पहले "मए मइ, तए, तइ, "आदि रूप तृतीया विभक्तिमें प्रचलित थे। क्रमशः 'मइ, मइं, तइ, तइँ" शब्दोंका रूपपरिवर्त्तन होकर ही "मैं" और "तै" पदोंके व्यवहारका समय भी तदनन्तर उपस्थित हो गया था। बीम्स साहब भी अपने व्याकरणमें इसकी इस भांति आलोचना करते हैं--

Modern Hindi and Panjabi मैं, which is now the only form in use for "I" is strictly speaking like Marathi मीं,the instrumental in Sanskrit मया,in Apabhransa मइं, and apparently also मइ, though Lasen is doubtful on this point. I fail to see why Trumpp calls this an accusative. The transition of the instrumental into a nominative is rendered natural by the use of the prayoga, in which the subject takes an instrumental form and accordingly Chand uses मैं only before the preterite of transitive verbs, i, e, in the place where the subject is required to be in the instrumental;in all other places he uses हौ Thus—

"मैं सुन्यौ साहि विनअंषि कीन—where in modern Hindi we should have मैंने सुना। The modern fashion of saying मैंने is founded upon ignorance of the true nature of the word and contains the instrumental twice over.

तृतीया विभक्तिमें "मैं सुन्यौ" यह प्रयोग महाकवि चन्दने किया है। चन्दके परवर्त्ती प्रायः सब कवियोंने ही अपने काव्योंमे "मैंका" व्यवहार तृतीया विभक्तिमें किया है। इसका पता उनके ग्रन्थोंके अवलोकनसे लग जायगा। महाकवि चन्दसे भी सैकड़ों वर्ष पहलेके अज्ञात नामा किसी कविका एक दोहा चण्डकृत "प्राकृत लक्षणमें" उदाहरण

की भाँति वर्त्तमान दिखना है। इस दोहेकी भाषा चन्दसे भी सैकड़ो ही वर्ष पहलेकी है। हार्नेली साहब समयका सङ्कोच करनेवाले अंग्रेज पुरातत्ववेत्ताओंमें ही एक हैं। उनको भी उक्त चण्डका समय ईस्वी-सन्‌की आदिमें ही मानना पड़ा है। वररुचिका समय आजसे प्रायः दो सहस्र वर्ष पहलेका ही माना जाता है। वररुचिसे चण्ड विशेष प्राचीन थे, इसमें तिलमात्र भी सन्देह नहीं है। सुतरां, उनके ग्रन्थमें अति प्राचीन हिन्दीके जिस दोहेका उदाहरण दृष्टिगोचर होता है उसका समय भी अन्यून १८०० वर्षसे किसी भाँति कम न होना ही सम्भव है। यद्यपि ठीक ठीक समय निर्णय करनेका कोई उपाय नहीं दिखता, तथापि उक्त दोहेकी भाषामात्रका विचार ही उसके समयको चन्द कविके समयसे अत्यन्त प्राचीन कालका सुसिद्ध करनेमें समर्थ है-

दोहा

"ढोला मइ तुहुँ वारिआ मा कुरु दीहा माणु।
णिइए गमिहा रत्तडी दड़वड़ होइ विहाणु॥

इसकी व्याख्या चण्डकृत "प्राकृतलक्षणमें" इस भांति की गयी है कि—

"मानं प्राप्तं नायकं प्रति काचिन्नायिका प्राह "ढोला" हे नायक, मया त्वं वारितः "दीहा" दीर्घं "मानं" दर्पं मा कुरु निद्रया रात्रिर्गमिष्यति "दड़वड़" शीघ्रं "विभात" प्रभातं "होइ" भवति। पुरानीसे पुरानी प्राकृतमें, क्रियाके रूपोंका विशेष परिवर्त्तन नहीं दिखता। प्राचीनतम प्राकृत भाषाके प्रयोगोंमें क्रिया संस्कृत सी ही प्रयुक्त देखनेमें आती है। इस कारणसे ही चण्डकृत "प्राकृत-लक्षणमें" क्रियाके विषयमें कुछ भी लिखनेकी आवश्यकता नहीं हुई थी। यद्यपि चण्डके परवर्त्ती वररुचि और हेमचन्द्रादिकोंको स्वरचित प्राकृत व्याकरणोंमें क्रियाका प्रकरण लिखनेकी समयानुसार आवश्यकता हुई, परन्तु प्राचीनतम वैयाकरण चण्डके समय उसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं समझी गयी थी। इस

उद्धृत दोहेकी यह "मा कुरु" क्रिया ही इस बातको निस्सन्दिग्ध रूपसे सुसिद्ध करती है कि, जिस प्राचीनतम समयमें यह दोहा रचा गया था, उस समय तक संस्कृतकी "मा कुरु" क्रियाका अविकृत रूपसे हिन्दीमें प्रचलन था। केवल इस बातको भली भांति विचारनेसे ही इस दोहेकी अति प्राचीनता सर्ववादि सम्मत सिद्ध होती है।

जैसे संस्कृतकी "मा कुरु" क्रियाका अविकृत रूपसे प्रयुक्त होना इस दोहेकी भाषाकी विशेष प्राचीनता सिद्ध करनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है, वैसे ही इसमें प्रयुक्त अन्यान्य शब्द भी विशेष ध्यान देने योग्य हैं, "ढोला मइं तुहुं वारिआ" वाक्यमें संस्कृतकी वारितः क्रियाका रूपही "वारिआ" है, जिसमें केवल तकार और विसर्गयुक्त अकारान्तका आकारान्तमात्र परिवर्त्तित रूप दिखता है। "प्राकृत-लक्षणमें" जो नियम है, उनसे ही "वारितः" "वारिआ" सुसिद्ध हो जाता है। आगे चलकर "दीर्घका" प्राकृत रूप "दीहा" प्रयुक्त है। इधर सैकड़ों वर्षों से हिन्दीमें दीर्घका दीर्घ ही प्रयुक्त देखनेमें आता है। दीहा अवश्य दीर्घसेही बना है और हिन्दीके 'डीह' आदि शब्द इससे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि प्रायशः अजन्त शब्दोंको उकारान्त लिखना गुसाईं तुलसीदास-जीके समयतक प्रचलित मानना पड़ता है, तथापि णका न और शका स हो जाना सैकड़ों वर्षोंसे ही प्रचलित है। परन्तु इस दोहेमें 'मान' शब्दको "माणु" लिखना भी इसकी अत्यन्त प्राचीनताका अन्यतम निदर्शन है। वैसे ही निद्रा शब्दसे नींद शब्दका उद्भव इस समय सब लोग मानते हैं, परन्तु जिस समय यह दोहा रचा गया था उस समय "निद्र्याका" रूप "निद्दए" ही प्रचलित था। गमिष्यति क्रियाका 'गमिहि' और रात्रिका रत्तड़ी रूप भी अत्यन्त प्राचीनताका ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। पंजाबीसे हिन्दीका विशेष घनिष्ट सम्बन्ध है, इससे हिन्दीकी प्रकृतिका मेल और सादृश्य आज भी जैसा कुछ पंजाबी भाषासे है, वैसा भारतकी प्रचलित भाषाओंमें दूसरीसे नहीं है। पंजाबीमें रात्रि

शब्दका रत्तड़ी रूप इस समय भी वर्त्तमान दिखता है। यद्यपि "रात्ति" और "नींदर" रूप भी पंजाबमें रात्रि और निद्राके ही पर्य्यायरूपसे इस समय चलित हैं, तथापि "रत्तड़ी" और "निंद्ड़ीका आज भी सर्व्वथा अभाव नहीं होने पाया है। हिन्दीमें इस समय शीघ्रताके अर्थमें "हड़बड़" "चटपट", "तड़फड़" आदि शब्दोंका व्यवहार तो चलित है; परन्तु इस "दड़बड़का" चलन अत्यन्त प्राचीनताके कारण ही बहुत दिनोंसे दृष्टिगोचर नहीं होता है। अन्तको "विहाणु" शब्द भी विशेष ध्यान देने योग्य है। प्रातःकालको विहान बोलनेवाले, हिन्दी भाषाभाषियोंमें सब ही प्रान्तोंमें वर्त्तमान हैं, परन्तु "ण" और उकारान्त प्रयोग महाकवि चन्दके समयसे भी विशेष प्राचीनतम है। संस्कृत "विभात" शब्दसे ही प्राकृतमें विहाणु बना है, परन्तु बीम्स साहब सरीखे सुपंडित, भारतीय कृतविद्योंको बहकाकर स्वस्वरूप भुलानेवाले विलायती विद्यादिग्गज, इस विषयमें भी एक विशेष हास्यजनक विचित्र आविष्कार ही कर दिखाते हैं। बीम्स साहब "बिहानकी" उत्पत्तिके विषयमें अपने, व्याकरणके दूसरे खंडके १६ वें पृष्ठमें लिखते हैं—

Skr. विश्न "Shining light," H. विहान ("dawn") बिहान, भिनसार, M. भिंबिरटें S भिंभास, भिंभिर्को (The M. and S, are compounds for which the first part represents विश्न) इस शब्दव्युत्पत्तिकी सारवत्ता विज्ञ पाठक आप ही विचार देखें। "भिंभास" और "भिंभिर्को" शब्दोंको साहब बहादुर compound word समाससिद्ध मान कर भी अन्ततः पहले अर्द्ध भागकोही "विश्न का" अपभ्रंश सिद्ध करनेको व्यग्र दिखते हैं। ऐसी बातोंको देखकर भी यहांवाले न जाने क्यों बहक जाते हैं? उस ही पुस्तकके ६६ वें पृष्ठमें "घबराहट" शब्दके वजनसे वजन मिलाते हुए साहब बहादुर 'इकाहठ, वाहट, त्रेहट, चौहट" इन पंजाबी शब्दोंके अर्थको भूल कर "इकहत्तर बहत्तर, तिहत्तर, चौहत्तर" लिखते हैं। वैसेही ३६ वें पृष्ठमें "खिल्लू"

शब्द "खेलना" धातुसे सिद्धकर, खिलाड़ी अर्थात् player बतानेका दुस्साहस भी आपने दिखाया है। यथार्थमें खिलू का अर्थ player वा खिलाड़ी नहीं हो सकता और न इसकी उत्पत्ति ही "खेलना" धातुसे है। यह "खिलना" धातुसे बना है और हँसनेवाला और हँसोड़ अर्थमें ही इसका प्रयोग होता है। इस दशामें साहब बहादुरकी लकीरपर फकीर होनेवालोंकी दुर्दशा कैसे न हो? अस्तु, ऊपर लिखे दोहेकी भाषामात्रका विचार निरपेक्ष भावसे विद्वज्जन करेंगे तो आप इसकी प्राचीनताकी थाह भी लगा लेंगे। प्रथम तो चंडकृत "प्राकृत-लक्षणके" उदाहरणोंमें इसका सन्निवेशित रहना ही अत्यन्त प्राचीनताका पुष्ट प्रमाण है। अंग्रेजोंकी काट छांट और संदिग्ध शैली अनुसार ही इसका समय अनुमित किया गया है, अन्यथा इसे चण्डसे भी प्राचीन, अथवा चंडका समकालीन ही मानना सर्व्वथा उचित है। क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिखता है कि, जिससे चण्डकृत व्याकरणके उदाहरणोंका लेखक कोई दूसरा प्रतिपन्न हो सके।

प्रसंगवश कुछ अप्रासंगिक आलोचना भी इस स्थलपर करनी पड़ी, इसलिये विज्ञ पाठकोंसे क्षमाप्रार्थनापूर्वक पुनः प्रकृत विषयके विचारमें प्रवृत्त होना ही उचित है। मई वा मैं हिन्दीमें आदि अवस्थाके तृतीयाके एक वचनके ही रूप हैं, सन्देह नहीं। इस कारणसे प्राचीनतम प्रयोगोंमें इनके साथ "ने" जोड़ना अशुद्ध ही माना जाता था। ए, हि, वा, हिं आदि तृतीयाके दूसरे चिन्होंसे भी वैसाही काम निकल आता था। विशेषकर "ए वा इ" चिन्होंका रूपान्तर होकर कालक्रमसे "हि" प्रयोग तो हिन्दी काव्योंमें सर्व्वव्यापक हो गया था। द्वितीयासे प्रारम्भ कर सप्तमी विभक्तितक, तुलसीदासजीके समयके बाद भी, इसका सर्व्वत्र प्रचलन वर्त्तमान दिखता है। "सबहि सुलभ सब दिन सब देसा" इसमें "सबको" पदकी जगह "सबहिं" प्रयुक्त है। "वन्दनीय जेहि जग जस पावा" वाक्यमें "जिसने पदके परिवर्त्त में, और "इनकी कथा

संछेपहिं कही" इसमें "से के" परिवर्त्तनमें "हि" चिन्हका प्रयोग है। षष्ठी और सप्तमीके उदाहरणोंमें भी "भूरि-भाग्य को तुमहिं समाना" और "बीचहिं" सुनि आयसु प्रभु केरा" वर्त्तमान हैं। इन कारणोंसे ही प्रत्यक्ष "ने" न देखकर कुछ लोगोंको भ्रम हुआकि "ने" प्रयोग तृतीया विभक्तिमें अत्यन्त आधुनिक है। यदि मुसलमानोंके राज्यके अन्तिम समयमें विविध उपद्रवोंके कारण विद्याचर्चाका अभाव न होता तो ऐसी दुर्दशा मातृभाषाकी भी न होने पाती।

हिन्दीकी पंचमी विभक्तिमें "से" प्रयोग इस समय सर्व्वमान्य है, परन्तु पहले "तैं, तें. सूं सों, सें" आदि भी चलित थे। प्राकृतमें पंचमी विभक्तिके चिन्हमें "सुंतो, हिंतो, ए, तू, तो ऊ, इत्तो, इंतो, आ, दो, और दू" आदि प्रयोग विविध प्रक्रियाओंसे सिद्ध होते हैं। इनमें अन्तिम कालके सर्व्वप्रधान "सुंतो" रूपसे ही सूं सों सें, तें. ते, आदि हिन्दीमें बन गये अनुमित होते हैं। क्योंकि देहली प्रान्तमें आज भी 'सेती' रूप जो "सुंतोका" ही रूपान्तर है, हमसेती, इससेती" आदि प्रयोगोंमें सर्वत्र प्रचलित है। "सनसे "से" चिन्हकी उत्पत्ति कपोलकल्पनामात्र है; क्योंकि जिस शब्दके साथ "सनका" प्रयोग होता है, उसके मध्यमें सम्बन्ध विभक्तिका चिन्ह प्रकाश्य वा अप्रकाश्यरूपसे अवश्य ही वर्त्त-मान रहता है। सिवा इसके एक ही ग्रन्थकारके एक ही समयके लेख-में सन, सम, सों, आदिका वर्त्तमान दिखना भी इस बातकी ही दृढ़ता प्रतिपन्न करता है कि, ये प्रयोग स्वतंत्र हैं, और सनसे "सों" नहीं उत्पन्न हुआ है। विशेष कर महाकवि चन्दके महाकाव्यमें "हुंतों, हूंत" आदि प्राचीन प्रयोग दृढ़ताके साथ सिद्ध करते हैं कि, प्राकृतकी पंचमी विभ-क्तिके हिन्तो और सुंन्तो रूप ही कालक्रमसे परिवर्त्तित होते होते वर्त्त-मान 'से' रूपमें परिणत हो गये हैं। "सनसे" "से" उत्पन्न हुआ होता तो चन्दके प्राचीन काव्यमें "हुंतो" और "हूंत" आदि प्रयोग ही न दिखते। तुलसीदासजीकी रामायणमें भी "जननी तू जननी भई विधि-

से कहा बसाय" और "भवबन्धनसे छूटहीं नर जपि जाकर नाम" तथा "मैं पुनि निज गुरु सन सुनी" आदि विविध प्रयोग हमारे इस अनुमान-की ही सत्यता सिद्ध कर रहे है।

हिन्दीमे षष्ठी विभक्तिका वैलक्षण्य विशेष विचित्र है। संस्कृतकी षष्ठी विभक्तिसे इसके स्वभावका मेल बहुत ही कमती देखनेमे आता है। को, का, के, कै, की, रो, रा, रे, री, ए, नं, ह, स और सु चिन्ह षष्ठीमे प्रयुक्त दिखते हैं। ए, नं, ह, स, केवल पुरानी कवितामे तथा 'सु' प्रयोग भी केवल कवितामें ही यत् और तत् शब्दके सम्बन्धमें आता है। वैसे ही "को, केरा, केरी, कर, केरे, केर, कै" आदि भी केवल कवितामे ही प्रयुक्त देखनेमें आते हैं। अवश्य, प्रान्तीय ग्राम्यभाषाओंमें "केरा, केरी, कर" आदिके प्रयोग इस समयतक वर्त्तमान दिखते है, परन्तु विशुद्ध हिन्दी लिखनेवाले तो कभी भूलकर भी इन प्रयोगोंको अपने लेख-मे नहीं आने देते। केवल "का, के, की, रा, रे, री" इस समय विशुद्ध हिन्दीमें प्रयुक्त होते हैं। ये जिन शब्दोंसे सम्बन्ध रखते हैं, उनके लिङ्ग वचनानुसार इनके रूप बदलते रहते हैं। परन्तु संस्कृतमें ऐसा नियम नहीं हैं। यह विचित्रता हिन्दी आदि प्राकृत भाषाओंकी ही है। संस्कृत-में "मदीय" और "त्वदीय" शब्दका प्रयोग जिस रीतिसे होता है, हिन्दी-में षष्ठी विभक्तिके प्रयोगमे वह धर्महो सर्व्वत्र वर्त्तमान रहता है। संस्कृतका "मदीय" शब्द विशेषणरूपसे प्रयुक्त होता है, परन्तु हिन्दी-की यह विशेषता है कि, षष्ठीका प्रयोग सर्वथा विशेषणरूपसे वर्त्ता हुआ नहीं माना जाता। संस्कृतमें "मम गृहम्" और "मदीयम् गृहम्" इन दोनों प्रयोगोंसे जो अर्थ सूचित होता है, हिन्दीमें केवल मात्र "मेरा घर" इतना लिखनेसे ही संस्कृतके उक्त दोनों प्रयोगोंकी चरितार्थता हो जाती है। सिवा इनके प्रायशः कवितामे एक स्वतंत्र रूप भी हिन्दीकी षष्ठी विभक्तिका वर्त्तमान दिखता है। जैसे "मोपर" "उसपर" माहिय-की" "तामुखकी उपमा" आदि। "मम, तव, तुव" आदिका भी षष्ठी

विभक्तिमें हिन्दीके कवि बहुत दिनोंसे ही प्रयोग करते आते हैं। चन्दसे प्रारम्भकर वर्त्तमान समयके कवियोंतक प्रायः एक भी ऐसे प्रयोग करनेसे छूटने नहीं पाया है। चन्दकी कवितामें "प्रथम मम आदिदेव" और तुलसीदासजी की कवितामें "तव सुत कीन्हे पाप बहु।" करहु सो मम उर धाम" आदि प्रयोग बहुधा वर्त्तमान हैं। इससे यह निश्चय होता है कि, संस्कृतका अनुरूप षष्ठी विभक्तिका प्रयोग इस समय हिन्दीमें प्रचलित नही है।

चण्डके "प्राकृत लक्षणसे" विदित होता है कि, प्राचीन समयमें पुलिंग अजन्त शब्दोंका रूप एकवचनमें प्रायशः प्रथमा विभक्तिमें ओकारान्त लिखनेका ही चलन था, इसलेही "पृथीराज चौहान रासा" न लिखकर "रासौ" लिखनेकी ही परिपाटी थी। इस कारणसेही षष्ठी विभक्तिका वर्त्तमान "का" चिन्ह भी प्राचीन ग्रन्थोंमें "को" वा "कौ" रूपमें लिखा हुआ ही दृष्टिगोचर होता है। जबसे अकारान्त शब्दोंका उकारान्त लिखना रहित हुआ और आकारान्त पुलिंग शब्द भी ओकारान्त वा औकारान्त न लिखे जाकर आकारान्त लिखे जाने लगे तबसे ही षष्ठी विभक्तिमें "को" और "कौ" इन दोनोंके बदले "का" चिन्हका चलन चला। पंजाबी भाषामें षष्ठीका चिन्ह "दा, दे, दी दियां वर्त्तमान है। गुजरातीमें प्राचीन रूप तणा, तणी, तणू था; और पुराने कवि "ध्यान धरि हरितणू" सरस गुण हरितणा जे जना अनुसर्या" आदि प्रयोग करते थे, परन्तु गुजरातीमें षष्ठीका वर्त्तमान रूप "नो, नी, नू" ही विशेष चलित है। भोजपुरी भाषामें करा, करे, करी आदि, मारवाड़ीमें रो, रे, री, सिन्धीमें जो, जे, जी और मराठीमें चा, चे, ची, षष्ठीके चिन्ह हैं। गुजरातीके विशेष प्राचीन चिन्ह कवितामें हिन्दीके अन्यतम चिन्हके समतुल्य, केरा, केरी, केरे ही हैं। आर्ष प्राकृत-से प्रारम्भकर महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश प्राकृतोंमें भी षष्ठीके चिन्हके "स्स, णों, णं, णा, हो, हं, नो

आस, एई, ई आदि देखनेमें आते हैं। विशेषतः "प्राकृत-प्रकाशमें" "आत्मन्" शब्दके अप्पा और अप्पणा रूप सिद्ध होते हैं। इस "अप्पणा का" परिवर्त्तित रूप ही इस-समय हिन्दीमें "अपना" वर्त्तमान दिखता है। अस्मद्, युष्मद् वा हम, तुम शब्दके सिवा, रा, रे, रीका प्रयोग अन्य शब्दोंमें नहीं होता। प्राकृतमें षष्ठीका चिन्ह हं, ह, और हो सुस्पष्ट वर्त्तमान है। "हजथानां रतखाः" प्राकृत-लक्षणके इस सूत्रानुसार ह-कार हो जानेसे ही हिन्दीमें तेरा, मेरा, हमारा, तुम्हारा आदि रूप बन गये हैं। "सस्यखछहा" इस दूसरे सूत्रसे स का ख, छ, और ह भी हो जाता है। एक बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि, प्राकृतमें क और हका भी बदला होता है, चिकुरका चिहुर और स्फटिकका फैरिहो इस परिवर्त्तनसे ही बना है। सिवा इसके क और अका भी परिवर्त्तन होता है, कूपिकासे कुइआ, काकःसे काओ आदि इसके उदाहरण हैं। विशेषतः अम् और आम विभक्तियोंमें ही "क" "को" और "का" आविर्भूत भी हो जाते हैं। अतएव षष्ठी वा द्वितीया विभक्तिमें को,वा का, की, आदिको देखकर विशेष घबरानेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। पर एक महाशयने अपने अपूर्व्व आनन्दकी तरङ्गमें आ फारसीके मरा तुरासे हिन्दीमें मेरा,तेरा,हमारा, तुम्हारा आदिको सुसिद्ध प्रमाणित करनेकी झोंक दिखायी है, दुःखका विषय है कि प्राकृतके व्याकरणोंका आपने कदाचित् भूलकर भी आनन्द नहीं लिया, इससे ही ऐसी बेतुकी तान अलापने लगे। यदि भारतकी वर्त्तमान भाषाओंपर भी ध्यान देते तो सम्भव था कि इस भ्रान्तिसे बच जाते। उड़िया, बङ्गला गुजराती मारवाड़ी, कोंकणी आदि अनेकों भाषाओंमें षष्ठीके चिन्ह रा, रो, रे, अर, र आदि प्रत्यक्ष वर्त्तमान हैं। क्या इन सब भाषाओंमें भी फारसीके 'मरा' 'तुराकी' ही बघार लगायी गयी थी?

चा और 'का' अक्षरका भी बदला होता है। प्राकृत-प्रकाशमें "किराते चः" ३३ वाँ सूत्र ही इसकी साक्षी दे रहा है। सुतराम् हिन्दी

का, के, की, चिन्हों से ही यदि मराठी चा, चे, ची, चिन्हों की उत्पत्ति हुई हो तो क्या आश्चर्य है? "तवर्गस्य चटवर्गो" सूत्रानुसार ही सिन्धीमें जो, जे, जीका होना भी सम्भव है। प्राचीनतम आर्ष प्राकृतमें चतुर्थी विभक्तिका सर्वथा अभाव माना है। हिन्दीमें भी यथार्थपूछिये तो चतुर्थीका अस्तित्व नहीं है और संस्कृतमें जहाँ चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग होता है हिन्दीमें "षष्ठी विभक्ति वा द्वितीया विभक्तिसे वह काम निकाल लिया जाता है। चण्डने तो अपने प्राकृतलक्षणमें "षष्ठीवचतुर्थी" यह सूत्र ही निवेशित कर दिया है। "आपको प्रणाम है" वा "राजाने ब्राह्मणोंको गोदान दिया" आदि उदाहरणोंमें हिन्दीकी द्वितीया विभक्तिका चिन्ह "को" वर्त्तमान है। हिन्दीके बहुतसे वैयाकरण स्वरचितव्याकरणोंमें 'के' लिये, के अर्थ, के निमित्त" आदि रूप चतुर्थी विभक्तिमें लिखते हैं। यथार्थमें चतुर्थी विभक्तिका कोई चिन्ह हिन्दी भाषामें वर्त्तमान नहीं है। 'को' चिन्ह प्राचीन कालमें तो द्वितीया षष्ठी दोनों विभक्तियोंमें प्रचलित था, परन्तु इस समय केवल द्वितीया विभक्तिका ही चिन्ह है। लिये, अर्थ वा निमित्त शब्द ही स्वतन्त्र हैं और इनके पूर्व्वमें इस कारणसे ही सम्बन्ध दिखानेको षष्ठीका चिन्ह 'के' वर्त्तमान रहता है। ये यथार्थमें चतुर्थी विभक्तिके रूप नहीं हैं। ग्रन्थकर्त्ताओंकी अनभिज्ञतासे ही चतुर्थी विभक्तिमें ठेल दिये गये हैं।

पहले इस बातकी सूचना दी जा चुकी है कि, अनुमान तीन हजार वर्षके अन्दर एक ही प्राचीन "आर्ष प्राकृतसे" अनेको प्राकृत क्रमशः उत्पन्न हुई हैं। इसलिये उन प्राकृत भाषाओंका पूरा परिज्ञान विशेष परिश्रमसाध्य है। केवल कालिदासकी सुप्रसिद्ध शकुन्तला वा अन्य प्रचलित नाटकोंमें जितनी सी प्राकृत पढ़ी पढ़ायी जाती है, उससे अथवा 'प्राकृत-चन्द्रिका' मात्रके दस पाँच पन्ने उलट जानेसे ही प्राकृत भाषाओंका पूरा परिज्ञान होना दुर्लभ है। विशेषतः ऐसे

कठिन विषयमें विशेष मस्तिष्क परिचालना किये बिना ही, जब जो जीमें आया, वह लिख देना ही कोई बहादुरीकी बात नहीं है। अन्ततक एक पक्षकी सब बातोंको ध्यानसे सु बिना, न तो उनका यथार्थ विचार ही हो सकता है, और न बीचके विक्षेप-स्वरूप वेसिरपैरके इन लेखोंसे कुछ फल होनेकी सम्भावना ही है। इसलिये मेरी विनीत प्रार्थना है, कि इस विषयमें शीघ्रता न कर, धीरजके साथ पहले अन्ततक मेरे लेखको देख, तदनन्तर तर्ककी रीतिसे इस विषयके विचारमें हिन्दीके अभिज्ञ महानुभावोंको प्रवृत्त होना उचित है। व्याकरणके सूत्रोंको कपोलकल्पना अथवा 'मनगढ़न्त ऊटपटाँग' समझनेवालोंकी अति सूक्ष्मबुद्धि निस्सन्देह विदेशी कुशिक्षाके प्रभावसे मलीन सी हुई ही प्रतीत होती है। पहले तो स्वच्छ विवेकवारिसे धोकर अपनी विकृत बुद्धिको प्रकृतिस्थ करना ही उनका परम कर्त्तव्य है।

उपयुक्त शिक्षाका अभाव, प्राकृत भाषाओंके अनभिज्ञता, ग्रन्थकार और वैयाकरण बननेकी प्रबल इच्छा और व्यवसायके अनुरोधसे लोभ-परवश हो, इधर कुछ दिनोंसे लोगोंने बहुतसे भ्रान्त विचारोंको, सिद्धान्तरूपसे प्रचारित कर रखा है! इसलिये हिन्दी भाषा और इसके वर्त्तमान व्याकरणोंमें बहुत सी बातोंका गड़बड़झाला और घोर अन्धेर मचा हुआ है। चतुर्थी विभक्तिमें "के लिये, के निमित्त, के अर्थ" आदि और सप्तमीमें पर, पै सहित शब्दोंका सिद्ध एकरूप दिखाना जैसा अन्यतर उदाहरणरूपसे वर्त्तमान है, उस ही भाँति कुछ लोगोंने फारसी "मरा, तुआसे" हिन्दीमें "मेरा, तेरा, हमारा तुम्हारा" सुसिद्ध दिखानेका दुस्साहस भी किया मार्कण्डेयकृत "प्रकृतसर्व्वस्वके" १७ पादके ५६ वें सूत्रमें नागर अपभ्रंश प्राकृतके पदसाधनमें; "त्वदीये तेरं" "मदीये मेरं" स्पष्ट लिखा दिखता है। हृषीकेश शास्त्रीके प्राकृत व्याकरणके ६६ वें पृष्ठमें भी, "अपभ्रंशे आर' इत्यादेशो भवति" लिखकर "अम्हारो, (अस्मदाय)" इत्यादि सुसिद्ध दिखाया है। प्राकृतके प्रधान वैयाकरण

हेमचन्द्र भी ४ पाद ३५८ और ४३४वे सूत्रोंसे "महारउ" "तुम्हारा" आदि सिद्ध कर गये हैं। "ङिङसिङसां तुहतुज्झ तम्म तुम्भाः स्युः" मार्कण्डेयके इस सूत्रसे तुह, तुज्झ, तम्म, तुम्म रूप भी युष्मद् शब्दकी षष्ठी विभक्तिके होते हैं। हेमचन्द्रके ४।३६८वें सूत्रसे मार्कण्डेयका "युष्मदस्तु हं" सूत्र भी एकता सिद्ध करता है और इसे ही युष्मद् शब्दकी षष्ठी विभक्तिमें "तुह, तुज्झ, तुम्हाणं, तुम्हाहं, तुम्हं, तब, तो" और अस्मद्‌शब्दके "अम्ह, महं, मज्झ, मह्नु, अम्हाहं, अम्हाणं, मम, णो" आदि रूप सिद्ध होते हैं। नागर अपभ्रंश और मूल अपभ्रंश प्राकृतमें "मेरं, तेरं, अम्हारो, तुम्हारो" आदि रूप भी परम्परासे सुसिद्ध चले आते हैं। इनको फारसी "मरा, तुरासे" सिद्ध करनेकी धृष्टता, वे ही दिखा सकते हैं कि जिनके भाग्यमें विधाताने प्राकृत व्याकरणोंमें प्रवेशलाभ ही नहीं लिखा। हेमचन्द्रने ४।३५१ वें और ४।३५८ वे सूत्रोंके उदाहरणमें हिन्दीकी प्राचीन कविताके निम्न लिखित चरण उद्धृत किये हैं—"भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु।" इसमें "महारा कंतु" और "कंतु महारउ हलि सहिए निच्छइँ रूसेइ जासुमें" "कंतु महारउ" विशेष ध्यान देनेयोग्य है।

संस्कृत भाषामें षष्ठी विभक्तिके एकवचनका चिन्ह "स्य" और बहु-वचनका चिन्ह "नाम्" है। इन दोनों मूल चिन्होंसे ही अति प्राचीन आर्ष प्राकृतमे षष्ठीके चिन्ह "स्स" और "णं" सर्व प्रथम प्रचलित हुए। अनन्तर अपभ्रंश प्राकृत और मागधीमें उक्त "स्सके" रूपान्तर स, ह, हां, हं, हो, हुं, हे, हिं और 'नामके'; नो, णो, नं" आदि भी क्रमसे कालान्तरमें प्रचलित हुए। संस्कृतमें अस्मद् शब्दका 'मे' रूप भी षष्ठीमें बनता है, सम्भव है कि प्राकृत भाषाओंमें षष्ठीका 'ए' चिह्न इस "मेसे" ही आया हो। हिन्दीके प्राचीन काव्योंमें षष्ठीका प्रधान चिह्न "स" और "सु" चन्दबरदायीके पृथीराज रासेमें भी सर्वत्र देखनेमें आता है। "पहले "पंगस पुत्त" अर्थात् पंगका पुत्र "तासु कित्ती चन्द

कहिय" "सहदेव सुअन मोहन्त तास। सुसप्रन्न ईस सेवन्त जास" आदिमें षष्ठीका चिह्न "स" वा "सु" ही प्रयुक्त है। अपभ्रंश प्राकृतमें "हत्थीअहो मज्झहि" अर्थात् "हस्तिकस्य मध्ये" और "णरहं मज्झहि" वाक्य, "नराणां मध्ये"के परिवर्त्तनमें ही प्रयुक्त होता है। चन्दकी कवितामें भी "चहुआनह पास" "तासत्थह चामण्ड" "कह्यौ सम खान ततारह" आदि उदाहरण प्राकृतके नियमानुसार ही हैं।

("समसे" "सेके" उद्भव न होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण तो "कह्यौ सम खान ततारह" यह उद्धृत उदाहरण ही, हमारी पहली उक्तिकी सर्वथा दृढ़ता, पुष्टि और समर्थन करनेवाला है। ततार खाँके सामने कहा वा ततार खाँके समीप कहा, यह अर्थ ही चन्दके इस काव्यसे साफ झलकता है। यदि "समसे" "से" उत्पन्न हुआ होता, तो महाकवि चन्द "ततारह" पदमें षष्ठी विभक्तिका चिन्ह "ह" भूलकर भी न लगाते। उक्त "सम" वा "सेसे" ही ततार खाँसे कहा" अर्थ निकल आ सकता था। विज्ञ पाठक, इसे ध्यानसे विचार देखें।) "महिलानं मद सह नूपुरया" इसमें चन्दने "महिलाओंके नूपुरसे ध्वनित मन्दशब्दके" वर्णनमें षष्ठी विभक्तिका "न" चिह्न प्रयुक्त किया है। "कविन: दास कवि चन्द" "उन कहिते जो उव्वरी" आदि ऐसे अनेकों प्रयोग चन्दके महाकाव्यमें षष्ठीके देखनेमें आते हैं। "उनकहिते" इसको तो समाससिद्ध पद मान भी सकते हैं, परन्तु "कविनदास कवि चन्द" पदमें संस्कृत "कवीनां दासः" वाक्यका अनुरूप "कविन दास" प्रयोग ही चन्द महाकविने किया है। यदि समाससिद्ध पद होता, तो "कविन दास" न होकर "कविदास" होना ही उचित था। "ए" चिह्नका प्रयोग भी षष्ठीमें चन्दने किया है "जिनै नाम एकं अनेकं कहन्ते" वाक्यमें 'जिन' पदके साथ षष्ठी विभक्तिके "ए" चिह्नकी सन्धि होकर ही "जिनै" रूप बना दिखता है। 'आत्मन्' शब्दकी षष्ठीका शुद्धरूप प्राचीन हिन्दीमें "अप्प" प्रयुक्त होता था। "अप्प अप्प गय

श्रेह ससुर" वाक्यमें संस्कृत आत्मनः पदके बदले अपका प्रयोग हुआ दिखता है। "को, की और के," प्रयोग भी महाकवि चन्दने किये हैं, परन्तु सूक्ष्म विचारसे देखनेपर इनको षष्ठी विभक्तिका सिद्धपद मानना सर्व्वथा अनुचित है। मेरा, हमारा, तुम्हारी, अपने आदि प्रयोगोंकी भाँति, को, के, की चिह्नोंका प्रयोग भी संस्कृत त्वदीय, मदीय राजकीय आदिकी भाँति स्वतन्त्र प्रत्ययोंसे सिद्ध हुआ ही मानना पड़ता है और इस कारणसे ही जिनके साथ ऊपरके लिखे इन "कीय" "ईय" और "आर" आदि प्रत्ययोंसे सिद्ध शब्दोंका सम्बन्ध, प्रयोगोंमें आता है, उन शब्दोंके लिङ्गवचनानुसार ही इन प्रत्ययसिद्ध शब्दोंको अपना रूप परिवर्त्तन करना पड़ता है। षष्ठी विभक्तिके सुसिद्ध 'सुवन्त' पदोंके रूपपरिवर्त्तनकी कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। तुलसी-दास और उनके परवर्त्ती कवियोंके काव्योंमें भी सुसिद्ध षष्ठी विभक्तिके 'सुवन्त' पदोंका प्रयोग होता था, परन्तु विशेष दुःखसे प्रकाश करना पड़ता है, कि हिन्दीभाषाके गद्य लेखोंमें जबसे का, की, के आदिका प्रयोग ही केवल चलित हो पड़ा, तबसे मूल षष्ठीके "सुवन्तसिद्ध पद" प्रयोगसे रहित कर, रद्दीमें मिला दिये गये! षष्ठीकी हिन्दीमें विशेष विलक्षणताके माननेका भी यह ही प्रधान कारण हुआ। आजतक किसीने इस विषयकी आविष्क्रिया और गवेषणा नहीं की। मैं सम्भ-वतः पहले ही पहल इस विषयपर अपनी स्वाधीन सम्मति सर्व्व-साधारणमें प्रकाशित और प्रचारित करनेका इस समय दुस्साहस दिखा रहा हूं। आशा है, कि विज्ञ हिन्दी-हितैषीमात्र इसके विचारमें विशेष ध्यान देंगे। "तुम्हार, हमार, तोर, मोर, अपन, आपन" आदि शब्दोंका चलन कविता और प्रान्तीय ग्राम्य भाषाओंमें अबतक देखनेमें आता है। लिङ्ग वा वचनके अनुरोधसे इनके रूपोंमें अन्तर भी नहीं होता। इसलिये इनको षष्ठीका सिद्धरूप मानना अनुचित न होगा। "आपन नाम कहत तब लयऊ" "मोर जाब तब नगर न होई" "रघु-

बंसिन महं जहँ कोउ होई" आदि प्रयोगोंमें तुलसीदासजीने "मोर तोरके" अतिरिक्त "न" और 'न्ह' का प्रयोग भी षष्ठीमें दिखा दिया है।

महाकवि चन्दने को, की, के चिह्नोंका प्रयोग स्वतन्त्रतासे किया है ; और प्रत्ययसिद्ध इन प्रयोगोंमें जिस शब्दसे इनका सम्बन्ध सूचित होता है, उनके लिङ्ग और वचनानुसार ये परिवर्त्तित हो, "की" वा "के" रूपमें परिणत हो जाते हैं, यह भी दिखा दिया है। पुंलिङ्ग "काव्य" शब्दसे सम्बन्ध आनेपर "सुनत काव्य कविचन्दको" परन्तु स्त्रीलिङ्ग कीर्त्ति शब्दसे सम्बन्ध होते ही "फूली कित्ति चहुआनकी" 'की' और "प्रान इनके दुख मुक्कै' बहुवचनमें "के" रूपोंके प्रयोग प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं। सुतरान्, इसमें सन्देह नहीं कि का, की, के, षष्ठी विभक्तिके 'सुबन्त-सिद्ध' पद नहीं हैं। ये भिन्न प्रत्ययोंसे भिन्न प्रक्रियासिद्ध हैं और इसलिये त्वदीय मदीयकी भाँति विशेषण रूपसे ही प्रयुक्त किये जाते हैं। इनको षष्ठी विभक्तिका सिद्धरूप समझकर ही आज-तक विशेष भ्रान्तिका प्रचार लोग उत्तरोत्तर फैलाते जाते हैं।

'का, की, के, रा, री, रे, ना, नी, ने' प्रत्ययोंसे भिन्न 'केर, क, इक, पच्चय, आदि प्रत्यय भी प्राकृत भाषाओंमें प्रयुक्त होते हैं। प्रसिद्ध मृच्छकटिक नाटककी प्राकृतमें" एसोक्खु अलङ्कारओ अज्जआ केरओ" इत्यादि प्रयोग भी आते हैं। इस उद्धृत प्राकृतका संस्कृत शुद्ध अनुवाद "आर्य्यायाः अलङ्कारः" ही होता है। मृच्छकटिकमें "केरओके" सिवा, नपुंसकलिङ्गके प्रयोगमें "केरकं" और स्त्रीलिङ्गमें केलिका' प्रयोग भी वर्त्तमान हैं। हार्नलि साहब बहादुर प्राकृतके इन 'केरओ" "केरिआ" तरओं" वा "केरउ" विशेषतः मागधी प्राकृतके "केरको" वा केलके" था हेमचन्द्रके २।१४७ और १४८ वें सूत्रानुसार "केरो"" केरं" आदि इस प्रकारके प्रयोगमात्रको मूल संस्कृत "कृतंसे" सिद्ध करनेका ही दुस्साहस दिखाते हैं, और अपनी अभिनव आविष्क्रिया और अनूठी उक्तियुक्तिकी पुष्टिमें "रायकेरं वयनं" इसप्राकृत वाक्यको "राजकृतं

वचनं" वाक्यका समतुल्यरूप लिखते । केवल इतना ही नहीं, बल्कि संस्कृत "कृतनसे" ही प्राकृत तथा हिन्दीके केर' केरा, का, की, के आदिकी भी उत्पत्ति प्रमाणित करनेको विशेष चतुरताके साथ अग्रसर होते हैं। इसलिये इस स्थलपर निरपेक्ष भावसे इसका विचार करना परम आवश्यकीय है कि, पण्डितवर हार्नलि साहबकी उक्त आविष्क्रिया यथार्थ और सटीक है या नहीं ?

रायकेरं वयनंका अनुवाद तो संस्कृतमें आपने "राजकृतं वचनं" लिख कर दिखाया; परन्तु जहां "राय केरकं एइं प्रवहणं" प्रयोग होगा वहां हार्नलि साहबके प्रदर्शित "कृतं" इस समपर्य्यायवाचक शब्दसे अनुवाद करनेपर अर्थका अनर्थ ही हो जायगा। "राजाके वचन"में राजकृतं वचनं"की सङ्गति ठीक ठीक बैठ सकती है। परन्तु रायकेरकं एइं प्रवहणंका भी यद्यपि हार्नलि साहबके नियमानुसार "राजकृतं इदं प्रवहणं" संस्कृत अनुवाद किया जायगा, तो उसका यह अर्थ ही होगा कि, "राजाका अपने हाथोंसे बनाया हुआ यान"। पर यथार्थमें प्राकृतका अभिप्राय ऐसा नहीं है। प्राकृतका प्रयोजन यहाँ राजाके यानसे है। "तविश्शणीए केलका" "तुम्हहं केरअंग्रणु" "जसु केरे हुंकारणए मुहहुं पडंति तणाइं" आदि प्रयोगोंमें "तुम्हहं केरअंधणु" का युष्माकं धनं" और "जसुकेरे हुंकारणए" का "यस्य हुंकारेण" अनुवाद ही संस्कृतमें करना होगा। प्राकृतसे ऐसे प्रयोगोंमें सर्व्वत्र "कृतं" अनुवाद कदापि समीचीन न होगा। अतएव अर्थकी असङ्गति आदि देखकर निरपेक्ष विचार करनेसे संस्कृतके "कृतंसे" प्राकृतके उक्त रूपोंकी उत्पत्तिका मानना भ्रमशून्य नहीं कहा जा सकता है। हेमचन्द्रने अपने व्याकरणके ४।४२२ वें "सम्बन्धिनः केरतणौ" सूत्रांशसे स्पष्ट दिखा दिया है कि, सम्बन्ध अर्थमें "केर" और "तण" दोनों ही प्रयुक्त होते हैं। संस्कृतमें भी "मम सम्बन्धिनः" "तस्य सम्बन्धिनः" "कस्य सम्बन्धिनः" आदि प्रयोगोंमें षष्ठी विभक्तिका

दुहराकर प्रयोग किया जाता है। "कस्य केरकं एदं प्रवहणं" वाक्यका संस्कृतमें "कस्यसम्बन्धिनं इदं प्रवहणं" वा "कस्येदं प्रवहणं" और जसु केरें हुंकारणए" वाक्यांशका "यस्य सम्बन्धिना हुंकारेण" अथवा "यस्य हुंकारेण" ही अनुवाद ठीक होगा। हेमचन्द्रका इस विषयका सबसे प्रथम सूत्र महाराष्ट्री प्राकृत सम्बन्धमें "इदं अर्थस्य केरः" २।१४७ वाँ है, जिससे निश्चय होता है कि महाराष्ट्री प्राकृतमें "इदं" अर्थमें "केर" प्रयुक्त होता था। साथ ही उस पादका परवर्त्ती "पर राजभ्यां क्कडिक्कौच" १४८ वाँ सूत्र-क्क, इक्क, केर इन तीनोंको परराज्यके सम्बन्धमें प्रयुक्त करनेकी विधि देता है। "इदमर्थस्य केरः" और "परराजभ्यां क्कडिक्कौच" दोनों ही दूसरे पादके संलग्न सूत्र हैं, परन्तु "सम्बन्धिः केरतणो" चौथे पादका ४।४४२ वाँ सूत्र है। इनके अर्थांशमें भी अन्तर है। न जाने क्या समझकर हार्नलि साहबने "सब धान बाईस पसेरी" भावसे लगा दिया। यहाँ तक कि महाराष्ट्री प्राकृतके "तुम्हकेरो" को अपभ्रंश प्राकृतके "तुम्हारा" का पूर्व्वरूप बतानेसे भी मुहँ न मोड़ा! चतुर्थ अध्यायके ३५७ वें सूत्रसे ३५६ तक "तुम्हहं केरउ" आदि और ४३४ वें सूत्रसे "तुम्हारा" हेमचन्द्रने सिद्ध किया है। अध्याय, प्रकरण, सूत्र और अर्थकी विभिन्नता देखकर भी साहब अपनी झोंकमें सबको एक ही रस्सीमें बाँधकर घसीटते हैं। उधर देखिये तो चण्ड और वररुचिके व्याकरणोंमें 'केर, वा तण' प्रयोग ही नहीं दिखता। उनके समयके अनन्तर इनका विशेषतासे चलन चला और ये "कीय ईय' आदि प्रत्ययोंकी भाँति सम्बन्ध और 'इदं' अर्थमें ही प्रयुक्त होते आते हैं। अपभ्रंश प्राकृतके "तुम्हारा" पदकी सिद्धि डार' वा' "आर" प्रत्ययसे हुई है, अतएव सबकी खिचड़ी मिलाकर एकमात्र "कृतसे" केरओ केरको, केलके, केरो, कयं कैर्य आदि सबको सिद्ध करनेकी चेष्टाकरना विलायती विद्वानोंकी असीम-साहसिकता ही है, इसमें सन्देह नहीं। पाठकोंसे अनुरोध करता हूँ कि अन्ततः हेमचन्द्र और

वररुचिके व्याकरणोंको तो अवश्य ही ध्यानसे विचारकर देखनेका परिश्रम स्वीकार कीजिये अन्यथा साहबकी पोलका खुलना सहज न होगा। भोजपुरी आदि प्रान्तीय भाषाओंमें और ग्राम्य प्रयोगोंमें आज भी प्राकृतके उक्त "केर" आदि ही अविकृतरूपसे चल रहे हैं। क, इक, एच्चय आदि प्राकृतके इदमर्थके प्रत्ययोंसे ही रूपान्तरित होकर वर्तमान हिन्दीके "का, की के" प्रत्यय सिद्ध हुए दिखते हैं। इनको षष्ठी विभक्तिका रूप मानना सर्वथा अनुचित है। केरा, केरी, केर, किय, और का, की, के, आदि सब स्वच्छ स्वतंत्र प्रत्यय हैं। इससे आज भी कविता और ग्राम्य भाषाओंमें इन सब रूपोंके ही दर्शन होते हैं। केर' वा 'कृतंसे इनकी उत्पत्ति नहीँ हुई है। इन प्रत्ययोंसे सिद्ध शब्दो का सर्वत्र विशेषण रूपसे ही प्रयोग किया जाता है, परन्तु षष्ठी विभक्तिके सुबन्त-सिद्ध पदका प्रयोग विशेषण रूपसे कभी नहीं होता। इसलिये लिङ्ग वचनके सम्बन्ध अनुरोधसे उनके स्वरूपमें अन्तर भी नहीँ पड़ता है। गुजरातीके तणो, तणी, तन, और हिन्दीके "मोतन" "वातन" आदि प्रयोग प्राकृतके उक्त 'तणका' परिचय कराने वाले ही वर्त्तमान हैं। षष्ठी विभक्ति अथवा सम्बन्धकारक या genitive case माननेसे त्रिकालमें भी विशेषण रूपसे तो उनका प्रयोग ही न हो सकेगा। आश्चर्यका विषय है कि, एक ओर तो हार्नेलि साहबसरीखे सुपण्डित इनको genitive case कहते हैं, और दूसरी ओर साथ ही इन्हें विशेषणरूपसे प्रयुक्त भी दिखाते हैं। कारकत्व विशेषणरूपसे सर्वथा भिन्न है। इस सीधीसी बातको तो निम्नश्रेणीके विद्यार्थी भी भली भाँति समझ सकते हैं। सिवा इसके 'डार' वा "आर" प्रत्ययसे सिद्ध "तुम्हारा" और "हमारा" पदोंको विशेषणरूपमें प्रयुक्त देखकर भी षष्ठी विभक्तिका कहना, अथवा एकसाथ मिलाकर इनका लिखना भी कैसे युक्तिसङ्गत हो सकता है? अलग लिखनेके पक्षपातियोंका "तुम" वा "हम" को अलग लिखकर रा, री, रे, वा आरा, आरी, आरे अलग

लिखना ही युक्तियुक्त होगा और अर्थकी जटिलता वा भ्रम उत्पन्न होनेकी आपत्तिको भी चुपचाप उठाकर ताकपर ही धर देना पड़ेगा।

निश्चय है कि, सुविज्ञ हिन्दीहितैषी महाशयोंने उत्तम प्रकारसे अब इस बातको समझ लिया होगा कि संस्कृत 'कृतंसे' का, की, के आदि प्रत्ययोंकी उत्पत्ति नहीं हुई है। ये स्वतंत्र स्वतंत्र प्रत्यय हैं, विविध सूत्रोंसे सिद्ध होकर विविध अर्थोंके देनेवाले हैं. और विशेषण रूपसे ही सर्वदा प्रयुक्त होते हैं। षष्ठीके सुबन्त पद, इनसे सर्वथा विभिन्न हैं और उनका प्रयोग, सम्बन्धसूचन करनेको कारकरूपसे किया जाता है। सम्बन्धको कारक न माननेका संस्कृत वैयाकरणोंका विचार इससे भिन्न है। सुतराम्, उस विषयान्तरके इस स्थलपर उत्थापन करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। यहां तो केवल विभक्तिके सुबन्त-सिद्ध पदोंका विचारमात्र ही अभीष्ट हैं। हार्नलि साहब और बीम्स साहबका ऊपर लिखे विषयमें मतैक्य ही देखनेमें आता है और हिन्दीके कृतविद्य, उक्त साहब बहादुरोंके लेखोंको देखकर ही भ्रम जालमें जा फँसे हैं। जब कि हार्नलि साहबकी उक्तियोंका विचार किया गया तो "सर्व्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः" इस वचनके अनुसार साहबोंके अनुगामी भी बीचमें ही आ गये समझ लेने चाहिये।

हिन्दीमें सप्तमी विभक्तिका चिन्ह "मे" प्रचलित है। बीम्स साहबके अनुसार हार्नलि आदि विलायती विद्वानोंने अपने व्याकरणोंमें हिन्दीके इस "मेंको" संस्कृत 'मध्ये' वा 'मध्य' शब्दसे निकला सुसिद्ध करनेकी विशेष चेष्टा की है और मध्यका प्राकृत रूप 'मज्झ' है, इसलिये मज्झ, माँझ, मँझार, मधि, मद्ध, माहिँ, महि महँ, और महें आदि रूप दिखाकर अन्तको यह प्रतिपन्न किया है कि क्रमशः टूटता फूटता मध्य ही सरल रूपसे "मैं" बन गया है। मध्य वा मज्झका प्रयोग प्राकृमेंत बराबरसे ही चला आता है, पर प्राकृतके प्रयोगोंमें भी षष्ठीकी सम्बन्ध-

सूचक विभक्तिका चिन्ह 'मज्झ' अर्थात् मध्यम् वा साथ लगा ही रहता है। "नरह मज्झहि" "हात्थग्रहो मज्झहि" आदि वैसे प्रयोग पहले प्रदर्शित किये गये हैं। प्राकृतमें भी सप्तमीका चिन्ह उक्त "मज्झहि" अर्थात् मध्येसे सर्व्वथा विभिन्न ही है। हिन्दी और प्राकृतोंका स्वभाव एकसा देखनेमें आता है, इसलिये जिस रीतिसे प्राकृत भाषाओंमें मज्झहिका प्रयोग होता है, ठीक उस रीतिसेही हिन्दीमें भी आजतक किया जाता है। सम्बन्धसूचन करनेको का, की, के, रा, री, रे अथवा ना, नी, नेका सम्बन्ध सर्वत्र प्रकाश्य वा अप्रकाश्य रूपसे उस मध्यके साथ वर्त्तमान रहता है। जहाँ समाससे एकपद बना लिया जाता है वहाँ प्रकाश्यरूपसे का, की, के आदिके न दिखनेपर भी षष्ठीतत्पुरुष समासके अवयवरूपमें उनका दर्शन अवश्य होता ही है। किसी प्राकृतमें भी मध्ये वा मज्झहि सप्तमी विभक्तिका चिन्ह नहीं माना गया है। हिन्दीमें भी सप्तमीके में चिन्हको मध्य वा माँहसे उत्पन्न बताना भ्रममूलक ही मानना पड़ता है। "छुरीमें बड़ी तेज धार है," इस वाक्यके कथनसे छुरीकी धारका वर्णन होता है। यद्यपि मध्ये वा माँझसे में चिन्हकी उत्पत्ति मानी जायगी, तो इस उदाहरणमें "छुरीमें" शब्दसे छुरीके बीचमें अर्थ ही करना पड़ेगा। अब विचारनेका स्थल है कि धार छुरीके मध्यभाग वा बीचमें रहती है अथवा एक किनारे? यह तो सब जानते हैं कि, छुरीके मध्यभागसे धारका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। बल्कि उसका दूसरा प्रान्त भी स्थूल और सर्व्वथा धारशून्य ही देखनेमें आता है। अतिसूक्ष्म प्रान्तके मुँह-पर धारकी स्थिति रहती है। जिन लोगोंने हिन्दीकी यह पुरानी पहेली भी कभी सुन ली है, वे भी इस विषयमें निस्सन्देह ऐसी भ्रान्ति नहीं कर सकते हैं।

"देखी एक अलोखी नार। सिरपर नथुनी मुँहपर धार॥"

इस पहेलीसे प्रयोजन तरवारका है। तरवारके मुँहपर धार अर्थात्

धार रहा करती है। इस पहेलीसे कविने उस अभिप्रायको ही सुस्पष्ट दिखा दिया है। धार कभी छुरी कटार या तरवारके मध्य भागमें नहीं रह सकती है। यदि सप्तमीके चिन्ह "मैंको" मध्यका रूपान्तर मान लिया जायगा, तो इस प्रकारके प्रयोगोंमें अर्थका अनर्थ होना भी अनिवार्य्य होगा। बीमूस साहब बहादुरने मध्य, मधि, मंझि, मझि, मज्झ, मझार, महिं, माही, माहँ और महँ आदि रूपोंकी परम्परा और उदाहरण दिखाकर इसके सिद्ध करनेका परिश्रम किया है कि मध्यसे क्रमशः "मैं" रूप बना है। परन्तु प्राचीन उदाहरणोंके निमित्त उन्हें एकमात्र चन्दबरदायीके पृथीराज रासेका ही आसरा लेना पड़ा है। पहले भी मैंने यह बात उक्त पृथीराजरासेके वाक्योंको उद्धृत कर दिखायी थी कि उसमें इन सब रूपोंके ही प्रयोग चन्द महाकविने किये हैं। इस लिये बीमूस साहबका अनुमान भ्रान्त ही मानना पड़ता है। यदि क्रमशः मध्यसे "मैं" बना होता तो एक ही कविके काव्यमें एकत्र सब रूपोंका समावेश न दिखता। जिन महाशयोंको पूरा विश्वास न हो, वे आप पृथीराज रासेमें सब प्रकारके प्रयोगोंको सर्व्वत्र देख सकते हैं। दो एक उदाहरणका उल्लेख, उनके परिश्रमको बचानेके लिये इस स्थलपर अनुचित नहीं समझा जायगा।

"अलुझ्यो पगं अग्गमें इब्भ राजं" (२१ प्र० १२५ पृष्ठ)

"खेत ढुंढि चहुआन समर उप्पारि समरसें।
निठ पायो चामण्ड मिले सब मसरुधिमें॥"

(करहेरो युद्ध ३१७ पृष्ठ)

'किलाबा रह्यो पग्गिमें लग्गि पासी।' आदि अनेकों प्रयोग चन्दके महाकाव्यमें अधिकरण कारककी सप्तमी विभक्तिके शुद्ध "में" रूपके हैं। अतएव यह कहना तो किसी प्रकारसे बन ही नहीं सकता कि मध्यसे टूट फूट और घिस घिसाकर अति सरल रूपमें परिणतहो कालान्तरमें "मैं" बना है। साहबोंकी मनमानी अरविन्दियाके भ्रमजालमें

न्दकले फिरना भारतीय विद्वानोंको कदापि उचित नहीं है। मध्यके तो मज्भ, माँझ, माँह, मधि, मार्य आदि भिन्न, भिन्न रूपके प्रयोग आज भी प्रान्तीय भाषाओंमें सर्व्वत्र समरूपसे बर्त्ते जाते हैं। इनसे "में" उत्पन्न हुआ है यह मान लेना निस्सन्देह भ्रमपूर्ण ही कहावेगा।

प्राकृत भाषाओंमें सप्तमी विभक्तिके एकवचन और बहुवचनमें ए, म्मि, सु, सुं, स्सिं, तथ विविध प्रक्रियाओंसे प्रयुक्त होते हैं। अग्गिम्मि, तुमम्मि आदि रूप सप्तमीके एकवचनके हैं। हिन्दीमें कवितामें तो ए और में दोनों चिन्ह सप्तमीके प्रचलित हैं। परन्तु लिखित साधुभाषामें केवल "में" ही प्रयुक्त होता है। हिन्दीकी सप्तमीका चिन्ह "में" प्राकृतकी सप्तमीके एकवचनके चिन्ह उक्त "म्मिसे" ही आविष्कृत हुआ है। "म्मिसे" 'मेंका' जैसा सादृश्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसा मध्येसे कदापि नहीं हो सकता। इसलिये प्राकृतकी सप्तमी विभक्तिके चिन्हको लाँघ कर मध्ये और मज्भमें "में" ढूंढने जाना विलायती, विद्वानोंकी अपूर्व्व विद्वत्ता और अतिबुद्धिका ही परिचायक दिखता है!

बंगभाषाका उदाहरण दिखाकर जिन विद्यादिग्गजोंने मध्येसे हिन्दीमें "में" सुसिद्ध करनेकी मनमानी युक्ति दिखायी है, उनको इतना तो अवश्य किसी बंगदेशीय विद्वानसे पूछ लेना उचित था कि, बंगभाषामें अधिकरण कारककी सप्तमीका चिन्ह कौनसा प्रचलित है। इससे उनको तुरंत पता लग जाता कि बंगलामें सप्तमीके चिन्ह ए और ते विद्यमान हैं। मध्ये कहनेसे बंगभाषामें मध्यशब्दकी सप्तमीका रूप ही प्रयुक्त होता है। उक्त ए प्राकृत भाषाकी सप्तमीका ही चिन्ह है और बंगलामें भी अन्य भाषाओंकी भाँति ज्योंका त्यों आ मिला है। "कर्त्ता बाड़ीते नाइँ" इस वाक्यमें "बाड़ीते" पदमें सप्तमीका चिन्ह "ते" वर्त्तमान है। इसका अनुवाद हिन्दीमें "घरमें" ही करना पड़ेगा। जब कि बङ्गलाकी सप्तमी विभक्तिके रूप "ते" और "ए"

प्रत्यक्ष दिख रहे हैं, और "सल्तानदिगेर मध्ये" इस बङ्गभाषाके उद्धरण-वाक्यमें "सल्तानदिगेर" पदका अन्तिम 'र' षष्ठी विभक्तिका चिन्ह मध्येके साथ अपना सम्बन्ध दिखानेको वर्त्तमान है, और मध्येमें भी सप्तमीका "ए" वर्त्तमान है, तो आँखें बन्दकर इन उदाहरणोंको बारंबार सामने लानेसे कौनसी फलसिद्धि होती है, यह तो इसके लिखनेवाले स्वयं ही विचार देखें।

आर्ष, महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्ध मागधी, अपभ्रंश और नागर आदि प्राकृतोंमें एक वचन और बहु वचनके चिन्होंमें सब विभक्तियोंमें ही विशेष रूपान्तर प्रचलित देखनेमें आते हैं, परन्तु हिन्दीमें यह सुगमता उत्पन्न हो गयी है कि को, ने, से, में आदि चिन्ह एक वचन और बहु वचनमें सर्वत्र एक ही रूपके प्रचलित है। इससे इस भाषाको सुगमता और सरलता विशेष बढ़ गयी है। केवल शब्दोंके लिङ्ग रूपोंमें विभक्ति चिन्हके साथ मिलनेकी प्रक्रियासे उत्पन्न मूल शब्दोंकी विकृतिसे रूपान्तर अवश्य हो जाते हैं। जैसे द्वितीया विभक्तिमें राम शब्द या नर शब्दके एक वचनमें रामको, नरको होते हैं, परन्तु बहुवचनमें सिद्धपद रामोंको, नरोंको प्रयुक्त किये जाते हैं। ऐसे ही घोड़ेको, घोड़ोंको, लताको, लताओंको, साधुने, साधुओंने आदि सब शब्दोंके रूपोंमें ही परिवर्त्तन थोड़ा या बहुत अवश्य होता है। यद्यपि को, ने, से, में आदि सर्वथा स्वतन्त्र हैं, तो इनके साथ प्रयुक्त शब्दोंके रूपपरिवर्त्तनका, और बीचमें ए, वा, ओं, आदिके आविर्भूत होनेका कारण क्या है? यथार्थमें विभक्तिके चिन्ह को, ने, से आदि सर्वथा स्वतन्त्र हैं तो नर शब्दके साथ ने, को, आदि विभक्तिके इन चिन्होंके प्रयोगोंमें, तो सब रूपोंमें उक्त नररूप ही वर्त्तमान रहना उचित है। क्योंकि नर शब्दकी प्रथमा विभक्तिका बहुवचन भी नर रूपमें ही सर्वथा अविकृत दिखता है, तो फिर बताइये द्वितीया आदि विभक्तियोंमें नरका "नरों" कैसे बन जाता है? जबतक विभक्तियोंमें चिन्होंके संयोगसे सिद्धकर इनको सुसिद्ध

एकरूप माननेकी व्याकरणसिद्ध रीति न मानी जायगी, तबतक इन रूपोंके सिद्ध करनेका उपायान्तर नहीं प्राप्त होगा। अलग लिखनेके पक्षपाती इसका भली भाँति विचार कर देखें। इन शब्दोंके बीचमें 'ओं' आदिकी उत्पत्ति कहाँसे कैसे होगी, इसका सटीक उत्तर देनेकी शक्ति, को, से, ने आदिको स्वतंत्र माननेवालोंके पास कौनसी है? क्या कृपापूर्वक कोई महाशय विस्ताररूपसे इस विषयको लिखकर अपने पक्षसमर्थनकी चेष्टा न करेंगे? ऐसा मौन उचित तो नहीं है।

हमम्मि, तुमम्मि, अग्गिम्मि, रामम्मि आदि प्राकृत सप्तम्यन्त शब्दोंसे हममें, तुममें, आगमें, राममें आदिका हिन्दीमें सप्तमी विभक्तिका सिद्ध रूप बनाना जैसा स्वाभाविक, समूल और सयौक्तिक है, वैसा मध्य या मज्झहिं आदि स्वतन्त्र शब्दोंसे उनके सिद्ध करनेकी हठवश चेष्टाका करना, कदापि नहीं कहा जा सकता। इसलिये द्रविड़ प्राणायामकी सी इस अनोखी कुप्रथाको सहारा देना विवेचक विज्ञ बुद्धिमानोंको कदापि उचित नहीं है। बीम्स, हार्नलि सरीखे विलायती विद्वानोंको भ्रान्तिका होना असम्भव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि फिर भी वे विदेशी और यथार्थ मर्मज्ञ न होनेके कारण हिन्दी आदि प्राकृत भाषाओंके परिज्ञानमें पूरी रीतिसे पारंगत नहीं हो सकते और न उनको भाषाकी भीतरी तोड़ मरोड़ और पारिवारिक बोलचालके शब्दोंकी प्रकृतिका पूरा पता ही लग सकता है। इसलिये उनका भूलना स्वाभाविक और सर्वथा क्षन्तव्य भी है। विशेषकर उन विदेशी विद्वानोंने विशेष परिश्रमसे इस देशके निवासियोंकी मातृभाषाके सम्बन्धमें केवल विद्याव्यसनमात्रसे प्रोत्साहित हो जैसा कुछ उद्यम किया और जिन बातोंकी चर्चा उठायी, उनके लिये उन्हें आन्तरिक धन्यवाद देना ही उचित है। केवल विशेष विवेचनपूर्व्वक निरपेक्षभावसे उनकी भ्रान्तियोंका उल्लेखकर सर्व्वसाधारणको उस भ्रान्तिजालमें फँसनेसे बचानेके लिये उनका प्रकाशित कर देना ही हमारा प्रधान कर्त्तव्य है।

जहाँतक देखा जाता है, उनविद्वानोंने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धान्तरूपसे कहीं ऐसी बात नहीं लिखी है, कि जिससे विभक्तिके चिन्ह सर्व्वथा मूलशब्दोंसे अलग ही लिखे जाय। प्रत्युत मूल शब्दोंके सर्व्वथा अधनी, और क्रीतदाससे उनकी सेवामें सर्व्वदा प्रत्ययादिका नियुक्त रहना ही उन विद्वानोंने भाषाओंका अति प्राचीन प्राकृतिक नियम निर्द्दिष्ट किया है। इस स्थलपर बीमूस साहबकी उस उक्तिका उद्धृत करना, इसकी मीमांसाके लिये परमोचित होगा।

"It may be assumed as a starting point, that the case-affixes are remnants of nouns or perhaps pronouns, which have been cut down and worn away by use. ++ In the wide field of Indo-European comparative philology, the the great master Bopp has conclusively proved that this principle everywhere prevails, and even the synthetical case-endings of the early classical languages are relics of independent words. It is therefore safe and rational to assume that in the languages of which we are treating, allied as they are closely and indissolubly with the old mother-speech Sanskrit, the same sentiment exists and the same method of word-building survives. Throughout the material world we see that the process of reproduction is one of such a nature that it can be repeated time after time for ever. Man begets man throughout the ages, and tree produces tree; mountains are washed down into

the sea, and the forces at work in the bowels of our planet udheave fresh mountains, which are in their turn washed away. So also in languages words originally independent are seized and bound into slavery again, till they also wear out by use, and if the world lasts long enough, will in their turn pass into case-endings and disappear and a third set will have to be captured and made use of. The process repeats itself, and the modern Indians, when they had recourse to the words which have become the case-affixes of today only did what their remote ancestors had done before them, when they took pronouns and nouns and made them into the terminations which Sanskrit literature has preserved to us, such as—ena, aya. asya, and at"

इसका सारांश—"यह बात ही माननी उचित है कि विभक्तिप्रत्यय संज्ञा वा सर्वनामके टुकड़े हैं, जो घिस घिसा और कट कटाकर बने है। बौप साहबने भली भाँति प्रमाणित कर दिया है कि यह नियम ही सर्वत्र प्रचलित है, और प्राचीन भाषाओंकी संयोगात्मक विभक्तियाँ भी स्वतन्त्र शब्दोंके ही टुकड़े हैं। इसलिये यह मान लेना उचित है कि, जिन भाषाओंका हम विवेचन कर रहे हैं, उनका, उनकी प्राचीन जननी संस्कृतसे अत्यन्त घनिष्ट अभिन्न सम्बन्ध है, इससे इनमें भी वैसे ही नियम प्रचलित हैं इस जगत्‌में उत्पत्तिका यह नियम ही दिखता है, और वह यों ही बराबर चला करता है। मनुष्यसे मनुष्यकी और वृक्षसे वृक्षकी उत्पत्ति होती है; बड़े बड़े पर्वत कालान्तरमें समुद्रमें

विलीन हो जाते हैं और नये पर्व्वत उत्पन्न होते हैं। ऐसी ही दशा भाषाओंकी है, जो शब्द पहले स्वतन्त्र अवस्थामें रहते हैं वे ही पकड़कर दूसरे शब्दोंकी दासत्वशृङ्खलामें बाँध लिये जाते हैं और वे प्रत्ययरूप होकर कारकोंकी विभक्ति बनते हैं और अन्तको जब बिल्कुल घिस जाते हैं तब दूसरे शब्दोंकी भी वैसी ही दशा होती है, जबतक कि वे भी घिस नहीं जाते; और यदि जगत् बहुत कालतक रहे, तो वे नये शब्द भी विभक्तिरूपमें हो अन्तको गुम हो जायगे। यह क्रम बराबर चलता है और वर्त्तमान भारतवासियोंने, वर्त्तमान प्रत्ययोके विषयमें वह ही किया है जैसा उनके पूर्व्वजोंने पहले किया था, कि संज्ञा और सर्वनाम शब्दोंको विभक्ति बनाडाला, जो साहित्यमें आजतक वर्त्तमान हैं, जैसे एन, आय, अस्य, आत् आदि।"

जिस विद्याका नया नाम "फाइलालाजी" रखकर आज विलायती विद्वान विशेष वाचालता दिखानेमें तत्पर हैं, वह विद्या उनके देशोंमें अवश्य नवीन उद्भावित और उसके उद्भावनकर्त्ताओंमें बौप ही सर्वप्रधान माने जाते है। परन्तु भारतवर्षकी वह अति प्राचीन विद्या 'निरुक्त' नामसे अनादि वेदोंका अङ्ग सनातनसे ही मानी चली आती है। इस नवीन फाइलालाजीके नामसे विशेष चकित होकर आत्मविस्मृतिका होना, भारतीय विद्वानोंके लिये सर्वदा असम्भव है। प्रातःस्मरणीय महर्षियास्क आदि निरुक्तकारोंने "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधन्निरुक्तम् ॥" लिखकर संक्षेपसूत्ररूपसे जिस परम प्रयोजनीय विद्याका स्वरूप परिचय कराया है, वह ही प्राकृत व्याकरणोंके सूत्रोंके संगठनका प्रधान साधन और मूल कारण है; और उस निरुक्तकी चर्चासे ही विलायती विद्वानोंकी उक्त अभिनव फाइलालाजीकी आविष्क्रिया भी हुई है। इसलिये भारतीय विद्वानोंको अपना घर न देखकर फाइलालाजीके पीछे ही फरफराते भागते फिरना उचित तो नहीं है

प्राकृतके सब व्याकरणों का और विलायती विद्वानों की इस फाइ-लालाजीका मूलसूत्र निरुक्तके इस श्लोकमें ही भरा पड़ा है। केवल विशद रूपसे निरुक्तके इन पाँच प्रकरणों का पूरा विकाश ही प्राकृतके व्याकरणोंसे और फाइलालाजीके नवीन विषयों से किया जाता है। शब्दों की मूल व्युत्पत्ति और उनके रूप परिवर्त्तनके नियमों की खोज सबसे पहले भारतवर्षके विज्ञ ब्राह्मणो ने ही की थी, और भाषाकी स्वाभाविक शैली, सर्व्वाङ्गसुन्दरता, वर्णमालाकी स्वाभाविकता, और व्याकरणो की नियमबद्ध सुरीतिका उद्भवस्थान हमारा भारतवर्ष ही है। शब्दशास्त्रके विषयमे अन्यदेशवाले चाहे कितनी ही उछल कूद मचावें परन्तु भारतवर्ष से आगे बढ़ना तो दूरकी बात है, इस विषयमें इसकी समकक्षता करनेयोग्य भी अबतक कोई नहीं हो सका है। बीमस आदि विद्वानो के न तो ये सिद्धान्त ही हैं और न उनके कथनमे इस अंशका हमसे कोई विरोध ही है। सी, औ, जस्, अम् ओ, शस, टा, भ्यां, भिस् आदिको स्वतन्त्ररूपसे दर्साना ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि ये चिन्ह स्वतन्त्र शब्दों से ही पूर्व्वकालमे उपजते थे, परन्तु भाषाके स्वाभाविक नियमानुसार शब्दों के साथ ऐसे मिल गये हैं कि इनका इधर खड़ाकर व्याकरणों के नियमानुसार इनके साथ शब्दो को साधकर उनका एक सिद्धरूप बनाये बिना काम ही नहीं चल सकता है; और सिद्धरूपमे प्रथमावस्थाकी विभिन्नतासे किसी प्रकारका सम्बन्ध भी नाम मात्रका नहीं देखनेमे आता है। ऊपर बीमस् साहबकी उक्तिमें भी विलायती फाइलालाजीके प्रधान नियमकी बात साफ साफ यह लिखी है कि "जैसे अनादि कालसे इस सृष्टिप्रवाहमें मनुष्यसे मनुष्य * वृक्षसे वृक्ष आदिकी उत्पत्ति होती है, तदनुसार ही शब्दों से शब्द और एक भाषासे अन्य भाषाकी उत्पत्तिका होना भी सिद्ध है।" इस कथनसे हमारा इस अंशमे विरोध नहीं है, परन्तु जब साहब इन बातों को लिख-

* बन्दरसे मनुष्य तो नहीं? (हि० स०)

कर भी आप ही सब नियमोंके विरुद्ध खड़े होते हैं तो अवश्य उनके उस अंशका विरोध भी सत्य और न्यायकी रक्षाके लिये कर्त्तव्य-बुद्धिसे करना ही पड़ता है। जैसे मनुष्यसे मनुष्यकी उत्पत्ति स्वाभाविक नियमानुसार होती है, वैसे ही कृदन्त तद्धितसे भाषान्तरमें कृदन्त तद्धितके प्रत्यय भी रूपान्तरित हो कालान्तरमें बन जाते हैं और विभक्तिके सुबन्त आदि चिन्होंसे विभक्तिके रूप, और तिङन्तसे ही क्रियाके रूप भी रूपान्तर ग्रहणकर दूसरी नवीन भाषा उत्पन्न किया करते हैं। हार्नलि साहबने भी स्वरचित व्याकरणमें तद्धित और कृदन्तसे ही प्राकृत और हिन्दीके अनेकों शब्दोंकी व्युत्पत्ति प्रमाणित की है। परन्तु विशेष दुःखसे लिखना पड़ता है कि, हिन्दीविभक्ति-चिन्होंके सम्बन्धमें इन विलायती विद्वानोंका ध्यान इस स्वाभाविक नियमसे सर्वथा विसलित हो गया है। इसलिये दूसरे शब्दोंमें कष्टकल्पनासे विभक्तिके चिन्हो को परिश्रमपूर्वक खोजनेका परिश्रम उक्त विद्वानोंने किया है। उस अंशका ही विरोध कर्त्तव्य बुद्धिसे इस लेखमें दिखाना पड़ा है।

जैसे स्य और नाम्से प्राकृतकी षष्ठीके स्स, ह, र, हं, णं आदिका उद्गम स्वाभाविक नियमानुसार हुआ है, वैसे ही चण्डकृत प्राकृतलक्षणके "ए्म्मिङः" और वररुचिके प्राकृत प्रकाशके छठे परिच्छेदके दूसरे ("ङेःस्सिंम्मित्थाः") सूत्रसे भी सप्तमोके एकवचनमें प्राकृत भाषाओंमें जिस म्मिका प्रादुर्भाव स्वाभाविक हुआ था, उसका ही और भी सरल रूप "मे" बनकर वर्त्तमान प्राकृत हमारी इस हिन्दी भाषामें आया है, यह मानना ही नियमानुसार और स्वाभाविक भी है। मध्ये वा माँझसे इसका सम्बन्ध नहीं है, बल्कि संस्कृत "स्मिन्" सिद्धरूप जो सप्तमीके एक वचनमे बहुतसे शब्दोंका बनता है, वह ही इसका मूल कारण है। बीम्स साहब मानकर भी पूरा ध्यान इस विषयपर नहीं दे सके, इसलिये ही इस भ्रान्तिकी उत्पत्ति हुई है। साहब बहादुरोंने यह तो साफ साफ लिखा है कि 'मिन्न शब्द

दासत्वशृङ्खलमें आवद्ध हो अपनी स्वाधीनताको तिलाँजलि दे सर्वथा पराधीन हो विवशतासे विभक्ति प्रत्ययरूपमे परिणत हो जाते हैं ”; परन्तु आश्चर्य है कि इतना जानने और माननेपर भी विभक्ति प्रत्ययों को न जाने क्यों स्वतन्त्र समझते हैं ? परतन्त्रताको प्रत्यक्ष देखकर भी विभक्तिप्रत्ययोंके पीछे अनोखी स्वतन्त्रताका पुछल्ला लगाकर अल्पज्ञो की भ्रान्तिका बढ़ाना साहबोंको उचित तो नहीं था।

अब यह देखना भी उचित है कि, हिन्दीमे दो शब्दो के मेलसे जिन शब्दो की उत्पत्ति हुई है, वे इस समय एक साथ ही लिखे जाते है या स्वतन्त्र ? इसमे सन्देह नहीं है कि संस्कृतके “कः” और “अपि” शब्दकी सन्धि होकर “कोऽपि” यह रूप बना है। प्राकृतमे रूपान्तरित हो, वह शब्द ही “कोवि” लिखा जाता है। वर्त्तमान हिन्दीका “कोई” शब्द, प्राकृत कोविका ही परिवर्त्तित रूपान्तर मात्र है। इसे मिलाकर लिखना उचित है अथवा को और ईके बीचमें मैदान छोड़ देना चाहिये ? इसी प्रकार एतादृशः कीदृशः यादृशः आदि संस्कृत शब्दो से रूपान्तरित हो ऐसा, कैसा और जैसा आदि शब्द भी हिन्दीमे बन गये है, इनकी लेखप्रणाली कैसी होनी उचित है ? संस्कृतमे प्रश्नमे “किन्तु” प्रयुक्त होता है। प्राकृतमें उक्त “किन्तु” ही “किणो” बन गया दिखता है और सम्भव है कि उस प्राकृत किणोका परिवर्त्तत रूप ही हिन्दीमें “क्यो” वर्त्तमान है। अलग लिखनेके पक्षपाती इनके लिखनेकी कौनसी परिपाटी स्थिर करते हैं ? यद्यपि उनकी भ्रान्त बुद्धि अनुसार शब्दो के आदिरूपमे भिन्न शब्दोंके वर्त्तमान रहनेके कारण अलग अलग लिखना ही बलवत्तर नियम माना जायगा, तो अवश्य ऊपर लिखे शब्दो के अलग लिखनेकी भी व्यवस्था शीघ्र ही होनी चाहिये। ऐसे शब्द हिन्दीमें अनेकों वर्त्तमान हैं और आजतक उनको अलग लिखनेकी चाल हिन्दीमें नहीं है।

दूसरी बात यह भी विशेष विचारणीय है कि सब ही हम ही उस

ही, इन ही आदि शब्दों में 'ही' उपसर्गके स्वतन्त्र वर्त्तमान रहने और व्याकरणके नियमानुसार भिन्न भिन्न लिखनेसे ही इनके अर्थकी सुगमता और लेखशुद्धि सर्ववादिसम्मत है ; परन्तु हिन्दीमे बहुत दिनो से इनको मिलाकर लिखनेकी कुचाल ही चल पड़ी है। यदि इसे कुचाल न मानकर इसकी प्रकृति अनुसार इस मेलको ही व्याकरणका विषय मान लेनेकी सर्वसम्मति ठहरी, तो इसमे सन्देह नहीं कि इससे विशेष सयौक्तिक और बलवत्तम मेल, को, ने, से, में आदि विभक्तिके चिन्हो-का अवश्य मानना ही पड़ेगा। मेरी बुद्धि अनुसार निरपेक्ष भावसे विचार देखनेपर इन ही, इस ही, सब ही, आदिमे हीको अलग लिखना तो व्याकरणानुसार सर्वथा शुद्ध होगा, परन्तु विभक्तिके चिन्हो को अलग लिखना उस अवस्थामें भी अयौक्तिक, निर्म्मूल और अशुद्ध ही ठहरेगा।

सिवा, इसके सम्बोधनका रूप भी हिन्दीमें प्रथमा विभक्तिके सिद्ध रूपसे विभिन्न देखनेमें आता है। यदि विभक्तियों से सिद्धरूप, संस्कृत और प्राकृतकी भाँति वर्त्तमानप्राकृत इस हिन्दीका केवल हठपूर्वक न मानियेगा तो सम्बोधनमे मूल शब्दके रूपान्तर होनेकी भी कोई नवीन व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। बीम्स हार्नलि आदि विदेशी विद्वानो ने अथवा व्यासजीने भी स्वतन्त्र लिखनेके विचारको इत्थमित्थ सिद्धान्त कहीं नहीं ठहराया है। व्यासजी भी "भाषाप्रभाकर" व्याकरणमे एक साथ मिलाकर लिखनेकी सम्मतिके कैसे कट्टर पक्षपाती थे, उनके इस उद्धृत लेखसे ही इसका निर्णय होता है "व्याकरणकी प्रधान आज्ञा ऐसी है कि कोई अपदका प्रयोग न करे और जो जहाँ अपदका प्रयोग देखे वह उसे अशुद्ध समझे। इससे सिद्ध होता है कि निर्वि-भक्तिक शब्द पद नहीं कहाता तो यदि किसी शब्दका नाम भी लिया चाहे तो वह बिना विभक्ति न कहे, तो जब विभक्ति आवेगी तो वह अवश्य कोई कारक रहेगा। इसलिये शब्दके केवल उ

प्रयोजनमें भी प्रथम कारक होता है।" (पृ० १४ टि० १) फिर क्या कारण है कि वैसे सन्दिग्ध विचारोंको मनमाना सिद्धान्त बनाकर व्याकरण और भाषाकी जड़ काटी जाती है? कुछ तो बुद्धि और विवेकको भी निरपेक्षभावसे इस समय काममें लाना अपना कर्त्तव्य, हिन्दीहितैषीमात्रको समझकर लेखनीका सञ्चालन करना उचित है। बात, सोचने और विचारनेकी है।



परिशिष्ट

पहले स्वर्गीय पं० अम्बिकादत्त व्यासजीने प्रकृतिसे विभक्तिप्रत्ययके अलग लिखनेका झगड़ा १८९२ ई० सनमें उठाया था। हार्नली, बीम्स-आदि अंगरेज विद्वानों के लेखोंके आधारपर ही व्यासजीका मत परिवर्त्तन होकर इस वादविवादकी उत्पत्ति हुई थी। परन्तु मीमांसा इस विषयकी उस समय भी कुछ न हो सकी थी, यहाँतक कि स्वयं व्यासजी भी प्रकृतिसे विभक्ति प्रत्ययके अलग ही लिखनेके निश्चित सिद्धान्तपर उपस्थित नहीं हो सके थे। इधर हिन्दी बङ्गवासीके सम्पादक उस समय पं० अमृतलालजी चक्रवर्त्ती थे। इन्होंने व्यासजीके मतका खण्डन प्रकाश्यरूपसे अपने पत्रमें किया और बिहार तथा अन्य प्रान्तों के अनेकों हिन्दीहितैषियोंने भी व्याकरणविरुद्ध अपदका प्रयोग हिन्दीमें न होनेके पक्षको ही पुष्ट किया। परन्तु यथार्थ तर्ककी रीतिसे सिद्धान्त पक्षका अवलम्बन न कर, उस समय भी केवल पक्षपात, हठ और दुराग्रह-वश, "अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग" आलापना ही लोगोंने मुख्य धर्म्म समझा था। इस कारणसे ही व्यासजीके भक्त, अनुयायी और पक्षपाती, प्रकृतिसे विभक्ति प्रत्ययोंको अलग लिखनेपर ही प्रतिज्ञापूर्वक आरूढ़ हो गये थे। इधर हिन्दी बंगवासी आदिमें मिलाकर लिखनेकी प्रथा ही प्रचलित रही।

इस समय सत्रह वर्षोंके बाद पुनः विभक्ति विषयकवाद विशेष प्रबलरूपसे छिड़ गया है, परन्तु दुःखके साथ लिखना पड़ता है कि हठ और दुराग्रहने, अबतक व्यासजीके अनुरक्त भक्त और विभक्ति प्रत्ययोंको अलग लिखनेके पक्षपातियोंका पीछा नहीं छोड़ा है। अपने अपने जीसे

मानकर भी, न माननेको ही बिलगाऊ सिद्धान्त शिरोमणियोंने मानों पण्डितईका निदर्शन समझ रखा है। यथार्थ तर्ककी रीतिसे तत्वनिर्णय करनेकी तो इच्छा ही इस श्रेणीके वादिप्रतिवादियोंकी नहीं दिखती। अन्तको व्यक्तिगत आक्रमण, छल, और वितण्डा बढ़ाकर "तू तू मैं मैं" करनेपर उतारू हो जाना ही इन महात्माओंको सदासे अभ्यस्त है। बाबू भगवानदास हालना, बाबू विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह, लाला भगवान दीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि १२।१३ महाशयोंने विभक्ति प्रत्ययोंको प्रकृतिसे अलग लिखनेका पक्षसमर्थन, यथासाध्य किया; और पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० जीवानन्द शर्म्मा-काव्यतीर्थ, पं० सकलनारायण पाण्डेय, पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पं० अनन्तराम त्रिपाठी आदि अनुमान १७।१८ हिन्दीहितैषी विद्वानोंने यथामति इस पूर्वपक्षका खण्डनकर, प्रवल युक्ति और प्रमाणके बलसे, व्याकरणोंके अखण्डनीय सिद्धान्तके सर्वथा विरुद्ध "अपद्का" प्रयोग रहित करनेकी प्रार्थनापूर्वक, को, ने, से, में आदि निरर्थक अक्षरोंको प्रकृतिसे अलग न लिख, व्याकरणके नियमोंसे सुसिद्ध, विशुद्ध "रामने, हरिको, श्यामसे" आदि सार्थक पदोंको विभक्तिचिन्हों से एकरूप हो मिले हुए, यथार्थरूपमें लिखनेके प्रवल पक्षको ही पुष्ट किया। विभक्ति प्रत्ययोंको अलग लिखनेके पक्षपातियों से इनके प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर भी न दिया गया और अपने पक्षका ठीक ठीक समर्थन भी न होसका। अनेकों की व्याकरणकी अनभिज्ञता अवश्य इस वादमें चौड़े आगयी।

अबकी इस बातकी प्रवृत्ति, पं० सखाराम गणेशदेउस्कर महाशयके सन् १९०८ इस्वीकी तारीख २ दिसम्बरके "विभक्ति प्रत्यय" शीर्षक पत्रके सामयिक पत्रोंमे प्रकाशित होनेसे ही हुई दिखती है। देउस्कर महाशय, दुराग्रह अथवा पक्षताभिमानसे उक्त पत्र प्रकाशित करते तो दूसरी बात थी। परन्तु जब उक्त पण्डितजीने सरलचित्तसे जिज्ञासु बनकर शंकासमाधानकी इच्छासे ही हिन्दीके विशिष्ट विद्वानों से

सविनय प्रार्थना की थी, तब हिन्दीके सुप्रसिद्ध नामी विद्वानों का—विशेषकर विभक्ति प्रत्ययो को अलग लिखनेके पूरे आग्रही महानुभावों का यह अवश्य कर्त्तव्य था कि उनकी शंकाओं का यथोचित समाधान कर उन संशयों को निर्मूल कर देते। देउस्कर महाशयने अपने उस पत्रमें स्पष्ट ही लिखा था कि—"…… हिन्दीमे प्रकृतिसे विभक्ति अलग लिखनेकी जो प्रथा पड़ गयी है उसका कुछ विशेष कारण या इतिहास अवश्य होगा। वह कारण या इतिहास जाननेके उद्देश्यसे यह चिट्ठी मैं आपके सम्माननीय पत्रद्वारा विद्वान् हिन्दीलेखकों को उद्देश्य-कर लिख रहा हूँ। खासकर जब "सरस्वती" के समान अति प्रसिद्ध और हिन्दीभाषाकी सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिकामे "प्रयागसे" न लिखा जाकर "प्रयाग" और 'से" के बीचमे केवल "स्पेस" ही नही वरं एक अल्पविराम (Comma) भी दिया जाता है तब तो इस विशिष्ट प्रथाका इतिहास जाननेकी लालसा और भी बलवती होती है। आजतक मैंने अपने हिन्दुस्थानी मित्रों को 'बनारससे आये' "गोपालको ज्वर आता है" इत्यादि वाक्य बोलनेके समय मूल शब्द और विभक्तिके बीचमें—जैसा-कि विरामचिन्ह द्वारा "सरस्वती" में दिखाया गया है,—विश्राम लेते कभी नहीं सुना है। इस प्रकार बोलनेके समय जिन अक्षरों के बीचमे कभी विश्राम नही लिया जाता, छपे हुए-पुस्तको मे उन्हींके बीचमे विरामचिन्ह और स्पेस देखकर इसका कारण जाननेकी इच्छा उत्कट हो उठती है; मेरी इस शंकाका यदि हिन्दीभाषाके कोई विद्वान् निर-सन करनेका कष्ट उठावेंगे तो उनके मुझपर बहुत उपकार होंगे।"

"एक और बात। फोनोग्राफके रेकर्ड देखनेका जिन्हे मौका मिला है वे जानते होंगे कि वक्ता या गायक जहाँ जितना विश्राम लेता रेकर्ड पर वहाँ उतनी ही जगह खाली रह जाती है। पर जहाँ वक्ता गायक विश्राम नहीं लेता रेकर्डपर वहाँ जगह कभी खाली नही रहती। शब्दों के आघातसे यन्त्रद्वारा जो क्रिया रेकर्डपर होती है वही

किया लेखक हस्त द्वारा कागजपर करता है। अर्थात् यहाँ वहाँ दोनो जगह शब्दों का उच्चारण और लिखित चिन्हो में एक प्रकारका अनुल्लङ्घनीय सम्बन्ध है; भाषा जितनी अधिक उन्नत होती हैं, यह सम्बन्ध उतनाही दृढ़तर होता जाता है। यही बात इस देशमे प्रचलित अन्यान्य देशी भाषाओ मे देखी जाती हैं। पर केवल हिन्दीमे ही इसका विपर्य्यास देखकर अन्य भाषाभाषी भारतसन्तानों को अचम्भेमें पड़ना पड़ता है। इस अवस्थामें किसीका यह समझना कि इस प्रणालीकी जड़में कोई प्रबल कारण अवश्य होगा" अनिवार्य्य है।

पं० देउस्करजीकी प्रकाशित ऊपरकी इन पंक्तियोंमे जिस शंकाकी निवृत्तिके लिये जिज्ञासा है, उसका समाधान करना सबसे पहिले सरस्वतीके सुप्रसिद्ध सम्पादक पण्डितवर महावीर प्रसाद द्विवेदीजीको ही उचित था; क्योंकि सरस्वतीमे मुद्रित "प्रयाग" और 'से' इन दोनोंके बीचमें अवकाश छोड़नेके साथ ही स्वल्प विराम चिन्हको भी सुप्रयुक्त देखकर ही देउस्करजीको इस विषयकी प्रबल शंका उत्पन्न हुई थी। जिस विद्वानका लेख देख, शंका उत्पन्न हो और उसकी निवृत्तिके लिये प्रकाश्यरूपसे प्रार्थना भी की जाय, उस विद्वानका ही सबसे पहला कर्त्तव्य है कि या तो शंकाका समाधान उत्तम रीतिसे कर दे; अथवा समाधान होने योग्य शंका न हो तो सरल भावसे अपनी भूलको ही स्वीकार कर ले। ऐसे जिज्ञासूसे उपेक्षा-प्रदर्शनपूर्वक सर्वथा मौन धारणकरलेना न तो सज्जनोंका धर्म्म ही है और न ऐसे आचरणसे पण्डितोंकी प्रतिष्ठा ही विशेष बढ़ सकती हैं। दुःखका विषय है कि इन बातोंके पूरे अभिज्ञ होने पर भी (किसीकी प्रार्थना पर ध्यान देना, या) इन शंकाओंका समाधान करना पण्डितवर महावीरप्रसाद द्विवेदीजीने अपना कर्त्तव्य न समझा और अबतक इस विषयमें अपने श्रीमुखसे एक अक्षर भी न निकाला। सम्भव है कि आपकी ही देखादेखी अन्यान्य वयोवृद्ध विलगाऊ सिद्धान्तशिरोमणि विद्वानोने भी गुप्पी साधी हो जो

कुछ हो, ऐसे आचरण, हिन्दी साहित्यकी उन्नतिके सर्वथा बाधक हैं, इसमें सन्देह नहीं।

उपस्थित इस वादमें प्रकृतिसे विभक्ति प्रत्ययों को अलग लिखनेके पक्षपाती जो सर्वथा निग्रहकोटिमें आकर परास्त होगये हैं, इसके प्रत्यक्ष प्रमाण तो, नीचे लिखी बातोंको ध्यानसे पढ़कर भलीभाँति विचार देख-नेसे ही मिल जायँगे।

१। स्वर्गीय पं० अम्बिकादत्त व्यासजीने सबसे पहले—"हिन्दीमे कुछ सर्वनाम शब्दोंमे विभक्ति लगानेपर प्रकृतिका एकदम रूपान्तर होजाता है ; किन्तु संज्ञावाचक शब्दो में विभक्ति लगानेपर मूल शब्दका रूप वैसा ही बना रहता है, अतएव सर्वनामको छोड़ विभक्ति चिन्ह अलग लिखे जायें।" इस मूल भित्तिपर ही अपने पूर्वपक्षको स्थापित-कर विभक्तिविचार-विषयक वादका श्रीगणेश किया था। यह हो मानों तर्कके प्रवृत होनेके लिये पूर्वपक्षस्थापक पण्डितवर अम्बिकादत्त व्यासजीकी "प्रतिज्ञा" थी। इसकी पोषकतामें ही काशीकी नामी नागरीप्रचारिणी सभाने भी कुछ दिनो बाद प्रकाशित किया था कि "विभक्ति सर्वनामके साथ तो मिलाकर लिखी जाय पर संज्ञासे अलग, क्योंकि—सर्वनामके कुछ शब्दोंमें जैसे मेरा, तेरा, तुम्हारा, हमारा, मुझे आदिमे विभक्ति शब्दके साथ मिलगयी है परन्तु संज्ञाके साथ कहीं भी विभक्तियोंका रूपान्तर नहीं हुआ है। इसलिये सब सर्वनाममे एक ही नियमका वर्ताव हो। इसी मतको अधिकांश लोग पुष्ट करते हैं। इस विषयमें पहिले साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यासने बहुत कुछ आन्दोलन किया था और उस समय भी अधिकांश सम्मति इसी मतके पक्षमे थी इसलिये यही सिद्धान्त ठहरता है कि विभक्ति संज्ञासे अलग और सर्वनाममे मिलाकर लिखी जाय और जहाँ सर्वनाम-मे दो विभक्तियाँ एक साथ आवे वहाँ एक मिलाकर और दूसरी अलग

लिखी जाय और जहाँ विभक्तिके पूर्व 'ही' शब्दका निपात हो वहाँ विभक्ति 'ही' से अलग लिखी जाय।"

इस पूर्वपक्षके खण्डनमे व्यासजीके मतके विरुद्ध, उनकी जीविताऽवस्थासे इस समयतक, अनेकों प्रतिवादी पण्डितो ने "रामरे में, लड़केको, घोड़ो से, लड़ो से, लड़कियों ने" आदि संज्ञाओं के परिवर्त्तित सिद्धरूप विभक्तिसे मिलकर एकरूप बने हुए बारम्बार दिखाये है। परन्तु निग्रह कोटिमें आ, चुप रहनेके सिवाय, इसका कुछ भी उत्तर देनेकी सामर्थ्य, प्रतिवादियों में एककी भी न देखनेमें आयी।

शास्त्रों मे—वादमें प्रवृत्त विचारककी 'विप्रतिपत्ति' अर्थात् विपरीत ज्ञान, अथवा 'अप्रतिपत्ति' वा अज्ञानके चौड़े आजानेको 'निग्रह-स्थान' कहते हैं। पहिले एक प्रकारकी प्रतिज्ञाकर, चलतेहुए तर्कमें अपनी उस पहिली प्रतिज्ञाका त्याग करना, या प्रतिपक्षीके दोष न दिखाने, और अपनी उक्तिपर आरोपित दोषों का उद्धार न करना आदि और भी "निग्रह-स्थान" माने गये हैं। अर्थात् तर्कके शास्त्रोक्त नियमानुसार, जिसकी 'प्रतिज्ञाहानि' होगी वह निग्रह कोटिमें रुद्ध, अवश्य 'निगृहीत' वा 'पराजित' हुआ ही समझा जायगा। "प्रतिज्ञाहानि" "प्रतिज्ञान्तर" "प्रतिज्ञाविरोध" "प्रतिज्ञा सन्यास" "हेत्वन्तर" "अर्थान्तर" "अज्ञान" "अप्रतिभा" "विक्षेप" "अपसिद्धान्त" और "हेत्वाभास आदि सब बाईस प्रकारके निग्रहस्थान हैं। वादी उनमें चाहे किसी एक निग्रहस्थानमे जब आफँसता है तब निस्सन्देह पराजित ही माना जाता है। इस वादमे विभक्तिको अलग लिखनेवालों का बारंबार निगृहीत और पराजित होना तो इससे ही सुस्पष्ट है कि अपनी पहिली प्रतिज्ञाको छोड़, प्रथम तो अलग लिखनेको स्वर्गीय "व्यासजीका स्मारक" माननेकी नयी युक्ति निकालने दौड़े। परन्तु इस युक्तिसे भी कार्य्य सिद्ध न हुआ देख, 'इसे हिन्दी भाषाकी एक जुदा खूबी' वा अलग अलग लिखनेके कारण पढ़नेमें अधिक सुभीता" तथा 'भूमिका' 'देवकी' 'उसने चावल' आदिमें अर्थके

भ्रान्ति, आदि मनमाने छलों से, यथार्थमें निर्णय और तत्वबोध होनेमें यथाशक्ति अवरोध और विक्षेप उपस्थित करने लगे। यहाँ तक कि "सतरह वर्षके पूर्व ही इस बातका निर्णय हो चुका है कि विभक्तिके प्रत्यय प्रकृतिसे पृथक ही लिखे जाने चाहियें। अतः इस समय इस विषयकी चर्चा अनावश्यक ही नहीं, किन्तु बापुरी हिन्दीकी उन्नतिके मार्गकी अवरोधक है। अतः इस समय देउस्कर महाशयका इस विषय-की चर्चा छेड़ना अनावश्यक है।" इस प्रकारकी निरी असत्य, निर्मूल और थोथी युक्तियोंका आसरा भी अनन्योपाय हो वादियोंको लेना पड़ा परन्तु फलसिद्धि इनसे भी कुछ न हुई। जिस विषयका यथार्थनिर्णय वा सर्ववादिसम्मतसिद्धान्त हुआ ही नहीं, उसे धींगाधींगी 'निर्णय' प्रतिपन्न करनेकी धूर्त्ततापूर्वक चेष्टा करना निःसन्देह अनोखी धृष्टता है। न तो इस विषयका निर्णय होकर स्थिर सिद्धान्त स्वर्गीय पं० अम्बिकादत्त व्यासकी जीवितावस्थामें ही होने पाया था और न उनकी शोचनीय मृत्युके बाद ही आजतक भी, हठ और दुराग्रहके कारण होने पाता है। सन १९०० ईस्वीक तारीख ८ वीं जनवरीको काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभाने साधारण अधिवेशनमें अपनी लेख लिपिप्रणा-ली 'पास' करनेके समय यह भी स्पष्ट रूपसे और सर्वसम्मतिसे 'पास' किया था कि "भविष्यत्में जबतक कोई दूसरी सम्मति युक्तिपूर्ण न उपस्थित हो और सभा उसपर विचार न करले तबतक सभाके प्रबन्धकर्त्तागण ध्यान रखें कि सभाद्वारा प्रकाशित पुस्तकों आदिमें इस रिपोर्टमें निश्चित सिद्धान्तोंका पूर्णतया अनुकरण हो।" सभाको अपने किये उस समयके निर्णयसे यथोचित सन्तोष न हुआ था यह तो इस उद्धृत लेखसे ही स्पष्ट होता है। दूसरी प्रबलतर युक्तिपूर्ण सम्मतिकी अपेक्षा वा आशा सभाको बनी ही रही और इसलिये ही सभाका उक्त सामयिक विचार भी सदाके लिये पक्का नहीं हो सका। सच पूछिये तो सभा अपनी प्रतिज्ञानुसार इस समय फिरसे इसका

विचार करनेमें वाध्य है। इस समय उपयुक्त और इस विचारके यथार्थ अधिकारी आग्रहशून्य सुपण्डितोंकी ही अधिक सम्मतिसे इसका निरपेक्ष विचारपूर्वक स्थिर सिद्धान्त करा लेना ही सभाका अवश्य कर्त्तव्यधर्म भी है। इस विषयमें उदासीनता, दुराग्रह, वा हठसे वृथा कालविलम्ब करना हिन्दीकी होनहार उन्नतिकी राहमें काँटे-बोने ही हैं।

अबकी इस वादमें को, ने, से, में आदिको संज्ञाशब्दोंसे अलग लिखनेके पक्षपाती वादि-प्रमुखोंके पूर्वपक्षके खण्डनमें उनकी मुख्य मुख्य प्रत्येक शंकाका यथोचित समाधानपूर्वक युक्तियुक्त उत्तर पं० गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० माधवविष्णु पराड्कर, बाबू दुर्गाप्रसाद खेताण, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० जीवानन्दशर्म्मा काव्यतीर्थ, स्वामी रामकृष्णानन्दगिरि, पं० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी आदि हिन्दी हितैषी विद्वानोंने और भारतमित्र, आर्य्य-मित्र, शिक्षा आदि सामयिक पत्र-पत्रिकाके सम्पादकोंने विस्तारसे दिया है; इसलिये उनके दोहरानेकी यहाँ कुछ भी आवश्यकता नहीं है। प्रार्थना है कि उन मुद्रित लेखोंको श्रीवेंकटेश्वर समाचार, भारतमित्र, हितवार्त्ता, अभ्युदय, शिक्षा आदिके उन अंकोंमें अवश्य ध्यानसे पढ़कर हृदयङ्गम करलें। इस परिलेखमें तो केवल वैसे विषयोंपर ही विवेचना करनी है कि जिनका उल्लेख इस प्रसंगमें अबतक नहीं हुआ; अथवा जिनपर विशेषरूपसे विचारकी आवश्यकता है।

१। मुंहसे बोले हुए शब्दोंकी चिरस्थायिता और दूरके निवासी मनुष्योंसे भविष्यमें भी सम्भाषणके उद्देश्यसे ही अक्षरोंकी कल्पित आकृति, वा लिखी वर्णमालाकी अर्थात् लिपिकी सृष्टि हुई। इसलिये भाषाकी ऐनमैन प्रतिमूर्त्ति वा मुंहसे उच्चारित शब्दोंके यथार्थ छाया-चित्ररूपसे ही लिपि, यथार्थतः दृष्टिगोचर होती है। जिस अक्षर और शब्दोंका जिसके बाद जिस क्रमसे जैसा भाव प्रकाशित करनेको प्रयोग

किया जाता है, लिखित वा मुद्रित लिपि, उसको तदनुरूपही प्रकाशित करती है। स्म, स्व, आदि युक्ताक्षरों का उच्चारण जैसा मुखसे एक साथ मिलाकर किया जाता है, तदनुरूप ही एक अभिन्न आकृति भी लिपिकृत उन अक्षरो की रहती है। जिस शब्दके व्यक्त करनेमें जितने अक्षर क्रमसे उच्चारित होते हैं उतने ही ठीक उस ही क्रमसे लिपिमें भी लिखे जाते हैं। समयका जैसा अन्तर एक शब्दके बाद दूसरेके उच्चारणमें रहता है उस अनुमानसे ही पत्रपर अवकाश छोड़कर दूसरे शब्दके लिखनेकी परिपाटी है। केवल अवकाश छोड़ने मात्रसे पूरा पूरा प्रयोजन सर्वत्र सिद्ध न होता देख कर ही 'स्वल्पविराम' 'पूर्णविराम' आदि चिन्हो का प्रचलन भी वर्णमालाके साथ विद्वानों ने चलाया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस विषयमें ड्रेउसकर महाशयने 'फोनोग्राफ' यन्त्रके रेकर्डका दृष्टान्त देकर जैसी उत्तमतासे समझाया है उससे अधिक स्पष्टरूपसे समझाना हो ही नहीं सकता। उनका यह लिखना अक्षरशः सत्य है कि—"वक्ता या गायक जहाँ जितना विश्राम लेता है रेकर्डपर वहाँ उतनी ही जगह खाली रह जाती है।" पर जहाँ वक्ता या गायक विश्राम नहीं लेता रेकर्डपर वहाँ जगह कभी खाली नहीं रहती। शब्दों के आघातसे यन्त्र द्वारा जो क्रिया रेकर्डपर होती है वही क्रिया लेखक हस्त द्वारा कागजपर करता है। अर्थात् वहाँ यहाँ दोनो जगह शब्दों के उच्चारण और लिखित चिन्हों में एक प्रकारका अनुल्लङ्घनीय सम्बन्ध है। भाषा जितनी अधिक उन्नत होती है यह सम्बन्ध उतना ही दृढ़तर होता जाता है।" इस सर्वोत्तम दृष्टान्तके आधारपर जिस शंकाका समाधान ड्रेउस्कर महाशयने चाहा था, दुःखका विषय है कि न तो किसीने उसका समाधान ही किया और न इस उक्ति-युक्तिका समझ कर यथोचित खण्डन ही किया।

वर्णमालाकी सर्वोत्तमता और श्रेष्ठताका प्रत्यक्ष प्रमाण ही यह है कि भाषा और भावकी अनुरूप रूपछविके यथासाध्य प्रत्यक्ष दर्शानेमें

तिलमात्र अन्तर भी कहीं न होने पावे। देवनागरी लिपिकी सर्वसम्मत श्रेष्ठता भी इस कारणसे ही संसारमें मानी गयी है कि भाषाको यथार्थ अविकृतरूपसे सर्वाङ्गसुन्दर लिपिबद्धकर दिखानेकी जैसी शक्ति इसकी है वैसी अंगरेजी, पारसी, हिब्रू आदि दूसरी वर्णमालाओंमें एककी भी नहीं है। उर्दू, पारसी, मुड़िया आदि वर्णमालाओंमें ये दोष प्रत्यक्ष देखे सुने जाते हैं कि लिखाया कुछ और ही गया, पर लोग पढ़ते कुछ और ही हैं। स्वर-व्यञ्जनोंकी न्यूनता, अक्षरोंकी अस्पष्टता, वर्णोंके सिरपर मात्रा वा लीकके अभावसे पदच्छेदकी अस्थिरता आदि विविध त्रुटियोंके कारण ही दूसरी वर्णमालाकी सामर्थ्य, हमारी सर्व-गुण आगरी इस देवनागरीकी समता करनेकी कभी हो ही नहीं सकती। भाषाको यथार्थरूपमें लिपिबद्ध करनेमें अर्थात् ठीक जैसी बोली जाती है वैसी ही लिखकर दिखानेमें, हमारी देवनागरीकी वर्णमाला अद्वितीय है। रामको, घरसे, जलमें आदि संज्ञापदोंका उच्चारण हिन्दीभाषामें बिना कहीं रुकावटके एक साथ ही होता है। राम, घर, वा जल कहकर कुछ देरतक रुकनेके बाद, को, से, में, आदिका अलग उच्चारण कोई नहीं करता। यहाँतक कि हठ और दुराग्रहवश जो लोग को, ने, से, मे आदि निरर्थक अक्षरोंको संज्ञासे अलग, कुछ अवकाश छोड़कर या लघुविराम चिह्नतक बीचमें लगाकर लिखते हैं, वे भी उच्चारण इन पदोंका बिना रुकावटके, एक साथ ही करते हैं। इस दशामें उच्चारणके अनुरूप लिखना ही ठीक और विशुद्ध माना जा सकता है; यह कभी नहीं हो सकता कि जिन पदोंका उच्चारण बीचमें बिना रुकावटके होता है, उनको लिखनेके समय, अक्षरोंके बीचमें (इच्छानु-सार, वा हठवश) व्यर्थको मैदान छोड़ दिया जाय। मुँहसे पदोंके उच्चारणके अनुसार पदविन्यासमें विराम-क्रमसे ही न्यूनाधिक अवकाश छोड़कर लिखना, अथवा विराम चिह्नके प्रयोग आदि, लिपिप्रणालीमें विधिपूर्वक ही प्रचलित किये गये हैं। स्वेच्छापूर्वक, युक्ति और

नियमके विरुद्ध, अर्थहीन को, ने, से, में आदिका अलग लिखना इसलिये, सर्वप्रथम तो लिपिकी अशुद्धिमें अवश्य ही गिना जायगा। क्योंकि कहना कुछ और, लिखना कुछ और ही क्रमसे, हमारी भाषाकी प्रकृति और लिपिकी विरुद्धतासे सम्पूर्ण विरुद्ध और अशुद्ध भी है।

केवल एकपक्षका दोषमात्र दिखानेको, वा मनमाने दोषारोपको ही 'तर्क' 'वाद' वा) यथार्थ विचार' नहीं मानना उचित है। निरपेक्ष और सच्चे विचारोंका यह धर्म्म भी नहीं है। निरे पक्षपातसे जिनकी बुद्धि अन्यायका अनुसरण करने दौड़ती है वे ही 'भूमिका' 'देवकी' आदि शब्दोंका उदाहरण दिखा, झूठी धाँधल मचा, छलसे लोगोंको कुतर्ककी भूलभुलैयाँमें भटकाकर अपनी कुअभिसन्धि सुसिद्ध करनेका निन्दनीय प्रयत्न करनेसे भी नहीं हिचकते। प्रथम तो प्रकरण-ज्ञान और अर्थ समझनेके उपयुक्त साधनोंसे ही अर्थ समझा जाता है। को, ने, से, आदिके अलग लिखने वा मिलाकर लिखनेसे, इसका सम्बन्ध नहीं है। विचारकी बात है कि—इस विषयकी शिक्षाके लिये भी हमारे प्रातः-स्मरणीय सुविज्ञ ऋषियोंने और पूर्वज ज्ञानियोंने शास्त्रोंका अभाव नहीं रहने दिया है। तथापि इस तुच्छ छलका आसरा लेनेवालोंने, 'रोटी की' 'दाल की' 'पूरी की' 'लड़ाई की' आदि, नित हरघड़ीके मुहंचढ़े शब्दोंमें प्रत्यय अलग लिखनेसे अर्थान्तर कैसा अनिवार्य्य होजाता है? इसका विचार करना भी मानों अपनी धुनके आगे उचित ही न समझा। पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयीने 'कलका जल' 'बालके बढ़ानेसे' 'लोटकी गिनती' 'नलका हाल कहो' 'उसका दिया था'? आदि अनेकों उदाहरणोंसे भली भाँति सिद्ध किया है कि अलग लिखनेकी पुष्टिमें ऐसे छलोंका आश्रय लेनेवालोंका पक्ष कैसा दुर्बल और सारहीन है। साथ ही विभक्ति प्रत्ययोंके अलग लिखनेमें पढ़नेमें अधिक सुबीता दिखाना भी अब वादियोंको इससे ही असम्भव हो गया।

जिस भाषामें जितनी सी और जिस रीतिकी विशेषता स्वाभाविक वर्त्तमान हो, उसका ध्यान विज्ञ विवेचकों को अवश्य रखकर ही विचार करना जैसा उचित है, केवल बात बातमें 'एक जुदा खूबी,' कहकर युक्तियुक्त कथनको भी हवामें उड़ा देनेकी चाल करना, वैसा ही नहीं, वरुक उससे भी कहीं बढ़कर अनुचित है। अपनी जननी संस्कृतकी अपेक्षा इस विषयमें हिन्दीकी विशेषता कैसी और किस अंशमें कितनी सी है ? उसका विचार आगे चलकर यथासाध्य किया जायगा।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि सबसे पहले कलकत्तेसे ही हिन्दीकी पुस्तकोंका छपना आरम्भ हुआ था। मुन्द्रायन्त्रमें शीशेके ढले हुए अक्षरोंसे छापनेकी विलायती नयी आविष्क्रियाका चलन भी भारतवर्षके आर्य्यावर्त्त भरमें यहाँसे ही फैला और अंगरेजोंसे ही छापेखानेकी यावतीय कलाओंको यहाँके लोगोंने सीखा। "सङ्गीत-रागसागर-कल्पद्रुम" "प्रेमसागर" "तुलसीकृत रामायण" "बैताल-पचीसी" आदि हिन्दी पुस्तकें सबसे पहले यहाँसे ही छपकर प्रकाशित हुईं। इस समय यद्यपि सबसे पहले छपी हुई पुस्तकोंका अभाव सा है, तथापि खोजकर उन अतिप्राचीन पुस्तकोंको देखनेपर विदित होता है कि या तो पंक्तिकी पंक्तिके सब अक्षर और शब्दमात्र आपसमें सटे हुए छपे हैं, कहीं तिलभर अवकाश भी नहीं छूटने पाया है; या किसी पुस्तकमें को, ने, से में, आदि मूल शब्दोंसे अलग और अवकाश छोड़कर ही छापे हुए हैं। "संगीत रागसागर-कल्पद्रुम" नामकी पोथीको छपे भी अनुमान सौ वर्ष होने आये। उस समय भी उसका मूल्य १००) सौ रुपये था और कई खण्डोंमें बहुत बड़ा ग्रन्थ छपा था, परन्तु इसमें प्रायः प्रति पंक्तिके शब्द मात्र सटाकर ही छापे गये हैं। जहाँ अवकाश छोड़नेकी आवश्यकता थी वहाँ भी अवकाश नहीं छोड़ा है। सन १८५३ ईस्वी सनमें कलकत्तेकी स्कूलबुक-सोसाइटीसे एक छोटासा "हिन्दी भाषाका व्याकरण" छपा था। सन १८७० ईस्वीमें पादरी विलियम एथरिङ्गटनने "The

Students Grammar of the Hindi Language" इस नामका एक दूसरा एक व्याकरण भी छापा। इन दोनोंमे प्रथम, अर्थात् स्कूलबुक सोसाइटीके व्याकरणमें तो विभक्ति प्रत्यय साथ मिले हुए हैं, परन्तु पादरी साहबके व्याकरणमें अलग और मिले हुए दोनों प्रकारके उदाहरण दिखते हैं। परन्तु दूसरे संस्करणमें पर्थारिङ्गटन साहबने भी विभक्ति प्रत्यय प्रकृतिसे मिलाकर ही छपाया। स्वर्गीय प० दामोदर शास्त्रीने ही सम्भव है कि सबसे पहिले, स्वरचित व्याकरणमें शब्दोंके रूपसाधनमे कर्त्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके प्रयोगका यथोचित खण्डन कर, प्रथमा द्वितीया, आदि विभक्तिके शब्दका प्रयोग उसके बदलेमें करनेके साथ ही इसका युक्तियुक्त प्रतिपादन भी किया था। संवत् १९३८ विक्रमाब्दमें "हरिश्चन्द्रचन्द्रिका और मोहनचन्द्रिकाके" सम्पादक भी आप ही थे और चन्द्रिकामे बराबर विभक्तिप्रत्ययोंको शब्दोंके साथ मिलाकर ही लिखते थे। स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने भी इनके मिलाकर लिखनेका कभी खण्डन नहीं किया था। अति प्राचीन हाथकी लिखी पोथियोंमें विभक्ति-प्रत्यय मिलाकर ही लिखे हुए देखनेमें आते है। इन प्रत्यक्ष प्रमाणोंको देखकर भी जो लोग "मिलाकर लिखनेकी चाल पं० अमृतलाल चक्रवर्तीने चलायी है" यह कहनेका दुस्साहस दिखाते हैं, वे निस्सन्देह भूलते हैं। इस विषयमें पं० गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्रीने विदेशियोंसे ही इस कुप्रथाके क्रमक्रमसे फैलनेका जो अनुमान किया, उसकी सचाईमें सन्देह करनेका भी कोई कारण नहीं दिखता ; परन्तु इस कुप्रथाको बराबरके लिये प्रचलित रखनेके पक्षपाती इधर कुछ दिनोंसे हठवश "चन्दा के लिये" "कलकत्ता में" "लड़का को" "लोहासे" आदि अशुद्ध प्रयोग जान बूझकर भी केवल इसलिये ही करने लगे हैं, कि जिसमें मूलशब्दके रूपपरिवर्त्तनकी यथार्थताको छिपा, झूठी धाँधल मचानेका लोगोंको भविष्यमें इन उदाहरणोंसे कुछ सहारा और अवसर मिल सके। विभक्तिविषयक वादके कुछ दिनों बादसे ही इस अभिनव, विशेष निन्दनीय, दूसरी कुप्रथाका फैलाया भी,

हिन्दीपत्र सम्पादकोंमें कई एक आगमसोची सुचतुर महापुरुषोंने फैलाना आरम्भ कर दिया है। विदेशियोंको चलायी एक कुचालके कारण तो हिन्दी साहित्यकी आज यह दुर्दशा हो रही है। अब घरके शत्रु, इस दूसरी कुचालसे, देखा चाहिये इसकी और क्या क्या दुर्दशा कर दिखावें? हिन्दीहितैषीमात्रका कर्त्तव्य है कि इस प्रकारकी विविध अशुद्धियोंके संशोधनका और ऐसी दुष्टाभिसन्धिपूर्ण कुप्रथाके रोकनेका, शीघ्र ही यथोचित सुप्रबन्ध करें।

अङ्गरेजी शिक्षाका प्रभाव भारतीय प्रजापर दिनपर दिन तीव्रता और शीघ्रतासे उत्तरोत्तर विशेष पड़ रहा है। यहाँतक कि संस्कृतके विद्वान भी अङ्गरेजी पढ़कर ऐसे उच्छृङ्खल हो जाते हैं कि पूज्यपाद महर्षियोंके सुदृढ़ सिद्धान्तोंको पददलित कर, मनमाना पाण्डित्य बघारनेमें और अपनी बुद्धिके घमण्डके मारे प्रौढ़ विद्वानोंको तुच्छ समझ, उनके समुदायका अपमान करनेसे भी किञ्चिन्मात्र नहीं हिचकते। अङ्गरेजी शिक्षामें सद्गुणोंका सर्वथा अभाव ही नहीं है: उसके बहुतसे सद्गुणोंको भी हम मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं। परन्तु इसके साथ ही यह भी कहना ही पड़ता है कि उच्छृङ्खला, स्वेच्छाचारिता और गुरुजनोंमें यथोचित भक्तिका अभाव आदि कुछ ऐसे वैढव दुर्गुणोंका इससे नित्य सम्बन्ध सा देखनेमें आता है कि जिसके कारण, हमारा शिक्षित समाज अशिक्षितोंसे भी बढ़कर उद्दण्ड और कुपथगामी होता जाता है। अपनी सामान्य बुद्धिके आगे असामान्य धी-शक्तिसम्पन्न महर्षियोंका भी बातबातमें अपमान करना इस समय, इस श्रेणीके सुसभ्य कहानेवाले पण्डितम्मन्योंको, बायें हाथका खेल सा है। बढ़ी हुई अङ्गरेजभक्तिके कारण, साधारणसे अङ्गरेजकी उक्तिको वेदवाक्यसे बढ़कर मान लेनेकी और यथार्थ विचारकी तुलापर धर कर उसका गुरुत्व न देखनेकी, अन्धपरम्परा जब कि, शिक्षित समाजमें ही अन्धाधुन्ध बढ़ती जाती है; तब दूसरोंकी बात ही क्या? बिना कुछ सोच विचारके सब बातोंमें यथा-

शक्ति अङ्गरेजोंका अनुकरण करना इस कारणसे ही यहाँ विशेष बढ़ रहा रहा है। हिन्दीभाषा और व्याकरणके गूढ़तत्वोंको भी अब तो इस अन्धी अनुकरणप्रियताने ठेसोंके उठाकर दे मारा है। हिन्दी साहित्यकी लिपि-प्रणालीकी विशुद्धताको लीप पोत बराबर करनेके साथ ही व्याकरणकी अन्यान्य विचारणीय नियमावलीके निर्णायकोंमें भी फूट फैलानेमें इसने अच्छी सिद्धि पायी। इसके अतुल प्रभावसे ही आज हिन्दीसाहित्यसेवी अति सामान्य सामान्य सी बातोंमें भी एकमत न हो, घरका फूटका आल्हा, ऊँचे स्वरसे आलाप रहे हैं। मातृभाषाका अङ्गभङ्ग कर उसे विकलांगिनी बनाना ही परम पुरुषार्थ समझ रहे हैं। सुमति और एकतासाथ एकाग्रवृत्तिसे साहित्यकी सुन्दरता सम्पादन पूर्वक उन्नति करना तो इनके लेखे मानो महापाप है। केवल अङ्गरेजीके अनुकरण करनेपर ही ये लट्टू हो रहे हैं।

आर्य्यभट्टका परम दुर्भाग्य था, कि वे इस अभागे भारतवर्षमें उत्पन्न हुए। नहीं तो, उनके ग्रन्थोंके आज वर्त्तमान रहनेपर भी शिक्षित समाजमें न्यूटन साहबके नामका डंका माध्याकर्षणके अभिनव आविष्करणके लिये क्यों दिया जाता है? क्या नवीन आविष्क्रियाका, अंगरेज, अँगरेजी और अँगरेजी शिक्षासे ही अनन्य और नित्य सम्बन्ध है; क्योंकि जो ऐसा न होता तो वैयाकरण-शिरोमणि महर्षि पाणिनि, मरणान्त परिश्रम करनेपर भी "व्याकरण शैलीके एक नये आविष्कर्त्ताकी" उपाधि प्राप्त करनेका गौरव लाभ किये बिना, कोरे ही क्यों रह जाते? क्या कहें, बेचारे बूढ़े पाणिनी बाबा भी जो कहीं इस समय जीते होते और अङ्गरेजीके पन्ने उलट, बी० ए० एम्० ए० आदि डिग्रीकी उपाधिका दुछल्ला अपने उस पुराने खूसट नामके पीछे खुंसवा ले सकते तो निस्सन्देह नये "आविष्कर्त्ता" कहानेका तो गौरव पा जाते। परन्तु उनके भाग्यमें विधाताने ये सौभाग्यशाली अंक ही न लिखे थे! इससे बूढ़े बाबा तो कोरे ही रह गये। अस्तु!

सौभाग्यवश, इस विभक्तिवादके झगड़ोंके कुछ दिनोंके पीछे "हिन्दी व्याकरणसार" दृष्टिगोचर हुआ। निस्सन्देह इसके रचयिता संस्कृत और अंगरेजीके सुपण्डित, साहित्याचार्य्य, रामावतार शर्म्मा एम० ए० उपाधिधारी, एक सुयोग्य पुरुषरत्न हैं। ऐसे सुयोग्य विद्वानोंका ध्यान विचारी हिन्दी भाषाकी उन्नतिपर होना हो, परम सौभाग्य और सुलक्षण समझना चाहिये। बिना, सुपठित सुयोग्य विज्ञजनोंके यथोचित परिश्रमके, हिन्दीकी वर्त्तमान दशाका सुधार भी असम्भव है। यह व्याकरण छोटा होनेपर भी विशेष विचारपूर्वक लिखा गया है। इसमें लिखी बहुतेरी बातें विशेष विवादास्पद होनेपर भी पुस्तक उत्तम और विचारने योग्य है। इससे इसके रचियता धन्यवादार्ह हैं। को, ने, से, में, आदि विभक्ति प्रत्ययके कतिपय अक्षरोंको नोच, खसोट, अँगरेजी to, in, of, for, आदिकी भाँति संज्ञासे अलग लिखनेकी एक सुदृढ़ गढ़ी बाँधनेको ही इसकी नेह दी गयी है। तथापि इसमें आदिसे अन्ततक विशेष सावधानीसे विभक्ति प्रत्यय संज्ञा आदिके साथ मिलाकर ही क्यों लिख गये? अलग क्यों न लिखे गये? दूसरे, वाक्य विचारसे ही ग्रन्थारम्भ किया गया है, परन्तु सबसे पहिले ही "उद्देश्य विधेयका" प्रकरण आ जाता है। "भाषाके मुख्य अंग वाक्य हैं" लिखकर ही पहले, क्रमानुसार सार्थक निरर्थक शब्दोंका भेद दिखा, सार्थक शब्दोंके समुदायसे वाक्यकी और अक्षरोंसे प्रत्येक, शब्द वा पदकी किस रीतिसे रचना होती है यह दिखाना ही युक्तियुक्त था। परन्तु पण्डितप्रवर पाँडेजीने पदके झमेलेसे अपना पीछा छुड़ानेके पीछे ही सम्भव है कि क्रम-विपर्यय किया। निस्सन्देह इससे पुस्तकका क्रमभंग हो, बालकोंके लिये कठिनता विशेष बढ़ गयी। अक्षरोंमें स्वर व्यञ्जनका भेद, उनके उच्चारणस्थान, और ह्रस्व दीर्घादिकी पहिचान इस पुस्तकमें ३३ वें पृष्ठसे आरम्भ की गयी है। यहाँतक कि पाँड़ेजीने अपनी पोथीमें ४९ वें पृष्ठतक कहीं 'पद' शब्दका व्यवहार तक भी जान बूझकर ही नहीं

किया है। परन्तु ४६ वें पृष्ठमें आपने—"एक निरपेक्ष पूर्ण अभिप्राय जिससे प्रकाशित हो उस पद या पद समुदायको वाक्य कहते हैं।" इस लक्षणके लिखनेकी कृपा की है। दुःखका विषय है कि इस लक्षणका समन्वय, आपकी आविष्कृत नयी व्याकरणशैलीसे बने 'व्याकरण-सारकी' विभक्तियोंसे सिद्ध शब्दोंके साथ, सर्वत्र नहीं बैठ सकता है। आपकी आविष्कृत शैली अनुसार द्वितीया विभक्तिसिद्ध 'रामो" "घोड़ों" "राजाओं" "हरियो" "वलियों" "लड्डुओ" लताओ, "मुझ" "तुझ" आदि शब्दोंमें अपेक्षा पूरी पूरी बनी रहती है, और अभिप्राय प्रकाश करनेकी सामर्थ्य भी इनमें कहीं छू नहीं गयी है। द्वितीया विभक्तिके "राम" "राजा" "घोड़े" आदि उदाहरण साफ प्रथमा विभक्तिके हैं। द्वितीया विभक्तिका चिन्हमात्र इनमें नहीं दिखता।

पाँड़ेजी महाराजने विभक्तिका—"विभक्ति उन चिन्होंको कहते हैं जिनसे वचनोंका बोध हो और जो दो शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध बतलावें।" ऊपर लिखा हुआ लक्षण ही अपने हिन्दी व्याकरणसारमें दिया है। केवल आपके विरचे इस ही लक्षणानुसार विचार करनेपर भी, न तो द्वितीया विभक्तिसिद्ध आपके इन "राम" "राजा" "लता" "बहू" "मुझ" "तुझ" आदि शब्दोंसे वचनका ही ज्ञान ठीक ठीक हो सकता है और न ये अपना सम्बन्ध ही किसी दूसरे शब्दसे लखाते हैं। क्योंकि "राम तीन हैं" "राजा आते हैं" "चहुं ओर लता फूली हैं" आदि वाक्योंमें इनका बहुवचनमें प्रयोग शुद्ध ही माना जाता है। इसलिये आपके लक्षणसे ही आपके उदाहरण सर्वथा अशुद्ध सिद्ध होते हैं। सिवाय इसके पदके समुदायकी ही वाक्य संज्ञा है, परन्तु पाँड़ेजी, एक पदको भी अपने उक्त लक्षणमें वाक्य क्यों कहते हैं? समझना कठिन है। विभक्तिके लक्षणमें भी आपने "विभक्ति उन चिन्होंको कहते हैं जिनसे वचनोंका बोध हो" इत्यादि लिखकर भी "उन चिन्होंका" चिन्हमात्र कहीं दिखा-नेकी कृपा न की। भला अब बताइये तो कि हिन्दी 'व्याकरणसार'

पढ़नेवाले किन चिन्होंको विभक्ति समझे ? आपके पाण्डित्यपूर्ण विचारानुसार तो भूल कर ही, "आधुनिक भाषाओंमें भी विचारशून्य व्याकरण लेखकोंने सात विभक्तियोंकी कल्पना की है।" परन्तु बड़ी बात है कि, अभ्रान्त होनेके कारण आपने केवल दो ही मानो हैं। दुःखका विषय है कि पण्डितजी उन "विचारशून्य व्याकरण लेखकोंके साम्हने दुविधाकी दो नावोंपर पाँव धरकर अब उन दो विभक्तियोंका प्रतिपादन भी पूर्णतया नहीं कर सकते हैं। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि "मुझ" "तुझ" आदि अशुद्ध, 'अपदोंको' द्वितीया विभक्तिमें लिख, "मुझने खाया गया है" इस विचित्र उदाहरणका अभिनव उद्भावन भी २५ वें पृष्ठके अन्तमें प्रदर्शित कर, हिन्दीमे केवल "व्याकरणशैलीका नया आविष्कार" मात्र करके ही आप किनारा नहीं खींच बैठे, बल्कि "मुझने" तुझने" आदि अपनी नयी टकसालके मनगढ़े (मुझेको, उन्हेंको, इसेमे, इसेसे, तुम्हेमें, हमेंसे आदि आदि) इन अनेकों अभिनव शब्दोंके अशुद्ध रूपोंके प्रशंसायोग्य आविष्करणकी वीरताके पैंतरे भी आपने बहुत बढ़कर दिखाये है। जिससे, "मैंने" "तैने" आदि पुराने अशुद्ध शब्दमात्रसे इस अभागी हिन्दी भाषा बिचारीका सहजमें पल्ला छुटकर आगेको छुटकारा ही होगया। इस व्याकरणसार अनुसार, सिरका जोर लगानेपर भी "मैंने, तैंने" आदि अशुद्ध शब्द तो किसी प्रकारसे साधे ही नहीं जा सकेंगे। अब आश्चर्य तो केवल इस बातका है कि न जाने दृष्टिदोषसे या छापेखानेके भूतोंकी विचित्रमायासे, या राम जाने कैसे ?—आपके लिखे उपोद्घातकी पहली पंक्तिकी आदिमें, "कई वर्ष हुए मैंने निर्वचनशास्त्र" आदि वाली पंक्तिमें "मैंने" शब्दने धृष्टतापूर्वक अपना आसन जमा ही लिया है। उपोद्घातमें अनेकों स्थलोंमें उक्त 'मैंने' पदने जोराजोरी ढिठाई साथ दर्शन दे, पढ़नेवालोंके नेत्रोंको बारम्बार कृतार्थ किया है। परन्तु पाँड़ेजी महाराजकी इस नयी टकसाल—"हिन्दी व्याकरणसारके" बनाये "मैंने तैने" रूप अब

किसी प्रकारसे बन नहीं सकते, तब इन ढीठ दुष्टों ने उस सुरक्षित टक-सालमें अनधिकार प्रवेश कैसे किया? बात अनोखी और सविशेष अचम्भेकी दिखती है।

जिस समय, साहित्याचार्य्य पण्डितवर रामावतार शर्म्मा एम्०ए० उपाधिधारीका "हिन्दी व्याकरणसार" सौभाग्यवश मेरे हाथ आया, मैंने उस ही समयसे विशेष ध्यानसे इसे सावकाश पढ़ना आरम्भ किया। "उपोद्घातके" प्रारम्भमें ही—"यह व्याकरणशैली एक नया आविष्कार है।" इस पंक्तिके बाँचते ही पुस्तकको आद्यन्त पढ़ देखनेकी उत्कण्ठा विशेष प्रबल हुई। निस्सन्देह "हिन्दीमें दो विभक्ति" और "कारकार्थक अव्यय" पाँड़ेजी महाराजके ही नये आविष्कार हैं। भारतीय प्रायः सब भाषाओंकी जननी देववाणी संस्कृतके परिपूर्ण अगाध भण्डारमें भी इन दोनोंका पूरा अभाव है। प्राकृत भाषाके प्रान्तीय भेदोंमें भी कहीं इनका पता नहीं लगता। इसलिये इस अभिनव आविष्करणके प्रगाढ़ परिश्रमकी पूरी प्रशंसाके एकमात्र प्रकृष्ट अधिकारी पण्डितवर रामावतार पाँड़ेजी महाराज ही हैं। सूक्ष्मरूपसे विभक्तिके विषयकी कुछ आलोचना हो चुकी, अब इस दूसरे नये आविष्कार, "कारकर्थाक अव्ययकी" जाँच भी प्रसंगवश लगे हाथों कर ही लेनी उचित है। क्योंकि, इसका इस विचारसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जिस पदका क्रियापदसे अन्वय सम्बन्ध प्रत्यक्षमें नहीं रहता और जो किसी वाक्यका अंगभूत रह कर क्रियाकी सहायता नहीं करता, उस पदको कारकत्व कभी हो ही नहीं सकता। इसलिये ही पाँड़ेजी भी अपने "हिन्दी व्याकरणसारमें" लिख गये हैं कि "कारक उन्हें कहते हे जो क्रियाकी अर्थात् किसी कामकी उत्पत्तिमें सहायता दें। 'रामने घरमें आलमारीसे श्यामके लिये हाथसे पुस्तक निकाली'; इस वाक्यमें निकलना काम अर्थात् एक क्रिया है। इसकी उत्पत्तिमें सहायक, राम, घर, आलमारी, श्याम, हाथ और पुस्तक हैं। इसलिये ये सब कारक हैं।"

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अव्यय शब्दको ऊपर लिखे पाँड़ेजीके नियमानुसार भी कारकत्व कहाँसे प्राप्त हो सकता है ? अकेले अव्ययका न किसी क्रियापदसे सम्बन्ध है और न किसी वाक्यमें समन्वय ही उसका वर्त्तमान है। एक अर्थहीन अव्यय बिचारा "क्रियाकी अर्थात् किसी कामकी उत्पत्तिमें सहायता ही" कैसे दे सकता है ? विशेष कर जो आप ही निरर्थक अव्यय है वह कारकका अर्थ देनेमें कब और कैसे समर्थ होगा ? किसी वैयाकरणने भी संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओंमे अव्ययका कारकत्व नहीं माना है। जिसे कारकत्व ही नहीं होता, वह आप निरर्थक होनेपर भी, कारकका अर्थ कैसे दे सकेगा ? इसलिये पाँड़ेजीकी इस मनगढ़ी बेसिरपैरकी कल्पनाको समीचीन, अथवा 'नया आविष्कार' कैसे मान लें ? थोड़ेसे अव्यय विशिष्ट अर्थके देनेवाले भी है। परन्तु "को, ने, से, में, आदि, जिन्हें पाँड़ेजी धींगा मुस्तीसे केवल अपनी इच्छाके बलसे ही बलपूर्वक अव्यय माननेका झूठा दुराग्रह और हठ कर बैठे हैं, वे यथार्थमें अव्यय हैं ही नहीं। वे तो विभक्त्यन्त पदके सुसिद्ध एक अखण्ड रूप, संज्ञाके अंगभूत और उनसे सर्वथा अभिन्न है। यथार्थमें वे कभी प्रकृतिसे अलग हो ही नहीं सकते। किस प्रमाणके भरोसे पाँड़ेजी इनको अव्यय मान बैठे हैं ? साथ ही यह भी समधिक आश्चर्यकी बात है कि "बिना, प्रति, आदि" संस्कृत शब्दोंको भी आपने कारकार्थक अव्यय बनानेका दुःसाहस दिखाया है। कृपानाथ ! इन संस्कृत अव्ययोंका कारकार्थक होना, पाणिनि बाबातक, एक वैयाकरणी-को भी नहीं सूझा था ? न किसीने इन्हें कारकार्थक माना ही है। क्यों न हो, इतनी दूर पहुंचना आपका ही काम था ! परन्तु, बताइये तो कि ये किस कारकका अर्थ देते हैं ? यह सबलोग जानते है अव्ययकी स्वरूपविकृति नहीं होती इससे ही वह अव्यय कहाया है। परन्तु आप 'सा' अक्षरको सादृश्यवाचक अव्यय मानते हैं। विशेषण रूपसे स्वरूप विकृति हो, स्त्रीलिंगमें 'सी' और बहुवचनमें

'से' रूप जिसके प्रत्यक्ष दिखते हैं ; वह "सादृश्यवाचक अव्यय" खरा खासा है। धन्य ! पाँड़ेजीकी गम्भीर गवेषणा, नया आविष्कार और विकट व्याकरण ज्ञानकी उत्कट पण्डिताई !!

पुनः आप लिखते हैं—'ने' 'कर्त्तृवाचक' ! इस विचारे ने' अक्षरका न कुछ अर्थ ही है, और न कर्त्तृवाचकताका ही इससे किसी प्रकारका सम्बन्धमात्र छूजाने पाया है। दुधमुँहे बच्चे अपनी सुमधुर तोतली बोलीमें, गोदी लेनेको, मासे, 'ले ले' कहनेमे असमर्थ हो, 'ने' 'ने' ही कहते हैं। उस अर्थमे उक्त 'ने' क्रियापद है ; अव्यय और कर्त्तृवाचक कभी नहीं। ऐसे ही अकेला 'को' कर्म्मवाचक और सम्प्रदानवाचक अव्यय हो ही नहीं सकता। पाँड़ेजीने भी 'को' 'कोन' ये दोनों रूप ही, प्रथमा विभक्तिमें साथे हैं। इसलिये 'को' और 'कोन'में कुछ भी अन्तर नहीं ; सुतरां, वह एकमात्र अकेला 'को' कर्म्मवाचक और सम्प्रदानवाचक भी दोनों,एक ही अवस्थामें एक ही समय कदापि नहीं हो सकता। और इसे अव्यय मानना ही बड़ी भारी भूल है। निरर्थक 'से' अक्षरको कर्त्तृ, करण, और अपादान इन तीन तीन कारकोंका वाचक किस आधार और कौनसी प्रबल युक्तिके बलसे मान बैठे हैं ? यह तो इसके लिखनेवाले ही बतावें। 'मे' तो प्रत्यक्षमें बकरी बोला करती है। बकरीकी 'मैं' में अधिकरणवाचकता कहाँसे कूद आयी ? दुहाई है, साहित्याचार्य्यजी-को ! निराश्रया हिन्दी बिचारी बेमौत मारी जाती है !! इसपर कुछ तो दया करनी चाहिये !!!

हिन्दीभाषाभाषीमात्र, "रामने" "घरमें" "घोडेको" "मुंहसे" आदि सुप्रसिद्ध विभक्त्यन्त पदोंका ही बीचमें बिना रुकावटके उच्चारण करते हैं। सार्थकता भी पूरे पदोंमें ही रहती है। उनका स्वेच्छानुसार अङ्गच्छेद कर, अन्तिम निरर्थक अक्षरको, हठसे "अव्यय" माननेका निर्हेतुक दुरा-ग्रह दिखाना सुविवेचक विद्वानोंका काम नहीं है। प्रथम तो इन स्वतः-सिद्ध पदोंके अङ्ग भङ्ग करनेका अधिकार ही किसीको धर्म्मतः प्राप्त

नहीं है। दूसरे यह भी विचारनेकी बात है कि, 'नादिरशाही' निर्दयतासे, किसी पदके दो टुकड़े करनेपर उसकी क्या दशा होती है? और इस निरर्थक हत्याकी हाथसफाईसे फलसिद्धि ही कौनसी है? किसी जीवको खड्गसे काट, उसके दो टुकड़े कर डालनेपर जैसे उसका शरीर निर्जीव निकम्मा, मृतक, शवरूपमें परिणत हो जाता है; ठीक वैसी ही दुर्दशा इन विभक्त्यन्त पदोंकी निष्कारण हत्यासे, उनके अवयवोंके दो दो टुकड़े कर डालनेपर, दृष्टिगोचर होती है। उस दशामें उस पदके दोनों टुकड़े ही सर्वथा निकम्मे, निरर्थक, मृतक, शवसदृश, अस्पृश्य और त्याज्य ही माने जाते हैं। "घोड़ोंको" इस पदके हिंसावृत्तिसे हठवश, दो खण्ड कर डालनेसे "घोड़ों" इस अर्थहीन टुकड़ेसे भी किसी अर्थकी सिद्धि नहीं होती और इसका दूसरा टुकड़ा "को" भी अर्थहीन और निकम्मा हो जाता है। बस, वृथा हत्याएँ, हाथोंको कलुषित और अपवित्र कर "व्याकरणसारके" प्रयोगसे पुनर्जीवित करनेकी निकम्मी चेष्टा ही निरी हास्यास्पद और व्यर्थ गिनी जाती है। न तो वे ठीक ठीक जोड़े ही जा सकते हैं और न किसी अर्थकी ही सिद्धि होती है। 'ने, को, में, से, आदिकी अकाल और अपघातमृत्यु 'अव्यय' पदतक उनको पहुंचने ही नहीं देती। इस प्रकारसे निष्कारण हत्याके मारे अभागोंकी मिट्टीकी उत्तरोत्तर दुर्दशा और अपगति ही होती है।

जब संस्कृतके विद्वान् अंगरेजी पढ़कर परिमार्जित बुद्धिवाले हो जाते हैं, उस समय, प्रायशः उनके मस्तिष्कमें विविध प्रकारके विचारोंकी तरंगमालाका अंधड़सा उपस्थित हो जाता है। परस्पर विरुद्धभाव और सिद्धान्तोंके भंवरमें विवश फँसकर, उनकी ऐसी दशा उपस्थित होती है, कि विचारशक्तिकी प्रखरता स्वाधीनता निरपेक्षता और चित्तकी दृढ़ताका मानों जड़मूलसे अभाव ही हो जाता है। ये जब जिधर लुढ़क पड़ते हैं, उधरकी ही सुरमें सुर मिलाने लगते हैं। कभी विलायती विद्वानोंके सिद्धान्तोंकी तरङ्गोंसे भारतीय महर्षियोंके सुदृढ़ अखण्डनीय शास्त्रीय

सिद्धान्तोंपर पानी फेर देते है और कदाचित् कभी, दीर्घकालीन अभ्यास और प्राचीन संस्कारके वशवर्त्ती हो, शास्त्रीय सिद्धान्तोंपर भी भाग्यवश उधरसे कलाबाजी खा, पुनः इधर आ जमते हैं। पाँड़ेजी महाराज भी इस निमित्त ही "हिन्दी व्याकरणसारके" २८ वें पृष्ठमें क्रियापदका विचार करते हुए लिखते हैं—"यद्यपि 'होगा' विशेषणके ऐसा कभी प्रयुक्त नहीं होता तथापि 'होगा' 'होगी' इत्यादि लिङ्गमें भेद होनेके कारण इसे वास्तविक क्रिया नहीं कह सकते, 'राम जा रहा था' इत्यादि अपूर्णभूतमें तीन धातुरूप मिले हुए है जो 'जा' 'रह' और 'अह' धातुसे निकले है। 'आवेगा' साधारण भविष्य है इसमें लिङ्गका भेद हो सकता है। इसलिये इस रूपको कृत्प्रत्ययान्त विशेषण कहना उचित है; क्योंकि, ऊपर कहा जा चुका है कि वास्तविक क्रियामें लिङ्ग आदिके भेद नहीं होते। केवल इतना समझना चाहिये कि, भविष्यकालिक रूपका भाषाके व्यवहारके अनुसार विशेषणके सदृश प्रयोग नहीं होता, किन्तु चिरकालसे क्रियाके सदृश ही प्रयोग चला आता है। पर ऐसे प्रयोगसे यह नहीं कह सकते कि यह वास्तविक क्रिया है। क्यों कि यदि किसी देशमें गधेको देवता माननेका प्रचार चला आता हो तो यह नहीं कह सकते कि वस्तुतः गधा कोई देवता है।" महर्षि पाणिनि आदि भारतवर्षके वैयाकरणोंके सिद्धान्तके सुदृढ़ संस्कारकी प्रबलताने ही पाँड़ेजीसे इन पंक्तियोंको लिखाया है। सौभाग्यवश, इस समय तो भारतीय पुराने सिद्धान्तपर आप यहाँतक अटल हैं कि व्याकरणकी विधिके प्रमाण बलसे ही दूसरे देशनिवासी यद्यपि अपने धर्मविश्वासानुसार पुरुषानुक्रमसे गधेको देवता मानते आते हों तो भी, पण्डितवर पाँड़ेजी उसे कभी नहीं मानेंगे, और न मानने ही देंगे; वे वस्तुतः गधेको गधा ही कहेंगे। परन्तु बड़े ही दुःख और आश्चर्यके साथ पूछना पड़ता है कि "हे वैयाकरण-शिरोमणे, दृढ़व्रत, स्थिरमति, पाँड़ेजी, अशुद्ध अपदका प्रयोग करनेके समय, आपका यह भारतीय ऋषिप्रोक्त अडिग्ग वैयाकरण सिद्धान्त, कहाँ घास

चरने चला गया था ?” उस समय आप “अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः” उक्तिको अक्षरशः चरितार्थ करते, आँखें मीचकर, अङ्गरेजी व्याकरणका अनहोना अनुकरण करनेको बिना विचारे ही क्यों उठ दौड़े ? इस विचित्र लीलाका समझना कठिन है। आप ही समझानेकी कृपा करें, तो हिन्दी साहित्य संसारका निविड़ अन्धकार दूर होकर, परम उपकार हो।

आपने अपने हिन्दी व्याकरणसारमें” सिद्ध पदोंकी, केवल अपनी अति पैनी प्रखर बुद्धिके प्रहारोंसे ही अनोखी 'कुर्बानी' कर डाली है। एक एक पदके मनमाने दो दो टुकड़े कर अन्तिम टुकड़ोंको बिना किसी प्रमाणके, केवल अपनी स्वेच्छाचारिताके बलसे ही 'अव्यय' भी बना डालाहै। पहले अङ्गोंको अर्थहीन और निकम्मे देखकर भी, नये आविष्कारकी धुनमें हठ और दुराग्रहवश, धींगाधींगी, द्वितीया विभक्तिका सिद्ध रूप मान बैठे हैं। 'सा' अक्षरको २० वें पृष्ठमें सादृश्यवाचक अव्यय मानकर, पुनः ४१ वें पृष्ठमें सादृश्यार्थक तद्धित प्रत्ययोंके बीचमें भी ढकेल दिया है। “ईदृक्” “कीदृक्” “यादृक्” “तादृक्” शब्दोंको संस्कृतके व्याकरणोंमें अव्यय नहीं माना है। परंतु आप उन ही संस्कृत शब्दोंके “ऐसा” “कैसा” “जैसा” “तैसा” इन अपभ्रष्टरूपांतरोंके अतिरिक्त, “दिन” “रात” “बहुत” “अलग” 'थोड़ा' आदि अनेकों शब्दोंको भी अव्ययोंकी सेनामें ही बलपूर्वक भरती करते हैं ? साथ ही कहीं ऐसी भी टिप्पणी करते हैं कि “अव्यय स्वतन्त्र-द्रव्यार्थक नहीं होते।” भला, कोई लक्षण प्रमाण और नियम भी अव्ययोंकी पहिचानका है, या नहीं ? अथवा स्वेच्छापूर्वक जब जिस अक्षर या शब्दको चाहा 'नोच, खसोट, काट, कूट, उसकी मनमानी दुर्गति कर, उसके किसी अङ्गको, या पूरेको ही अव्यय बनाडाला ? संस्कृत और प्राकृत, जिनसे हिन्दीकी उत्पत्ति और घनिष्ठ सम्बन्ध है; उनमें, 'को' 'ने' 'से' 'में' अक्षरोंको, वा इनके पूर्वरूपको अव्यय माननेका

कोई प्रमाण आप दे सकते है ? जो नहीं दे सकते, तो केवल आपकी इच्छामात्रसे ही अव्ययोंमें ये कभी नहीं गिने जा सकते। यों तो कलको आप कहेंगे कि कि 'रामेण' और 'रामस्य' पदोंके "ण" और "स्य" भी 'अव्यय' हैं। इत्यादि। परन्तु प्रमाण आपके पास क्या है ?

प्रथम तो अपदका प्रयोग व्याकरणानुसार हो नहीं सकता, दूसरे यह भी निश्चय है कि "रामको" "श्यामने" "सीतासे" "वनमें" आदि विभक्त्यन्त पदोंके सिद्धरूप हैं; एकसाथ ही इन पदोंका उच्चारण होता है, इसलिये लिखनेमें भी इनके अक्षरोंके बीचमें मनमाना लम्बा अवकाश न देना चाहिये। स्वेच्छानुसार अवकाश छोड़कर, ऐसे पदके अन्तिम अक्षरका अलग लिखना भी अशुद्ध है। क्योंकि अभिन्न एक पदके बीचमें, मनमाना अवकाश छोड़ना, अथवा उसके किसी अक्षरको उससे काट छाँट देना वा अलग लिखना, व्याकरणके सिद्धान्तसे तथा तर्क और युक्तिसे भी विरुद्ध और सर्वथा अशुद्ध है। तीसरे, प्रथमा विभक्तिमें 'राम' दूसरीमे 'रामको' तीसरीमें, 'रामने' चौथीमे 'रामको' पाँचवींमे रामसे' छठीमें, सुबन्त पदका इस समय अभाव है। (तद्धित प्रत्ययान्त 'रामका' 'रामके' रामकी' इन पदोंसे ही काम निकाला जाता है।) सातवींमें—राममें रूप प्रत्यक्ष दिखते हैं। इनको आँखोंसे देखकर भी हिन्दीमें केवल दो ही विभक्तियोंका मानना कदापि युक्तिसंगत नहीं है। कमतीसे कमती पांच विभक्तियोंके माने बिना, हिन्दीमें किसी प्रकारसे भी निर्वाह नहीं हो सकेगा। सम्बोधनका रूप इनसे भिन्न मानना पड़ेगा। दुःखका विषय है कि हिन्दीमे दो विभक्तियोंवाला आपका यह नया आविष्कार, भ्रांतिमूलक अशुद्ध और व्याकरणसिद्धांतके सर्वथा विरुद्ध ही सिद्ध होता है। चौथे—किसी एक पद वा अक्षर अथवा अव्ययको, कारकत्व; जब कि, क्रियाके सम्बन्ध बिना हो ही नहीं सकता; तो फेर, 'को' 'ने' 'से' 'में' आदि निरर्थक अलग अक्षरोंको

'कर्म' और 'सम्प्रदानवाचक' 'कर्त्तृवाचक', 'करण' और, अपादानवाचक' आदि किसी रीतिसे भी विद्वान् मान ही नहीं सकते। पाँचवें सार्थक वाक्यमें 'हाथसे' 'घरसे' इन पदोंको करण और अपादान कारकमें प्रयुक्त मानना ठीक होगा, परन्तु कर्त्तृकारकमें इनका प्रयोग कभी नहीं होता। इनको कर्त्तृकारकमें प्रयुक्त वे ही मान सकते हैं कि यथार्थमें जिनको हिन्दी व्याकरणका यथार्थ ज्ञान नहीं है। छठे—अकेले 'से' अक्षरको 'कर्त्तृवाचक' करणवाचक और 'अपादानवाचक' किस नियम और युक्तिबलसे मानते हैं? (प्रथम तो निरर्थक होनेसे; दूसरे पद, वाक्य, और क्रिया तीनोंके सम्बन्ध बिना; इसमें 'कारकत्व' अथवा 'कर्त्तृकरणादि वाचकत्व नामको नहीं है। तीसरे—कल्पित होनेपर भी सर्वथा असम्भव, इन तीनों प्रकारोंके कारकवाचकत्वका समावेश इसमें इस समय वर्त्तमान है, इसे आप प्रमाणित कैसे कर सकते हैं? जो आप प्रमाणित कर सकें, तो कदाचित माननेमें भी किसीको आपत्ति न हो।) सातवें—एक वाक्यके किसी एक पदको एक कालमें ही कर्त्तृकारकत्व, करणकारकत्व अपादान-कारकत्व, किसी प्रकारसे भी प्राप्त नहीं हो सकते है। जो कर्त्तृपद हैं, उसे उस अवस्थामें, उस एक ही वाक्यमें करण वा अपादान कारकत्व कैसे प्राप्त होगा? ऐसे ही, करण या अपादानकारकमें प्रयुक्त पदको कर्त्तृत्व किसी रीतिसे भी नहीं प्राप्त हो सकेगा। कर्त्तृकारकमें प्रयुक्त पदको कर्त्ता, कहनेका अधिकार है, करणमें जो आया है, उसे करणकारक, तथा, अपादानमें जिसका प्रयोग है, उसे ही अपादान कारक कहनेका अधिकार व्याकरणके नियमानुसार सबको है। इसमें मनमानी घरजानी कोई नहीं कर सकता। किसी पद वा शब्दमें भी ऐसी अलौकिक शक्ति नहीं है कि बिना क्रियापदके और पूरे वाक्यके साथ सम्बन्ध होनेके ही उसमें कारकत्व आ सके, अथवा एक कालमें ही दो तीन वा चार चार कारकोंका वाचकत्व उसमें एक साथ परिलक्षित होने

लो । "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म ।" "साधकतमं करणम् ।" "ध्रुवपायेऽपादानम् ।" "आधारोऽधिकरणम् ।" आदि व्याकरणके सुदृढ़ सिद्धान्तानुसार कथित इन प्रसिद्ध लक्षणोंसे ही यह तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि, वाक्यमें क्रियापदसे सम्बन्ध होनेके बाद ही अपनी शक्ति अनुसार प्रयुक्त विभक्त्यन्त पदोंको कारकत्व होता है। अकेले किसी पद वा अर्थशून्य अक्षरमे कारकत्व कभी त्रिकालमें नहीं घटित हो सकेगा। इसलिये 'ने' 'से' 'मे' आदि अकेले अर्थशून्य कतिपय अक्षर किस सिद्धान्त वा नियमानुसार 'कर्त्तृवाचक' 'करणवाचक' 'अपादानवाचक' आदि हो सकते हैं ? पाँड़ेजीने बिना विचारे ही इनको कारकार्थक 'अव्यय' बना डाला है। आशा है कि विचारवान्मात्र पाँड़ेजीकी इस भ्रान्त कल्पनाको उलझनसे अलग रहकर, इस विषयमें युक्ति, तर्क और व्याकरणके सिद्धान्तानुसार निरपेक्ष विचार करना ही अपना मुख्य कर्त्तव्य धर्म मानेंगे। अन्तको, पाँड़ेजीसे इस विषयमें इतना और कहना है कि के लिये शब्द वा पद नहीं है। 'के' अक्षर, 'लिये' शब्दसे सम्बन्ध रखनेवाले पदके अन्तिम 'तद्धित-प्रत्ययका' चिन्हमात्र है। इन दोका मनगढ़ा अनमिल एक रूप बना, स्वेच्छापूर्वक 'सम्प्रदानवाचक' नाम धर देना, निरी सिद्धान्त विरुद्ध युक्ति विहीन असार कल्पना है। पाँड़ेजीके व्याकरणसारमें विचारपूर्वक खण्डन योग्य बहुतसे विषय आये हैं। परन्तु इस छोटी सी पोथीमें उनकी चर्चा, अप्रासंगिक समझ, नहीं की गयी। आपने धातुप्रकरणमें भी बहुतेरी आपत्तिजनक कल्पना और मनगढ़े—'पीयासे' 'पियासना', 'भूकनासे' 'भुकवासना' आदि इच्छार्थक धातुज बना डाले हैं। अवकाशानुसार, इस व्याकरणके अन्यान्य विषयोंकी समालोचना करनेकी इच्छा है। प्रसंगानुरोधसे जिन विषयोंको इस पोथीमें लिखना पड़ा है, वे ही लिखे गये हैं। सम्भव है कि उनमें भी कुछ अप्रासंगिक अंश अपरिहार्य देख, अगत्या उनके विषयमें भी कुछ लिखना पड़ा हो।

विभक्ति विचारके वादमें प्रवृत्त सज्जनोंमें, विशेषतः बिलगाऊ सिद्धान्तियोंमें, मिर्जापुरके बाबू भगवानदास हालना महाशयने ही विशेष परिश्रम किया और अन्ततक साध्यानुसार अपना पक्ष समर्थन करनेको मनमानी विविध युक्तियोंके उद्भावनसे झगड़ते ही रहे। निर्बल पक्षको जहाँतक उनसे बना, सबल बनानेमें कोई बात उठा नहीं रक्खी। परन्तु अन्तको निग्रहकोटिमें सर्वथा अवरुद्ध हो, उक्त हालनाजीको स्वीकार करना ही पड़ा कि—"यह कौन कहता है कि अपदका प्रयोग किया जाय? मतभेद केवल लिपिप्रणालीका है। रामकी पुस्तकमें 'रामको' यह एक पद है। * * केवल 'रामकी' इतना ही विभक्त्यन्त पद है, इसमें मिलानेवालोंमें या अलग लिखनेवालोंमें कुछ मतभेद नहीं है, मतभेद है केवल लिखनेका। मिलानेवाले लिखते हैं 'रामकी', अलग लिखनेवाले लिखते हैं 'राम की'। अब 'रामकी' यह विभक्त्यन्त पद है, अथवा तद्धित-प्रत्ययान्त? इसका समझना भी उतना कठिन नहीं और इस वर्त्तमान विभक्ति विषयके वाद विवादसे उसका वैसा कुछ विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध भी नहीं है। बाबू भगवानदासजी इसको जो चाहें समझें। परन्तु, जब आपने 'रामकी' इस शब्दको एक सिद्धपद स्वीकार कर लिया है तब इसमें तिलमात्र सन्देह अब न रहा कि, विभक्तिविचारके उपस्थित तर्कमें 'से' 'ने' 'को' आदि अर्थहीन अक्षरोंको दुराग्रहवश, विभक्त्यन्त सिद्धपदोंसे धींगाधींगी अलग लिखनेके पक्षपातियोंके मुखिया उक्त बाबू साहब, निग्रहकोटिमें ऐसे अवरुद्ध हुए कि सर्वथा निरुत्तर हो, उनको यह स्वीकार करना ही पड़ा कि "यह कौन कहता है कि अपदका प्रयोग किया जाय?" साथ ही बाबू साहबने यह भी मान लिया कि 'रामकी' यह एक पद है। इसमें मिलानेवालोंमें या अलग लिखनेवालोंमें कुछ मतभेद नहीं है इत्यादि"। "तर्के तर्के जायते तत्त्वबोधः।" इस परम सत्य सिद्धान्तानुसार, इस तर्कका यथार्थ 'तत्त्व' भी जो निकलना था, निकल ही आया। हठवश,

चाहे पराजित खिलगाऊ अपसिद्धान्ती अब जन्म भर अपनी लीक पीटा करें, उससे फलसिद्धि कुछ भी नहीं होगी। परन्तु, बुद्धिमानोंको ऐसा निकम्मा दुराग्रह करना उचित तो नही है। यह समय सच्चे जीसे, तन मन धन लगाकर, अदम्य उद्यम और अविश्रान्त परिश्रमसे, मातृभाषा हिन्दीकी सेवा करनेका है। थोथे दुराग्रहके आवेशमे आपसमें निष्कारण कलह और फूट फैलाकर, लिपि प्रणालीमे अशुद्धियोंकी मनमानी भरमारसे, मातृभाषाकी दुर्दशा और अवनति करनेका यह अवसर नहीं है। बाबू भगवानदास हालनाजो जब कि 'रामको' 'श्यामने' 'घरसे' आदिको विभक्तयन्त एक पद समझ गये हैं, तो अब आशा है कि इस पुस्तकके 'परिशिष्ट' लेखको पढ़कर यह भी उत्तम प्रकारसे समझ जायँगे कि एक पदको लिखना भी एक साथ ही उचित हैं। विभक्तयन्त पदका अङ्गच्छेद कर, उसके अन्तिम अक्षरको मनमाना अवकाश छोड़ने बाद, वा उसके पहिले विरामचिन्हका अवैध प्रयोगकर, अलग लिखनेका अधिकार किसीको नहीं प्राप्त हो सकता। व्याकरण, तर्क, युक्ति और सहज बुद्धिके सिद्धान्तसे भी प्रतिकूल, अर्थहीन 'को' 'ने' 'से' 'मे' अक्षरोंका प्रकृतिसे अलग लिखना सर्वथा अशुद्ध और अनुचित है।

अब इस लेखमे, सबसे प्रधान, विचारने योग्य, अन्तिम शंकाका समालोचनपूर्वक संक्षेपसे यथामति निर्णयकर इस परिशिष्ट प्रबन्धको परिसमाप्त करनेकी इच्छा है। संस्कृतभाषामें विभक्तियोंका प्रयोग प्रकृतिके साथ सर्वत्र होता है। केवल समस्त पदोंमे आदि मध्यके शब्दोंकी विभक्तिका लोप हो जाता है। परन्तु उस समाससिद्ध पदमें भी अन्तिम शब्दमें विभक्ति बनी ही रहती है। अव्ययोंको छोड़ विभक्तिहीन संज्ञाका प्रयोग, संस्कृतके सुविख्यात साहित्यभाण्डारमे कहीं नहीं दिखायी देता। परन्तु हिन्दीमें संज्ञाको विभक्तिप्रत्ययोंसे रहित, अर्थात् 'को, ने, से, मे' आदिको छोड़कर लिखनेकी भी चाल चली आ रही है। इसे देखकर ही अनेकों मनुष्योंको यह भ्रम उत्पन्न होता है कि, हिन्दीमें 'को, ने, से,

आदि विभक्ति प्रत्यय सर्वथा प्रकृतिसे अलग और स्वतन्त्र ही हैं। मूल-संज्ञा-शब्दोंसे मानों इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अब इसका पता लगाना अवश्य उचित है कि हिन्दीमें यह प्रथा कहाँसे आयी? इसका मूल क्या है? और यथार्थमें 'को, ने, से' आदि विभक्ति प्रत्ययोंके अंतिम अक्षर, क्या प्रकृति वा संज्ञा शब्दोंसे सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र ही हैं? क्योंकि बिना इसका मूल कारण अनुसन्धान किये यथार्थ निर्णय वा सटीक स्वरूपज्ञान इस विषयका कभी हो ही नहीं सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि, वैयाकरण शिरोमणि महर्षि पाणिनीके समय तक भारतवर्षमें प्राकृतादि :अन्य भाषाओंका सविशेष चलन नहीं होने पाया था। जो उस समय इन भाषाओंका ध्यान देने योग्य प्रचलन हुआ होता, तो शब्दशास्त्रके अद्वितीय ज्ञानी सूक्ष्मदर्शी महर्षि पाणिनी अवश्य ही अपने व्याकरणमें कुछ भी उनके विषयमें लिख जाते। सर्वथा उदासीन कभी न रहते। परन्तु जब कि पाणिनीय व्याकरणमें कुछ भी उल्लेख नहीं देखनेमें आता, तो यह निश्चय है कि उनके समयतक नवीन भाषाकी उत्पत्ति और देशव्यापकताका सर्वथा अभाव ही था। अन्यथा, प्राकृत भाषाका चलन भारतमें उनके समय चला होता, वा ध्यान देने योग्य परिवर्त्तन भी संस्कृत शब्दोंका किसी देशभाषाके रूपमें वर्त्तमान होता तो पाणिनी बाबा अवश्य ही अपने व्याकरणमें कुछ लिख जाते। इससे निश्चय होता है कि उनके समयतक ध्यान देने योग्य परिवर्त्तन संस्कृत भाषामें नहीं होने पाया था और न किसी प्राकृत भाषाका चलन ही किसी देश वा प्रान्त-विशेषमें तबतक हुआ था।

वेदकी गाथासे भिन्न, एक दूसरी स्वतन्त्र गाथाका नाम भी पाणिनीके बाद, बुद्धदेवके समयमें चलित होगया था और बुद्धके धर्म-विषयक कुछ लेख भी उक्त गाथामें लिखे गये थे, इसका पुष्ट प्रमाण अवश्य मिलता है। क्योंकि, बौद्धोंके पवित्र "महावैपुल्य धर्मसूत्र"

उक्त गाथाकी कवितामें ही लिपिबद्ध हैं। सबसे पहिले, नैपालकी अति पुरानी हस्तलिखित जैन, बौद्ध धर्म्मपुस्तिकाओंसे और बौद्धमतके आदि धर्म्मग्रन्थोंसे ही इसका अनुसन्धान, पुरातत्त्वान्वेषी सुविज्ञ 'हौजसन' साहबने, विशेष सूक्ष्मदर्शिता और परिश्रमपूर्वक किया था। सजीव देशभाषाओंकी उत्पत्ति, शब्दोंके रूपपरिवर्त्तनके कारणसे ही होती है। इस नियमकी सत्यताका परिचय, वैदिक संस्कृतसे प्रारम्भकर वर्त्तमान हिन्दी आदि भारतकी प्रायः प्रचलित देशभाषामात्रमें देखनेमें आरहा है। इसलिये इस नियमानुसार उक्त गाथामें भी मूल संस्कृतसे अनेकों विभिन्नता उत्पन्न होकर ही बुद्धदेवके जन्मके कुछ पहिलेसे ही इस नवीन भाषा, "गाथाका" जन्म, भारतभूमिमें होगया था। परन्तु प्रत्यक्षरूपसे लिपिबद्ध होकर उक्त नवीन गाथा भाषाने सबसे पहले बुद्धदेवके वर्त्तमान रहते उनके सुप्रसिद्ध "महावैपुल्य धर्म्मसूत्रोंके" रूपोंमें ही दर्शन दिया। अथवा लिखित प्रमाण इससे पहिलेका इस समय नहीं प्राप्त है, इसलिये भी इस गाथाकी उत्पत्तिका समय अगत्या उस समयसे पूर्वकालका न मानकर उस समयका ही मानना पड़ता है। इस नयी गाथाकी परीक्षासे निश्चय होता है कि प्राकृत भाषाकी उत्पत्तिके पूर्वमें संस्कृतकी अशुद्धि और स्वरूपविकृतिसे नयी भाषाकी उत्पत्तिके स्वाभाविक मूल नियमानुसार ही इस गाथाकी सृष्टि हुई थी; इसमें सन्देह नहीं।

संस्कृतमें एकवचन द्विवचन और बहुवचन तीनोंका प्रचलन है, पर प्राकृतादि भाषाओंमें द्विवचनका पूरा अभाव है। इसका भी बीजरूपसे सूत्रपात उक्त गाथामें ही प्रारम्भसे हुआ देखनेमें आता है। गाथामें संस्कृतके द्विवचन और बहुवचनके प्रयोगोंको सर्वत्र एकवचन वा बहुवचनमें ही प्रयुक्त किया है, द्विवचनका इसमें कहीं प्रयोग ही नहीं है। जैसे संस्कृत—"बुद्धक्षेत्राणि" और "विशुद्धनिर्म्मलानि" इनको "बुद्धक्षेत्र" और "विशुद्धनिर्म्मल" तथा "ऊर्द्धौ हस्तौ" और "तावपि"

त्यादिके बदले "उर्द्धहस्ता" और "तानपि" ही गाथामें प्रयुक्त हैं। इससे निश्चय होता है कि, वर्त्तमान प्राकृत भाषाओंमें द्विवचनका सर्वथा अभाव, इस गाथाके अनुकरणपर ही होगया। संस्कृत—"स्त्री, श्री, ह्री, अप्सरसः शाक्यानां और शुक्ल" आदि शब्दोंको बिगाड़कर, "इस्त्रि, शिरी, हिरि अप्सराः, शकियानां, शुकुल" आदि अशुद्ध प्रयोगोंके सिवाय, संस्कृत शब्दोंके लिङ्गोंका मनमाना परिवर्त्तन भी गाथामें प्रत्यक्ष दिखता है। जैसे—सं० "नक्षत्राणिको" "नक्षत्राः" और "मुक्ताहारः," "मञ्चकः" आदिको "मुक्तहारं" "मञ्चकं" इत्यादि। स्वर्गवासी डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्रके छपाये "ललित-विस्तर" ग्रन्थमें, गाथाके इस प्रकारके विविध परिवर्त्तनोंको जिनकी इच्छा हो देख सकते हैं। यहाँ उनको विस्तारसे दिखानेका स्थानाभाव है। उक्त गाथामें ही सबसे पहले विभक्ति प्रत्ययोंका लोप भी स्थलविशेषमें बहुधा देखा जाता है। जैसे—संस्कृत —"बोधि-सुवटात्" वाक्यके स्थानमें, "बोधि-सुवट" "ऊर्ध्वौ हस्तौ" बदलकर" "ऊर्द्ध हस्ता" "इमां दृष्ट्वा अवस्थां" न लिखकर, "इम दृष्टावस्थां" इत्यादि।

गाथाकी ही इस शैलीका अनुकरण आजतक प्राकृतोंके समूह भेदोंमें अर्थात् पाली, आर्ष-प्राकृत, अपभ्रंश, महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाचिकी मागधी, आदि सब भाषाओंमें होता आया और इस समय हमारी इस रूपान्तरित वर्त्तमान प्राकृत हिन्दी भाषामें भी होता है। प्राकृतके वैयाकरण सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र आचार्य्यने, अपने रचे प्राकृत व्याकरणमें "स्यम् जस-शसां लुक्।" ३४४ "षष्ठ्याः।" ३४५ आदि सूत्रोंसे इस विषयको उत्तम प्रकारसे इसलिये ही समझा दिया कि जिसमें कम विषयकी भविष्यमें शंका ही न उत्पन्न होने पावे। प्राकृत भाषाकी कविताओंमें अनेकों उदाहरण इस विषयके वर्त्तमान हैं कि जिनमें उक्त विभक्ति प्रत्ययोंको इन सूत्रोंके अनुसार लोप हुआ प्रत्यक्ष दिखता है।

हिन्दीभाषामें प्राकृतके ही "को, ने में" आदि विभक्ति

प्रत्ययोंका कहीं कहीं लोप होजाता है। परन्तु विशेषता यह है कि बहुवचनमें इनके लोप होनेपर भी संज्ञामें जो विकृति इनके कारणसे उत्पन्न हुई थी, वह ज्योंकी त्यों रहजाती है। जैसे—"जंगलों और नगरोंमें सूर्य्यकी किरणोंका समान प्रकाश देखनेमें आता है।" इस वाक्यमें 'में' इस सप्तमी विभक्तिके चिन्हके लुप्त हो जानेपर भी 'जंगलों' यह विकारयुक्त रूप ही अपनी आकांक्षा उस लुप्त 'में' अक्षरसे दिखा रहा है। विभक्ति प्रत्ययके संयोगसे जो विकृति जंगल शब्दके अन्तिम 'ल' अक्षरमें उत्पन्न हुई थी वह ज्योंकी त्यों बनी रहकर, सूचित कर रही है कि "मेरा पूरा शुद्ध सुबन्त रूप 'जंगलोंमें' है।" गाथा, प्राकृत और हिन्दीमें विभक्ति चिन्हके लोपकी विशेषता अवश्य है, इसलिये केवल इतने अंशको ही आज भी हम हिन्दीकी विशेषता मानेंगे। इस 'विशेषता वा 'खूबी' की दुहाई देकर पदोंका अंगभंग करने वा अंगरेजी 'ग्रामरके' ढर्रेपर हिन्दीको हठवश लेजानेकी चेष्टा करनेको यथार्थमें हम हिन्दीकी 'खूबी' या विशेषता कभी नहीं मान सकते हैं। जिस भाषामें स्वाभाविक जितनी और जैसी विशेषता वर्त्तमान हो, केवल उतनी ही विशेषताका विचार सूक्ष्मरूपसे कर्त्तव्य है। छटाँकभर हो तो उसे सेरभर प्रतिपन्न करनेकी चेष्टा करना अनुचित है। प्राकृतके प्रसिद्ध वैय्याकरण पण्डित-वर हेमचन्द्र आचार्य्यरचित अष्टाध्यायीके उक्त ३४४ वें सूत्रमें, प्रथमा और द्वितीया विभक्तिके एकवचन और बहुवचनके लोपकी विधि प्रत्यक्ष दिखती है। प्राकृतभाषामें प्रायः अकारान्त शब्दोंकी प्रथमाके एकवचनमें सर्वत्र उकारान्त और आकारान्त पुंलिङ्ग शब्दोंका ओकारान्त रूप सिद्ध होता था। हिन्दीमें गुसाँई तुलसीदासजीने स्वरचित रामायणमें 'रामु' 'मातु' 'आगमनु' 'मनु' आदि अनेकों प्रयोग उस नियमानुसार ही किये। तुलसीदासजीके परवर्त्ती कवि और सुलेखकोंने भी इस नियमका अनेकों स्थलोंमें पालन किया। काशीकी नागरी प्रचारणी सभासे प्रकाशित, चन्द कविका सुप्रसिद्ध पृथ्वीराज रासा भी उस नियमानुसार

'रासो' ही मुद्रित कराया गया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विशुद्ध हिन्दीमें इधर बहुत दिनोंसे "रामु" "घरु" "मातु" मनु' अथवा 'रासो' 'बखेड़ो' आदिका चलन उठ गया है। हेमचन्द्र आचार्य्यके समयसे जिस क्रियाका प्रारम्भ हुआ था, इस समय वह पूरी होगयी और अब प्रथमा विभक्तिके उन उकारान्त ओकारान्त रूपोंका हिन्दीमें केवल कहीं कहीं लोपमात्र ही नहीं, पर पूरा पूरा अभाव ही होगया है। इनके सिवाय प्रथमाके बहुवचनोंका प्रयोग भी हिन्दीमें एकवचन सा ही सर्वत्र अधिकतासे किया जाता है, केवल बहुवचनकी क्रियासे उनका बहुत्व बहुधा चौड़े आता है। जिन शब्दोंके स्वतन्त्र रूप, प्रथमा बहुवचनके हैं प्रायशः उनके भी शुद्धरूप लिखनेपर पूरा ध्यान सब लोग नहीं देते, और "बुद्धियाँ," "नदियाँ," "गाड़ियाँ" न लिख "बुद्धि" "नदी" और "गाड़ी" ही प्रायशः लिखते हैं।

द्वितीया विभक्तिके लोपका तो हिन्दीमें बहुल प्रचार है। "घर बना रहा है।" "रोटी खाता है" "गाड़ी हाँकता है।" "कान ऐंठ दिया।" "घर गया है।" "मुहँ धोता है।" आदि अनेकों प्रयोगोंमें द्वितीया विभक्तिका लोप हुआ दिखता है। प्राकृताष्टाध्यायीके "षष्ठ्याः" ॥ इस ३४५ वें सूत्रकी वृत्तिमे—"अपभ्रंशे षष्ठ्याविभक्त्याः प्रायो लुग भवति।" स्पष्ट लिखा है। क्रम क्रमसे लोप होकर, आज हिन्दीमें षष्ठी विभक्तिके सुबन्त रूपका जड़ मूलसे अभाव ही होगया। इस समय तद्धित-प्रत्ययान्त रूपोंसे ही षष्ठीका भी काम चलता है। गाथा, प्राकृत, और विशेषकर अपभ्रंश प्राकृतकी प्रकृतिके अनुसार ही हिन्दीकी प्रकृतिका मेल मिलता है और खोजनेपर इसकी वर्त्तमान 'विशेषता' भी बीज-रूपसे उन भाषाओंमें वर्त्तमान दिखती है। केवल संस्कृतभाषासे किसी एक विषयमें सादृश्य न देखनेके साथ ही घबराकर, बिचारी हिन्दीको विलायती 'ग्रामर' और अंगरेजोंकी म्लेच्छभाषाके साँचेमें ढालकर इसकी स्वरूपविकृतिकी अयोग्य चेष्टा करना केवल अन्याय

और अनुचित ही नहीं, बल्कि इसकी जड़ खोदनेकी दुस्साहसिकता दिखाना भी है।

विभक्ति अथवा विभक्ति चिन्हके लोप होनेका पुराना प्रमाण, गाथा और प्राकृतभाषाओंमें मिलता है। उस अनुवृत्तिसे ही हिन्दीकी प्रकृतिमें भी कहीं कहीं विभक्ति वा विभक्तिचिन्हका लोप होना स्वाभाविक है। एक मात्राके लाघवको, जिन वैय्याकरणोंने पुत्रोत्सव जैसा सुखद माना है, उनको विभक्तिके अथवा विभक्ति चिन्हके बारम्बार न लिखनेका सुअवसर मिलनेपर भी कार्य्यसिद्धि वा भाषाके प्रकाशमें किसी प्रकारका विघ्न न दिखे, तो वे कब इस सुभीतेको छोड़ सकते हैं? "आप राम, कृष्ण, तनसुख, मनसुख, इन चारों और चम्पो, रूपो और श्यामोंको भी गाड़ीपर चढ़ाकर ले जाइये।" इस वाक्यको "आप रामको, कृष्णको, तनसुखको, मनसुखको इनको चारोंको, और चम्पोको, रूपोको और श्यामोको भी गाड़ीपर चढ़ाकर ले जाइये।" विभक्ति सहित इस प्रकारका लिखनेपर भी यह किसी प्रकारसे अशुद्ध नहीं समझा जा सकेगा, बल्कि इसका पूरा शुद्धरूप यह ही है। परन्तु कहने और लिखनेमें भी पहिले प्रकारसे सुगमता विशेष होनेके कारणसे, और 'को' इस विभक्तयन्त अक्षरको नौ बार न लिखकर, एक बार लिखनेसे भी एक सी सिद्धि देखकर ही वर्त्तमान हिन्दीमें इस प्रथाका प्रचार हुआ है। राम, कृष्ण चारों आदि शब्दोंमें प्रत्यक्ष 'को' अक्षरके न दिखनेपर भी उनकी आकांक्षा उससे है और शुद्ध सुवन्त रूप भी उनके "रामको, चारोंको" आदि ही हैं इसका तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण वर्त्तमान है कि "किसको, किसको, ले जाइये?" इस प्रश्नके उपस्थित होते ही, 'ले जाइये' क्रियाके कर्मपद, 'रामको, कृष्णको," आदि ही कहे जायंगे। राम, कृष्ण वा चम्पा, रूपा श्यामामात्र कभी नहीं। ऐसे प्रयोगोंमें बहुवचनके 'घोड़ों' 'लड़कियों' 'लड्डुओं' आदि रूपोंके प्रयोग ही निस्सन्देह अपनी विकृतिसे अन्तिम अक्षर 'को, ने, से, में', आदिकी

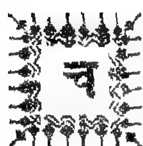
आकांक्षा और लेख सुगमताके निमित्त ही उनके लुप्त वा गुप्त होनेकी सुदृढ़ साक्षी देनेके साथ ही उनसे अपनी एकरूपता भी निश्चयतासे प्रमाणित कर रहे हैं। हिन्दीहितैषी सज्जनोंसे प्रार्थना है, कि इसको भलीभांति विचारें और हठ वा दुराग्रहवश, कोरी अंगरेजी अनुकरण-प्रियतासे ही मातृभाषाका अङ्ग भङ्गकर इसकी दुर्दशा करनेसे विमुख हों। क्योंकि, जब प्राकृतभाषासे ही हिन्दीमें उक्त लुप्त होनेकी प्रथाका प्रवर्त्तन हुआ दिखता है, और प्राकृतोंमे विभक्ति प्रत्ययके अन्तिम चिन्होंके लुप्त होनेपर भी वे उनसे स्वतन्त्र अक्षर या चिन्ह नहीं माने जाकर सिद्ध एकरूप ही माने गये हैं, तो क्या कारण है कि उस पुरानी प्रथाके हिन्दीमें विशदरूपसे विशेष सुभीतेके लिये चल पड़नेपर, हिन्दीके थड़ेसे अङ्गरेजी पढ़े लिखे संस्कारक, "हिन्दीभाषाकी नयी खूबीकी" मनगढ़ी दुहाई देकर उसे दुराग्रहवश अलग लिखने और स्वतन्त्र माननेका निकम्मा हठ करते है? निरपेक्ष विचार ही प्रार्थनीय है, विशेष और क्या लिखें?

॥ इति शम् ॥



आत्मारामकी 'टें' 'टें'

(१)



राचर-रचना-चतुर चतुर्मुखने संसारमें एकसे एक अनोखे अनगिनत जीव रचे हैं। पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, भुनगे, पतंग, जलचर, थलचर, नभचर आदि भांति भांतिके विचित्र जीवोंसे संसार भरा पड़ा है। पर इनमें रुईके गाले (पहल)से अति कोमल रंग बिरंगे पंखवाले पक्षियोंकी परम प्यारी, अनेकों प्रकारके चित्र विचित्र वर्णोंसे संवारी, अति सुहावनी, मनभावनी, निराली सुन्दरता सबसे बढ़ी बढ़ी देखनेमें आती है। अरुणोदयके साथ ही नित उठ इन पखेरु-ओंके झुण्डके झुण्ड सघन ऊंचे पेड़ोंकी फली फूली, हरीभरी, चारों ओर फैली डालियोंपर निडर इधर उधर फुदकते फांदते, कलरव कलकलित सुललित राग भैरवी अलापते, स्वरोंके उतार-चढ़ावसे सुमधुर सुरीले चारों सप्तकसे साधते कोलाहलसे मोहनिद्रामें तबतक भी अचेत पड़े सोते आलसी अभागोंको जगा जगाकर सावधान करनेके साथ ही मानो 'शिक्षा' और 'चेतावनी' दिया करते हैं। कैसे दुःखकी बात है कि उस समय भी जंगली, अनपढ़े, पतहीन, मनमलीन अभागे 'हरे हरे', "आत्मा राम" अनुरूप हरे पत्तोंमें छिपे हुए से निराली बेसुरी 'टें टें', 'टें टें' कर कान फोड़नेसे बाज नहीं आते। करें क्या? और कुछ आता भी ता नहीं। अति सुन्दर पक्षिजातमें धरतीके और जीवोंसे ऊंचे उड़कर आकाशमें जानेकी शक्ति भी उस परम

विचारवान् भगवानने प्रत्यक्षमें मानो सबसे उन्नत इनकी उत्तमताके दिखानेको ही दी है और कहांतक कि इनके स्वरूपकी अनूप सुन्दरता, शक्ति और उत्तम गुणोंके कारण पक्षियोंके पक्षपाती बन त्रिलोकीनाथने पक्षिराज गरुड़को तो अपनी सवारीमें जोता, साथ ही महालक्ष्मीजीके हाथमें भी उल्लुओंकी रास पकड़ा दी है। उधर देखिये तो हंसवाहिनी भगवती सारदा सरस्वती और मयूरध्वज महासेन देवसेनापति भी इस जातिके उत्कर्षकी फहराती पताकाको देवसेनाके भी आगे ही आगे दिखाते उड़ाते चलते हैं। जगत्पूज्य आदि वर्णके परम गौरवकी सम्पत्ति 'द्विज' शब्दको भी स्पर्द्धापूर्वक अधिकारमें लाकर वर्णश्रेष्ठ सर्वोत्तम माननीय ब्राह्मणोंकी बराबरी भी इन पक्षियोंने की है। इसलिये विशेष अहंकारसे पर फुलाये, परम मनोहर, स्वच्छन्दचारी बनविहारी, पक्षी जिस समय फले फूलोंकी सुगन्धिसे बौरे पेड़ोंपर मस्त बैठे मौजसे मनमाना राग अलापा करते हैं, उस समय इनकी शोभा किसका मन हरन नहीं करती? फिर जिस समय नवीन नील नीरदोंकी उमड़ी हुई घनघोर घटाको निहार, मोर अपनी ×××× हुई अनेक रंग सरसाती अनमने ×××× स्वच्छ सुन्दर पुच्छकी मनोहर चन्द्रिकाओंकी चमचमाती प्रभाको चारों ओर फैलाता, अनोखी गतिकी लयतालतुली चालसे ठमक ठमककर नाचने लग जाता है उस समय दर्शकमात्रके नेत्र उसे एकटक निहारते चकित हो थकित ही रह जाते हैं। जब कि इन अद्भुत चन्द्रिकाओंके उस समयके अनुपम सौन्दर्य्यसे जगमोहन मोहन भी मोहित होकर ही मोर मुकुटधारी कहाते उन परोंको सीसपर चढ़ाये हुए हैं तब अन्य जीवोंकी कौन गिनती है!

परन्तु विधाताने पक्षियोंमें एक ऐसी अद्भुत, अनोखी, अद्वितीय जाति भी रची है कि जिसकी गुणावली और सुन्दरता आदिके सम्बन्धमें समकक्षता दुर्लभ है। इस विचित्र जातिके अपूर्व पक्षियोंका पन्नेसे भी उत्तम, मनोहर, नयनोंको शीतल करनेवाला सुन्दर हरित वर्ण,

चित्रु मकी सी लाल तीखी नासिका, संकोच विकाशवाले, मानो नीलमसे काट छाँटकर निकाले, संवारे, सुन्दर गोल गोल निराले नेत्रोंकी अनुपम प्रभा और सुधासे सरस मीठी मनलुभावनी राधाकृष्ण 'राम राम' सुनानेवाली परम पवित्र कोमल श्रु तिमधुर वाणी आदि एकसे एक गुणोंमें चढ़ी बढ़ी ही दिखती हैं। नेत्रों सहित कान और मनको पवित्र करनेवाला संसारमें ऐसा सुंदर दूसरा पंछी कौन सा है? एक बिचारी 'मैंना' 'मैं' 'ना' कहती अभिमान छोड़ दबे पावोंसे सामना करनेको आती दिखती भी है तो सामना होते ही नीली पीली पड़ी पिंजरेमें सिर धुनती और पछताती है। कदाचित् इनसे ही विशेष भयभीत हुई डरती कांपती, अपनेको घड़ी घड़ी 'मैं' 'ना' 'मैं' 'ना' कहती संसारमें 'मैना' नामसे प्रसिद्ध हुई हो तो क्या आश्चर्य है? अनन्य भक्त महात्माओंके एक मात्र आधार मुक्तिदाता 'राम' नामको दिन रात रटते, सांसारिक स्वच्छन्दता और स्वाधीनताके सब सुखोंसे मुहंमोड़े हरित परोंकी गठित गुदड़ी सी ओढ़े गृहस्थाश्रित सुपठित मायापिंजरबद्ध शुकोंको लोग लाड़प्यारसे 'बेटा 'आत्मराम' वा 'पढ़ो बेटा आत्माराम' कहकर चुचकारते पुचकारते हुए अकसर पुकारा करते हैं। इसलिये पिंजरेमें पड़े भी परम प्रेमसे पले इन राम नाम पढ़ते अनोखे पक्षियोंका नाम आत्माराम प्रसिद्ध है। तोतोंकी अनेक जाति हैं। एकसे एककी आकृति और वर्णमें भी थोड़ा थोड़ा अंतर अवश्य रहता है। 'तोती' 'टइयां' 'तोता पहाड़ी' चन्द्रना आदि उनके भेद हैं; पर उनके स्वभावोंमें भेद नहीं। यद्यपि वर्तमान समयमें केवल 'राधाकृष्ण' वा 'रामराम' आदि थोड़ेसे गिनतीके सिखाये हुए शब्दोंका बार बार रटना ही शिक्षित तोतोंका अभ्यस्त दिखता है, अर्थात् जिन शब्दोंको उनके अन्नदाता प्रतिपालक बारम्बार रटते रटाते रहते हैं केवल उनकी ही अनुरूप प्रतिध्वनि तोते भी दुम हिला हिलाकर हर घड़ी किया करते हैं, पर इनमें कोई कोई विशेष धारणा शक्तिवाले तोते ऐसे भी होते हैं कि

जिनके साथ पढ़ानेवालोंको बहुत सा बकबक कर सिर खपाना नहीं पड़ता। शब्दोंको दो चार बार सुनकर साथ ही "आत्माराम" भी आनन्दसे रटन्त करने लग जाते हैं। इसलिये तुलसीदासजी सरीखे सुकवियोंने सज्जन और दुर्ज्जनोंके घरके पाले हुए वैसे तोतोंका क्रमसे 'राम' नाम रटना और 'गाली' बकना स्वभावसिद्ध धर्म्म ही वर्णन किया है। प्रयोजन यह कि 'आत्माराम' विचारे तो जिस शब्दको हर घड़ी सुनते रहते हैं उसे ही रटा करते हैं। विचारसे तो इस जातिका सम्बन्ध मात्र नहीं है और न कभी ये अभागे 'राम' नामके अर्थ और उसके अहर्निश रटनेके अभिप्रायको ही समझते हैं। भला समझते ही होते तो क्या आजतक बंधनसे न छूट जाते? आत्माराम-की पूंजी तो कड़ाचूर रटन्तके थोड़े से शब्द मात्र ही है। अर्थसे उन्हें क्या प्रयोजन? अस्तु, प्राचीन उपन्यास आख्यायिका आदि पुस्तकोंमें सुपठित तोतोंको विशेष सामर्थ्य और सार्थक कथोपकथनकी शक्ति भी कहीं कहीं कहा है। परन्तु दुर्भाग्यवश इधर बहुत दिनोंसे वैसे पंछी देखनेमें नहीं आते थे। केवल उनकी अलौकिक अद्भुत कथासे ही आश्चर्य और आनन्द दोनों साथ ही उपस्थित हो जाया करते थे। ये बड़े ही सौभाग्यका विषय है कि इस बीसवीं शताब्दीके विज्ञाना-लोकित विलायती सभ्यताके विशेष उन्नत समयमें वैसे अपूर्व 'आत्मा राम' भी चोरबगानके सामयिक समाचारपत्र 'भारत मित्र' में कई सप्ताहोंसे अपना अद्भुत चमत्कार दिखानेको न जाने कहांसे उड़कर आ गये हैं। मैंने अपने किसी मित्रसे जिस दिन सुना कि 'भारतमित्र'-में एक 'आत्माराम' का लेख लम्बा चौड़ा प्रकाशित होता है उस दिनसे विशेष आग्रह, उत्कण्ठा और कौतूहलके साथ 'भारतमित्र' में प्रकाशित आत्मारामका परम मनोरम लेख देखना आरम्भ किया। देखते ही मैं अचम्भेमें आकर विचारने लगा कि 'कादम्बरी' के वर्णित अद्भुत "आत्माराम"से भी बढ़कर समाचार पत्रमें प्रतिवाद करनेवाला

यह दूसरा 'आत्मराम' क्योंकर कहाँसे उड़ आया है। यद्यपि 'आत्माराम' नामसे साढ़े तीन हाथकी देहके अवतारी कोई गुप्त जीव ही लिखते तो अवश्य नामके पीछे उनकी "शर्म्मा, वर्म्मा" आदि उपाधिका पुछल्ला भी साथ ही लगा दिखता। जब कि किलेके मैदान सा साफ बिना उपाधिका 'आत्माराम' नामसे ही छपता है, तब इस 'आत्माराम'-को यथार्थ "आत्माराम" समझनेमें प्रतिबन्धक सा तो ×××× ही दिखा तथापि मनमें सन्देहने अपना अधिकार करना न छोड़ा। भांति भांतिकी शंकाएं उत्पन्न होती ही रहीं। ××× बाबू राजेन्द्रलाल मल्लिकका चिड़ियाखाना पास ही है और उसमें एकसे एक अद्भुत नित नये पंछी आया ही जाया ×××××× संतोष ही करना पड़ा; क्योंकि वहांसे उड़कर ऐसे अपूर्व 'आत्माराम'का 'भारतमित्र' आफिसमें आ फंसना और लेख लिखना कोई अचरजकी बात नहीं भी हो सकती है। 'भारतमित्र' में छपाकर अपनी सुमधुर वाणीको दूर देशों तक सुना सुना, लोगोंको आश्चर्यके समुद्रमें सैर करानेके लिये किसी सूखे उजड़े जंगलका हरियाला छोड़, 'आत्माराम' जी अन्तको कलकत्ते आ विराजे दिखते हैं। लगातार आठ सप्ताहोंसे "भारतमित्र" में इस अपूर्व पंछी "आत्माराम" के लम्बे चौड़े लेखोंकी भरमार है। इसके लेखोंमें यथार्थ विचारसहित सार पदार्थका कुछ भी उपन्यास दिखता तो निःसन्देह उपन्यासोंके कथित पंछियोंसे यह बढ़ निकलता और सर्वोत्तम गिना जाता। परन्तु परम परितापके साथ कहना पड़ता है कि लगातार आठ सप्ताहोंसे इसकी वृथाकी 'टें' 'टें' सुनते सुनते कान पक गये। 'आत्माराम'! तुम यदि वृथाकी 'टें' 'टें' न कर 'राम राम' या 'राधाकृष्ण' ही उचरते तो ऐसे अप्रिय न होते! सब ही चावसे तुम्हारी सुमिष्ट रामरटन्तको सुनते। तुम्हें प्रीतिपूर्वक पढ़ानेको भी अवश्य प्रवृत्त होते। पर तुम्हारी इस निकम्मी कान फोड़ने वाली 'टें' 'टें' से तो जीमें आता है कि तुम्हें इस पराधीनताके पिंजरे-

से बाहर निकालनेका प्रयत्न कर निश्चिन्त होना ही भला है। भगवानने शुक जातिमें जैसी बाहरी मनोहर सुन्दरता और इनकी वाणीमें पढ़ाने-पर जैसी अलौकिक मधुरता दी है, वैसा ही यदि स्वभाव भी सरल दिया होता, अन्तःकरणमें घोर कपटकालिमा न रहती, नेत्रोंमें शीलका लेशमात्र भी दिखता तो संसारमें इस पालेपोसे यत्नसे पढ़ाये हुए "राधाकृष्ण" "राम राम" आदि पवित्र सुमधुर नाम सुनानेवाले मधुर-भाषी तोतोंसे समधिक प्रियतम पक्षी दूसरा एक भी न मिलता। परन्तु ईश्वरको वैसा करना नहीं था। स्वभावसे विरुद्ध वस्तु संसारमें नहीं उपजती। इसलिये भारतमित्रका विचित्र "आत्माराम" भी जातिस्वभावसिद्ध अवगुणोंको कैसे छोड़ सकता था ? अवश्य इसके निरी 'टें 'टें' वाले लम्बे चौड़े लेखोंसे तो इतना साफ झलकता है कि इस अद्भुत जीवने एक ही पिंजरेमें वा एक ही पालक अन्नदाताकी आश्रय-छायामें जीवन व्यतीत कर एक ही शिक्षककी 'शिक्षा' नही पायी है। इसके उच्चारित शब्दोंसे ही भली भांति परिचय मिलता है कि इसने हिन्दूके पिंजरेमें पड़े पड़े जैसे कुछ दिनों तक "राम" नाम रटा है वैसे ही मौलवी मुल्ला मुसलमानोंकी तालीम भी उनके नीचे रह कर कुछ दिनों तक पायी है। इसके सिवाय वंगदेशकी हवा खाते किसी बंगवासीके अड्डेपर पराधीनताके पायजेबमें सुन्दर सिकली सहित अट-काये सुहाये सुचारु चरणोंसे विचरते इधर उधर चोंच चलाते आत्मा रामने कुछ दिन तक बंगलियोंका प्रसाद पाकर उनकी शिक्षा भी ली है। तथापि सुप्रसिद्ध जातिधर्मके अनुसार महात्मा 'आत्माराम' ने जब कभी पिंजरेकी खिड़की खुली देखी और अवसर पाया साथही वहांसे निकल आंखें फेर आकाश मार्गको पर फैलाते फुरसे निकल भागनेमें पलभर भी विलम्ब करना उचित न समझा। उस समय एककी दी सीख भी काम न आयी; शील संकोच और कृतज्ञता आदिको तो आत्माराम भूमिष्ठ होनेके साथ ही तिलांजलि दे चुके थे। तोतेके नेत्रोंमें शील तो

सत्रासोलहों आने स्वभावतः समाया हुआ था ही, इसलिये जिनके आश्रयमें पले, चोंच खोलकर विविध भांतिकी बोलियोंका बोलना सीखे, शिक्षित, पढ़े कहाये, निकल भागनेके बाद कभी भूलकर भी उनकी ओर मुंह न किया? ऐसा स्वभाव ही न होता, तो लोग इनके नेत्रोंकी उपमा दे, परमनीच कृतघ्नोंको 'तोते' चश्म क्यों कहते? ठीक ही तो है "स्वभावो दुरति क्रमः" "नीम न मीठी होय सींचो गुड़ घीसे" "जाको जौन स्वभाव छुटै नहिं जीसे।"

(२)

"अमृतं बाल भाषितम्" सुकोमलमति सुकुमार बालकोंकी परम प्यारी सुधा सम मीठी तोतली बोली बड़ी ही मनभावनी होती है। परन्तु बालकोंको उस सुकोमल मधुर मनोहर बानीकी उपमा भी इन तोतोंकी अति रसीली रसनासे समुच्चारित वचनोंसे ही दी जाती है। बालकोंको तोते सा मधुर बोलनेवाला समझ, समयपर प्यारसे "मेरा तोता" कहकर स्नेहमयी माता परम प्रेमसे पुचकारा करती हैं। अतएव इसमें संदेह नहीं कि अनेकों अवगुणोंके आधार और परले सिरे-के गुप्त पापी पूरे कृतघ्न होनेपर भी कपटी तोते अपनी परम कोमल मीठी बोलीसे सबको मोह लेते हैं। इनकी वाणी (टें टें न करें तो) सुननेमें इतनी प्यारी लगती है कि उसके गुण दोषोंके विचारका तो ध्यान भी नहीं रहता। इसलिये लिखा भी है "न दोषा गण्यन्ते मधुर-वचनानां क्वचिदपि" 'आत्माराम' से: वादविवादमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा तो स्वप्नमें भी किसी विचारवान्‌की क्यों होने लगी थी? इस लेख-का केवल इतना ही प्रयोजन है कि 'सरस्वती' में प्रकाशित हिन्दी भाषाके व्याकरण विषयकी विशेष प्रयोजनीय बातोंपरसे लोगोंका ध्यान सर्वथा उचट न जाय और ध्यानसे सज्जन उनका गम्भीर विचार अवश्य करें। "आत्माराम" जैसी रीतिसे वाग्जाल फैला कर लोगोंकी बुद्धि-

को उलझनमें फंसा मूल विषयके विचारसे कोसों दूर ले जानेके साथ ही वितण्डाकी रीतिसे महावीरप्रसाद "सरस्वती" सम्पादक महाशयको भी अयोग्यरूपसे अयथा आक्रमण कर रहा है। उस घोर अन्यायके देखते इस विषयका विशेष विचार होना ही परम आवश्यकीय। अन्यथा भ्रान्तिवश दिनोंदिन इस अभागी हिन्दीकी न जाने क्या क्या कुगति होनी है!

बिचारे 'सरस्वती' सम्पादकने व्याकरणके नियमोंपर ध्यान रख सावधानतासे विशुद्ध हिन्दी लिखनेकी परिपाटीके सुदृढ़ करनेको और असावधानतासे अशुद्ध नियमविरुद्ध लिखनेकी कुचालके रोकनेको शत-वार क्षमा प्रार्थनापूर्वक अपने उस दोषका सबसे पहले उल्लेख कर, कतिपय प्रसिद्ध हिन्दी लेखकोंके लेखोंका अवतरण अपनी पत्रिकामें किया। निरपेक्ष विचारकी दृष्टिसे द्विवेदीजीके इस कार्यको कोई भी न तो बुरा ही कह सकता है. और न इससे उनका उद्देश्य ही हरिश्च-न्द्रादि हिन्दीके परम प्रधान लेखकोंकी अवमानना करना ही कहा जा सकता है। "आत्माराम" के उनके पीछे पंजा झाड़ कर चिपट जाने और चोंच चलानेका प्रकाश्यमें तो वैसा कारण भी कोई नहीं दिखता। इन "आत्मारामी" (यथार्थमें मनसारामी) लम्बे लेखोंको देख अगत्या अनुमान करना पड़ता है कि पुरानी छिपी हुई खार निकालनेका उत्तम अवसर समझ बिचारे निरीह निरपराध द्विवेदीजीपर अयोग्य अवाच्य कुवाच्योंकी बाढ़ दागी जा रही है। "आत्माराम" ने "भाषाकी अन-स्थिरता" शीर्षक लेखमें द्विवेदीजीकी सबसे बड़ी भूल "अनस्थिरता" ही पकड़ रक्खी है। मानों भाग्यवश आत्मारामके हाथ बड़ा भारी ब्रह्मास्त्र ही बिचारे ब्राह्मणके विध्वंस करनेको आ लगा हो। प्रति सप्ताहके लेखमें बारम्बार तर्जन गर्जन करता हुआ उसी ब्रह्मास्त्रको दिखाता आत्माराम डरा डरा कर द्विवेदीजीकी जान आधी कर रहा है। इस बनावटी ब्रह्मास्त्रके आगे भयभीत महावीर भी स्तम्भित दिखते हैं।

इनके इस रीतिसे स्तम्भितसे हो मौनावलम्बन करनेका कारण सम्भवत: यह अनुमित होता है, कि महावीरजीको स्मरण दिलाये बिना वह अपनी अपार शक्तिको प्रायशः भूल जाया करते हैं। अन्यथा वर-प्रभावसे उनपर इन तुच्छ शब्दोंका प्रयोग तो व्यर्थ होना ही सुसिद्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि यह विचार हिन्दीके व्याकरणका और हिन्दी भाषाका ही है ; संस्कृतका नहीं। संस्कृत व्याकरणके नियमोंसे हिन्दी व्याकरणकी बहुतसे विषयोंमें विशेषता है। संस्कृत व्याकरणके नियमोंसे संपूर्ण अशुद्ध शब्द भी हिन्दीके व्याकरणानुसार सोलहों आने शुद्ध खरे खासे टकसाली गिने जाते हैं। केवल संस्कृत व्याकरणका एकांश मात्र प्रयोजनवश सीखे पढ़े, हिन्दी भाषा और उसके व्याकरणसे सर्वथा अपरिचित, अनपढ़, हिन्दीके लेखकोंमें हठसे टांग अड़ानेवाले हठी आत्मारामसे अपूर्व पंडितोंके यथासाध्य जोर लगाने वा कोलाहल मचानेपर भी हिन्दीके उन टकसाली शब्दोंको अशुद्ध कहनेकी सामर्थ्य अभिज्ञमात्रको नहीं हो सकती। हिन्दीके छोटेसे छोटे अभिधानोंमें भी उन शब्दोंको विशुद्ध हिन्दी शब्द ही सुस्पष्ट लिखना पड़ा है। आत्माराम बिना विचारे ही, बिचारे सरस्वतीसम्पादकपर टूट पड़े हैं। क्योंकि इनका तो यह जातिधर्म ही ठहरा। पर विचारनेकी बात है कि संस्कृतके व्याकरण अनुसार जिन शब्दोंकी आदिमें स्वर वर्ण रहते हैं, उनके आगे युक्त होनेवाले निषेधवाचक "न" को 'अन्', परन्तु व्यंजनोंके आगे आना पड़े तो "अ" हो जाता है। हिन्दीके व्याकरणके नियमोंमें ऐसी कैद नहीं है। इस लिये हिन्दी शब्दोंमें व्यंजनके आगे आनेवाले निषेधवाचक 'न' को भी "अन्" होता है। इससे हिन्दीमें "अनरीति" "अनरस" "अनहोनी" "अनमिल" "अनमोल" "अनपढ़" "अनहित" "अनगणित" "अनसुनी" "अनहुई" आदि अनेकों शब्द सर्वथा विशुद्ध ही माने जाते हैं। ऐसी अवस्थामें हिन्दीके लेखमें द्विवेदीजीने 'अनस्थिरता' लिख ही दी तो

अनर्थ क्या किया ? आत्माराम विचारे तुच्छ जीवकी सामर्थ्य ही कितनी सी ? किसी हिन्दीके विद्यावागीश वैयाकरणशिरोमणिकी भी शक्ति नहीं है कि 'अनरीति' आदि लिखे हुए हिन्दीके टकसाली शब्दोंको अशुद्ध प्रतिपन्न करनेका दुःसाहस दिखा सके। जब सैकड़ों शब्द इस प्रकारके हिन्दीमें विशुद्ध माने जा रहे हैं, तब एक विचारी इस अभागी 'अनस्थिरताका' ही ऐसा कौन सा महापातक है कि जिसके कारण इसे अपनी श्रेणीके समतुल्य शब्दोंके समूहसे अलग कर देश-निकाला दिया जाता है ? व्याकरणके नियमोंकी प्रबलता "अनरीति" आदि शब्दोंके सम्बन्धमें एक प्रकारकी और केवल अभागी 'अनस्थिरता'-के ही सम्बन्धमें अन्य प्रकारकी होनेका यौक्तिक कारण कौन सा है ?

वादप्रतिवादकी यह विशुद्धशिष्ट सनातनी रीति ही है कि वादी-के कथित मूल अभिप्रायका अनुवादपूर्वक युक्ति और उत्तम पुष्ट प्रमा-णोंसे उसके खण्डन होने योग्य अंशमात्रका ही प्रतिवाद करना। छल और वितण्डाको परम हेय और अश्रद्धेय समझ, इनकी तो छायाको भी उस प्रतिवादके सुदृढ़ युक्तिसिद्ध कथनपर न पड़ने देना। इस परमोत्तम रीतिका आसरा लिये बिना तत्व-निर्णयका होना असंभव ही नहीं असाध्य भी हो पड़ता है। अन्तको केवल वृथाकी बकवाद ही गले पड़ जाती है। विचारणीय मूल विषयका तो कहीं कोसों तक नाम भी नहीं अवशिष्ट रहने पाता। इसलिये यथार्थ वादकी रीतिसे तर्कमें प्रवृत्त हुए बिना तत्वनिर्णय तो त्रिकालमें भी नहीं हो सकेगा। उस यथार्थ तर्क सम्बन्धमें ही यह लिखा है कि, "तर्के तर्के जायते तत्वबोधः" छल वा वितण्डाके लिये नहीं ! द्विवेदीजीके लिखे "भाषा और व्याकरण" शीर्षक लेखका एक मात्र प्रधान प्रयोजन और उद्देश्य ही यह था कि उत्तम व्याकरणकी शिक्षाके अभावसे कुछ दिनोंसे हिन्दीके लेखकोंके वाक्योंमें बहुत सी अनर्गल अशुद्धियोंका चलन दिनों दिन बेरोकटोकके जिस प्रकारसे बढ़ता जाता है, भविष्यमें भाषाकी

दुर्दशा और अज्ञ लेखकोंकी मनमानी स्वेच्छाचारिताका वह प्रधान उत्ते-जक और प्रवर्त्तक होगा। अतः व्याकरणके नियमोंसे शीघ्र इस कुचा-लका निर्मूल करना कर्त्तव्य है। इस विषयमें समय रहते ही सबको सावधान हो निबद्ध नियमोंपर ध्यान देना और तदनुसार एक ही शैलीसे लिखना भी उचित है। इत्यादि। इस मुख्य उद्देश्यमें विशेष दोषका खंडन करने योग्य कोई अंश होता तो युक्तिपूर्वक उस अंश मात्रका ही प्रतिवाद करना भी आवश्यक था, अन्यथा इस बातको कौन अस्वीकार कर सकता है कि वर्तमान समयमें हिन्दीकी ऊपर लिखी हुई दुर्दशा स्वेच्छाचारी असावधान अनजान कोरे खरमंडी लेखकोंकी कृपासे उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। इस अवस्थामें इस दोषके सुधारका ही प्रतिवाद करने खड़े हो जाना कुछ बुद्धिमत्ताका काम नहीं है। द्विवेदीजीके लेखोंकी भूलोंको सामने लाकर, वा उनपर अपनी ओरसे भूलोंका मनमाना आरोपकर इस मूल विचारणीय विषय-को हवामें उड़ा देनेकी चेष्टा अनुचित है। ऐसा करनेसे तो विशुद्ध व्याकरण कभी बन ही नहीं सकेगा। विशेषतः दिनपर दिन इस अभागी हिन्दीका उर्दू के दास वा मूर्खोंके हाथोंसे अङ्ग भङ्ग ही हुआ करेगा। बीः उर्दू के भाग खुलेंगे और वह नीची कसौटी टूटी फूटी हिन्दी विचारीकी दुर्दशापर हंसती ही दिखायी देगी। आत्मारामकी वृथा "टें" 'टें" के ही हल्लेमें प्रयोजनीय मूल विचारको तिरोहित रहने देना न चाहिये। हिन्दी व्याकरणोंकी ऐसी दशा है?

सभ्य समाजमें भाषा और व्याकरणका सनातनसे घनिष्ट सम्बन्ध चला आ रहा है। विलायती शिक्षा और आजकलकी विचित्र नयी सभ्यताके अभिमानी मनमाना सिद्धान्त इस विषयका अपने शिक्षा-गुरु अंग्रेजोंके उपदेशानुसार बिना विचारे जैसा कर बैठते हैं, वास्तवमें उसे ही पत्थरकी लीक न समझकर कुछ तो अपने घरका, अपनी भाषा-का, अपने देशका, उसकी प्रकृतिका, साहित्यका, व्याकरणका विचार

और ध्यान भी करना उचित है। सब शास्त्रोंके आदि प्रणेता भारतीय महापुरुषोंने बहुत ही प्राचीन (अर्थात् जिस समय आजकलके उन्नतिशील अंग्रेजोंका नामकरण भी नहीं हुआ था और इनके आदि पुरुष जंगली जानवरोंकी अवस्थासे किसी रीतिसे भी श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते थे, उससे भी सहस्रों वर्ष पूर्वके) समयमें सब शास्त्रोंकी पूर्ण उन्नति और यथार्थ तर्ककी रीतिसे मीमांसा की थी। परन्तु आज इस विषयके कहते भी छाती दरकती है कि भारतके वे दिन गये! स्वप्नकी स्मृति समान अनन्त कालके गर्भमे विला गये! अब उस उन्नत समयके उन प्राचीन ग्रंथोंका नाम मात्र भी नहीं रहा दिखता है। इधर जिन सभ्यताभिमानियोंको आजतक भोजन करके मुंह धोनेका भी ढंग नहीं आया, वे राजशक्तिके प्रभावसे भारतीय प्रजाको जंगली, असभ्य, अशिक्षित (काला आदमी क्यों?) पशुसे भी गर्हित समझते हैं। निःसन्देह यह उनकी शिक्षाका ही प्रताप है कि लोग व्याकरणको भाषाकी उन्नतिका परम अवरोधक प्रतिपन्न करनेको बड़ी वीरता और चपलतासे लेख लिख और छपवा रहे हैं। साथही पाणिनीय व्याकरणके पहले संस्कृत भाषा व्याकरणसे सुनियन्त्रित ही नहीं थी। मानो तबतांई संस्कृतमें उत्तम विशद व्याकरणोंका सम्पूर्ण अभाव ही था।

आत्मारामके लेखोंमें हिन्दीकी कैसी और कितनी अभिज्ञता पायी जाती है; व्याकरणका ज्ञान कैसा कुछ है इत्यादि क्रमशः प्रकाशित करनेकी इच्छा है। तबतक आत्माराम पिञ्जरेमें बन्द पड़े पड़े पढ़ा करें; "टें" "टें" न करें।

(२)

"पाणिनीय ही संस्कृतकी स्वतन्त्रताको नष्ट कर इसके पावोंमें भी पराधीनताकी बेड़ी डालनेवाला सर्व प्रथम विरचित हुआ"।—ऐसे अभिप्रायको भी निःशङ्क चित्तसे लिखनेको उत्साही दिखायी देते हैं। इन महापुरुषोंने माहेश, ऐन्द्र, शाकटायन, भागुरी, कलाप आदि प्राचीन

व्याकरणोंका कदाचित् नाम भी न सुना हो तो क्या आश्चर्य है? भारतवर्षके परम माननीय आचार्योंमें एकका भी ऐसा मत न देखियेगा कि व्याकरण भाषाकी उन्नतिका अवरोधक है' वा 'जिस भाषाका उत्तम सर्वांग सुन्दर व्याकरण बन जाता है उसमें उत्तम रीतिसे भाव प्रकाश करनेकी शक्ति ही नहीं रहती।' 'भला इन हियेके अन्धे क्रूर, विलायती शिक्षाके मदमें चूर, लीक पीटनेवाले सूरदाससे यह तो पूछिये कि संसारमें संस्कृतसे उत्तम सर्वांग सुन्दरी सब भावोंको विविध प्रकार प्रकाश करनेमें अद्वितीय शक्तिसंपन्न दूसरी भाषा कौन सी है? यह तो सब ही स्वीकार करेंगे कि संस्कृत भाषाके व्याकरण तुल्य सब अङ्गोंसे परिपूर्ण व्याकरण अन्य भाषामें नहीं है और न संस्कृतके समान भाव प्रकाश करनेकी शक्ति और सम्पन्नता ही दूसरी किसी भाषामें दिखती है। यद्यपि व्याकरण ही भाषाकी उन्नति-का परम अवरोधक और सुन्दर रीतिसे मानसिक भाव प्रकाश करनेमें पहाड़ सा व्यवधान माना गया होता तो आदिदेव महेश्वर सृष्टिकी आदिमें माहेश व्याकरणके बनानेका व्यर्थ परिश्रम क्यों करते? अपौरुषेय सनातन और नित्य चारों वेदोंमें व्याकरण और छन्दादिका वेदांग रूपसे नामतक भी आना इस नवीन विचित्र सिद्धान्तानुसार सर्वथा असम्भव ही होता। विचारदृष्टिसे व्याकरण भाषाउन्नतिका परम पोषक और सहजमें विशुद्धता और सरलतासे सब प्रकारके भाव प्रगट करनेका अद्वितीय सहायक ही देखनेमें आता है। यथार्थमें व्याकरण तो सब प्रकारसे सुसज्जित और सुदृढ़ बनाता भाषाके परम कमनीयतासे सजाये अंगोंके व्रणरूपी दुष्ट प्रयोग और अशुद्धिमात्रका ही नाशक, संशोधक और अवरोधक है। महाव्याधि, दाद, खाज, सरीखी दुष्ट संक्रामक व्याधियोंको स्वेच्छापूर्वक उत्तरोत्तर कुपथ्यसे बढ़ाकर भाषाको अङ्गहीन, अस्पृश्य और धवल रोगसे चितकबरी कुरूपा बनानेके प्रयासी ही इसे हितैषी सुचिकित्सक व्याकरणके

नियमोंसे अलग रक्खा चाहते हैं। इस श्रेणीके मनुष्य ही भाषाके परम शत्रु कहाने योग्य है। परन्तु विचारिये तो इसमें इन विचारोंका भी कोई विशेष दोष नहीं है। जन्मसे जैसी और जिस परिमाणकी शिक्षा अंग्रेजोंकी कृपासे इनको मिली तदनुसार ही तो इनकी समझ भी उत्पन्न होनी थी। पहले तो हिन्दीके ही परम दुर्भाग्यवश इस देशका अधिकार मुसलमान बादशाहोंके हाथ गया। साथ ही इसकी जड़ काटनेवाली दोगली उर्दू को अच्छा अवसर हाथ आया, चढ़ती जवानीको उमंगमें आ सौतिया डाहसे इसका अङ्गभङ्गकर इसके कुछ उत्तम अलङ्कार भी नोंच खसोट लिये और उनसे अपनी निराली सजधज बनावट और कृत्रिम शोभा सहित चोचले दिखला, कुटिल कटाक्षकी कटारी चला चला, उन मदोन्मत्त व्यभिचारियोंके हृदयपर एकाधिपत्य जमा बिचारी हिन्दी अभागीको गरदनिया दिला राजदरबारसे दूर भगाया। अन्धे कामातुरोंका नवीन अनोखी चटकमटक दिखानेवाली अभिनव यौवनापर विशेष अनुराग तो स्वभाव सिद्ध होना ही था। उसपर अरबकी विचित्र वर्णावलीकी जरदोजी चमचमाती मनभाती स्वदेशी ओढ़नी और वैसी ही कसी कञ्चुकीकी चमकदमकसे मोहित हो वे चुटकीके बजाते ही इसकी मुट्ठीमें आ गये। तथापि चोरी वा डकैती आदिसे परस्वका अपहरण करनेवाले कदापि सुख नींद नहीं सोते। उनके चित्त सदा शंकित ही रहते हैं। इसलिये अपहरण की हुई वस्तुको यथासाध्य रूपान्तरित कर छिपानेकी चेष्टा भी अवश्य करनी ही पड़ती है। बादशाहोंके देशकी प्रकृति ही अन्यायपूर्वक परस्वापहरण और लूट, राहजनी, चोरी आदि करनेकी थी। सुतरां, उनके संसर्गसे पैदा हुई उर्दू ने भी हिन्दी अभागीकी विभक्तियोंके चिन्ह और क्रिया पदोंकी चोरी कर कुटिल विलोम फारसी वर्णमालाके घटाटोपमें और अरबी, फारसी, तुर्की आदि शब्दोंके आवरणोंमें सर्वथा छिपा, रूपान्तरित करनेमें त्रुटि न की। इन ऊपरी छिपानेवाले आडम्बरोंको दूरकर

विवेकदृष्टिसे देखिये तो हिन्दीके सिवाय उर्दू यथार्थमें कोई भाषा ही न ठहरेगी। तथापि इसके छलछन्दसे राजद्वारमें दिनोंदिन इसका अधिकार विशेष होता देख बहुतसे लोग इसके सेवक और पक्षपाती बन गये। उस समय हिन्दी अभागीको तो केवल पंडित, कवि, रसज्ञ, और मर्म्मज्ञोंके आश्रयमें और विशेषकर अन्तःपुरके अन्दर सरला अबलाओंके मध्यमें ही जा छिपना पड़ा। यद्यपि महाराज शिवराज बली और भूषण आदि प्रतापी और सुकवियोंके सहारे बीचमें अपना पूर्व प्रताप और अभ्युदय पुनः प्राप्त करनेकी चेष्टा हिन्दीने की थी सही; तथापि दैवके प्रतिकूल होनेसे इस अभागीके दिन न फिरे और हिन्दुस्तानमें सर्वत्र बीबी उर्दूकी ही तूती बोलने लगी।

गिनतीके कवि और सुरसिक मर्म्मज्ञोंके किये उस घोर अत्याचार और उर्दूकी लूटमारसे इस बिचारीकी प्राण-रक्षा ही हुई, यह क्या कुछ कमती सौभाग्यका विषय है? हिन्दीके उन सच्चे मातृभक्त सेवकोंने उस दुःसमयमें भी यथासाध्य इसके प्रकाश फैलानेकी कुछ कमती चेष्टा नहीं की थी। सूर, तुलसी, बिहारी, केशव, तानसेन, बैजू, गोपाल, बीरबल आदि उस दुःसमयमेंही मातृ-सेवाके अग्रणी पुरुषरत्न उत्पन्न हुए थे। संस्कृतमें जैसे पद्य ग्रंथोंकी बहुलता और गद्य ग्रंथोंका प्रायशः अभाव सा ही है। तदनुसार ही हिन्दीमें भी पद्य ग्रंथोंका प्रचार ही दिनोंदिन परिपुष्ट होता आया। गद्य लिखनेकी वैसी परिपाटी ही न चली। केवल चिट्ठीपत्री और आवश्यकीय व्यापार समाचार ही गद्यमें लिखे जाते थे और बालकमंडली सहित अन्तःपुरकी स्त्रियोंकी बोली मात्रसे इसका विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध था। परन्तु पद्यरचनाका तो यहांतक प्रचार बढ़ गया हुआ था कि परस्पर कवि, पण्डित और ऊंची श्रेणीके सुपठित जनोंका पत्रालाप भी प्रायशः पद्यमें ही होता था। इस कारणसे हिन्दीमें गद्यग्रंथोंका विशेष प्रचार न बढ़ने पाया। परन्तु सर्वथा गद्यका अभाव ही था, यह भी नहीं कह

सकते हैं। मुसलमानोंके अभ्युदय और उर्दू के प्रबल प्रतापके समय भी अवसरपर गद्यरचना करनेसे मातृभाषाभक्त विरक्त नहीं थे।

उसके पीछे जब प्रतापी अंग्रेजोंके शान्तिमय राज्यशासनकी छायामें विद्याका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ने लगा. उस समय उर्दू का ही आदर विशेष हुआ और उर्दू के पण्डित और ग्रन्थकारोंका एकाधिपत्य शिक्षाविभागमें हो गया। क्रमशः उर्दू लिपिके सहज दोषोंसे अनर्थकी विशेष वृद्धि देख, देवनागरी अक्षरोंमें पुस्तकादिका प्रचार शिक्षाविभागमें धीरे धीरे चल पड़ा। इस विषयमें भी उर्दू के सेवकोंने पूरा विरोध किया और आज तक भी उनकी कृपासे ही हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपिका विशेष प्रचार नहीं होने पाता है। शिक्षाविभागमें इस समय तक भी हिन्दी विचारीकी योग्यता तो मिडल पास तक ही अटकी पड़ी है। आगे बढ़नेको राह ही नहीं पाती है। तिसपर भी व्याकरण आज तक हिन्दीका सर्वाङ्ग सुन्दर सम्पन्न एक न बना। कारण अब तक दो ही श्रेणीके मनुष्योंने इसके व्याकरण बनाये हैं। इनमें एक तो वह कि जिसको संस्कृत व्याकरणका ज्ञान और संस्कृत भाषामें अधिकार है। दूसरे उर्दू फारसी और अंग्रेजीके जाननेवाले हैं। संस्कृतज्ञोंने तो संस्कृत व्याकरणके अनुसार थोड़ी सी बातोंका सादृश्य मिला नियम रचनापूर्वक असम्पन्न हिन्दी व्याकरण बनाया और अंग्रेजी आदि म्लेच्छ भाषाके जाननेवालोंने बिचारी हिन्दीको अंग्रेजी वा फारसी आदिके सांचेमें ढालनेका प्रयत्न किया। हिन्दीकी स्वसम्पत्तिपर यथायोग्य ध्यान प्रायशः दोनों श्रेणीके व्याकरण बनानेवालोंने पूरापूरा न दिया। इसका कारण यथार्थ हिन्दीकी शिक्षाका अभावही है। अवश्य संस्कृतके व्याकरणकी परिपाटी जैसी सुन्दर सम्पन्न और सर्वोत्तम है वैसी अंग्रेजी आदि विदेशीय भाषाओंकी नहीं है। इसलिये संस्कृतज्ञोंके रचे व्याकरण अपेक्षाकृत उत्तम हैं। तथापि यह सबको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस समय तक जैसा चाहिये वैसे उत्तम सर्वाङ्ग

सम्पन्न व्याकरणका हिन्दीमें अभाव ही है। अब तक हिन्दीकी यथोचित शिक्षा लाभ करनेका एक भी सदुपाय बहुत दिनोंसे नहीं प्राप्त हो सका है। संस्कार शिक्षाके अनुसार ही उत्पन्न हुआ करते हैं। अतः जिस अभागी भाषाकी सम्यक् शिक्षाका मिलना ही दुर्लभ और असाध्य हो रहा है, उसके व्याकरणकी शुद्धि और अशुद्धियोंके परिज्ञानका पूरा संस्कार ही सर्व साधारणको अब तक नहीं होने पाया है।

यद्यपि मुसलमानोंके राज्याधिकारमें हिन्दीकी सेवा और उन्नतिसे भारतीय राजा, प्रजा दोनों ही सर्वथा विमुख और उदासीन नहीं हो गये थे और इसके अनुपम हृदयग्राही स्वाभाविक गुणोंसे आकृष्ट हो, नवाब खानखाना, अकबर बादशाह आदि यवनोंने भी हिन्दी साहित्यकी सेवा स्वयं की थी तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वर्णसंकरी सत्यानासिन उर्दूके अभ्युदय और दरबारी अधिकार-विस्तारके साथ ही हिन्दीकी दुर्दशाका आरम्भ हो गया। इस मुंहकाली उर्दूके संसर्गसे ही इसकी अंगविकृति हुई। अरबी आदि अनार्य शब्दोंकी संकरता और भाँति भांतिकी अशुद्धियां भी दिनों दिन अज्ञातरूपसे बढ़ने लगीं। यहां तक कि जिस वर्णमालाकी बराबरी भूमंडलपर किसी दूसरी भाषाकी एक भी वर्णमाला नहीं कर सकती; जिसका यह स्वाभाविक गुण है कि जैसा लेख लिखा जाता है ठीक वैसा ही पढ़ा भी जाता है; त्रुटि न्यूनता, वा किसी प्रकारका भी विकार नहीं होने पाता उस सर्वोत्तम सर्वाङ्गसुन्दर स्वाभाविक वर्णमालाके सर्वोत्तम अक्षरोंका मूर्खोंके हाथोंसे दुष्प्रयोग होकर, 'लिखो एक पर पढ़ो और ही कुछ' की श्रेणीके परम हेय दोष और अन्य अवगुणोंने भी इस दोगली उर्दूके कुसंसर्गसे ही हिन्दीकी परमोत्तम देवनागरी वर्णमालामें क्रमसे बलपूर्वक प्रवेश किया। (इस कारणसे ही हिन्दीमें अगत्या 'ऐ' और 'औ' के दो दो उच्चारण अब मानने पड़ते हैं।) नहीं तो इस उर्दू निगोड़ीके जन्म लेनेसे पहिले देवनागरी वर्णमालामें इस प्रकारके दोषोंका लेश भी न

था। भारतदुर्दशाके कठिन अकालके किसी पूर्ण दुर्दिनकी ऐसी बुरी घड़ी और खोटे लग्नमें इस कुटिल कुलच्छनी उर्दू ने यवनोंके संसर्गसे जन्म लिया कि आज भी उसके ही परम भक्त और दासानुदास कलम कुल्हाड़ा चला चलाकर बड़ी बहादुरीसे उलटे हाथों फुर्तीके साथ अभागी हिन्दीकी जड़ काट रहे हैं।

(४)

"हाँकके लगाये बिना हिन्दी मुरझायगी"!

अबतक अभागी हिन्दीकी अरक्षित वाटिकामें अनधिकार प्रवेशकर उर्दू के बहुरुपिये परम स्वार्थी दासानुदास आत्माराम जैसे बेरोक टोकके हिन्दीकी जड़ काटनेमें आनन्दसे पर फरफराते, प्रफुल्लित हो बड़ी चपलतासे चोंचें चला रहे थे। किसी प्रकारकी रुकावट या विपत्तिकी आशंका अथवा खटकेका कहीं नाम भी नहीं था। ऐसी दशामें अचानक हांकके लगानेपर निस्सन्देह ये मर्म्मपीड़ित हुए हैं। इनके कुटिल कठोर हियेमें भी गहरी चोट बैठी है। परन्तु कर्त्तव्यके अनुरोधसे इनकी उस निदारुण वेदनाका ध्यान इस समय नहीं किया जा सकता। दूसरे कर्म्मफलभोग अवश्यम्भावी है। "कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै तो तस फल चाखा॥" आत्माराम श्रेणीके अयोग्य अनाचारी, बिचारी हिन्दीकी सूखी हुई जड़ काटनेमें बहुत दिनोंसे अपनी कार्य-तत्परता दिखाते आते हैं। इससे निर्जीव सी हुई हिन्दी मुरझाने तो लगी थी; परन्तु इस वाटिकाके रक्षक सुरसिक कवि, रसज्ञ और मर्मज्ञ मालियोंके विशेष यत्नपूर्वक समय समयपर सींचनेसे अब तक अपघात मृत्युसे बचती आयी। दुःखका विषय है कि इस समय दिनपर दिन इसके सींचनेवाले और रखवालोंका विशेष अभाव होता जाता है। कुरकीट मूस घूसआदि जड़कट्टोंका जथा दिनोंदिन बुरी रीतिसे बढ़ तो रहा ही था, साथ "राम मिलायी जोड़ी" की कहावतको प्रत्यक्ष दरसाने आत्मारामके रामान्त नामकी तुकसे तुक मिलाते

"गोपाल" राम भी आ कूदे। हिन्दीके परम दुर्भाग्यके दिनोंमें मानो सांकटा दशा भी आ लगी हो। ऐसी अवस्थामें इस "गोपाल"का भी इसे खूंदनेको दौड़ आना तो "मरीको मारना" ही है। हिन्दीके प्रेमी और साहित्यसेवकोंके लिये यह दृश्य विशेष दुखदायी और असहनीय है। इसलिये कर्तव्यके अनुरोधसे अभागी हिन्दीके उजड़ते उपवन क्षेत्रसे अनधिकारी अत्याचारी दुष्टोंके भगानेको अब हांकके लगानेकी विशेष आवश्यकता थी। अगत्या कर्तव्य पालन करना ही पड़ा। आत्माराम इस हांकको बेतुकी समझ मनमानी गालियां ही दें, या गोपाल सहित इस हाँकके लगानेपर मर्म्माहत और प्रपीड़ित हो, आन्तरिक वेदना ही प्रकाश करे, इसमें अब कोई चारा नहीं। क्योंकि अब विलम्बका अवसर नहीं था। इन आततायियोंको बहुत दिनोंसे "हांक" के लगाये और भगाये विना ही हिन्दी मुरझा गयी है। ता० ३ फरवरीके "भारतमित्र" में आत्माराम बेसुरी अलापचारी करते इस भांति पलटा लेते हैं कि "द्विवेदीजीके एक तरफदारने (हियेकी फूटी न होती तो हिन्दी भाषाके पक्षपाती ही लिखते) हिन्दी बंगवासीमें नाम छिपाकर (नामका पीटना तो आपमें ही ऐसी विशेषतासे फैला है कि अपने पौत्रके नामकरणके उचित समयमें पुनः अपना नाम करण दुबारा आत्माराम नामसे कराना पड़ा। कदाचित् नेकनीयती इसीको कहते हैं?) अनस्थिरताको सिद्ध करना चाहा है। उसके (जिनके आगे सज्जनों या महोदयों अवश्य आना चाहिये था। खाली जिन लिखनेसे शिष्टताकी कुछ कमी सी मालूम होती है। वकील अग्निहोत्रीजी ऐसा लिखनेमें "सज्जनानुमोदित शिष्ट भाषाप्रणाली" कुछ दूर जा पड़ी। यहां प्रणालीका पूरा प्रवाह आपके फूटे मुखसे बह निकलता है, सन्देह नहीं) कहनेका तात्पर्य्य यह है कि संस्कृतसे अनस्थिरता सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु हिन्दीमें जैसे अनरीति, अनरस, अनहोनी अनमिल, अनमोल, अनसुनी, अनहुई, अनपढ़, अनहित अनगणित आदि

हैं वैसे ही अनस्थिरता भी सिद्ध है। ठीक है, पर ऐसा लिखकर आप द्विवेदीजीकी वेइज्ज़ती करते हैं। (आपकी बलासे, आप तो विशेष सम्मान दिखा चुके ? इस अनधिकार चर्चा और प्रलापका यहां क्या प्रयोजन था ?) अच्छा साहब, आप जो कुछ कहते हैं 'वो' (वह और वे के बीचसे बच्चा निकल पड़ा दिखता है) तो होता है (होता है स्वीकार करना ही था तो किस बिरतेपर इतनी ऐंठन दिखा और होहल्ला मचाकर बिना समझे बृथा समय नष्ट किया ?) पर (जीटबीट सब बन्द हो गयी, स्वर पलट गया, पर फड़फड़ाना और 'टूँ' 'टूँ' करना न छोड़ा। फु र होते तक भी छोड़नेमें बहादुरी नहीं। जाति धर्मपर धब्बा जो लगता है !) यदि आपके इन शब्दोंके आगे एक ता बैठा दी जाय , हिन्दी व्याकरणके कौन से नियमानुसार यह तो लिखना था ? अथवा जिस पांड़ेकी ग्राम्य पाठशालामें आप सरीखे पढ़लिखकर प्रवीणता बघारते हैं वहां व्याकरणका काम ही क्या ?) तब तो आपकी बुद्धिमानी एक दो वर्षके बच्चेसे भी बढ़ जायगी। अनबीतिता, अनरसता, अनहोनता, अनमिलता (पुल्लिंग विशेषण पहिचानना क्या भूल गये ?) अनमोलता इसी प्रकार और भी ताताताकी कितनी अच्छी शोभा (अपने गुरुकी बाललीला रहस्य और मथुराकी ताता थेईथेईकी शोभा अब तक भूल नहीं सके ?) 'ता'का प्रयोग कहां होता है ? पढ़कर लिखने बैठने या अच्छा ता बुरा ता आदिकी कैसी शोभा है ? होगी। तब यह शब्द हिन्दी व्याकरणसे सिद्ध होंगे कि नहीं ? (आपको हिन्दी व्याकरण आता कौन सा है ? क्योंकि आज तक व्याकरणके एक भी सूत्र वा नियमका नाम आपने श्रीमुखसे उच्चारण नहीं किया !) क्योंकि द्विवेदीजी अनस्थिर ही नहीं (प्रलय हो गया ! हाय गजब !) अनस्थिरता भी लिखते हैं।" 'अनस्थिर' तक तो जैसे तैसे बड़े कष्टसे आत्मारामके गले उतार दिया गया ! अब केवल गलेमें 'ता' अटकी हुई 'ता ता ता' की धुन बांध रही है ! सहजमें

गलेके नीचे उतरती नहीं। ठीक ही तो है। कुत्तेकी दुम सी स्वाभाविक टेढ़ी समझवालोंकी बुद्धिमें सरलतासे कोई बात भी शीघ्र नहीं आ सकती। किसी भारी बोझसे जितनी देर तक दुम दबी रहती है, सीधी रहती है। अलग होनेपर फिर ज्योंकी त्यों टेढ़ी ही दिखायी देती है। कहां तक कोई इनसे सिर खपावे। हिन्दीमें संस्कृत शब्दोंका विशेष चलन है, कारण संस्कृतसे ही इसकी उत्पत्ति और घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसका स्वरूप ही अधिकांश संस्कृत ही शब्दोंसे बना है। यहां तक कि अपभ्रंशसे विकृत संस्कृतके अनेकों शब्द ही प्रायशः ठेठ हिन्दीके कहाते हैं। संस्कृतके अनेक शब्द यथार्थ रूपमें भी हिन्दीकी शोभा बढ़ाते इसके शब्द भाण्डारको पूर्ण करनेके लिये आ जाते हैं। सदासे यह नियम प्रबलतासे प्रति पालित होता आता है। भाववाचक 'ता' और 'त्व' जिन शब्दोंके अन्तमें हैं। वे संस्कृतके ही शब्द हैं। कारण भाववाचक'ता' और 'त्व' प्रत्यय ही मूल हिन्दीके नहीं। हिन्दीके भाववाचक प्रत्यय इनसे भिन्न हैं। उत्तम रीतिसे इस विषयको न समझ बहुतसे अनभिज्ञ अनाड़ी कुतर्क कर वृथा समय खोते हैं। स्थिर शब्द संस्कृतका ज्योंका त्यों हिन्दीमें आया है, अपभ्रंश होकर नहीं। इसके आगे निषेधवाचक 'न' हिन्दी व्याकरणानुसार जब अन बन कर लग जाता है। तब अनस्थिर शब्द हिन्दीका बन जाता है। स्थिर, स्थिरता अस्थिर, अस्थिरता ये चारों संस्कृतके सुसिद्ध अविकृत शब्द हिन्दीमें बर्ते जाते हैं। परन्तु हिन्दीमें आने बाद संस्कृतके शब्दोंमें भी हिन्दी व्याकरणानुसार विकार प्रत्यय और विभक्ति आदिके हिन्दी चिन्ह आवश्यकतानुसार लगते हैं। जैसे स्थिरके आगे हिन्दीका निषेध वाचक "अन" लगानेसे अनस्थिर बना; वैसेही संस्कृत स्थिरताके आगे "अन" के लगानेपर अनस्थिरताका सिद्ध होना भी सुसंगत है। हिन्दी व्याकरणका एक भी नियम इसके प्रतिकूलमें कहीं लिखा हो तो उसका उल्लेख क्यों नहीं करते? हिन्दी व्याकरणके अनुसार अनस्थिर और

अनस्थिरता दोनों एक ही नियमानुसार साधे जायंगे। इनके सिद्ध होनेमें एक भो नियम बाधक नहीं है। गोपाल नामके अभिमानी नाम सार्थकता और लघुकौमुदीकार वरदराजके साथ ग्रन्थिबन्धन करानेके अभिप्रायसे स्वतः प्रवृत्त हो हिन्दी विद्या वागीश वैयाकरण शिरोमणि-की उपाधिसे लदे इस विषयमें विशेष अभिमान पूर्वक विचित्र व्याक-रणज्ञताका परिचय इस भांति देते हैं, कि "अनरीति और अनगणित शुद्ध नहीं। (राधालालका कोष तो देखिये) अनरीति, अनगणित और अनगनित हो सकते हैं। संस्कृत शब्दोंके समास और तद्धित करनेमें संस्कृत रीतिसे हो काम लिया जाना चाहिये।" निःसन्देह गोपालरामकी विशेषज्ञता विशेष प्रशंसाके योग्य है। हिन्दी प्रेमियोंको उचित तो यह है कि शीघ्र ही इन्हें "विद्यावागीश शिरोमणि" की उपा-धिसे समलङ्कृत कर दें। साथ ही समाचार पत्रोंमें भी शीघ्र ही इनकी व्याकरण सम्बन्धी राजाज्ञाको छपा कर लोगोंकी आंखें खोलें। मैं पहिले ही उस राजाज्ञाका आभास यहां अपनी ओरसे जैसा तैसा लिखकर प्रकाशित करना कर्तव्य समझता हूं। अवश्य इसका संशो-धन और संस्कार उक्त वैयाकरण शिरोमणिजी कर देंगे।

"घोसना"

हिन्दीकी दुनियांमें (दोनों में नहीं) खलबली न रहने पावे इसलिये खबर दी जाती है और वैयाकरण शिरोमणि विद्यावागीश "गोपाल" राम महा महा महोपाध्यायजीकी दबडाज्ञाका प्रचार किया जाता है। खबरदार! आजसे कोई परम अशुद्ध "अनरीति" "अनगणित" आदि शब्दोंका हिन्दीमें प्रयोग न करे। विशेष कर "हरिको हर, विधिको विध, सुरिको सुर; अहिको अह, करिको कर, श्रतिको श्रत, गिरिको गिर, असिको अस, रीतिको रत, सिद्धिको सिद्ध, श्रुतिको श्रुत, रतिको रत, शांतिको शांत, भ्रांतिको भ्रांत, संततिको संतत, वृत्तिको वृत्त, शालिको शाल पूर्तिको पूर्त, कांतिको कांत, दीप्तिको दीप्त, कामिनीको कामिन, अखिको अख, सखिको सख, अशनिको अशन और बालिको बाल" लिखना ही पड़ेगा। अर्थ, अनर्थ शुद्धि

अशुद्धिका विचार अबसे दूसरा करने न पावेगा। इस आज्ञाको ही सब व्याकरणोंसे बढ़कर मानना पड़ेगा। पाणिनीयका नियम तो इसके पसंगेमें भी नहीं गिना जा सकता। हिन्दीकी वर्णमालासे शीघ्र मूर्धन्य ण, ष, को दूर करो। "भाषा" "गणेश" "गणित" आदि शब्दोंका मूर्धन्यसे लिखनेवालेको कमसे कम छः महीनेकी फांसीका कठोर दण्ड दिया जायगा। इति प्रथम दण्डाज्ञा।

गोपालजीके इस प्रयासपर भी हिन्दीमें अशुद्धि रह जाय तो गोपालरामकी ही दुहाई है। परन्तु प्रार्थना यह है कि "अनहित" "अनरस" आदि, गोपालरामके विशाल नेत्रो तले क्यों न आये? क्या "हित" और रस' शब्दका रीति और गणितकी भांति संशोधन करना इस गोपाली शक्तिके बाहर था? "संस्कृत शब्दोंके समास तद्धित करनेमें संस्कृत रीतिसे काम लिया जाना चाहिये" आदेश किया, यह काम तो आपने बहुत ही विचारका किया! अब तक व्याकरणमें भी इसका कोई नियम न था। परन्तु थोड़ी सी "दुमकी कसर" क्यो रक्खी? सुबन्त, तिङन्तका ऐसा विशेष अपराध क्या था? आपके दूरदर्शी अनुशासनसे तो संस्कृत शब्दोंमें विभक्ति भी हिन्दीमें संस्कृत रीतिसे सिद्ध होनी ही उचित है। परन्तु विशेष दुःखका विषय है कि इस अभागीके प्राचीन मन्दमति कवियोंने "प्रभुताई" सुकुमारताई" "शिशुताई" आदिका प्रयोग भी किया है। अब विद्या वागीश वैयाकरण शिरोमणि गोपाल महामहोपाध्याय रामजी अपनी उक्तिके अनुसार इनकी व्यवस्था क्या करेंगे? सम्भव तो है कि "अनस्थिरता"-से भी गये बीते इन अशुद्ध हिन्दी प्रत्ययान्त संस्कृत शब्दोंको शीघ्र ही रसातल पहुंचानेका सुप्रबन्ध आप अवश्य करेंगे? सबसे उत्तम उपाय तो यह है कि शीघ्र ही गोपालराम रचित सर्वोत्तम "गोपाल महाव्याकरणका" लगे हाथ ही प्रचार कर दिया जाय, कि जिससे सहजमें सबका बेड़ा पार हो। शिरोमणिजीको भी बारंबार अशुद्धि निर्देशका परिश्रम करते न फिरना पड़े। गोपालराम सदृश समदर्शी महान् पंडितोंका तो सबको आत्मवत् देखना धर्म ही है। इसलिये आपने

अनस्थिरता और अनरीति आदिके सम्बन्धमें "मारूं घुटना फूटे आंखकी मसल उतारी है" लिखा। (मसल क्या चुड़ैल या भूतनी सी आपके सिर चढ़ी हुई थी कि उतारी है ?) आपने बाबू हरिश्चन्द्रके मुद्रित विज्ञापनकी भूलको अपने अपूर्व पाण्डित्यसे जिस रीतिसे विशुद्ध प्रतिपन्न करनेकी हास्यास्पद चेष्टा कर, उक्त कहावत चरितार्थ की है वैसा ही सादृश्य आत्मबुद्धिसे आपको सबमें सूझता है। ऐसा अपूर्व व्याकरण ज्ञान तो अब तक कदाचित ही देखनेमें आया हो। एक ही "को" को आप व्याकरण बलसे सम्प्रदान और अधिकरण दोनों कारकोंके लिये आया बताते हैं। इतनी अभिज्ञता तो शेष वा पाणिनीको भी न थी। प्रथम तो सम्प्रदान कारक क्या है ? और कहां उसका प्रयोग किया जाता है ? इसकी यथार्थतः अभिज्ञता आपको होती तो इस अपूर्व प्रहसनका अभिनय न दिखाते ! "सम्प्रदीयते अस्मै इति सम्प्रदानम्" जिसको कुछ दिया जाता है उसके लिये ही सम्प्रदानकारकका प्रयोग आता है। उक्त पंक्तिमें पुस्तकोंको क्या दिया गया था ? बाबू रामदीन सिंहका हो समर्पण वा अधिकारका "पुस्तकोंको" इस पंक्तिमें सम्प्रदानकारक कोई, अभिज्ञ तो कभी न कहेगा। सिवाय इसके हिन्दी व्याकरण मात्रमें प्रायशः 'के लिये' "के निमित्त" "के अर्थ" आदिको सम्प्रदानका चिन्ह मानकर ग्रन्थकारोंने बड़ी भारी भूल की है। यथार्थमें तो जैसे संस्कृतमें "ऋते" शब्दके योगमें पञ्चमी, "प्रति"के योगमें द्वितीया और 'नमः' शब्दके योगमें चतुर्थी होती है। वैसे ही हिन्दीमें "निमित्त" "प्रति" 'लिये' "अर्थ" आदि शब्दोंके योगमें षष्ठी विभक्ति होती है। "के लिये" "के अर्थ" "के निमित्त" आदि प्रयोगोंमें षष्ठीका चिन्ह 'के' प्रत्यक्ष वर्त्तमान रहता है। इसे देखकर भी चतुर्थी सम्प्रदानकारकके रूपमें "के लिये" आदिका अयोग्य और अशुद्ध रूपसे सन्निवेशित करना हिन्दी व्याकरणकारोंकी अज्ञता और भ्रांतिका ही परिचायक है। अधिकरण भी "अधिक्रियते अस्मिन्नित्यधिकरणम्" क्रियाके आधारको कहते

है। हिन्दीमें अधिकरणका चिन्ह "में" है। "को" कर्म और सम्प्रदानका परिचायक है, अधिकरणका नहीं। अधिकरणकारकके विषयमें भी प्रायशः हिन्दी व्याकरणोंमें "पै" "पर" को "में" के सहित लिखकर विशेष भ्रान्तिका ही परिचय दिया है। उपरि शब्दका अपभ्रंश वा सूक्ष्म रूपही "पर" और "पै" है। "तस्य उपरि तदुपरि" जिस रीतिसे संस्कृतमें सिद्ध होता है वैसी ही रीतिसे शब्दोंके साथ "पर और पै" का मिलित प्रयोग हिन्दीमें भी होता है। इसलिये जहां अविकृत पूर्ण विशुद्ध रूपमें "ऊपर" शब्दका सम्बन्ध आता है। वहां षष्ठी विभक्तिका चिन्ह 'के' भी उसके पूर्ववर्ती सम्बन्धसे शब्दमें रहता है। "पै" "पर" को अधिकरणका चिन्ह मानना ही भ्रमात्मक और अशुद्ध है। "पुस्तकोंको" से पुस्तकोंपर अर्थकी कल्पनाका करना तो निःसन्देह बा० हरिश्चन्द्रसे सुलेखकोंके लेखको धूल उड़ाना ही है। क्या ऐसी पण्डितम्मन्यता दिखाकर परलोकगत बाबू हरिश्चन्द्रजीकी पवित्रात्माको विशेष कष्ट पहुंचाना ही गोपालरामका कर्तव्य है? इस प्रकार बाबूसाहबके गौरवकी रक्षा न होकर विशेष हानि ही होगी। बिना विचारे थोड़ी सी बंगला, उर्दू पढ़े बंगलाका टूटी फूटीमें अनुवाद छपाकर प्रसिद्ध होनेवाले मनुष्योंसे विनीत प्रार्थना है कि व्याकरण जैसे गंभीर विचारके विषयोंपर कृपा कर कलम कुल्हाड़ा न चलावें। अब पाठक विचार देखें कि मारूं घुटना फूटे आंखकी कहावतकी पूरी पूरी चरितार्थता गोपालरामकी इस विचित्र व्याकरणज्ञतासे होती है या नहीं। बिना कुछ दिनों तक किसी अध्यापककी चरण शरण गहे व्याकरणपर मनमाना मूर्खता प्रकाशक लेख लिख हिन्दीकी जड़ काटनेवालोंको स्वतः निरस्त और लज्जित होना ही उचित है। ऐसे कुतर्कोंसे वृथा समय नष्ट होनेके सिवाय फल कुछ भी नहीं। सत्य न्याय वा शास्त्रका ठीक ज्ञान होना हंसी खेल नहीं है! अबकी अनिच्छापूर्वक भी प्रकृत-लेखको रोक कर यह आलोचना करनी पड़ी।

(५)

अपनी मातृ भाषाकी उन्नति और अवनतिपर ध्यान रखकर उसकी सर्वथा उन्नतिकी चेष्टाका करना प्रत्येक हिन्दी भाषा भाषीका कर्तव्य है। तथापि अपने योग्यतानुसार ही मनुष्योंको इस विषयका अधिकार भी है। जिसमें जैसी और जितनी योग्यता है, वह तदनुसार ही साहित्य सेवा कर सकता है। यद्यपि हिन्दी बोलने वाले मनुष्योंकी गणना करोड़ों तक पहुचती है सही और प्रत्येक व्यक्तिको यह सच्चा अभिमान भी अपने जीमें रहता है कि हिन्दी हमारी भाषा है। तथापि विशेषज्ञोंके सिवा, साधारण जनसमूह इसकी उन्नति वा व्याकरण आदिकी रचनासे उदासीन ही रहते हैं। कारण, उनमें उतनी योग्यता ही नहीं; वैसे मनुष्योंकी गणना अपेक्षाकृत अधिक होनेपर भी वे गिनतीके स्वल्प अभिज्ञोंके निर्दिष्ट मार्गसे उनकी ही रचित पुस्तकोंको यथासाध्य पढ़ कर अपनी अभिज्ञता बढ़ाते हैं। हमारी संख्या अधिक है और विशेषज्ञ तो बहुत ही स्वल्प अंगुलियोंपर गिनने लायक हैं। ऐसा समझ अभिमानमें आ कदापि वे आगे बढ़ कर भाषाको सोलहों आने अपने अधिकारमें लानेकी वा बिगाड़ने बनानेकी चेष्टा ही नहीं करते। प्रत्युत् समझदार तो इस परम दुःसाहसके दिखानेको महापातक समझते हैं। सब देशोंमें भाषाके सुधारने और नियम बना कर सुयन्त्रित करने वाले सुघड़ और पूरे अभिज्ञोंकी संख्या स्वल्प ही देखनेमें आती है। जन समुदाय भक्ति और श्रद्धा पूर्वक उन महाजनोंके विरचित ग्रंथोंसे ज्ञान संचय करनेमें ही अपना और भाषाका कल्याण मानते हैं। यद्यपि साधारणतः ऐसी प्रकृति ही न होती और कोरा अभिमानी बन प्रत्येक मनुष्य ही अपनेको अधिकारी समझ कार्यक्षेत्रमें बिना विचारे आत्मारामकी भांति भाषाको श्रपिण्ड न आद्ध करनेको कमर कसकर आ आसन जमाता तो संसारमें किसी भाषाका भी ठौर ठिकाना न लगता। दुःखका विषय है, कि हिन्दीकी कुछ दिनोंसे

ऐसी ही दुर्दशा हो रही है। जिसे देखो वह अपनेको शेष वा पाणिनी-का अवतार समझता है। विशेष कर वैसेही पुरुष सबसे पहिले बिना विचारे बिन पूछे पंच बन बीचमें कूद पड़ते हैं कि जिनसे हिन्दीकी तीन पंक्तियाँ भी विशुद्धतासे नहीं लिखी जातीं। पांच सात शब्दोंका प्रयोग करनेमें कमसे कम तीन चार अरबी फारसी शब्दोंका सहारा लेना पड़ता है, तिसपर अभिमान इतना, कि संसार-में किसीको कुछ गिनना ही नही। दूसरोंकी भूल देखनेको सहस्राक्ष बन कर भी अपनी भूलके विषयमें जन्मान्ध वा दिवान्ध पक्षिप्रवर बनना ही इन द्विजकुल भूषणोंका स्वाभाविक धर्म है।

जब तक इस श्रेणीके मनुष्य मौनावलम्बन पूर्वक शान्त चित्तसे विशेषज्ञोंको विचारमें प्रवृत्त होनेका कृपापूर्वक अवसर न दें अथवा जब तक उपयुक्त चिकित्सासे इनका मुख स्तंभन न किया जाय तब तक परिणाम अच्छा नहीं दिखता है। यथार्थ अधिकारी अभिज्ञ, मर्मज्ञ और हिन्दीके विशेषज्ञ ही हिन्दी व्याकरणका विचार करनेमें समर्थ हैं। हिन्दी भाषाका संरक्षकपद और व्याकरणादिकी त्रुटिका विचार सर्वथा उनके अधिकारमें छोड़ देना ही उचित है। अवश्य इस ओर उनके चित्ताकर्षण करनेका अधिकार सबको समभावसे है। पर आत्मारामने और अन्यान्य सज्जनोंने भी सरस्वती सम्पादकके इस कार्यको ही विशेष दूषणीय समझ उनपर क्रोध-प्रकाश किया है कि हरिश्चन्द्र जैसे हिन्दी हितैषी सुलेखकके विज्ञापनकी भूल क्यों दिखायी गयी? जैसा कुछ क्रोध लोगोंने इस विषयमें दिखाया, विचार कर देखनेसे उतने क्रोधकी कुछ भी आवश्यकता न थी। कारण उस लेखका मुख्य उद्देश निन्दा करना नहीं था; व्याकरण विचार और भाषाकी उन्नतिका था। सिवाय इसके जब अपने शास्त्रोंमें "मुनीनाञ्च मति भ्रमः, दोषावाच्या गुरोरपि" आदि महावाक्य सिंह गर्जन कर रहे हैं और भूलना

मनुष्यका भ्रम ही है। तब बाबू हरिश्चन्द्र जैसोंकी एक आधी भूलका होना असम्भव नहीं कहा जा सकता। संस्कृतके बड़े बड़े प्रसिद्ध अलंकार ग्रंथोंमें काव्यके दोष दिखानेको सुप्रसिद्ध सुकवियोंके रचित काव्योंका ही उल्लेख किया दिखता है। क्या उससे उन सुकवियोंकी कभी गौरव-हानि हो सकती है? अथवा जन समाजमें वैसे सुकवि मूर्ख वा अपदार्थ प्रतिपन्न हो गये कहाते हैं? यह कौन कह सकता है, कि मनुष्य-शरीर धारणकर बाबू हरिश्चन्द्रजी अविद्याके आवरणसे सर्वथा मुक्त थे और भ्रांतिसे उनका किसी प्रकारका सम्बन्ध ही न था। भूलना तो मनुष्यका स्वभाव-सिद्ध है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। अन्धभक्तिके वशीभूत होनेसे और विचार और न्यायसे दिन रातका सा फेर है। गुणवान, कवि, पंडित और सहृदय सज्जनोंमें भक्ति अवश्य कर्तव्य ही गिनी जाती है। परन्तु उस भक्तिकी भी सीमा है। अन्ध भक्तके हृदयमें विवेक और विचारका सम्पर्क ही नहीं रहता। समयपर ऐसे ही अर्थका अनर्थ और विचित्र भांतिका उपद्रवकर उस महापुरुषको भी गन्दा बना दिया करते हैं, कि जिसके ये भक्त बनते हैं। तिसपर जहां कपट चातुरीसे भक्तिका स्वांग लाकर गुप्त उद्देशकी सिद्धिका अभिप्राय रहता है, वहां तो कुछ लीला ही विचित्र देखनेमें आती है। अपनी भूल पकड़ी गयी, उसकी झुंझलाहटको प्रकारान्तर-से बाबू हरिश्चन्द्रके नामकी ढाल बनाकर चरितार्थ करनेके प्रयासी ही इस समय बाबू हरिश्चन्द्रके नामकी विशेषतासे शंखध्वनि कर रहे हैं। नहीं तो ऐसोंकी गुणग्राहकता और निष्कपट भक्तिका परिचय तो बाबू हरिश्चन्द्र और राजा शिवप्रसादको हिन्दी साहित्य समालोचन विषयमें एक ही पलड़ेपर तोलनेमात्रसे चौड़े आ गया दिखता है। हिन्दीके मार्म्मिक रसज्ञोंकी दृष्टिमें हरिश्चन्द्रकी हिन्दीके साथ राजा साहबकी दोनसली भाषाकी समता दिखाना ही मानो भारतेन्दुको प्रकारान्तरसे अपमानित करता है।

आत्मारामका पहला ही व्यङ्ग द्विवेदीजीपर हिन्दीके संरक्षक या "सरपरस्तके" विषयमें है। अवश्य इस विषयको कौन अस्वीकार कर सकता है? कि ध्यान देने योग्य त्रुटियोंपर उपयुक्त अभिज्ञोंका चित्ताकर्षण करना हिन्दी भाषा भाषी मात्रका कर्तव्य है। प्रथमसे ही इस प्रकारके व्यङ्गसे प्रारम्भ करनेवालेके हृदयमें द्विवेदीजीसे गुप्त द्वेष और ईर्षाका सम्बन्ध प्रत्यक्ष दिखता है। आत्मारामका यदि ऐसा ही सिद्धान्त हो कि जिसको स्वयं हिन्दीका पूरा पूरा अधिकार और सर्व विषयक परिज्ञान न हो, वह इस विषयमें एक अक्षरके लिखनेका भी अधिकारी नहीं है। तो निःसन्देह आत्मारामने भी कोरी अनधिकार चर्चासे ही वृथा समय खोया है। यद्यपि द्विवेदीजीका हिन्दी लेख विषयमें भ्रम आना भर मान लिया जायगा तो आत्मारामके लेखोंमें उस श्रेणीके भाषा-दोष उनसे भी विशेष पंक्ति पंक्तिमें पाये जाते दिखेंगे। इससे तो यह सुसिद्ध होता है कि "खलः सर्षपमात्राणि पर छिद्राणि पश्यति। आत्मनो विल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति"। द्विवेदीजीपर आत्मारामने सबसे बढ़कर विशेष दोष इस विषयका दिया है कि थोड़े शब्दोंमें सरलतासे भाव-प्रकाश करनेकी शक्ति उनमें नहीं है। यहां तक कि अपनी वाक्यरचनाचातुरी और पंडितम्मन्यता दिखानेको ही स्थान स्थानपर अपनी रचना प्रकाश कर, तुलना पूर्वक अहंकार सहित ललकार कर साधारणमें आत्मारामने मनमाना ढोल पीटा है, कि उसकी स्वल्प सङ्ख्यक शब्दोंमें भावके प्रकाश करनेकी अद्वितीय अनुपम शक्ति है। लिखनेमें वह अपनी बराबरीका दूसरेको नहीं समझता। इसलिये पाठकोंको आत्मारामके लेखका प्रारम्भसे ही आज कुछ अंश परीक्षार्थ उद्धृत कर दिखाना यहां अनुचित न होगा—

"जो लोग यह समझते थे कि हिन्दी भाषा एक दम लावारिस है, कोई उसका मुरब्बी या सरपरस्त नहीं, वह यह खबर सुनकर खुश होंगे कि वास्तवमें उक्त भाष

माता पिता विहीन नहीं है। गत नवम्बर मासकी "सरस्वती"के देखनेसे विदित हुआ कि उक्त पत्रिकाके संपादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदीजी हिन्दी भाषाके सरपरस्त या वारिस दोमेंसे एक कुछ हुए हैं। इसके लिये हिन्दीके प्रेमियों और द्विवेदी-जी महाराजको हम बधाई देते हैं।"

दूसरेका दोष घोषण करनेमें परम पुरुषार्थी आत्मारामके लेखका प्रारम्भ ही इस भांति हुआ है। लेखका मुख्य मुखबन्ध भी इसे कह सकते हैं। इसमें बहुतसे विदेशीय निष्प्रयोजन शब्दोंके सिवाय व्याकरणकी अशुद्धियोंका भी अभाव नहीं है। सवा बारह पंक्तियोंमें अन्यून सात आठ शब्द विदेशीय म्लेच्छ भाषाके आये हैं। लेखकने मौलवी और मुन्शियोंकी शिक्षाके सहित बंगभाषाके स्वरका अद्भुत सम्मिश्रणकर एक विचित्र सांचेमें अपने लेखको गढ़नेकी अद्भुत कार्य्य कुशलता दिखायी है। मानो मत्स्य, लहसुन और प्याज आदिकी दुर्गन्धिसे बिचारी विशुद्ध हिन्दीको सर्वथा कलङ्कित और भ्रष्ट किया है। "हिन्दी भाषा एकदम लावारिस है।" इस वाक्यमें 'एकदम' का लिखना बंगभाषाके "एके बारेइ"का अनुकरण है। वैसेही "वास्तवमें उक्त भाषा माता पिता विहीन नहीं है" यह आलापचारी भी बंगालियोंके स्वरमें ही सुनायी गयी है। साथही 'खुदा परस्त' मुसलमानोंकी मिश्रित भाषाके अनुकरण अनुसार "सरपरस्त" आदि शब्दोंका प्रयोग भी किया है। हिन्दीकी इस प्रकारसे दुर्दशा न कर, ठेठ हिन्दी शब्दोंमें लेखक क्या इस भावके प्रकाश करनेमें असमर्थ था? इस वाक्य विन्यासमें बहुतसे निष्प्रयोजन शब्दोके सिवाय वाक्य रचना प्रणाली भी यथोचित नहीं है।

भारतमित्रमें उद्धृत ऊपर लिखे आत्मारामी लेखका संशोधन कर कांट छांट देनेपर लेखकके लिखित शब्दोंमें ही इससे स्वल्पमें सुन्दर रीतिसे भाव प्रकाश किया जा सकता है। भाषाको न सुधारनेपर भी इस लेखके अनावश्यक अंशके परित्याग करनेसे इसका स्वरूप इस

भांतिका बन जाता है,—“ जो लोग समझते थे कि लावारिस हिन्दीका मुरब्बी या सर परस्त कोई नहीं वह सुनकर खुश होंगे कि वास्तवमें हिन्दी माता पिता विहीन नहीं है। गत नवम्बरकी “सरस्वती”से विदित हुआ कि उसके सम्पादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदीजी हिन्दी-के संरक्षक या वारिस दोमे एक हुए हैं। इसलिये हिन्दी प्रेमियों और द्विवेदीजीको हम बधाई देते हैं।”

भारतमित्रके लेखकी प्रथम पंक्तिमें ही “समझते थे” यह क्रिया कर्तृवाच्य प्रयोगकी है। इसके कर्तृ पदमें प्रथमा और कर्ममें द्वितीया विभक्ति होनी ही उचित हैं। 'यह' शब्द “समझते थे” के पूर्वमें ठीक नहीं दिया गया। दूसरी पंक्तिमें “एक दम लावारिस” का विशेष अर्थ क्या है ? लावारिसके लिखनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता। तीसरी पंक्तिमें 'मुरब्बी' शब्द विदेशीय और दूसरी भाषाका होनेपर भी हिन्दीमें प्रचलित माना जा सकता है। परन्तु 'सर परस्त' को “सिर-धरा” वा 'सिर धरू' लिखनेसे विमुख होना लेखककी अज्ञताका परि-चायक है। चौथी पंक्तिमें “यह खबर सुनकर” लिखना सर्वथा व्याक-रणका अनुमोदित नहीं है। “सुनकर” इस असमापिका क्रियाका कर्म खबर है। इसीलिये कर्तृवाच्यकी विशुद्ध रीतिसे “इस खबरको सुन कर” लिखनाही उचित था। पाँचवीं पंक्तिमें “उक्त भाषा न लिखकर” सर्वनामका वा “हिन्दी पदका प्रयोग करनेपर भी चार अक्षरोंके बदले दो अक्षरोंसे काम निकलता है। “माता पिता विहीन” को “बिना मा बापकी” लिखनेसे बंगलापन तो निकल जाता! छठी पंक्तिमें “नव-म्बर” के सहित 'मास'के लिखनेकी आवश्यकता नहीं। सातवीं पंक्तिमें “सरस्वतीके देखनेसे” लिखनेका प्रयोजन “सरस्वतीसे” ही निकल आता है। आठवीं पंक्तिमें “उक्त पत्रिकाके” स्थानमें “उसके” लिखना ही युक्त था। नवीं पंक्तिमें “हिन्दी भाषाके” स्थानमें “हिन्दी” के वा 'उसके' होना चाहिये। दसवीं पंक्तिमें “दोमेंसे” का प्रयोग व्याकरणसे सर्वथा

अशुद्ध है। "दो में" लिखनेसे ही शुद्ध प्रयोगसे वह आशय निकल आता है। यद्यपि हिन्दीमें बहुतसे लोग "में से" आदिका अशुद्ध प्रयोग करते हैं और हिन्दीके व्याकरणोंमें भी चित्तकी दुर्बलतासे ग्रंथकारोंने इस अशुद्धिका अवरोध नहीं किया, दिखता है। तथापि यह अशुद्धि विचारने योग्य है। कारण एक तो विभक्तिके चिन्हपर दूसरा विभक्ति चिन्ह नहीं आ सकता। दूसरे जब कि 'में' अथवा 'से' इन दोनोंमें एकके यथोपयुक्त प्रयोगसे यथार्थ अभिप्राय विदित हो जाता है। तब व्याकरण विरुद्ध "में से" आदिका प्रयोग अशुद्ध समझकर न करना ही उत्तम है। सिवाय इसके एकके बादवाला "कुछ" भी व्यर्थ लिखा गया है। आठवीं पंक्तिमें "हुए हैं" के स्थानमें "बने हैं" लिखना ही ठीक था। ऐसे प्रयोगमें "संरक्षक" वा 'वारिस बनना' ही मुहावरा है। तदनन्तर 'इसलिये' और हिन्दीके प्रेमी' को 'हिन्दी प्रेमी' लिखनेमें लाघव है।

विज्ञ पाठको! कहांतक ऐसे लेखकोंके अशुद्ध गन्दे लेखोंका संशोधन किया जाय। एक भी पंक्ति शुद्ध और त्रुटि शून्य लिखनेकी जिनकी सामर्थ्य नहीं, उनकी वृथाकी लम्बी चौड़ी "टें" "टें" सुनते सुनते विरक्त और खिन्न होकर ही इतना लिखना पड़ा। इस लेखमें विचारिये तो एकसे एक बढ़ कर भ्रांति, व्याकरणकी अशुद्धि और प्रलाप वचनोंका समूह एकट्ठा देखनेमें आता है। केवल व्याकरणकी अशुद्धियोंके दिखानेकी और विज्ञजनोंका इस ओर ध्यान खींचनेको ही इतना लिखना पड़ा। नहीं तो इस प्रकारके अशुद्ध लेखको समालोचना करनेकी तो स्वप्नमें भी इच्छा नहीं होती। "वह" और "वे" के विषयमें लिखनेकी इच्छा है और यह दिखता है, कि कैसे कैसे 'गंवारों'ने 'वे' का प्रयोग बहुवचनमें किया है। अबकी स्थानाभावसे 'वह' और वे' के सम्बन्धी अशुद्धिका उल्लेख उद्धृत लेखके सम्बन्धमें भी नहीं किया है।

(६)

इस कठिन कलिकालके कारण, शिष्टता, नीति, धर्म, भीरुता और गुरुजनोंकी भक्तिका अभाव तो हो रहा था। विशेष कर अंग्रेजोंके राज्य शासनमें विलायती विचित्र कूटनीतिके प्रभावसे अब नीचोंकी उद्दण्डता और दाम्भिकता तो दिन दूनी बढ़ती ही जाती है। यहाँ तक कि जिनको स्पर्श करके हिन्दूमात्र स्नान किये विना किसी प्रकारसे भी शुद्ध नहीं हो सकता और अंग्रेजी राज्यके पहिले मुसलमानोंके राज्यमें भी जिस श्रेणीके अस्पर्शनीय अन्य जाति अपने शिरोंपर कौवेके पर आदि खोंसे हुए, राहमें स्वतः भयभीत "पोहश" और 'हटिये' 'बचिये'-का शब्द करते हुए बड़ी सावधानतासे बच बचाकर विना किसीको छुए, एक किनारेसे चलते थे। आज अंग्रेजोंके प्रतापसे वैसेही नीच घमण्डमें "ऐंठते" हुए "झाड़" टोकरी और मलभार सहित भीड़में भले मानुसोंको बे रोक टोकके छूते और धक्का देते चलते हैं। ऊँचे वर्णके बिचारे ब्राह्मणादि दूरसे ही वैसे नीचोंको देख, स्वयं डरते हुए आज किनारा ताकते और उनके स्पर्शसे सावधानता पूर्वक भाग भागकर अपनी रक्षा करते दिखते हैं। नहीं तो नीचोंको अब कुछ भी शंका, भय, वा धर्मकी मर्य्यादाके बिगाड़नेमें विचार या आगा पीछा नहीं है। यदि कोई खिन्न होकर वैसे नीचोंको शिक्षा देनेके लिये कदाचित कुछ कह बैठता है, तो आँख दिखाकर नीच उसे एककी दस सुनाते और अपमानित करनेको कमर कसकर बाज़ारके बीचमें खड़े हो जाते हैं। कहनेवालेको उस अवस्थामें मुंह नीचाकर विशेष लज्जित होनेके साथही वहाँसे लम्बे डग बढ़ाकर चल देना ही परमोचित दिखता है। नीचोंकी ऐसी विशेष महिमाको बढ़ानेको ही कलियुगकी प्रवृत्ति है। शास्त्रोंमें इसके वर्णनमें "नीचा महत्वं गताः" बहुतही ठीक लिखा है। अतएव ऐसे समयमें आत्मारामकी श्रेणीके मदमत्त अविवेचकोंका परम पूज-नीय, सुकवि, पण्डित और धार्मिक सज्जनोंको ललकारकर 'गंवार'

कहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। नहीं तो मुसलमानोंके राज्याधिकार समयमें भी भारतीय उत्तम वर्णके कुलीनोंकी आत्ममर्य्यादाका यहांतक ध्यान और ज्ञान था कि वैसे अवसरपर वे प्रायशः प्राणोंपर खेलकर भी उसको बचाते थे। वैसी किसी प्रसिद्ध घटनाके स्वाभाविक वर्णनमें ही "उतमुखते 'ग' गा कढ़्यो इतै कढ़्यो जमधार। "वार" पढ़न पायो नहीं भयी कटारी पार"। यह दोहा किसी सुकविने कहा था। यह समयका ही फेर है, कि आज आत्मारामसे तुच्छ जीव एकको नहीं? हिन्दी साहित्यसेवी स्वर्गीय और वर्त्तमान सबको एक साथ ही बड़ी ढिठाईसे "गंवार" संबोधन कर फूले अंगों नहीं समाते हैं।

हिन्दी साहित्य भाण्डारके अमूल्य ग्रंथोंका जहांतक पता पाया जाता है, उससे भी इस समय निशंक चित्तसे यह बात कही जा सकती है, कि एक वचनमें "यह" और "वह" तथा बहु वचनमें "ये" और 'वे"-का प्रयोग सर्व सम्मत सर्वत्र देखनेमें आता है। प्राचीन सुकवि और सुलेखकोंसे प्रारम्भ कर, वर्तमान समयके हिन्दी जाननेवाले कवि, पंडित और सुलेखकमात्र बहु वचनमें "वे" और "ये"का प्रयोग ही करते हैं। सबके उदाहरण सहित समय और नामादिके उल्लेखका इस पत्रमें स्थानाभाव है। इसलिये "स्थाली पुलाक" न्यायसे थोड़ेसे प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवि और सुलेखकोंका उदाहरण सहित नामोल्लेख करना ही बस है। पाठको! इनमें भी सबसे पहले मुसलमान जाति और अरबी फारसीके सुपंडित कवियोंका उदाहरण देना ही परमोचित होगा। कारण उर्दूके दास अविवेकी आत्मारामसे अज्ञोंका संतोष वैसे उदाहरणोंसे ही भली भांति होना ही सम्भव है। 'अब्दुल रहीम' नवाब खानखाना अकबर बादशाहके बड़े ही प्रियतम सभासद थे। ये अरबी, फारसी, तुरकी आदि अनेकों भाषाके सुपंडित और हिन्दीके रसज्ञ मर्मज्ञ और सुकवि भी थे। इनके रचित अनेकों दोहे और कवित्त आदि हिन्दी साहित्यका गौरव बढ़ाते हैं। संवत् १५८० में

इनका जन्म हुआ था। हिन्दी कवितामें "रहीम" वा "रहिमन" इनकी छाप थे। अपने समयके हिन्दी कवियोंका विशेष सम्मान और सत्कार किया करते थे। गुसाईं 'तुलसीदास'से भी इनका विशेष प्रेम था। नीति विषयक काव्य रचनामें ही इनका विशेष अनुराग था। इनके दोहोंमें भी बहु वचन में "वे" और एक वचनमें 'वह' का प्रयोग ही पाया जाता है।

—दोहा—

'रहिमन' 'वे' नर मर चुके, जे कहुं मांगन जाहिं।
उनके पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं ॥१॥

(२) दूसरे सुप्रसिद्ध मुसलमान सुकवि अबुल फैज वा फैजी मियां नाम भी लिखने ही योग्य है। ये अबल फजलके सहोदर और शेख मुबारकके सुयोग पुत्र थे। अकबर बादशाहसे इनकी विशेष घनिष्ठता थी। सन् १५४७ ई० में इनका जन्म हुआ था। हिन्दी कविता इनकी रची हुई अनेकों हैं। दूसरे सैयद मुबारक अली हरदोई जिलेके बिलग्राममें सन् १५८३ ई० में हुए। इनकी कविताओंमें 'मुबारक' या 'मीर मुबारक' छाप है। इन दोनों सुकवियोंने बहुवचनमें "वे" और "ये" का ही प्रयोग किया है। यथा—

—कवित्त—

"पानिपके पुंज सुघराईके सदन शुभ सोभाके समूह सावधान मन मोजके।
लाजनके वोहित प्रमोचित प्रवोधनके नेहके नकीब चक्रवर्ती सतवोज के॥
दयाके दिवान पातिव्रतके निधान जुगनैन "ये" मुबारक विधान नवरोजके।
मृगनके महराज सफरिनके सिरताज साहेब सरोजके मुसाहेब मनोज के॥१॥

(३) रसखान भी मुसलमान ही थे। इनका यथार्थ नाम सैयद-इब्राहीम था। हरदोईके जिलेमें "पिहानी" ग्राममें सन् १५७३ ई० में इनका जन्म हुआ था। इनकी कवितामें भी "× × × वे रसखान जो रीझै नेकु, बनाय उन्हें तूं क्यों ना रिझावत ?" "वे" का बहुवचनमें ही प्रयोग है।

(४) आनन्द घन जातिके कायस्थ थे ; परन्तु अरबी फारसी आदि अनेकों भाषाओंके सुपण्डित और मुहम्मद शाहके प्रधान मुंशीके पदपर सुप्रतिष्ठित थे। सन् १७२० ई० में इनकी प्रसिद्धि हुई। भारतकी पुरानी राजधानी दिल्लीमें इनका जन्म हुआ था। फारसी अरबीके सुविज्ञ होनेपर भी इनकी हिन्दी भाषामें कविता अत्युत्तम और रसीली होती थी। ये भी बहुवचनमें "वे" और 'ये' के लिखनेको ही विशुद्ध समझते थे।

❀ कवित्त ❀

"रूप गुन मद उन्मद नेह तेह भरे छलबल आतुरी चटक चातुरी पढ़े।
घूमत घेरत अर बोले ना मुरत नेकौ प्रानन सों खेलैं अलबेले आरके बढ़े॥
मीन कंजखजन कुरंग मान भंग करें सौचैं घन आनन्द खुले संकोचमें मढ़े।
चैन नेन तेरेसे न हेरे मैया नेर कहूं घाती बड़े कातिल "ये" छाती पै रहैं चढ़े॥
आनन्द घनसे भी प्राचीन कवि परमेसरकी उक्तिमें भी—

"सब लक तजी गुरु लोगनकी कुल कानकी कान न आनती हैं।
करि कोटि कहा समझाया तऊ अपनी टिक टेकहि ठानती हैं॥
परमेसजु और न जानें कछू एक प्रेमके पन्थको जानती हैं।
पिय प्यारे! तिहारे निहारे बिना अंखियां "ये" न मानती हैं॥"

भारतमित्रने आत्मारामकी बोलीमें जिनको निरा 'गंवार' सुप्रसिद्ध किया है। उन गंवारोंके शिरोमणि सूरदास और गुसाईं तुलसीदासके काव्योंका परिचय तो सबको उनके विशाल सुधासागर और सब-देश-व्यापी रामायण आदिसे हो रहा है। अनेकों उदाहरण पाठक स्वयं देख सकते हैं। इसलिये यहां विशेष लेखसे समय और स्थानका अपव्यय न कर केवल सुप्रवीण शिरोमणि विहारीलालका उक्त "गंवार पन" पाठकोंके नेत्रोंके सामने "सतसई" से उद्धृत कर दिखाना परमोचित होगा। इस सतसईकी सरस सर्वोत्तम काव्य रचना सबसे बढ़ कर विशेष उत्तमताका परिचय तो इतनेमें ही बुद्धिमानोंको भली भांति

यगा, कि आज तक हिन्दी काव्योंमें यह सौभाग्य केवल इस
दिखता है कि उत्तमोत्तम श्रेणीके कवियोंने आदरसे इस
प्रकारकी अनेकों टीका रचीं और संस्कृतमें भी टीका सि
उवथा तक उपयुक्त पंडितोंने आग्रहसे किया। सं० १७
०इमें बिहारीलालजीकी सतसईकी रचना समाप्त हुई थी। इन
दोलो उक्तिमें भी "वे" का बहुवचनमें ही प्रयोग है। यथाः

"यहै आस अटक्यो रहै, अलि गुलाबके मूल।
अइहैं बहुरि बसन्त फिरि, इन डारन" "वे" फूल॥
को कहि सके बड़ेन सों, लखी बड़ी यह भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारन 'ये' फूल॥
जिन दिन देखे "वे" कुसुम, गयी सुबीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार॥
मलिन देह "वे" ई बसन, मलिन बिरह के रूप।
पिय आगम औरै उगै, आनन ओप अनूप॥
मोहि लजाय निलाज 'ये', हुलसि मिले सब गात।
भानु उदेकी आस लौं, मान न जान्यो जात॥
नखरेखा सोई नयी, अलसो है सब गात।
सौंहै होत न नयन 'ये', तुम सौंहैं कत खात?
नखसिख रूप भरे खरे, तो मागत मुसकान।
तजत न लोचन लालची, 'ये' ललचे ही जान॥
बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनीके नैनान तैं, हरिनीके 'ये' नैन॥
"वे" ई बढ़ि गाढ़ैं परी, उपज्यो हास हिये न।
आन्यो मेरि मतङ्ग मनु, मारे गुरे रन मैन॥
जात सयान अयान ह्वै "वे" ठग काहि ठगै न।
को ललचापन लालके, लखि खल लौंहैं नैन॥"

कहां तक उदाहरणोंका उल्लेख किया जाय? जिनका हि
त्यपर प्रेम और अनुराग सहित हिन्दीके पठन पाठनका अ

है, वे भली भांति इन उदाहरणोंसे परिचित ही हैं अब केवल सुप्रसिद्ध पद्माकर भट्टकी उक्तिका एक मात्र अवतरण दिखाकर इस प्रसंगकी समाप्ति की जाती है। पद्माकर भट्ट मोहन भट्टके पुत्र और इधरके कवियोंमें विशेष प्रसिद्ध हुए। नागपुरके रघुनाथ राजकी सभामें आपका परम गौरव था। अनन्तर जयपुरके महाराजा जगत्सिंह सवाईने १८०३ ई० सन् से १८१८ तक जयपुरमें अपनी सभाका परमोज्वल रत्न बना विशेष यत्न पूर्वक इनका बड़ा आदर मान किया था। जगद्विनोदकी रचना इन्होंने महाराज सवाई जगतसिंहकी प्रसन्नताके लिये हीकी थी। उनकी अनूठी काव्य-रचनामें एक विरहणीकी उक्ति बसन्त वर्णनमें इस भाँति दिखती है।

(७)

(कवित्त)

"पांति बिन कीन्हें ऐसी भांति गनबेलिनके परत न चीन्हे जे "वे" लरत लुञ्ज हैं। कहैं पद्माकर बिसासी या बसन्तके सु ऐसे उतपात गात गोपिनके भुञ्ज हैं॥ ऊधो! "यह" सूधोसो सन्देसो कहि दीजो भले हरिसों हमारे ह्याँ न फलैं बन कुञ्ज हैं। किंसुक गुलाब कचनार औ अनारनकी डारन पै डोलत अंगारनके पुञ्ज हैं॥

इन उदाहरणोंके सिवाय बाबू हरिश्चन्द्रसे (जिन्हें भारतमित्र "वर्तमान हिन्दीके जन्मदाता" ही लिख चुका है!) इस समय तकके प्रसिद्ध और प्रधान हिन्दीके सुलेखकमात्र बहुवचनमें "वे" और "ये" का विशुद्ध प्रयोग ही करते आये हैं। जितने व्याकरण आज तक हिन्दी के छपे हैं, सब में 'यह' और 'वह' के बहुवचन 'ये' और वे ही हैं। राधाचरण गोस्वामीके लेखोंमें भी बहुवचनमें इनका प्रयोग अवश्य है। बिना इन बातोंको समझे भारतमित्रका आत्मारामी भाषामें हिन्दीके महाकवि, कवि, विशेषज्ञ और पूज्य मात्रको 'गंवार' लिखना कैसी प्रकृतिका परिचायक है? पाठक स्वयं विचार देखें। साथ ही

पहिलेके उद्धृत आत्मारामी लेखके उस अंशमें बहुवचनकी अशुद्धि "ये" "वे" के सम्बन्धकी गिनतीमें और भी बढ़ा लें।

पहिले ही लिख चुके हैं, कि इस समय हिन्दीकी शिक्षा प्रणाली जैसी है उससे लोगोंको व्याकरणका विशेष ज्ञान होना दुर्लभ है। जब कि हिन्दीके व्याकरण बनानेवाले स्वयं बहुतसे विषयोंमें भ्रमका परिचय अपनी रची पुस्तकों द्वारा दे रहे हैं। तब उन असम्पूर्ण अशुद्ध पोथियोंके भरोसे उछलने कूदनेवाले वाचाल शिरोमणि विद्यार्थियोंकी निरी थोथी फुंकारमें सार पदार्थका काम ही क्या? इनकी इस अनोखी अभिज्ञतापर तो आश्चर्य कुछ भी नहीं। परन्तु इन वचन वीरोंकी धृष्टता और अहम्मन्यताको देख, हास्य सम्वरण करना अवश्य कठिन होता है। इन विचारोंकी दौड़ तो पादरी एथरिंगटन साहबके वेतन भुक्त पण्डितसे बनवाये 'भाषा भाष्कर' तक ही ठहरी। परन्तु व्याकरणकी गम्भीर चर्चामें अग्रणी बने बिना इनकी नाक नहीं रहती है। इससे विचारोंको आवेशमें आ, भला बुरा "यहा तहा" लिखना अवश्य ही पड़ता है। जिस 'भाषा भाष्कर' के भरोसे आत्मारामी श्रेणीके अभिमानी वैयाकरण बन बारंबार सफाई साथ कलम कुल्हाड़ा चलाते हैं। उसकी भ्रान्ति और मोटी भूलोंपर भी यदि किसी अभिज्ञकी चरण सेवासे इन्होंने ध्यान कर लिया होता, तो आज इन बिचारोंकी ऐसी दुर्दशा न दिखती। उदाहरण स्वरूप यहां उस "भाषा भाष्कर"-की एक ही भूलका दिखाना बहुत है। ६१ पृष्ठमें सन्दिग्ध भूतकालके उदाहरणमें एक वचनमें "मैंने वा हमने पाया होऊंगा" पुलिङ्गमें और "मैंने वा हमने पाई होऊँगी" स्त्री लिङ्गमे, सर्वथा अशुद्ध पाठ लिखा है। ऐसे ही अनेकों उदाहरण बहु वचनमें और अन्यत्र भी देखनेसे अभिज्ञोंको दिखेंगे। जब कि इन व्याकरणोंकी ही ऐसी दशा है, तब केवल वैसे ही किसी व्याकरणके दस पांच पत्रोंके उलटने वाले नये सिखुआ पण्डितम्मन्योंकी यह दशा क्यों न हो? अवश्य इनकी इस दशापर दुःख तो होता है!

हिन्दीके व्याकरणोंमें ग्रंथकारोंने शब्दोंके रूप साधनेमें प्रायशः विभक्तिका प्रयोग न कर, कर्त्ता, कर्म्म, करण आदि कारकोंका क्रम दिया है। सूक्ष्म विचारसे इस परिपाटीको कदापि उत्तम वा भ्रम शून्य नहीं कह सकते। कारण प्रथम तो अकेले शब्द मात्रका किसी प्रकारसे भी कारकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरे जिन प्रयोगोंमें शब्दोंके योगसे वा अर्थकी विशेषतासे विभक्तिका परिवर्तन होता है इस अयोग्य परिपाटीसे पठित विद्यार्थियोंसे वे विषय ही सर्वथा छूट जाते हैं। जैसे "रामधनसे अहिल्याकी सगाई होगी" वा "अमीर खांसे कल्लूकी कुस्ती होगी", वा 'हमसे न बोलो' आदि उदाहरणोंमें तृतीया विभक्ति सह वा सहित अर्थमें ही आती है। यहाँ करण वा अपादान कारकके लक्षणोंका समन्वय ही नहीं बैठ सकता। ऐसे ही "ऐसे मूर्खको धिक्" "इन कम्बलोंको गरीबोंको देनेको मुनीमजीको दे देना"। आदि प्रयोगोंमें 'को'का केवल कर्म्म वा सम्प्रादन कारकमात्रसे समन्वय नहीं हो सकता! हिन्दीके व्याकरण इस विषयमें असमर्थ से बने स्तब्ध ही दिखते हैं। "भाषा भास्कर" में वा 'भाषा प्रभाकर' में भी इस सम्बन्धके नियमोंका सर्वथा अभाव है। "घरको गया" और 'घरमें गया' इन उदाहरणोंमें व्याकरणकी सूक्ष्म विवेचनासे जैसा अन्तर दिखता है। उसका पूरा परिज्ञान राजा शिवप्रसाद महोदयको होता तो आज उनके रचित व्याकरणकी भूलोंपर हरताल लगानेकी आवश्यकता न पड़ती—और भाषा प्रभाकरके ६४ पृष्ठके टिप्पणमें पं० अम्बिकादत्त व्यासको भी यह न लिखना पड़ता कि '१५६' राजा शिवप्रसाद साहिबने जो उपमा उपमेय मिलकर बहुव्रीही लिखा है सो महा अशुद्ध है; क्योंकि केवल "कमल लोचनमें" उपमा उपमेय कह सकते हैं पर 'जितरिपु' कैसे उपमा उपमेय ठहरेगा? यदि अन्य पदार्थ प्रधान माना जाय तो बहुव्रीही न होकर कर्म्म धारय हो जायगा"। अस्तु "घरको गया" इसका अर्थ चाहे कितनी भी दूरतासे घरके अभिमुख

जानेवालेके सम्बन्धमें ही रहता है। परन्तु "घरमें गया" को तो जब तक दहलीजके भीतर पांव न धरे तबतक, जानेवालेके विषयमें कदापि कह ही नहीं सकते। ये दोनों प्रयोग भिन्न और इनके अर्थांशमें भी विशेषता है। इनको एक रस्सीमें बान्धनेवाले वा 'को' को अधिकरणका चिन्ह माननेवालोंको परिश्रम पूर्वक व्याकरणकी इन सूक्ष्म बातोंको किसी अभिज्ञसे सीख लेना उचित है। संस्कृतके पाणिनीय व्याकरणमें "ग्रामं गच्छति" प्रयोगको विशुद्ध सिद्ध करनेके साथ ही उस प्रसङ्गमें "ग्रामे गच्छति" का लिखना अयोग्य प्रतिपन्न किया है और विभक्तियोंका अर्थान्तरोंमें और शब्द विशेषके संयोगसे कैसा स्वरूप और अर्थ सिद्ध होता है इसके दिखानेको प्रथम ही 'विभक्त्यर्थ' नामका प्रकरण ही स्वतन्त्र दिया है। केवल कारकके नियमोंसे काम चल जाता तो पाणिनीको इस "विभक्त्यर्थ प्रकरणके लिखनेकी कुछ भी आवश्यकता न होती। हिन्दीके व्याकरणोंमें इस प्रकरणका विशेष अभाव है। कारक मात्रका कर्म निर्देश कर शब्दोंके साधनेसे व्याकरणकी अति प्रयोजनीय जानने योग्य बहुत सी बातें सर्वथा छूट गयी हैं। इसलिये "मूर्खोंको धिक्" इस वाक्यके समन्वय दिखानेमें "भाषा भास्कर" से असम्पन्न व्याकरणोंकी अयोग्यता स्पष्ट चौड़े आ जाती है; क्योंकि कर्म और सम्प्रदान कारकके उल्लेखके सिवा, ऐसे प्रयोगोंकी तो कोई व्यवस्था ही उसके नियमोंमें नहीं है।

किसी महाशयने विगत सप्ताहके भारतमित्रमें पं॰ गोविन्दनारायण मिश्रकी बनायी शिक्षासोपान नामक पुस्तकमें लिखे वाक्योंमें "दिनको" "रातको" और "अन्तको" इन तीनों पदोंमें कौनसी विभक्ति है, न समझ कर बुद्धिमत्ता पूर्वक प्रश्न छपवाया है। मेरी समझमें तो परम बुद्धिमान् पत्र प्रेरक यदि समाचार पत्रकी शरण न ले उक्त मिश्रजीसे स्वयं जाकर शिक्षासोपानका पाठ पढ़ आते तो सहजमें बहुत कुछ सीख आ सकते थे। कारण मुझे निश्चय है, कि पण्डितजीसे शिक्षा लेनेमें ऐसे

लोगोंको बहुत उत्तम रीतिसे व्याकरणकी और और भी उत्तम शिक्षा मिल जाती ! मेरी बुद्धिमें "दिनको" और "रातको" आदि पदोंमें सूर्य्य और चन्द्रमाके उदयके प्रकरणमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग ही सुस्पष्ट दिया दिखता है। ऐसे स्थलोंमें द्वितीयाका प्रयोग ही विशुद्ध माना जाता है। पाणिनीयमें भी "कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे तथा अकर्मक धातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वचाकर्म संज्ञक इति वाच्यम्" सूत्र और वार्त्तिकसे ऐसे प्रयोगोंको सिद्ध किया है। इन बातोंका समझना केवल "भाषा भास्कर' के भरोसे कूदने वालोंके लिये असम्भव सा ही है। परन्तु दुःखका विषय है कि "भाषा भास्कर" के ३४१ वें नियमको भी आप भूल गये ! क्योंकि उसका स्मरण बना रहता तो "अन्तको" में विभक्तिका चिन्ह देखकर इतना घबराना और इस रीतिसे प्रश्न करना न पड़ता। "अन्त" केवल भी क्रिया विशेषण रूपसे लिखा जाता है और भाषा भास्करके उक्त नियमानुसार क्रिया विशेषण विभक्ति युक्त भी प्रयुक्त होता है।

गोपालरामके पिट्ठू बनकर भारतमित्रकी सहायतामें अग्रणी लेखक महोदयने आंखें खोलकर इतना भी देखा और विचारा नहीं कि राजा शिवप्रसादके अथवा पादड़ी साहबके व्याकरणमें भी "को" को अधिकरण कारकमें क्यों नहीं लिखा है ? यदि उन व्याकरणोंको पढ़कर ऐसा ही संस्कार आप सरीखे विद्यार्थियोंको उत्पन्न होता है ? कि "को" अधिकरण कारकका चिन्ह है तब उन व्याकरणोंमें "को" न लिखकर केवल "में" लिखनेका कारण क्या ? जिस कारकका जो चिन्ह होता है, शब्दके रूप साधनमें वह चिन्ह सदा साथ ही रहता है; कारकका चिन्ह भी उसको ही कहते हैं। अर्थान्तर वा शब्दोंके सहयोगसे विभक्तिका परिवर्तन होना, दूसरा ही स्वतन्त्र विषय है। हिन्दी व्याकरणोंमें अभी इन विषयोंका पूरा अभाव ही देखनेमें आता है। परन्तु जिनकी वहां तक दृष्टि ही नहीं पहुंचती है, उन बिचारोंके प्रलाप

वचनोंको सुनकर दुःख भी होता है; और हँसीका रोकना भी कठिन हो पड़ता है। भला कोई भी कह सकता है कि "मकानमें रहता है" वा "पुस्तकमें लिखता है" और "पुस्तकको लिखा है" आदि वाक्योंका एक ही अर्थ है? अधिकरणका चिन्ह माननेपर ऐसा पार्थक्य किसके मिटाये मिट सकेगा? जिस विषयको लिखने बैठा करो उसे कृपा पूर्वक पहिले समझ तो लिया करो। क्रोध, ईर्षा, घमण्ड और मूर्खतासे तो इस व्याकरण विचारका कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

(८)

संसारकी अन्यान्य ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनमें छल, प्रपञ्च, प्रतारणा, छद्मवेश और चातुरी आदिसे मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूपको छिपाकर कुछ कालतक धोखा दे सकता है; परन्तु विद्या और योग्यता-का ऐसा विचित्र, पवित्र और अनुपम सम्बन्ध है कि इसके विषयमें जाल साजोंकी दाल कभी नही गलती और यथार्थ स्वरूपका छिपाना भी सर्वथा असाध्य हो जाता है। कितना ही बड़ा प्रपञ्ची धूर्त्तराज क्यों न हो यथार्थ विद्वानोंकी दृष्टिमें धूल डालनेकी सामर्थ्य उसकी नहीं। वाचालतासे अनाड़ियोंको तो ऐसे धूर्त्त, कुछ कालतक अन्धा बना सकते हैं; परन्तु अभिज्ञोंके सामने इनकी चातुरीकी चाल एक भी नहीं चल सकती। विशेषतः लिखनेसे तो इन बिचारोंकी पूरी दुर्दशा हो जाती है। कारण इनका मुख्य बल कहकर नटना ही प्रसिद्ध है। दुःखका विषय है कि लिखित प्रस्तावमें तो मनमाना पलटा लेकर सत्य मिथ्याके परिवर्तनका प्रपंच चल नहीं सकता। इसलिये जब कभी ऐसे धूर्त, कलमके लेख रूपी अपने ही हाथसे बनाये जालके नीचे आ जाते हैं, तब "उघरहिं अन्त न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावण राहू।" के अनुसार पूरी तरहसे फंस ही जाते हैं। फिर चूं चपड़ करनेकी और पर फड़फड़ानेकी शक्ति इन बिचारोंमें नहीं रहती और अभिज्ञमात्र इन हस्ति मूर्खोंकी स्थूल बुद्धि और मूर्खतापर हंसते ही

दिखायी देते हैं। तथापि इस आत्मारामी श्रेणीके विचित्र जीवोंकी निर्लज्जता और धृष्टता अवश्य प्रशंसनीय ही कहनी पड़ती है। यहांतक ढिठाई समयपर ये कर बैठते हैं कि बिना समझे ही व्याकरण जैसे गंभीर, कठिन और विचारणीय विषयको भी निरा लड़क खेल समझ जो जीमें आता है लिखकर कागज रंगनेमें ही मानो विशेष पाण्डित्य समझते हैं। भारतमित्रमें प्रकाशित "भाषाकी अनस्थिरता" शीर्षक लेखके तृतीय प्रलापमें द्विवेदीजीको भाषाका इस भांति संशोधन किया गया है।—

"हजार दो हजार वर्षमें" को जगह "हजार दो हजार वर्ष तक" चाहिये और "बनी रही" की जगह "बनी रहे", भगवान ही जाने आपका व्याकरण आपकी भाषाको ऐसी ऐसी 'मोचें' भी निकाल सकता है या नहीं। इत्यादि" आश्चर्यका विषय तो इस लेखमें यह दिखता है कि द्विवेदीजीको खुल्लम खुल्ला 'उस्ता' (नापित) बना, उलटे उस्तरेसे मूंड़नेका काम सौंपकर भी न जाने क्यों 'मोच निकालने' के मानो कुल परम्परा-गत-अभ्यस्त नैपुण्यमें हाथ सफाई भारतमित्र अपने आत्मारामके हाथोंसे ही दिखानेको अग्रसर होता है। इससे तो संदेह उसके सम्बन्धमें ही विशेष है। द्विवेदीजीको जिस पंक्तिका संशोधन करनेमें गुप्त मित्रने अपनी विचित्र अभिज्ञताका इस भांति परिचय दिया, उसका यथार्थ रूप ऐसा है :—

"हजार दो हजार वर्षमें भाषाकी वर्त्तमान स्थिति ज्योंकी त्यों बनी रही तो बिलकुल ही समझमें नहीं आवेगा।" 'बनी रही' अशुद्ध क्यों? और उसकी जगह बनी रहे' बनानेका नियामक कौन सा सूत्र हिन्दीके व्याकरणमें लिखा है? इत्यादिका कुछ भी पता उद्धृत लेखसे नहीं लगता। केवल आत्मारामका आदेश मात्र ही यहां सब व्याकरणोंपर हरताल लगा देता है। भाषाकी स्थिति स्त्रीलिङ्ग शब्द है। तदनुसार ही द्विवेदीजी "बनी रही" लिखते हैं। इसके संशोधनमें बनी रहे लिखना निस्सन्देह आत्मारामकी अपूर्व व्याकरणज्ञताका परिचायक

है। ऐसी अशुद्धियोंपर इस समय हिन्दी लेखकोंका प्रायः ध्यान ही नहीं आता है। 'यर्थेष्ट' के स्थानमें 'वर्षतक' लिखनेसे 'बनी रहे' लिखना तो "स्थितिके" सम्बन्धमें व्याकरणके विशुद्ध नियमानुसार सर्वथा अशुद्ध ही है। क्योंकि भविष्य का सुस्पष्ट अर्थ तो 'बनी रहेगी'-के लिखनेसे ही झलकता है। "स्थिति" स्त्रीलिङ्ग और "रहे" उसकी भविष्यकाल सूचक क्रिया पुलिंग कैसे शुद्ध कही जायगी? स्वयं व्याकरणका एक अक्षर भी न जानने वाले औरोंके अध्यापक बननेका जब दुःसाहस दिखाते हैं तो उनकी ऐसी दुर्दशा भी अवश्य होती है।

द्विवेदीजीने नवम्बरकी सरस्वतीके "भाषा और व्याकरण" शीर्षक लेखमें संस्कृतके "कर्तृ वाचक", "कर्मवाच्य" और 'कर्मकर्तृ वाच्य' के विवरण लिखे हैं और निजोंका हिन्दी व्याकरणोंकी उस विषयकी त्रुटिपर ध्यान आकर्षण करनेकी चेष्टा कर परम उपकार ही किया है। परन्तु 'कर्मवाच्य'के विषयमें नियम लिखकर जो उदाहरण दिखाये हैं उनसे और कर्म कर्तृ वाच्यके उदाहरणोंसे यथार्थ में विशेष अन्तर नहीं दिखता है। "मुझसे झूठ बात नहीं कही गयी" वा "उनके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया गया" आदि उदाहरणोंको कर्म वाच्यका उदाहरण मान लेनेपर "मैंने बात सुनी" 'उसने पोथी पढ़ी' "साहूकारने रुपये दिये" आदिको किस वाच्यका प्रयोग कहियेगा? संस्कृत 'मयाकृतमेतत् कर्म्म' का यथार्थ अनुवाद "मैंने यह काम किया" ही है। "मुझसे यह काम किया गया" ठीक नहीं। इस विषयमें प्रायशः हिन्दीके व्याकरणोंमें विशेष अनर्थ किया हुआ दिखता है। यहाँतक कि "कर्मवाच्य" "कर्तृ वाच्य" आदि नाम न देकर "कर्म्म प्रधान" "कर्तृ प्रधान" आदि नाम यद्यपि दिये हैं तथापि इस विषयकी जटिलता नहीं सुलझी। भाषा भास्करके ६७ पृष्ठमें कर्तृ प्रधान वाक्यके उदाहरण इस भांति दिये हैं। "बढ़ईने बड़ी सी नाव बनाई है।" अवश्य बनायी है, इस क्रियाका कर्त्ता 'बढ़ईने' है; परन्तु कर्मवाच्यके कारण, क्रिया

के लिङ्ग वचन इसमें कर्मके अनुसार ही हैं। जिस वाक्यमें क्रियाके लिङ्ग वचन कर्तृपदके अनुरूप न होकर कर्म पदानुसार होते हैं, उसे कर्तृ प्रधान वाक्य कहना मेरी समझमें तो सर्वथा अनुचित ही है। कर्तृप्रधान वाच्य वह कहला सकता है, कि जिसमें क्रियाके लिंग वचन कर्त्ताके अनुसार ही आते हैं। "बढ़ई लकड़ीको काटता है"। यह अवश्य कर्तृप्रधान वाच्य कहाने योग्य है। क्योंकि "काटता है" क्रिया कर्त्ता बढ़ईके अनुसार ही सदा रहेगी, चाहे पेड़को काटता है, लिखें चाहे जड़को; परन्तु जिस वाक्यकी क्रिया कर्म्मके अनुसार हो जाती है, कर्त्ता-के अनुसार नहीं, उसे कर्मवाच्य कहना ही समीचीन दिखता है। "मैंने जाना है।" आदि "कर्म वाच्य" "कर्तृ वाच्य" वा कर्म कर्तृ वाच्यके अन्तर्गत कदापि नहीं आ सकते। अतएव इनको भाव वाच्य कहना ही उचित दिखता है। परन्तु सरस्वती प्रदर्शित भाव वाच्यका रूप दूसरे ही प्रकारका है। इन विषयोंकी अबतक उत्तम रीतिसे मीमाँसा नहीं हुई है। बिना इनकी यथार्थ मीमाँसाके व्याकरणकी अंगहीनता कैसे पूरी होगी? विशेषज्ञोंका ध्यान इनके विचारमें अवश्य शीघ्रही आकर्षित होना उचित है। सूक्ष्म विचारके विना इन संदिग्ध विचा-रणीय व्याकरण विषयिणी शंकाओंका समाधान होकर, व्याकरणके अकाट्य नियमोंका सिद्ध होना असम्भव ही समझिये।

संस्कृतमें "क्त" प्रत्यय सिद्ध "कृतम्, भुक्तम्" आदिकी अनुरूप आकृति हिन्दीमें किया और खाया आदि ही है। इनके सम्बन्धमें कर्म वाच्य प्रयोग हिन्दीमें जहां कहीं आता है उसके कर्तृपदमें "ने" चिन्ह ही रहता है। "ने" किस विभक्तिका रूप है? इसके निराकरणमें असमर्थ होकर ही व्याकरणकारोंने हिन्दीमें प्रायशः कारक शब्दका प्रयोग किया है। केवल पण्डित दामोदर शास्त्री सदृश किसीने विभक्तिका प्रयोग स्वर-चित व्याकरणमें दिया है। इनमें "ने" चिन्हके सम्बन्धमें परस्पर मत-की विभिन्नता भी देखनेमें आती है। यह विषय विशेष विचारपूर्वक

शीघ्रही निर्णीत होना चाहिये। अबकी विशेष समयाभावके कारण बहुत सी प्रयोजनीय लिखने योग्य बातोंको न लिख सका। आशा है कि अगले सप्ताहके पत्रोंमें क्रमशः सावकाश उनके दर्शानेकी यथासाध्य चेष्टा की जायगी। प्रार्थना है कि समाचार पत्रोंको "दिल्लगी" या 'अद्भुत खबरोंके समान इस विषयको भी पाठक केवल मनोविनोदाय ही न पढ़कर इसपर स्थिर बुद्धिसे विचार पूर्वक अपनी सम्मति भी अवश्य समयपर प्रकाशित कर दिया करें अन्यथा अरण्य रोदनके तुल्य इन लेखोंका फल होना तो कदापि प्रार्थनीय नहीं है।

(६)

विशेष दुःखसे लिखना पड़ता है कि इस समयके हिन्दी लेखकोंमें अधिकांश हिन्दी व्याकरण संस्कारहीन ही हैं। इसलिये समझने-पर भी व्याकरणकी सूक्ष्म विचारणीय बातोंपर ध्यान नहीं दे सकते। यहांतक कि अबतक जिन विशेष ध्यान देने योग्य विषयोंका उल्लेख किया गया; उनके विषयमें एकने भी चर्चामात्र न की। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विचारके उस अंशतक इनकी बुद्धिकी दौड़ या पहुंच ही नहीं है। वृथा अल्पनासे प्राय. प्रति सप्ताह समाचार पत्रोंके दो दो चार चार स्तम्भ काले करनेमें और 'तू तू मैं मै" कर अवाच्य कुवाच्यकी वर्षासे मनमाना अन्धेर मचानेमें ही मानो इनका परम पुरुषार्थ है। अस्तु, भाषासे व्याकरणका घनिष्ठ संबंध है। विना व्याकरणज्ञानके शुद्ध लिखना या बोलना किसी भाषाका भी नहीं आ सकता। भाषाकी अशुद्धि और त्रुटिका दिखानेवाला नियामक एक मात्र व्याकरण ही है। जिन भाषाओंमें उत्तम व्याकरणोंका अभाव है उनकी विशुद्धि भी सर्वथा असम्भव ही समझिये, परन्तु भारतकी अति प्राचीन संस्कृत भाषा जिस हिन्दीकी जननी है, उसमें अनन्त कालतक उत्तम व्याकरणका सर्वथा अभाव रहने देना वाञ्छनीय नहीं। द्विवेदीजीका 'भाषा और व्याकरण" विषयक लेख इस प्रधान

अभावके दूर करनेके अभिप्रायसे ही लिखा गया। मूल उद्देश्यपर ध्यान देकर आग्रह और पक्षपातसे आंख मींच बिना देखे समझे और और बिचारे जो लोग "भारतमित्रके आत्मारामी लेखोंके पक्षपर उठ खड़े हुए हैं; उनकी इस समय ऐसी शोचनीय दशा दिखती है कि समग्र लेखकी धारणा और अभिप्राय समझने तकका संबन्ध उनकी बुद्धिमें नहीं पाया जाता। संप्रति बूंदीके सुप्रसिद्ध पंडित राज गंगासहाय-जीके सुयोग्य पुत्र विष्णुदत्त शर्म्माके नामसे वेंकटेश्वरमें पुनः वैसा ही एक सुदीर्घ पत्र प्रकाशित हुआ है। निस्सन्देह पंडितवर गंगासहायजीकी संस्कृत भाषाकी पारदर्शिता और योग्यता विख्यात है; परन्तु अद्यावधि उक्त पंडित महोदयकी वैसी योग्यताका परिचय हिन्दी भाषामे नहीं पाया गया। बड़े ही आनन्दका स्थल है कि उनके होनहार पुत्र चि० विष्णुदत्त शर्म्माने बाल्यावस्थामें ही अपनी लेखनी हिन्दीकी अभिज्ञताके दर्शानेको उठायी है। अद्यावधि जिस विषयमें श्रद्धेय गंगासहायजी महाराजने साहस पूर्वक कभी कुछ नहीं लिखा। उनके सुयोग्य चिरंजीवने लेखनी धारणकर अपनी पहली ही चिट्ठीसे हिन्दीके मैदानमे नये पुराने अभिज्ञ अनभिज्ञ सबको फटकारनेके साथ कम समझ और मूर्ख प्रतिपन्नकर अपूर्व पाण्डित्य प्रकाश किया है। यदि इतना अधिक आस्फालन न दिखाकर कुछ दिनोंतक किसी अच्छे अभिज्ञसे हिन्दीकी यथोचित शिक्षा लाभ करने बाद लेखनी संचालनका कष्ट स्वीकार करते तो अवश्य लेख परिपाटी भी निर्दोष होती, "कितनेक" अशुद्ध शब्द भी न आते और लेखमे कुछ सार पदार्थ भी दिखता। इस लेखको पढ़कर तो "काजीजीका इनसाफ" आंखोंके सामने नाचता सा दिखता है और यह भी शंका होती है, कि विशेष आग्रह और विनीत प्रार्थनाके बलसे विवश किसी दूसरे ही महापुरुषने संकोचमें आ, चिरंजीव विष्णुदत्तके नामसे पत्रको प्रकाशितकर लज्जाका आश्रय ले "रामराम" करते अपना पल्ला छुड़ानेके साथ "टट्टीकी ओट शिकार खेला" हो तो भी आश्चर्य नहीं।

व्याकरण विचारमें पक्षपात, दुराग्रह और संकोचका कुछ भी प्रयोजन नहीं है। द्विवेदीजीने अपने लेखमें जिस विषयको लिखा ही नहीं आत्मारामके पक्षपाती बन बिचारे द्विवेदीजीके सिर बल पूर्वक वैसी बातोंका मढ़ देना क्या कभी न्याय-संगत कहा जा सकता है? द्विवेदीजीने कहां और कब यह लिखा है? कि "व्याकरणके अनुसार भाषा बने न कि प्रचलित भाषाके अनुसार व्याकरण।" जो बात द्विवेदीजीने नहीं लिखी उसको हठ पूर्वक उनके मत्थे मढ़ना क्या कभी न्याय और निष्पक्ष कहा जा सकता है? पुनः आप लिखते हैं, कि "जैसा उपयोगी द्विवेदीजीका लेख है, वैसा ही आत्मारामका भी है।" यह कैसे सम्भव हो सकता है? थोथी बातोंसे उभय पक्षको प्रसन्न रखनेकी इच्छा वाला एकको भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता! हिन्दी भाषाके कर्त्तृ वाच्य प्रयोगमें कर्म्मकारकको द्वितोया विभक्ति होती है। द्वितीयाका चिन्ह 'को' कहीं कर्म्मके साथ प्रत्यक्ष रहता है और कहीं उसकी विवक्षा मानी जाती है। जहां 'को' कर्म्मकारकके साथ नहीं आता वहां उसकी विवक्षा अवश्य मानते हैं। "भाषा प्रभाकर"के २१२ वें सूत्रके टिप्पणमें पण्डित अम्बिकादत्त व्यास लिखते हैं कि "सविभक्तिक शब्दको पद कहते हैं। परन्तु विभक्तिका लोप जहां विवक्षासे हो जाता है वहां प्रत्यक्ष तो विभक्ति नहीं देख पड़ती, किन्तु अर्थमें अवश्य रहता है जैसे "वह मनुष्य आम खाता है" यहां आम यद्यपि निर्विभक्तिक जान पड़ता है तो भी विवक्षासे कर्म्मके चिन्ह "को" का लोप हुआ है इत्यादि।" "भाषा भास्करके २८६ और २६० नियमोंमें" भी लिखा है कि कर्म्मकारकका चिन्ह "को" बहुधा लोप होता है। परन्तु उसके लोप करनेको कोई दृढ़ रीति नहीं है। कोई कोई वैयाकरण समझते हैं, कि उसका लाना और न लाना विवक्षाके अधीन है, परन्तु औरोंकी बुद्धिमें सामान्य वर्णन वा विशेष वर्णन मानकर उसका लोप करना वा उसे लाना चाहिये * * * अप्राणी वाचक संज्ञाका कर्म्मकारक हो

तो प्रायः चिन्ह रहित होगा। * * * व्यक्ति वाचक अधिकार वाचक और व्यापार कर्तृवाचक संज्ञाके कर्ममें प्रायः 'को' लगना चाहिये। इत्यादि।"

दूसरे हिन्दी व्याकरणोंमें भी ऐसा ही मत देखनेमें आता है, जिससे निश्चय होता है कि हिन्दी व्याकरण बनाने वाले स्वयं इस विषयका ठीक ठीक सिद्धान्त कर ऐसा नियम बनानेमें आज तक असमर्थ ही हैं कि निश्चय रूपसे कर्मकारकके चिन्ह "को" का किस किस स्थलमें लोप होगा और कहां नहीं होगा। तथापि विवक्षा सभी स्वीकार करते हैं और "को" के लुप्त रहने पर भी उसका अर्थ रहना मानते हैं। इस दशामें जब तक समीचीन नियमों द्वारा निश्चय न हो लेगा, कि कहां कहां 'को' लुप्त रहेगा तब तक निःसन्देह हिन्दी व्याकरण इस अंशमें लंगड़ा और सर्वथा असम्पन्न ही रहेगा। प्राकृतिक गाथाके अनुकरणसे हिन्दीमें भी विभक्तिके चिन्होंका लुप्त रहना प्रकृति-सिद्ध हो गया था। प्राचीन हिन्दी पद्योंमें विभक्तिके चिन्होंका जैसा कुछ अभाव है उसे देखते वर्तमान हिन्दी गद्यसे उस संक्रामक रोगका प्रायः तिरोभाव हो चुका सा दिखता है। अब तो केवल कर्मका चिन्ह "को" मात्र कहीं कहीं लुप्त वा अध्याहार्थ रहता है। आशा है कि कुछ दिनोंमें उत्तम व्याकरणके बन जानेपर इस विषयका भी "इदमित्थं" निश्चय हो जायगा। "को" चिन्हका विषय हिन्दीमें विशेष कठिन, जटिल और विचारणीय है। व्याकरण सम्बन्धकी यथोचित चर्चाका प्रारम्भ होनेपर उसके विषयमें, जो कुछ वक्तव्य है, लिखनेकी इच्छा है।

आत्माराम और द्विवेदीजीके इस झगड़ेमें सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि, आत्माराम सिर काटकर बालोंकी रक्षा

---

* * * चिह्नित स्थानोंके अक्षर बंगवासीकी कतरन फट जानेके कारण नहीं पढ़े जाते।

श्यामसुन्दर द्विवेदी।

करनेका प्रयासी और यथार्थमें व्याकरणका जड़ काटने वाला है। परन्तु द्विवेदीजीकी कहीं कहीं कुछ भूल भी हैं, तथापि व्याकरणको सर्वांग सम्पन्न बननेके मूल सिद्धान्तपर सुदृढ़ हैं। भाषाके हितैषीमात्रका इसलिये ही द्विवेदीजीका पक्ष लेना न्यायानुमोदित है। द्विवेदीजीने यह तो कहीं नहीं लिखा कि मेरे अनुशासन अनुसार व्याकरणकी रचना हो या मैं जो कुछ लिखूं उसे वेद वाक्य ही मानो। बारबार विनय पूर्वक द्विवेदीजी भाषाकी व्याकरण, विषयिणी त्रुटियोंपर हिन्दी हितैषियोंका ध्यान आकर्षण कर प्रार्थना करते आते हैं कि उत्तम सर्वांग सुन्दर व्याकरणका बनना परम आवश्यकीय है और एक ही नियम अनुसार हिन्दीकी लेख-प्रणालीका सुयन्त्रित होना भी प्रार्थनीय है।

परन्तु आत्माराम लोगोंकी आंखोंमें धूल डालकर व्याकरणकी जड़ खोदता है। हिन्दीकी यथार्थ दुर्दशाको चातुरीसे छिपानेका प्रयासी बनता है और प्रान्तीय भेदके छलसे अशुद्धिको पुष्ट करता है। ऐसी अशुद्धि व्याकरणानुमोदित तो त्रिकालमें भी न हो सकेगी। भाषाकी अनस्थिरता शीर्षक आत्मारामके १० वें प्रलापमें द्विवेदीजीकी दिखायी तीनों अशुद्धियोंके समर्थन करनेमें दिल्ली और लखनऊ वालोंका नाम लेकर लिखा है "उठाना चाहिये, लेनी होगी और इकट्ठा करने हैं" का भेद प्रान्तीय है। दिल्ली वाले लिखते हैं (१) लेखनी उठानी चाहिये (२) शिक्षा लेनी चाहिये (३) जड़ी बूटियां इकट्ठी करते थे।"

पुनः—लखनऊ वाले "लिखनी भी आती है" की जगह लिखना भी आती है, कहेंगे। ४ जनवरीके 'अवध पंच"में लिखा है—" पुरगम सदा कुछ ऐसी खफा हुई कि फिर न आई" इत्यादि। जिनको व्याकरणका संस्कार मात्र भी है इतना तो वे भी भली भांति समझते हैं कि सार्थक शब्दोंके पदोंसे वाक्य रचना की जाती है। वाक्यमें पदोंकी परस्पर संगति, आकांक्षा और अनुकूलता अवश्य रहती है। इसका प्रधान नियामक और निर्देशक शास्त्र व्याकरण कहाता है। विशेष्य, विशेषण,

कर्त्ता, कर्म, अधिकरण, क्रिया आदिका परस्पर सम्बन्ध और एकसे एककी आकांक्षा अनुसार ही है। अन्वयसे संगति बैठायी जाती है। इसका व्यतिक्रम कदापि नहीं हो सकता। प्रान्तीय भाषा भेदका बहाना कर ऐसी भारी व्याकरणकी भूलको भी जीती मक्खी सा निगल जाना "भारतमित्रके" अपूर्व विद्वानोंकी वैयाकरणताका ही पूरा परिचायक है कर्त्ता पुलिंग और उसका विशेषण स्त्री लिंग या स्त्री-लिंगका विशेषण पुलिंग अथवा कर्तृवाच्य प्रयोगमें कर्त्ताके अनुसार क्रियाका न होना व्याकरणसे तो सिद्ध नहीं होगा।*

अपूर्ण

---

* श्री काशीनागरी प्रचारिणी सभाके वर्तमान कर्णधारोंने यह लेख-माला स्वाधिकारगत पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदीके संग्रहालयस्थित बंगवासीकी कुतरन (Cuttings) की प्रतिलिपि कराकर प्रेषित करनेकी कृपा की है। अतः उन्हें असंख्य साधुवाद।

श्यामचन्द्र द्विवेदी।

द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके

सभापति

स्वर्गवासी पण्डित गोविन्दनारायणजी मिश्रका

भाषण

—:o:—

द्वितीय

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके

सभापतिका भाषण

य सज्जनो, आप लोगोंने जिस प्रकार मेरा स्वागत किया है उसे देखकर मैं स्तब्ध हो गया हूँ। जिस समय बालिकाओंने वेद-ध्वनिसे मेरा अभिनन्दन किया उस समय मुझे एक पुरानी स्मरण हो आयी। (यहाँ आपने सारस्वत ऋषिके अपनी व्ययन करनेकी आख्यायिका सुनायी)। मुझे मालूम हुआ कि [illegible] है। उस मधुर ध्वनिको सुनकर मैं गद्गद् हो गया। जुलूसके आप लोगोंने जो प्रबन्ध किया उसकी यथार्थ प्रशंसा करनेके लिये मैं [illegible] र्थ मानता हूँ। इन-सब बातोंके साथ ही यहाँ आनेपर मेरे पुराने [illegible]कृष्ण भट्ट और पण्डितवर बदरीनारायण चौधरीने जिन शब्दोंमें मेरा [illegible]या उन्हें सुनकर मैं चकित हो गया। मित्र होकर इन महाशयोंने जिस-[illegible]शंसा की है उससे मुझे बहुत ही संकोच हुआ है। मुझमें योग्यता है; परन्तु योग्यता आपमें है। जिसको चाहें आप लोग योग्य बना मेरा प्राकृत-ज्ञान भी यथेष्ट नहीं है। मेरे मित्रोंने अतिशयोक्ति की है। [illegible] लोगोंकी आज्ञा शिरोधार्य मान मैं आप लोगोंको धन्यवाद देता हूँ।



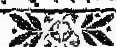
[इसके बाद आपने अपना छपा व्याख्यान पढ़ना प्रारम्भ किया। इसी बीचमें व्याख्यानकी प्रतियाँ बाँट दी गयीं। सभापति महाशयने अपने भाषणका कुछ अंश स्वयं पढ़ा और अवशिष्ट अंश पण्डित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदीजीसे पढ़वाया।]

प्रिय हिन्दीहितैषी विद्वद्‌वृन्द, स्वागतकारिणीके सभापति महोदय, सुयोग्य सभासदो और समुपस्थित सज्जनो! इस परम पवित्र तीर्थराज प्रयागकी प्रसिद्धि, प्रधानता और पृथ्वीतलके सब तीर्थोंकी अधीश्वरताका भी प्रधान कारण, सरस्वतीपिता परिणामदर्शी विश्व-विधाता सुचतुरशिरोमणि चतुर्मुख ब्रह्माका इस परम पुनीत सिता-सित संगमस्थल पर 'प्रकृष्टयाग' करना ही लोकप्रसिद्ध है। आज सौभाग्य-वश उस ही सुप्रसिद्ध तीर्थराजमें, विद्वज्जन-साहित्य-सम्मेलन जिससे इस अनूप जंगम रूपने तीर्थराज प्रयागने मानों प्रत्यक्ष शरीर सजीव दर्शन दे नेत्रोंको कृतार्थ किया। साथ ही 'मातृभाषा' हिन्दी-सरस्वती की निश्छल सेवाच्चर्चना, और उन परम पूजनीय मातृचरणोंपर प्रेम-पुलकित प्रफुल्लमन मनस्वी मर्मज्ञ विबुधोंका सुगन्धित सुमनाञ्जलि प्रदान पूर्वक एकाग्रवृत्तिसे कायिक वाचिक मानसिक आराधनारूप इस 'प्रकृष्ट' सर्वोत्कृष्ट 'याग' के सदनुष्ठानसे आज 'प्रयाग' नामकी अक्षरशः सार्थकता भी निर्विवाद प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है। निस्सन्देह माता पिताके समान पुनीत और सेवनीय परमोत्तम तीर्थ पृथ्वीतलपर दूसरा नहीं है। उनमें भी माकी तुलना तो त्रिलोकीमें किसीसे नहीं हो सकती। पूजनीयोंमें मातृचरणोंका दिव्य सिंहासन सर्वोपरि विराजमान है। "तेभ्यो माता गरीयसी" और "न मातुः परं दैवतम्" आदि हमारे परम पवित्र और प्रभावशाली शास्त्रीय वचन, इस उक्तिकी सत्यता-का ही सिंहनाद दिन रात डंकेकी चोट ऊँचे स्वरसे सुनाते हैं। मातृ-भाषा हिन्दीमें हमारी सबसे प्यारी उस परम पूजनीया माकी सुमधुर सुकोमल पवित्र कण्ठध्वनि अनुक्षण प्रतिध्वनित हो, उस स्नेहमयी जननीकी परमाराध्य, पवित्र, पर परम दुर्लभ प्रेममयी सुन्दर सरल-



मूर्त्ति का प्रत्यक्ष कराती है। इसकी यथाशक्ति सेवा और भक्ति सहित आराधना करना ही हमारा परम कर्त्तव्य धर्म है। इससे विमुखोंकी ही कुपूतोंमें गणना की जाती है। भारतसन्तानोंमें विशेषकर हिन्दी-भाषाभाषी और हिन्दीहितैषियोंमें कोई विरला ही ऐसा मन्दभाग्य होगा कि शक्ति, सामर्थ्य और प्राणोंके रहते इस मातृपूजाके प्रकृष्ट परमोत्तम यागानुष्ठानमें प्रवृत्त होनेको अपना परम सौभाग्य न समझे। मुझे इस सुविख्यात सभाका सभापति मनोनीत कर आज आप लोगोंने सविशेष सम्मानित किया है। जिस स्वागतकारिणी सभाके सभापति स्वाधीनचेता, स्पष्टवादी, दृढ़व्रत, बहुदर्शी, विद्वत्पूज्य, स्वनामधन्य पण्डितवर बालकृष्ण भट्ट हैं तथा जिसके सभासद्मात्र आदर्श पुरुष-रत्न और परमोच्च श्रेणीके पण्डितकुलतिलक विद्वान् हैं, उनकी आज्ञा अगत्या शिरोधार्य करनी ही पड़ी। क्योंकि ऐसे ऐसे सर्वमान्य नामी बहुज्ञ और विशेष प्रतिष्ठित पण्डितवरोंकी आज्ञाका न मानना उन मान्य-वरोंका निरादर करना ही था। अपनी योग्यताका भरोसा न होने पर भी इन सुयोग्य सज्जनोंकी योग्यता और विद्वत्ताका मुझे दृढ़ विश्वास है, इसलिये इनकी आज्ञा शिरोधार्य करता हुआ प्रेमपूर्वक इनके निर्दिष्ट बहुमानास्पद सभापतिके आसनको सादर स्वीकार कर इन महानुभावों-को मैं आन्तरिक धन्यवाद देता हूं।

"हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन" इस सुप्रतिष्ठित नामका पहला शब्द "हिन्दी" है। इस देशमें मुसलमान बादशाहोंका राज्याधिकार होनेके पहले प्राच्य-देश निवासी और विशेष कर पारस्य देशके अधिवासी विदेशियोंमें 'हिन्द' वा 'हिन्दुस्तान' नामसे ही हमारा भारतवर्ष सुपरि-चित था। 'हिन्द' अर्थात् भारतवर्षके निवासियोंको 'हिन्दू' और इस देशकी सबसे प्रधान भाषाको 'हिन्दवी' वा 'हिन्दी' भी इस कारणसे कहते हैं। भारतवर्षकी वर्तमान पश्चिम सीमा सिन्धु नद वा अटक तक मानी जाती है। नदियोंसे भी देशविशेषके नामकी उत्पत्तिक



सम्बन्ध देखनेमें आता है। पञ्चनद प्रदेश, अति प्राचीन पुराणोंमें (पञ्जाबकी) सुप्रसिद्ध पांचों नदियोंके कारणसे ही कहाया। उस नामका ही अनुवाद मुसलमानोंने 'पञ्जाब' शब्दमें पूर्णतया किया है। यह कोई आश्चर्यकी अथवा नयी बात नहीं है कि पारस्य देशनिवासी भारतवर्षके उस सिन्धु नदके नामसे ही इस देशका नामकरण कर बैठे हों। फारसी आदि भाषाओंमें 'स' अक्षरका उच्चारण "ह" होता है। इसलिये सिन्धु नदको "हिन्दू" कहना उन देशवासियोंको स्वाभाविक था। और सिन्धुनदके नामानुसार हिन्दुस्तान नामकरण इस देशका उन विदेशियोंने किया हो तो सम्भव है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिस समय मुसलमानोंने भारतवर्षका नाम हिन्दुस्तान और यहांके निवासियोंका भी 'हिन्दू' रखा था, उस समय तक मुसलमानोंके चरण इस पवित्र भारतभूमिपर नहीं आये थे। ग्रीक आदि अन्य भाषा-भाषियोंने भी इनके ही अनुकरणपर सिन्धुको "इण्डुस" कहा और सम्भव है कि उच्चारणभेद और इस अनुकरणके अनुसार ही विलायतकी सर्वप्रधान लेटिन भाषातकमें भारतवर्षका नाम "इण्डिया" कहा गया।

फारसी भाषामें "हिन्दू" शब्दका अर्थ काले रङ्गका वाचक है, इसलिये ही हिन्दूकुश नामके पहाड़को हिन्दूकोह अर्थात् काला पर्वत कहते हैं। पहले अफ्रिकाके रहनेवाले काफिरोंको मुसलमानोंने गुलाम खरीदना आरम्भ किया था। इन काफिरों वा हवशियोंसे बढ़कर काला रङ्ग पृथिवी पर दूसरी किसी जातिके मनुष्यका भी नहीं है। इस निमित्त ही इन काले कलूटे गुलामोंका नाम ही फारसी भाषामें 'हिन्दू' पड़ा। समयके फेरसे सबसे पहला हिन्दुस्तानका बादशाह कुतुबुद्दीन भी गुलाम वंशका ही यहां भेजा गया। इसलिये भी सम्भव है कि अधिकांश सिन्धु प्रदेशनिवासियोंका काला रंग और विशेषकर गुलाम बादशाहकी अधीन प्रजा होनेके कारण, उस समयके विजयी मुसलमानोंने इस देशका घृणापूर्वक 'हिन्दुस्तान' और यहांके निवासी गुलाम बाद-



शाहकी अधीन प्रजाका भी गुलाम वा 'हिन्दू' नामकरण किया हो। इसमें सन्देह नहीं कि पारसी भाषामें गुलाम वा काले रंगके अर्थमें प्रयुक्त होनेके सिवा, 'हिन्दू' शब्दका गौरववाचक अर्थसे सम्बन्धमात्र नहीं है। इधर प्राचीन शास्त्रोंमें वेद या मनु आदि स्मृति, पुराण, उप-पुराण आदि ग्रन्थोंमें उक्त "हिन्दू" शब्दका कहीं भी नामोल्लेख नहीं दिखता। केवल मेरुतन्त्रमें कुछ वचन ऐसे देखनेमें आते हैं कि जिनमें व्युत्पत्ति सहित 'हिन्दू' शब्द प्रयुक्त है। यहां मेरुतन्त्रसे उद्धृत कर उन वचनोंका दिखाना अनुचित न होगा।

"पश्चिमाम्नाय मन्त्रास्तु प्रोक्ताः पारस्य भाषया।
अष्टोत्तरशताशीतर्येषां संसाधनात्कलौ॥
पञ्चखाना सप्तमीराः नवसाहा महाबलाः।
हिन्दूधर्म्म प्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः॥
हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।
पूर्वाम्नाये नवशतं षडशीति प्रकीर्तिता॥
फिरंगभाषया मन्त्रा येषां संसाधनात्कलौ।
अधिपा मण्डलानाञ्च संग्रामेष्वपराजिताः॥
इंगरेजा नवषट्पञ्च लण्डजाश्चापि भाविनः।

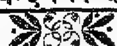
इसमें हीन अर्थात् निकृष्ट आचार व्यवहारको दूषित करनेवाले ही हिंन्दू नामसे अभिहित किये गये हैं, और हिन्दू शब्दकी वैसी व्युत्पत्ति ही इन वचनोंमें प्रत्यक्ष है। मेरुतन्त्रमें जहां भविष्यकी उक्ति है, उस प्रसङ्गके ही ये वचन हैं। तन्त्र और पुराणोंमें हमारे त्रिकालदर्शी पूज्य-पाद ऋषियोंने होनहार सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा है और इस समय उनकी भविष्य उक्तियोंका मिलान भी पूरा पूरा होता दिख रहा है। इसलिये ऐसी भविष्योक्तियोंको देख उन ग्रन्थोंको आधुनिक मनाना तो किसी प्रकारसे भी युक्तियुक्त और ठीक नहीं है। परन्तु इसके साथ



कहीं चतुरतापूर्वक स्वरचित प्रक्षिप्तांशके मिलानेमें भी त्रुटि नहीं की है। प्रायशः रचनाकी शैलीपर विचार करनेसे वैसी धूर्त्तताका सटीक पता लगा लेना विद्वानोंके लिये कठिन नहीं है। विशेषकर मेरुतन्त्रके इन उद्धृत वचनोंमें पारस्य भाषा और फिरङ्ग भाषाके जिन मन्त्रोंका कथन है, उन दोनों भाषाओंके अभिज्ञ पण्डितोंसे पूछनेपर भी प्रथम तो उनका कहीं पता नहीं लगता, दूसरे इन श्लोकोंकी रचना भी स्पष्ट रूपसे कह रही है कि किसी आधुनिक सुचतुर वङ्गदेशीय संस्कृतज्ञ पण्डित-की ही यह करतूत है। इसके शब्दविन्यासमात्रपर ध्यान देनेसे ही प्रमाणान्तरकी आवश्यकता नहीं रहती। किसी प्रामाणिक ग्रन्थमें भी मेरुतन्त्रके वचनोंको उद्धृत नहीं किया है। इन बातोंको देखकर कहना पड़ता है कि 'हिन्दू' नाम पुराना होता तो श्रुति स्मृति पुराणादि प्रामा-णिक ग्रन्थोंमें उसका प्रयोग भी देखनेमें अवश्य आता ; परन्तु हमारे श्रुति स्मृति पुराणादि परम प्राचीन सनातनमान्य प्रामाणिक ग्रन्थोंमें कहीं 'हिन्दू' शब्दका प्रयोग नहीं हैं। यहां तक कि मुसलमान बादशाहों के राज्याधिकारके अनन्तर जो ग्रन्थ रचे गये उनमें भी उक्त शब्दका प्रयोग विरला ही देखनेमें आता है। यद्यपि हिन्दू शब्दका प्रयोग वर्णा-श्रमधर्मावलम्बी भारतवर्षनिवासियोंके लिये उस समय होने लगा था सही, परन्तु सुस्पष्ट रूपसे देशभाषाके लिये 'हिन्दी' शब्दका प्रचार तो तब तक भी नहीं होने पाया था। केवल 'भाषा' शब्दका ही विशेष चलन था। यहां तक कि गुसाईं तुलसीदासजीने भी 'भाषा निबन्धमति मंजुलमातनोति' और 'जेप्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन हरि चरित बखाने।" आदि छन्दोंमें 'भाषा' और 'प्राकृत' शब्दोंका ही प्रयोग किया, 'हिन्दी' या हिन्दी भाषाका नहीं। 'हिन्दूपति' 'हिन्दूसूर्य्य' आदि गौरवान्वित उपाधियोंमें सनातन वेदमूलक धर्मकर्मके पालनेवाली भार-तीय प्रजाके धर्मरक्षक और समाजकी मर्य्यादाके स्थापक उदयपुरके प्रतापी राजकुलका वर्णाश्रम-धर्म-पालन-व्रत और वीरत्व पूरी रीतिसे

प्रकाशित किया जाता था। भारतीय प्रजाने हिन्दू शब्दका दास वा काले रंगवाला घृणार्ह फारसी भाषाका अर्थ कभी नहीं स्वीकार किया था। उधर अग्निउपासक पारसियोंकी अति पुरानी धर्मपुस्तक 'वास्ता'-में भी 'सप्तसिन्धु' प्रदेशको 'हफ्तहिन्दू' ही लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्षमें इस 'हिन्दू' शब्दका प्रचलन मुसलमान बादशाहोंके राज्यके समयसे होनेपर भी यह शब्द आधुनिक नहीं, विशेष पुराना है। आदिमअर्थ भी इसका देशवाचक ही था, और सकार हकारके परिवर्त्तनसे ही इस हिन्दु शब्दकी उत्पत्ति भी उन विदेशीय भाषाओंमें सबसे पहले हुई थी। एक भाषामें विशेष चलित शब्दका किसी दूसरी भाषा-में भी क्रमसे प्रचलित हो जाना, अथवा अर्थ बदल कर दूसरे ही अर्थमें प्रयुक्त होना स्वाभाविक है।

परन्तु शब्दशास्त्रका विचार बड़ा ही सुकठिन, गहन और जटिल है। आज पृथ्वीके अनेकों सुसभ्य देशोंमें इस विचारकी विशेष धूम 'फाइलालोजी' आदि विविध नये प्रसंगोंसे होती है; परन्तु इस विद्याकी जैसी उन्नति हमारे प्रातःस्मरणीय भारतीय विद्वानोंने अति प्राचीन कालसे ही की है, उसकी तुलनामें संसारकी ऐसी एक भी भाषा नहीं दिखती कि जो भारतीय ऋषियोंकी प्यारी संस्कृत भाषाकी किसी अंश-में भी बराबरी कर सके। हमारे श्रद्धेय मीमांसक, निरुक्तकार और वैयाकरणोंने आजसे सहस्रों वर्ष पहले ही विचारपूर्वक इन गंभीर विषयों-की ऐसी सुन्दर मीमांसा अपने अपने शास्त्रीय अधिकारानुसार, तर्कमें प्रवृत्त होकर की थी कि उनकी उस परमोत्तम तर्कशैली और मीमांसा-को देखकर आजके सभ्यताभिमानी पण्डितकुलतिलकोंको दाँतों उँगली काटनी पड़ती है। जिस समय अविद्याके घोर अंधकारमें पड़े अन्य देशवासी, पशुओं जैसी जंगली दशामें अपना असभ्य जीवन अतिवाहित करनेके सिवा स्वप्नमें भी इनविषयोंका ध्यान नहीं कर सकते थे, उस समय भी भारतवर्षमें उंची श्रेणीके दार्शनिक और व्याकरण



शास्त्रके जटिलसे जटिल विषयोंकी, अनुपम योग्यता पूर्वक मीमांसा करनेवाले महर्षियोंकी गिनती कुछ कम नहीं थी । वैयाकरणकेसरी महर्षि पाणिनिका समय, अङ्गरेज पुरातत्वान्वेषी सुपण्डितोंकी विचार-शैलीके अनुसारभी प्रायः आजसे अनुमान तीन सहस्र वर्ष पहलेका ठहरता है ; परन्तु महर्षि पाणिनिसे भी सहस्त्रों वर्ष पहले इन्द्र, चन्द्र, काशकृष्णा, आपिशाली, भरद्वाज, भागुरी, औपमन्यव, गालव, शाकल्य शाकटायन प्राचीननिरुक्ताचार्य गार्ग्य, जैमिनी, यास्क, आदि महर्षि शब्दशास्त्रके एकसे एक चढ़ बढ़ कर विद्वान इस पुण्यभूमि भारतमें अवतीर्ण हो चुके हैं। केवल व्याकरणकी व्युत्पत्तिमात्रसे ही शब्दार्थका नित्य और अनन्य सम्बन्ध नहीं है। क्रमसे शब्दोंका अर्थ, रूपान्तरधारणकर अपनी व्यापकताको बढ़ाता कहांसे कहां पहुंच जाता है। इसका यथार्थ ज्ञान इन नीचेके लिखे उदाहरणोंके भली भांति विचारनेके बिना सब लोगोंको नहीं हो सकेगा। साथही इस देशके अति पुराने शब्द-शास्त्रवेत्ता विद्वानोंकी विचारशक्ति, अभिज्ञता और तर्कशैलीका परिचय भी अभिनव पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए हिन्दीहितैषियोंको इस समय स्थूलरूपसे करादेना परम प्रयोजनीय है।

स्मृति और पुराणादि संस्कृत ग्रन्थोंमें एक शब्द पञ्चाम्र आता है। जैसे "पञ्चाम्र रोपी नरकन्नयाति।" पञ्चाम्रका बोनेवाला नरक नहीं भोगता। व्याकरणकी व्युत्पत्तिके अनुसार इस पञ्चाम्र शब्दका अर्थ आमके पांच वृक्ष ही माना जायगा ; परन्तु यथार्थमें आमके पेड़का सम्बन्धमात्र इस शब्दसे नहीं है। बड़, पीपल, नीम, अनार और जाति पुष्पके इन पांच वृक्षोंको शास्त्रोक्त विधिसे एकत्र बोते हैं। इस विधिसे उक्त पांचों वृक्ष एक साथ बोये जानेपर पञ्चाम्र कहाते हैं। इनमें आम्र वृक्ष लवलेशमात्र न होनेपर भी नाम इनका पञ्चाम्र ही प्रसिद्ध है। व्याकरणकी व्युत्पत्तिसे उक्त अर्थकी सङ्गति नहीं बैठ सकती। इस पर उपस्थित सूक्ष्मदर्शी विद्वान यह आपत्ति खड़ी कर



सकते हैं कि "जिस समय पाणिनीय व्याकरण बना था उस समय, इस अर्थमें पञ्चाम् शब्दका अर्थ नहीं होता था, पीछेसे आधुनिक पुराण ग्रन्थोंमें इस अर्थमें इस नवीन शब्दकी प्रवृत्ति हुई है। इसलियेही महर्षि पाणिनि ने इस अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाली व्युत्पत्ति नहीं की।" यद्यपि इस आपत्तिका खण्डन हो सकता है परन्तु वैसा न कर, यहां इस आपत्तिको मानने पर भी दूसरे उदाहरणसे सहजमें प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। अच्छा, 'षोड़सी' शब्दको ही लीजिये। व्याकरणानुसार सोलह संख्याकी पूर्ति जिसमें हो वह ही इस शब्दका अर्थ है; परन्तु सुरसिककवि, बालास्त्रीकी मनलुभावनी हियहुलसावनी सुन्दरसलोनी छबिकी अनोखीछटाका मानसप्रत्यक्ष इस शब्दके श्रवणमात्रसे करेंगे। साथही कर्मकाण्डी ब्राह्मणोंको इस शब्दसे पिण्डदानका विधान ही प्रत्यक्ष होने लगेगा। उधर वैदिक कर्म्मठ, श्रौतयोगमें प्रत्युक्त सोमरसके पात्र विशेषकी ही प्रत्यक्ष मूर्ति इस शब्दमें देखकर पुलकित होंगे। यहां ऊपरकी कही आपत्ति भी नहीं आड़े आ सकेगी; क्योंकि पाणिनिके समयके भी सहस्रों वर्ष पहले यज्ञोंका विधान इस देशमें पूर्ण रूपसे प्रचलित था। महर्षि पाणिनिको अपनी बाल्यावस्थासे ही भलीभांति सुपरिचित यजुर्वेदीय "अतिरात्रे षोड़शींगृह्णाति नातिरात्रे षोड़शीं गृह्णाति" इत्यादिकी पुनः पुनः आवृत्ति अनेकों बेर अवश्य नित्य करनी ही पड़ी थी। सुतरां, इस 'षोड़शी' शब्दको पाणिनिका अपरिचित वा 'यज्ञपात्र' अर्थमें उनके पीछे प्रयुक्त कहनेका अधिकार तो किसीको नहीं प्राप्त हो सकता है। यहां स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक पाणिनि क्या किसी वैयाकरणके किये भी इस शब्दकी व्युत्पत्तिमात्रसे यज्ञपात्रके समीचीन अर्थका ही बोध कभी न हो सकेगा। इसलिये मानना पड़ेगा कि शब्द व्युत्पत्तिके अनुसार ही सब वस्तुओंका नामकरण नहीं किया गया है। पूर्वाचार्य्योंका भी इसमें मतभेद है और सर्व्ववादीसम्मत-सिद्धान्त भी यह नहीं है। व्युत्पत्तिसे आंशिक नाममात्रका सम्बन्



होने पर भी नामकी प्रवृत्ति होती दिखती है। कहीं कहीं तो व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ का सर्वथा त्याग भी हुआ और होता है। क्रमसे भली भांति इस विषयको समझानेके लिये यहां यह मूलविषय लिखना अनुचित न होगा कि—नैयायिक आचार्यों ने भी यौगिक, रूढ़, योगरूढ़, रूढ़यौगिक अथवा यौगिक रूढ़ चार ही प्रकारके नाम मुख्य माने हैं। इनके सिवाय एक प्रकारका नाम लक्षक भी कहाता है। शब्दका व्युत्पत्तिलभ्यअर्थ या अवयवार्थ अर्थात् प्रकृति और प्रत्ययके अर्थानुसार रखा जाता है उसे यौगिक कहते हैं। जैसे पाचक वा रसोइया इत्यादि। संस्कृतमें पच् धातु और ल्युण्, वुण् या अकन् प्रत्ययसे पाचक शब्द सिद्ध हुआ है। यहां पच् धातुका अर्थ पाक और उक्त प्रत्ययका अर्थ करने-वाला है। इससे पाचक शब्दका व्युत्पत्तिलभ्यअर्थ है पाककरनेवाला। संसारमें पाचक शब्दकी प्रवृत्ति उक्त व्युत्पत्तिके अर्थानुसार हुई है। इसलिये ही पाककर्त्ताका पाचक नाम यौगिक है। संकेतवाले नाम ही रूढ़ हैं। प्रकृति और प्रत्ययके अर्थ से जिस नामको प्रवृत्ति नहीं होती, समुदायके अर्थ से प्रवृत्ति होती है, उसे संकेतयुक्त या रूढ़ शब्द कहते हैं। जैसे गो शब्द सं० गम् धातु और डोस् प्रत्ययसे बनता है। गम् धातुका अर्थ चाल वा गमन है और डोस् प्रत्ययका अर्थ है उस कार्य का कर्त्ता। 'गो' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्यअर्थ हुआ चलनेवाला। परन्तु इस अर्थ से ही गो नामकी प्रवृत्ति हुई नहीं दिखती है। क्योंकि इस अर्थ से गो संज्ञाकी प्रवृत्ति हुई होती तो गमनशील मनुष्य वा अन्य जीवोंमें भी गो शब्दकी चरितार्थता किसके रोके रुक सकती ? साथही शयनावस्थामें वा बैठ जानेपर गमन क्रियाके अभावसे इस नामसे ही प्रसिद्ध गौ पशुमें भी गो शब्दका प्रयोग सर्वथा अशुद्ध ही होता।

ऊपरके दिखाये इन दोनों प्रकारके दोषोंको शास्त्रोंमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति शब्दका अर्थ है सम्बन्ध। अति-व्याप्ति अतिशय अथवा अतिरिक्त सम्बन्ध। सम्बन्धयोग्यस्थलका

उलङ्घनकर अर्थात् जिससे सम्बन्ध होना उचित था उसके सिवाय अन्यके साथ सम्बन्ध होनेसे ही अतिव्याप्ति हो जाती है। यहाँ सम्बन्धयोग्यके उलङ्घन वा अतिक्रमसे ऐसा न समझना चाहिये कि उससे सर्वथा सम्बन्ध ही छूट जाता हो; प्रयोजन यह है कि सम्बन्ध योग्यस्थलसे सम्बन्ध बना रहनेपर भी सम्बन्ध न होने योग्यस्थलसे अन्यत्र सम्बन्ध होते ही अतिव्याप्ति दोष आ चिमटता है। उक्त उदाहरणमें चलनेवाली गौमें व्युत्पत्ति अनुसार गो शब्दकी प्रवृत्ति होनेमें अड़क नहीं पड़ती है, परन्तु गमनशील मनुष्यादि अन्य जीवोंमें भी उक्त व्युत्पत्ति अनुसार तो बिना रोक-टोकके गो शब्दका प्रयोग किया जा सकता है। गतिशील मनुष्यादि गो शब्दके वाचक और योग्यस्थल नहीं हैं। ऐसे अयोग्यस्थलोंमें भी सम्बन्ध होनेसे अतिव्याप्ति दोष लगा। सम्बन्ध न रहनेको ही अव्याप्ति कहते हैं, परन्तु किसी अर्थसे भी सम्बन्ध शब्दका न रहना असम्भव है। इसलिये जहाँ सम्बन्ध रहना चाहिये वहाँ न रहनेसे ही असम्बन्ध वा सम्बन्ध का अभाव समझना होगा। सोने, लेटने और बैठनेपर 'गो' शब्द-का व्युत्पत्तिसिद्धअर्थ, गो पशुमें यद्यपि किसी प्रकारसे भी चरितार्थ नहीं होता तथापि गो पशु उस अवस्था में भी गो पशु ही है, इसमें सन्देह नहीं। सोने और बैठनेकी अवस्थामें भी गो शब्दकी गमन-शीलता, अर्थात् व्युत्पत्तिवाले अर्थकी सङ्गति ठीक ठीक बैठ सकती तो दोष स्पर्श नहीं करता, परन्तु उस अवस्थामें व्युत्पत्तिके अर्थ-की चरितार्थता 'गो' शब्दमें नहीं दिखती, अर्थात् अर्थका सम्बन्ध उस समय गो शब्दसे नहीं स्थिर रह सकता। इसलिये यहाँ अव्याप्ति दोष अपरिहार्य्य हो जाता है। गो शब्दको यौगिक माननेसे अति-व्याप्ति और अव्याप्ति दोनों प्रकारके दोषोंसे पीछा छुड़ाना असम्भव है, इसलिये गो शब्द को यौगिक न समझ कर रूढ़ ही माना है।

परन्तु यहाँ इस आपत्तिका दरसाना सर्वथा असङ्गत न होगा


कि जब पाचकको इसलिये ही पाचक कहना बन सकता है कि पाक करनेकी योग्यता उसमें पाक न करनेके समय भी वर्तमान रहती है, तो फिर सोने या बैठनेकी दशामें भी चलने फिरनेकी योग्यता गो पशुमें अवश्य वर्त्तमान माननी पड़ेगी। इसलिये गो शब्दको यौगिक मान लेने पर भी अव्याप्ति दोष नहीं लगेगा। इसके उत्तरमें इतना कहना ही बहुत होगा कि उक्त रीतिसे जैसे तैसे अव्याप्तिसे गला छुड़ानेकी चेष्टा करने पर भी अतिव्याप्ति-दोषका परिहार किसी प्रकारसे भी नहीं हो सकता, इसलिये गो शब्दको अवश्य ही रूढ़ मानना पड़ेगा।

जिस अर्थके अनुसार शब्दकी व्युत्पत्तिका रूप बनता है, या शब्दकी व्युत्पत्तिके सहारे जिस अर्थकी प्राप्ति होती है, उसे व्युत्पत्ति-निमित्त, और जिस अर्थके अनुसार शब्दकी प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोग होता है वा हुआ है, उसे प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं। गम् धातु और डोस् प्रत्ययके अवयवार्थसे गो शब्दकी प्रवृत्ति कभी नहीं हुई थी, यह तो केवल व्युत्पत्ति निमित्तमात्र है। गो जाति वा गोत्वजाति विशिष्टमें गो शब्दका प्रयोग होता है, इसलिये उस अर्थमें ही गो शब्दका संकेत स्वीकार करना पड़ता है—वह संकेत गम् धातु और डोस् प्रत्ययगत नहीं है, इससे गो शब्द रूढ़ है। परन्तु पाचक वा रसोइया शब्द रूढ़ नहीं, यौगिक ही है ; क्योंकि पाचक इस वर्ण समुदायका किसी अर्थ विशेषमें संकेत नहीं है। केवल अवयव संकेत अर्थात् पच् धातु और वुण् प्रत्ययके अर्थसे ही पाककर्ता अर्थकी जानकारी होती है। समुदायके संकेत स्वीकार करनेका कोई कारण नहीं दिखता। इसलिये ही 'पाचक' शब्दको यौगिक मानते हैं। यथार्थमें यह शब्द रूढ़ नहीं है।

उक्त संकेत भी दो प्रकारके हैं। आधुनिक और सनातन। जो संकेत अनादि कालसे चला आ रहा है, वह नित्य और सनातन है, परन्तु जो



उसे आधुनिक कहते हैं। अनादि कालसे प्रयुक्त सनातन संकेतका ही दूसरा नाम शक्ति और आधुनिकका परिभाषा है। सनातनी संकेत वा शक्ति अनुसार जो शब्द जिस अर्थका वाचक है, अनादि कालसे उस शब्दका उस अर्थमें ही प्रयोग भी चला आ रहा है। परन्तु आधुनिक संकेत वा परिभाषासे शब्दका जो अर्थ उत्पन्न होता है, उस अर्थमें उस शब्दका अनादि कालसे प्रयोग न तो होता ही है और न कभी हो ही सकता है ; क्योंकि आधुनिक संकेत वा परिभाषा व्यक्तिविशेषकी इच्छा और कल्पनासे ही प्रचलित हुई है। इसलिये परिभाषाकी सृष्टि होनेके पहिले पारिभाषिक अर्थका परिज्ञान, प्रचलन अथवा अर्थबोध सर्वथा असम्भव था।

योगरूढ़ शब्दका अवयवार्थ और समुदायार्थ आपसमें समन्वित होता है। पंकज वा मोहनभोग शब्दका अवयवार्थ पंकमें उत्पन्न तथा मोहन अर्थात् श्रीकृष्णका भोग्य होनेपर भी पङ्कमें उत्पन्न कुमोदनी वा दूसरे किसी फूलका तथा श्रीकृष्णजीके आहारीय मोदक आदि अन्य पदार्थोंका बोध नहीं करता, केवल कमल और हलवेका ही वाचक है। इसलिये स्पष्ट है कि अवयवार्थ और समुदायार्थ इन दोनोंका मेल योग रूढ़ शब्दोंमें वर्तमान रहता है। न्यायाचार्य्योंका ही यह मत है परन्तु मीमांसकोंका इसमें मतभेद है। पर रूढ़ यौगिकके अवयवार्थसे समुदायार्थका मेल कभी नहीं होता।

सच पूछो तो रूढ़ शब्दकी व्युत्पत्ति अनावश्यक है यह कहना ही अनुचित है। वेदोंमें भी रूढ़ शब्दकी व्युत्पत्ति दिखायी गयी है। घृतका एक सर्पि नाम भी है। यह सर्पि नाम घीका रूढ़ है। तथापि वेदमें गमनार्थ सृप् धातुसे इसकी व्युत्पत्ति की गयी। घी पिघल कर ही अग्निमें होमा जाता है, घी का स्वभाव ही सर्पित क्षरित वा पिघलकर फैल जानेका दिखता है। इसलिये रूढ़ सर्पित शब्दकी व्युत्पत्तिका सम्बन्ध गमनार्थक सृप् धातुसे यथार्थ ही है। धातुप्रत्यय योगसे



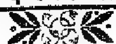
रूढ़ शब्दोंकी व्युत्पत्तिके सैकड़ों उदाहरण वेदसे प्रारम्भ कर सब व्याकरणोंके उणादि प्रकरणोंतक भरे हुए हैं। इसलिये "सब नाम धातुज हैं; शाकटायनका यह सिद्धान्त वेदसम्मत, व्याकरणानुसारी, अभ्रान्त, आदरणीय और सर्वथा समीचीन है।

निरुक्ताचार्य्य यास्क ऋषिने शब्द निर्वाचनके जो नियम बनाये हैं, तथा पूर्वाचार्य्योंने भी अपार शब्दरत्नाकर मन्थन कर जिन दुर्लभ अनमोल रत्नोंका उद्धार किया है, उनके दर्शन और मनन किये बिना शब्दशास्त्रका सम्यक् विचार हो ही नहीं सकता। विद्वानोंके आगे उनका पुनरुल्लेख, वाचालताप्रदर्शनमात्र है; परन्तु प्रसङ्गवश इतना समय इस चर्चाके निमित्त अगत्या लेना ही पड़ा। आशा है कि सुविवेचक अपनी उदारता और विषय-गौरवका विवेचनकर क्षमा ही करेंगे। शब्दकी शक्ति वा सनातन सम्बन्धका विचार करनेके साथ ही यह उत्तम रीतिसे विचारणीय है कि जिस मूल अर्थके सम्बन्धसे नामकी सृष्टि होती है, कालान्तरमें उस मूल अर्थसे विशेष अन्तर भी पड़ने लगता है और उत्तरोत्तर उस शब्दकी व्यापकशक्ति अपना अधिकार बढ़ाती है। 'उदार' शब्दके मूल अर्थपर ध्यान देनेसे सहजमें इसको सब लोग समझ सकते है। 'आर' शब्दका अर्थ है कोड़ेका प्रान्त वा अग्रभाग। सारथी वा हाँकनेवालेके हाथके उत्तोलित कोड़ेका प्रान्तभाग शरीरको स्पर्श भी न करने पावे, और पहिलेसे ही जो सुशील घोड़े, रथ वा बहल हाँकनेवालेके अभिप्रायानुसार चलने लगते हैं उनका ही नाम 'उदार' है। क्योंकि 'आर' अर्थात् कोड़े वा चाबुकका प्रान्त उत्तोलित होकर भी पीठको छू नहीं पाता और इतनेमें ही सारथीका अभिप्राय समझ तदनुसार चलनेवाले घोड़े आदि पशु ही 'उदार' शब्दके सहज अर्थयुक्त माने गये, परन्तु मानसिक अभिप्राय समझकर काम करनेके इस अर्थके सामान्य सादृश्यसे ही जो दाता बिना प्रार्थनाके प्रार्थी वा याचकका अभिप्राय आपसे समझकर माँगनेके



पहिले ही अभीष्ट वस्तु देता है, उसे भी उदार कहते हैं। निरुक्त ग्रन्थोंमें प्रवीण आदि ऐसे अनेकों उदाहरण हैं। अब यह तो निस्सन्दिग्ध रूपसे भलीभाँति सिद्ध हुआ कि रूढ़ शब्दोंकी भी अर्थानुसार व्युत्पत्ति वेद और व्याकरणादि शास्त्रसम्मत है और अर्थकी प्रवृत्तिशब्दोंके स्वभावानुकूल विचित्र शक्तिवाली होती है। इसलिये एक अंशमात्रका योग वा सम्बन्ध एक ही नामको विविध अर्थान्तरोंमें अनेकों वस्तुओंका वाचक बनानेमें समर्थ है। शब्दकी स्वाभाविक शक्तिपर बलप्रयोग करनेकी सामर्थ्य किसीकी नहीं है, इत्यादि इत्यादि।

'हिन्दू' शब्दकी उत्पत्ति, सिन्धुनद प्रान्तवर्ती महाप्रदेश वा भारत वर्षके नामकरण सम्बन्धमें यद्यपि नदीके नामसे ही स और ह अक्षरके परिवर्त्तनसे हुई और यह शब्द भी बहुत दिनों पहिलेसे विदेशीय भाषाओंमें ही प्रचलित था, विशेषकर फारसी भाषामें इसका अर्थ भी कृष्णवर्ण वा क्रीतदास वाचक ही दिखता है, तथापि इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इधर सैकड़ों वर्षोंसे इसका चलन भारतवर्षमें होगया है, और जिस अर्थमें फारसी भाषामें यह शब्द व्यवहृत है उस अर्थसे तिलमात्र सम्बन्ध भी इस समय इसका हमारी भाषामें नहीं है। भारतवर्षवासी गौरवके साथ अपने परमपवित्र धर्मको "हिन्दूधर्म" और उसके माननेवाले भारतीयजन समुदायको भी धर्म सम्बन्धसे परमगौरवान्वित 'हिन्दू' नामसे ही साभिमान परिचित कराते हैं। एक ही शब्द भिन्न भाषाओंमें भिन्न भिन्न अर्थोंका बोधक होता है। दूर देशोंमें तो इस अन्तरका ऐसा विशेष आधिक्य होना सम्भव है कि जिसकी कल्पना भी साधारण मनुष्योंसे नहीं की जा सकेगी। परन्तु उदाहरण स्वरूप भारतकी ही प्रचलित भाषाओंमें अनेकों शब्द ऐसे प्रचलित हैं, जिनके अर्थ परस्पर विशेष विभिन्नता दरसानेके साथ ही अचम्भमें डाल देते हैं। बङ्गभाषामें छातेको विशेष कर "छाती" ही कहते हैं। पश्चिमोत्तर प्रांतके मनुष्य बङ्गालियोंके इस



"छाती" शब्दसे कभी छातेका अर्थ नहीं समझ सकते, प्रत्युत् सीने और स्तनोंके अर्थका ही ज्ञान उनको होता है। वैसे ही भारतकी बहुतसी भाषाओंमें 'बाल' शब्द केशोंका वाचक होनेपर भी बङ्गालियोंके सामने बङ्गभाषासे अपरिचित मनुष्यके मुखसे इस शब्दके निकलते ही घृणा, हास्य और विचित्र कौतुक आ उपस्थित होते हैं। जब एक ही मूलसे उत्पन्न भाषाओंकी ऐसी दशा एक शब्दके भिन्न अर्थोंके कारण प्रत्यक्ष होती है, तब भिन्न मूलसे जिन भाषाओंकी उत्पत्ति हुई है, उनमें स्वरूपसादृश्य होनेपर भी किसी शब्दका अर्थ सम्पूर्ण विपरीत दृष्टिगोचर हो तो, यह आश्चर्यका विषय नहीं है। जिस भाषाके प्रचलित शब्दका विचार जिस समय किया जाता है, उस समय उस भाषाके ही अर्थ सम्बन्धसे उस शब्दका विचार भी होता है और यह रीति सनातनसे शिष्टानुमोदित और अभ्रान्त मानी जाती है। हिन्दीमें प्रचलित शब्दका विचार करनेके समय उस शब्दका जो अर्थ हिन्दी भाषामें प्रचलित है, उसपर पूरी दृष्टि रखकर ही विचारना उचित है। यह नहीं कि, हिन्दीके प्रचलित शब्दका विचार करनेके समय हम अन्य देशकी भाषाओंमें उस शब्दका क्या अर्थ था वा है, इस झूठे पचड़ेको निकाल बैठें और वृथा समय नष्ट करें। हां, ऐसे शब्द भी हमारी हिन्दीमें प्रचलित हैं सही, जिनका फारसी भाषाका प्रचलित अर्थ भी स्थलविशेषमें हमको मानना पड़ता है। परन्तु उसके साथ ही यह बात भी देखनेमें आती है कि हमारी हिन्दीके शब्दोंमें भी उस विदेशी भाषाके अर्थकी सत्ता और स्थिति कहीं कहीं वर्त्तमान दिखती है और काव्य तथा वार्त्तिकमें उनके प्रयोग भी प्रचलित देखनेमें आते हैं। 'नीम' शब्द इसका सबसे उत्तम उदाहरण है। हिन्दीमें निम्बके वृक्षको नीम कहते हैं; परन्तु मुसलमान और यवनोंके संसर्गसे 'आधे'के अर्थमें भी 'नीम' शब्दका प्रयोग होता है। हिन्दीकी पहेलियोंमें भी इसका परिचय मिलता है। एक पुरानी पहेली है, 'एक तरुवर अरु आधो नाम। अर्थ करो या छोड़ो



गाम ॥' इसमें नीम शब्दके उक्त दोनों ही अर्थ सन्निविष्ट हैं। केवल हिन्दी में ही नहीं, इस विदेशी शब्द ने "नेम" रूपसे संस्कृत भाषा में भी आधे, अर्थकी वाचकतासे अपना अधिकार जमा लिया है। पिक, तामरस और सत आदि शब्द संस्कृतमें आर्य्य व्यवहार-प्रसिद्ध अर्थके अभावसे म्लेच्छ भाषाके प्रसिद्ध अर्थानुसार ही क्रमसे कोकिल, कमल और सौ छेदोंवाले लकड़ीके गोल पात्रके अर्थ ही देते है। परन्तु पिकादि शब्दोंका म्लेच्छ भाषा-प्रसिद्ध अर्थ लिया गया है। इसलियेकोई ऐसा न समझे कि वे शब्द आधुनिक हैं वा म्लेच्छ भाषासे ही लिये गये हैं; क्योंकि यदि शब्द मनुष्यके ही बनाये होते तो उस अवस्थामें ऐसी शङ्काका करना भी ठीक होता; परन्तु शब्दोंकी वास्तविक अवस्था यथार्थमें वैसी नहीं है। मीमांसा-दर्शनके मतसे शब्द राशिका बनानेवाला कोई मनुष्य वा अन्य जीवविशेष नहीं है। यथार्थमें शब्द नित्य है; मनुष्य केवल उनको समय समय पर प्रकाशित कर वर्त्तेमर हैं। मीमांसा दर्शनमें शब्दोंकी नित्यता प्रबल युक्तियोंसे समर्थित हुई है। जब शब्दोंका नित्य होना हमारे परम माननीय मीमांसक आर्य ऋषियोंका सबसे प्राचीन और समीचीन सिद्धान्त है, तब भाषान्तरसे शब्दग्रहणकी आशङ्काका तो सम्भव ही नहीं हो सकता है। विशेष इस समय 'फोनोग्राफ' यन्त्रने शब्दकी उक्त नित्यताको प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया है। इसलिये जल, वायु और अग्नि आदिके समान नित्य शब्द भी सर्वसाधारणकी यथेच्छ वर्त्तने-योग्य साधारण सम्पत्ति हैं। जाति विशेषमें शब्द विशेषके प्रयोग करने-की विरलता, अधिकाई वा अभाव उन उन जातियोंकी परिवर्त्तित अव-स्था और वाक्य-यन्त्रकी योग्यताके अनुसार ही सङ्गठित हुआ करते हैं। जिस अर्थ में जिस जातिमें शब्दका बहुत प्रचार और व्यवहार है, उस जातिके लिये उस शब्दका वह अर्थ ही प्रसिद्ध माना जाता है और



दूसरी जातियोंके लिये अप्रसिद्ध, प्रभेद केवल इतना ही है। व्यवहार-बाहुल्य ही अर्थकी प्रसिद्धिका प्रधानकारण है। व्यवहार-विरलता ही संकेत या शक्तिके भूल जानेका मूल कारण है और वैसी दशाके उपस्थित होनेपर ही भाषासे शब्दोंका समय समयपर अन्तर्ध्यान और अभाव भी होता है।

इसलिये हिन्दी भाषाके प्रचलित इस 'हिन्दू' शब्दको अब किसी अन्य भाषाका मानना भी युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता और साथ ही इसके जिस अर्थमें इसका प्रयोग इस भाषामें नहीं होता, कष्ट-कल्पनासे फारसीके उस काले वा गुलामीके अर्थोंको धींगाधींगीसे इसके साथ जोड़नेकी वृथा चेष्टा भी न करनी चाहिये। विशेषकर ऐसी दशामें कि जब इसके प्रचलित अर्थानुसार मेरुतन्त्रमें इसकी ठीक ठीक व्युत्पत्ति भी दिखा दी गयी है तो अप्रचलित अर्थको कष्ट-कल्पनाकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। शब्दार्थके निर्णायक शास्त्रोंमें निरुक्तका मत ही सर्वोत्तम माना जाता है। सुतरां, उसके अनुसार जब हमें प्रचलित अर्थकी व्युत्पत्ति प्राप्त है, तो अन्य अर्थमें बलपूर्वक इस शब्दकी दुर्दशा तो कभी न करनी चाहिये। भारतवर्षके सनातन वर्णाश्रमधर्म माननेवाले और उनके उपधर्म बनानेवाले तथा जैन आदि यहाँके आदिम निवासी आर्य्यजातिके मनुष्यमात्रका वाचक ही यह हिन्दू शब्द सिद्ध होता है। हिन्दुओंकी प्रधान भाषाका नाम ही इस कारणसे हिन्दी प्रसिद्ध हुआ है।

यह सर्ववादी सम्मत सिद्धान्त है कि प्रकृति संस्कृत होनेपर भी कालान्तरमें प्राकृत एक स्वतन्त्र भाषा ही मानी गयी और आर्ष, अप-भ्रंश, पाली, मागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री, द्राविड़ी, नागर आदि अनेकों नामोंसे भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओंकी और उनकी उपभाषाओंकी भी कालान्तरमें सृष्टि हो गयी। आदिमें 'आर्ष' प्राकृत नाम होनेपर भी परिवर्तनधर्मसे कालान्तरमें महाराष्ट्री, पाली आदि इसके



अनेकों नाम उत्पन्न हुए और बदलते भी गये। इसलिये आज उस परमप्राचीनआर्ष प्राकृतका अथवा महाराष्ट्रीका सम्बन्ध छोड़ व्यापकता और राष्ट्रीयताके अनुसार भारतव्यापिनी प्रधान प्राकृत-का नाम भारतवर्ष वा हिन्दुस्थाननिवासी हिन्दुओंके कारण हिन्दी हो जाना कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। परन्तु दुःखका विषय है कि मूलप्राकृतभाषाके विचारको अर्थात् जड़को छोड़ बहुतसे लोग पत्तोंपर आ टूटे और जिस वर्त्तमान प्राकृत अथवा हिन्दीभाषासे भ्रष्ट होकर एक नवीन उर्दूकी सृष्टि मुसलमानोंके संसर्गसे हुई थी उसे ही मूल भाषा मानने लगे; इस अन्धपरम्पराने ही अधिकांश लोगोंको यहांतक भरमाया और भटकाया कि कोई कोई तो मुगल सम्राट् शाहजहाँके शाहजहानाबादके बाज़ारमें इसका जन्म हुआ कहकर इसे निरी बाजारी भाषा और उर्दूके नामसे ही परिचित कराने लगे और कोई कोई अकबरके समयमें व्रजभाषामें फारसी, अरबी, तुरकी आदि भाषाओंके मिलनेसे इस नवीन भाषाकी उत्पत्ति मानने लगे। अब यहाँ प्रश्न केवल इतना ही है कि इस प्रकारसे नयी भाषा-की उत्पत्ति माननेवाले महानुभाव विभक्ति प्रत्यय, तद्धित, कृदन्त और क्रियाके तिङन्तरूपोंकी स्वतन्त्रता और उत्पत्तिके दिखाये बिना किसी प्रकारसे भी नवीन भाषाकी उत्पत्ति हुई कहनेके अधिकारी क्या हो सकते हैं? नयी भाषाकी उत्पत्ति माननेवाले या तो क्रिया आदि ऊपर लिखी वस्तुओंको प्रत्यक्ष दिखानेकी कृपा करें या स्वीकार कर लें कि नयी कोई भाषा उस समय उत्पन्न नहीं हुई। कारण यह कि अन्य भाषाओंके चाहे कितने ही शब्दोंका व्यवहार किसी भाषामें क्यों न किया जाय, परन्तु इससे वह भाषा नयी भाषा कभी नहीं कही जायगी जबतक स्वतन्त्र क्रिया पद, विभक्ति, प्रत्यय आदि न दिखाये जायँ, त तक नयी भाषाका अस्तित्व किसी प्रकारसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता स्वर्गवासी डाकृर राजेन्द्रलाल मित्रने इस विषयको अपन



"इण्डोआर्यन्स" नामकी अङ्गरेजी पुस्तकके द्वितीय भागमें उदाहरण सहित भली भाँति सिद्ध कर दिखाया है।

It would not be elegent to say in English "The bouleversing of the escritoire created quite a sensation in the boudoir of the made moiselle"; but similar sentences are not rare in first class periodicals and novels and they afford a fair example of what the Urdu is. Their construction and grammar are English and though we may call them gallicisid we cannot say they are French No French man would for a moment recognise them as such English rhetoricians condemn them and very justly no doubt, but still they admit them to be Engilsh, and quote them as specimens of English Following them we may call the Urdu persianised Hindi, but still Hindi and not Persian In the four Mohammadan Bengali books from which extracts are given below the number of foreign words appear to be quite as large in the ordinary run of Urdu books and yet those books, are described by their authors to be Bengali and trans-lated from the Persian and Urdu expressly for the people of Bengal. Virtually their language is as much the Urdu of Bengal or Bengali Urdu as the Urdu is the Hindi Urdu or the Urdu of North West If they be taken for distinct languages, I see no reason, why the anglicised Hindi in which Englishmen in India say

E1	E2	H1
"Bearer	couchka	samne
E3	E4	H2
almarime	pantaloon	rakho."

should not also be called a new language. In it we find no less than *four* European and only *two* Hindi words. Similary, the Bengali of our courts, which contains twenty per cent of

English words, would have a fair claim to a distinct rank. The language of young Bengal again is a patchwork of English nouns and Bengali verbs and yet nobody has thought of calling it a distinct language And if they are not distinct languages but Corruptions and dialectic varieties of one language the Urdu can hold no hingher position.

अच्छा अङ्गरेजी भाषामें भी दूसरी भाषाके शब्द अधिकाईसे समय समयपर प्रयुक्त होते हैं ; परन्तु किसी भाषामें अन्य भाषाके शब्दका अधिक प्रयोग ही उसको कभी नवीन भाषा बनानेका अधिकारी नहीं हो सकता। विदेशी शब्दोंके अधिक संग्रहसे भाषाका स्वरूप विकृत होने पर भी वह भाषा कभी दूसरी भाषा न कहावेगी। अङ्गरेजीमें ही फ्रेंच भाषाके शब्दोंका बाहुल्य होनेपर भी वह फेञ्च भाषा न कहाकर अङ्गरेजी ही बनी रहेगी। ऐसे ही अन्य भाषाओंको भी समझिये। डाक्टर साहबने जिस पंक्तिको उदाहरण रूपमें दरसाया है, उसमें अङ्गरेजीके चार शब्दपर हिन्दीके उनसे आधे अर्थात् दो ही हैं, परन्तु इतनेपर भी पंक्तिविकृत और भ्रष्टहिन्दी ही कहावेगी, अङ्गरेजी कभी नहीं। ऐसेही फारसी, अरबी और तुरकी आदि विदेशी भाषाओंके शब्दोंकी भरमारसे हिन्दीकी विकृति और भ्रष्टता मुसलमानोंके राज्यमें निस्सन्देह विशेष बढ़ गयी थी। केवल भाषाकी ही नहीं मुसलमानोंके राज्यमें तो भारतीय प्रजाके अनेकों वंशोंकी भी दुर्दशा बलपूर्वक की गयी थी और भ्रष्ट कर बलपूर्वक मुसलमान बनाये हुए उन हिन्दुओंकी गिनती आज भी भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें ही लाखों करोड़ों तक पहुंची दिखती है।

मुसलमानोंके राज्यके समय भी भिन्नप्रकृतिके विविध मुसलमानोंने अपने उद्देश्यानुसार बर्त्ताव हमारी हिन्दी भाषाके साथ किया था। विशुद्ध हिन्दीके सद्गुणोंसे मोहित हो नवाब खानखाना और अकबर शाह जैसे पराक्रमी और बुद्धिमान बादशाहोंने भी हिन्दीकी परमोत्तम शिक्षा लाभ कर विशुद्ध हिन्दीमें ही काव्य रचे हैं। मुसलमानोंके रचे



होनेपर भी उन सरस काव्योंमें कहीं एक शब्द भी अरबी, फारसी, तुरकी आदि म्लेच्छ भाषाओंका नहीं आने पाया है। यहाँ रहिमनके एक ही दोहेका दिखाना बस होगा।

धन रहीम जलपङ्कको, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय॥

यद्यपि इस दोहेका बनानेवाला मुसलमान था, परन्तु इसके शब्द-विन्याससे कोई भी यह नहीं कह सकता कि इससे उत्कृष्ट शब्द-विन्यास इस देशके हिन्दू कवि कर सकते थे। रहीम नामके सिवाय एक भी शब्द इस दोहेमें विदेशी किसी भाषाका नहीं आने पाया है। भाव और रचनाचातुर्य भी इसका कुछ साधारण नहीं है। निस्सन्देह इस श्रेणीके मुसलमानोंसे हमारी प्यारी मातृ-भषा हिन्दीका बहुत कुछ उपकार ही हुआ था और भविष्यमें होनेकी आशा भी थी। परन्तु अरबी फारसी पढेलिखे मुसलमानोके सिवाय, हिन्दू भी स्वार्थवश, मातृ-भाषासे मुँह मोड़ विदेशीय भाषाकी शिक्षामें प्रवृत्त हो, उसका क्रमसे प्रचार भी करने लगे। अपनी भाषाको भी इन्होंने तुरकी चितकबरी बनाना आरम्भ किया। साथ ही मुसलमानोंने भी बढ़कर हाथ मारे और देखते ही देखते पञ्जाब, पश्चिमोत्तर और मध्यदेशके अधिकांश निवासियोंमें मातृ-भाषाको घृणाकी दृष्टिसे देखने की कुचाल चल पड़ी।

राज-भाषा होनेके कारण अरबी और फारसी पढ़े लिखोंका शाही दरबारोंमें उस समय सम्मान विशेष होता था, इससे अरबी और फारसी पढ़नेका ही चलन प्रतिष्ठित घरानोंमें भी चला। संस्कृतज्ञ ब्राह्मण पण्डितोंका भी अकबर आदि कईएक गुणग्राही बादशाहोंने अच्छा सत्कार किया था और संस्कृतमें यावनी भाषाके ज्योतिष तथा अन्यान्य ग्रन्थोंके अनुवाद भी कराये थे। दुर्भाग्यवश संस्कृतज्ञ पण्डित भी भाषा शब्दसे चिढ़कर नाक सिकोड़ते थे, इसके पढ़ने लिखने से तो प्रयोजन ही क्या था? उसपर विशेषता यह हुई कि, टोडरमलने



मुण्डे अक्षरोंकी नवीन रचनाके साथ ही बादशाही दफ्तरोंमें भी फारसी भाषाका चलन चलाया। इससे भारतवर्ष भरमें अपनी मातृभाषाके यथारीति पढ़ने लिखनेकी चाल मानों उठ ही गयी। अधिकांश बनिये-बक्काल और साधारण पढ़े-लिखे लोगोंका पाण्डित्य महाजनी मुण्डे अक्षरोंके लिखने पढ़नेतक ही रह गया। अवशिष्ट लोग उर्दू फारसी अथवा कुछ थोड़ी सी संस्कृतकी चर्चामें नियुक्त होने लगे। इससे हिन्दी भाषाकी उन्नतिमें विशेष व्यवधान खड़ा हो गया। यदि भारतीय कवि अपनी स्वाभाविक कवित्व-शक्तिका परिचय ऐसे कठिन समयमें भी मातृभाषा हिन्दीमें न देते, तो न जाने और कहाँतक अवनति होती, इसका अनुमान करना भी सहज नहीं है। लिपि-प्रणालीका वैचित्र्य भी इन कारणोंसे ही उत्पन्न हुआ और हमारी मातृभाषाका यथार्थ स्वरूप और मूल क्या है, इसका ध्यान भी अधिकांश लोगोंको न रहा। सजीव भाषा और भारतकी साधारण भाषा न होती तो उस अवस्थामें इसका लोप हो जाना ही सम्भव था। यहाँ तक दुर्दशा उस समय प्रजाकी उपस्थित हो गयी थी कि कुशलपत्र लिखानेकी आवश्यकता होनेपर अधिकांश मनुष्य मौलवियोंके पास जाकर उनसे फारसी अक्षरोंमें ही पत्र भी लिखाते थे। सुतरां, उर्दूसे ही हिन्दीकी उत्पत्ति माननेवाले सज्जनोंका इस दशामें विशेष क्या दोष दिया जाय? आनन्दका विषय है कि, अब लोगोंकी आँखें खुली हैं और शान्तिमय बृटिशराज्यकी शीतलछायाके नीचे विद्याचर्चाका भारतीयप्रजाको कथञ्चित अवसर मिला है। मुद्रायन्त्रके कारण दुष्प्राप्य ग्रन्थोंका भी सुलभ प्रचार दिनपर दिन बढ़ता जाता है। अब यदि हिन्दीके हितैषी तन, मन, धनसे अपनी शक्ति अनुसार परिश्रम करें, तो मातृभाषाकी यथोचित उन्नतिके साथ ही अपनी और अपने देशकी दशाको सहजमें सुधार सकते हैं।

किस मूलसे हमारी मातृभाषा हिन्दीका उद्गम हुआ, इसके निश्चय



करनेके साधनोंका भी इस समय अभाव नहीं, बल्कि सद्भावही है। मैं यहाँ विशेष विस्तारसे इस विषयको कहकर आप लोगोंका समय नहीं लिया चाहता, केवल संकेतमात्रका बताना अपना कर्त्तव्य समझता हूं। प्राकृतोंमें अपभ्रंश नामसे जिस प्राकृतका परिचय प्राकृत-भाषाके सुपण्डित वैयाकरणमात्रने दिया है, उसके गर्भमें ही बीजरूपसे पञ्जाबी भाषा और हमारी वर्त्तमान हिन्दीका अस्तित्व आप सहजमें देख सकते हैं। इस समय अपभ्रंश भाषाका चलन भारतवर्षमें नहीं है; परन्तु उससे उत्पन्न पञ्जाबी और हिन्दी दोनों ही विद्यमान हैं। पञ्जाबी भाषाका अधिकार हिन्दीकी भाँति फैलने नहीं पाया, पञ्जाबकी सीमाबद्ध भूमिमें ही उसका राज्य अब भी दिखता है। परन्तु प्रान्तीय भेद और उर्दूके प्रतापसे विचारी पञ्जाबी इस समय अस्तमित सी हो रही है और विशुद्ध पञ्जाबी बोलनेवालोंकी गिनती, दुःखका विषय है कि, दिनोंदिन कमती होती जाती है। शौरसेनी और मागधी प्राकृतसे हिन्दीकी उत्पत्ति जिन महानुभावोंने मानी हैं, वा जो मानते हैं, उनसे मेरा सविनय अनुरोध है कि कृपा कर निरपेक्ष विचारसे एक बार अपभ्रंश, शौरसेनी और मागधी इन तीनों प्राकृतोंके साथ हिन्दीकी तुलना कर देखें, तो निश्चय है कि जितना अधिक सादृश्य अपभ्रंश प्राकृतसे इसका दिखेगा उतना दूसरीसे नहीं। अवश्य हिन्दीकी राष्ट्र-व्यापकताने शौरसेनी और मागधीके भी अनेकों शब्दोंको अपना लिया है; परन्तु अवयव-सादृश्य और लेख-प्रणालीके अनुसार इसकी प्रकृतिका मेल जैसा अपभ्रंशसे मिलता है, वैसा शौरसेनी वा मागधीसे नहीं। पञ्जाबी भाषाका विस्तार पञ्चनदप्रदेश और कुछ पाञ्चालके थोड़ेसे अंशमें ही व्याप्त रहा; परन्तु हिन्दीने पञ्जाब और पश्चिमोत्तरकी जहाँ मध्य-सीमा मिलती है, वहाँसे प्रारम्भकर विहारकी पूर्वसीमा तक और मध्य-भारत, मध्यप्रदेश तथा बरार और दाक्षिणात्यके हैदराबाद आदि देशोंमें अधिकार विस्तार किया। परन्तु इसका आदि जन्मस्थान पञ्जाबकी

सीमातक पश्चिमोत्तर मेरठ प्रान्तका यह सुविस्तृत भूभाग है जहाँके दिहाती और ग्रामीणोंकी भाषा भी ठेठ हिन्दी है। आर्य्यावर्त्त के दूसरे प्रान्तोंके दिहातियोंकी भाषामें जो विभिन्नता है, वह इस प्रान्तमें नहीं है। यह एक विशेष ध्यान देने योग्य विषय है।

इस समय हिन्दीकी प्राचीनतम पुस्तकोंमें चन्दकविका रासा ही प्रधान है। इसकी रचना और विशेष कर शब्दविन्यास शैलीपर भली भाँति ध्यान देनेसे अनुमित होता है—किसी निर्दिष्ट एक ही समयमें अकेले चन्द महाकविने इस पूरे महाकाव्यकी रचना नहीं की थी। इसका कुछ मूल अंश चन्दके समयका उनकी ही लेखनीका लिखा और बहुत पुराना भी है; परन्तु अधिकांश इसका बहुत दिनों पीछे लिखा गया है। हेमचन्द्रके समयसे चन्दवरदायीका विशेष अन्तर नहीं है; दोनों प्रायः एक ही समयमें हुए थे। मुसलमान बादशाहोंके राज्यके प्रारम्भ समयमें ही तुर्की फारसी भाषाके विदेशी शब्दोंका इतना अधिक मेल हिन्दी भाषामें होना किसी बातमें सम्भव नहीं था। कुमारपालचरित महाकाव्यकी रचनामें शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची, अपभ्रंश, प्राकृत आदि विविध प्रान्तीय भाषाओंका समावेश हैं। परन्तु उनमें कहीं एक भी अरबी तुर्की आदि भाषाओंका शब्द नहीं दिखता। इससे सम्भव है कि विदेशी शब्द मिश्रित प्रयोग, जिन छन्दोंमें है, वे चन्दके बाद बहुत दिनों पीछे किसी दूसरेने ही चन्दके नामसे उस महाकाव्यमें रच कर मिला दिये। यद्यपि काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभाने पुराने कवियोंके ग्रन्थोंका पता लगा, उनका उद्धार करना अपना कर्त्तव्य समझा है सही, तथापि जिस उद्यम और उत्तमतासे यह काम होना उचित था, वैसा अब तक नहीं हो सका है। हिन्दीकी उन्नतिके लिये सबसे पहले प्राचीनतम हस्तलिखित ग्रन्थोंका विशेष परिश्रम और यत्नसे संग्रह कर सुकवियोंकी कीर्त्ति रक्षाके साथ ही हिन्दी-भाषाके इतिहासका पथ भी सुप्रशस्त करना अवश्य कर्त्तव्य है। यथासम्भव कवियोंकी जीवनी,

रचनाका समय और क्रम सहित हिन्दी ग्रन्थोंकी विशद् सूचीका विशेष प्रचार हमारा सबसे प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिये। यद्यपि बङ्ग-भाषामें प्राचीनसाहित्यग्रन्थोंका बाहुल्य नहीं है और इसलिये मैथिल-भाषाके कवियोंको अपने आदिकवि बनाकर उनके ग्रन्थोंका बङ्गालियोंने बल-पूर्वक संग्रह किया है, तथापि इतने उद्यममात्रसे ही वे सन्तुष्ट न हुए और विशेष परिश्रम उठा खुले हाथों द्रव्य व्ययकर, बङ्गीय साहित्य-परिषद्ने प्राचीन ग्रन्थोंका प्रशंसनीय संग्रह भी किया है और छपाकर उनका सुलभ प्रचार करनेसे विमुख नहीं हैं। जब तक बङ्गालियोंकी भांति हिन्दीमें भी प्राचीन ग्रन्थोंका उद्धार और विशेष प्रचार न किया जायगा, तब तक हिन्दीकी सर्वाङ्ग सुन्दर उन्नति नहीं हो सकेगी। अवश्य, प्राचीन ग्रन्थोंकी भाषाका समझना सहज नहीं है, साथ ही हस्तलिखित प्रतिका संशोधन और पाठान्तरोंका निर्णय भी टेढ़ा काम है। विशेष सावधानतासे अभिज्ञ विद्वानोंसे ही विचार पूर्वक इन काव्योंको विशद टीकाटिप्पण सहित सुसम्पन्न कराना उचित है। प्राचीनको छोड़, आधुनिक काव्योंकी ठीक ठीक समझ भी सब लोगोंको नहीं है। यहां तक कि प्रेम पूर्वक सैकड़ों ही कवित्त और सवैये जिन महाशयोंने कण्ठाग्र कर रखे हैं, उनमें भी अधिकांश न तो उन काव्योंका यथार्थ अभिप्राय और अर्थ ही समझते हैं और न उन शुद्ध पाठके विषयमें ही पूरा ध्यान देते हैं। इसलिये पुस्तकोंका मुद्रण ऐसी रीतिसे होना उचित है जिसमें पाठकी पूरी पूरी शुद्धतापर ध्यान देनेके साथ ही पाठान्तर भी टिप्पण-में दिखा दिये जायँ। समग्र काव्यकी विशद टीका सहित छपानेकी सामर्थ्य न हो तो कठिन स्थलोंकी व्याख्या और दुरूह शब्दोंके अर्थ तो अवश्य ही दिये जायँ। काशीकी नागरीप्रचारिणी सभामें प्रायशः द्रव्यका अभाव रहता है। सर्वसाधारण हिन्दीहितैषियोंको इसके लिये विशेष चन्देसे उसकी द्रव्यसहायता, बिना विलम्बके अवश्य ही करनी चाहिये। इस समय प्रायशः हिन्दी काव्य-ग्रन्थ विशेष दुर्दशासे छापे जाते हैं,

गिनतीके कुछ थोड़ेसे ग्रन्थ उत्तमतासे प्रकाशित हुए भी हैं तो मूल्य उनका इतना अधिक रखा गया है कि दरिद्र भारत-प्रजा मोल लेकर उन पुस्तकोंको कभी पढ़ ही नहीं सकती। अंग्रेजीमें प्रसिद्ध कवि और विद्वानोंके बड़े बड़े नामी ग्रन्थ भी सुलभ मूल्यमें मिलते हैं, परन्तु हिन्दीमें इसका पूर्ण अभाव है। इस अभावको शीघ्र ही मिटाना नागरी-प्रचारिणी और साहित्य-परिषद्रोंका अवश्य कर्त्तव्य है। गोलोक-वासी भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीके ग्रन्थोंका प्रचार भी जैसा होना उचित था वैसा नहीं होता; संशोधन आदि कार्य्योंमें त्रुटि भी विशेष रहती है। खड्गविलास प्रेसके पूर्ण अधिकारमें ही बाबू साहबके ग्रन्थ हैं। स्वेच्छा-प्रवृत्त हो उस प्रेसके अधिकारी इस देश-हितकर कार्यमें अग्रसर न हो आनाकानी करें, तो हमारी सभाओंको उचित है कि उनसे पत्र व्यवहारकर अथवा प्रतिनिधि भेजकर भी सुप्रबन्ध करावें और यथायोग्य सहायता भी इस विषयमें दें। यदि इतने-पर भी कार्य सुसम्पन्न होता न दिखे, तो जैसे बने उन पुस्तकोंका अधिकार पुनः उनसे खरीद लें। तात्पर्य यह कि स्वर्गीय बाबू साहबके उपादेय ग्रन्थोंका उत्तम विशुद्ध संस्करण और सुलभ प्रचार होना ही विशेष वांछनीय है।

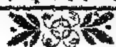
आगरेके सुप्रसिद्ध, स्वर्गीय राजा लक्ष्मण सिंहजीने भी हिन्दीकी सेवा बहुत कुछ की, विशेष कर ऐसे समयमें कि जब बाबू हरिश्चन्द्रजीका परिचय भी लोगोंको नहीं था। दुःखका विषय है कि न तो स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंहका यथायोग्य सम्मान और आदर ही हम लोग करते हैं और न उनके परमोत्तम ग्रन्थरत्नोंके प्रचारका ही सुप्रबन्ध। हिन्दीमें उनकी शकुन्तला और मेघदूत दोनों ही परमोत्तम श्रेणीके अद्वितीय ग्रन्थ हैं। जिन निश्चलदासजी विरक्त पञ्जाबी साधु महात्माने योगवाशिष्ठका सबसे पहला अनुवाद हिन्दीमें ५० वर्ष हुए किया, उनका नाम भी आज कोई नहीं लेता। जिस जातिमें गुण और गुणीका यथोचित



आदर नहीं किया जाता, उसकी यथार्थ उन्नति भी असम्भव ही समझनी चाहिये। इस सम्बन्धमें स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी भी विशेष माननीय हैं। कारण दयानन्द, सरस्वती महोदयने भी हिन्दीका सविशेष उपकार किया। वेदोंका हिन्दीभाष्य उनकी अटल कीर्ति है। आज स्वामीजी महाराजके घोर परिश्रमके कारण ही पञ्जाबमें तथा अन्य प्रान्तोंमें भी हिन्दीका प्रचार उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है। परन्तु हिन्दीहितैषियोंको अपने इस परमकर्त्तव्य पालनेसे उदासीन न रहना ही उचित है।

बिना शिक्षाके योग्यता नहीं आती। यथोचित शिक्षाके अभावसे ही आज भारतको ऐसी हीन दशा उपस्थित हुई है। जब तक सर्वसाधारण भारतीय प्रजामें उपयुक्त शिक्षाका ठीक ठीक सुप्रबन्ध न किया जायगा, तब तक देशकी दशाका सुधरना कठिन है। जिस प्रणालीसे इस समय स्कूल और कालेजोंमें शिक्षा दी जाती है, वह इस देशके लिये उपयोगी नहीं है; क्योंकि प्रथम तो इतनी महँगी शिक्षा मिलती है कि दरिद्र प्रजाको उतना बोझ अपने सिर उठाना सर्वथा असम्भव है। दूसरे प्रायः ऊँचे विषयमात्र विदेशी अँग्रेजी भाषामें ही सिखाये जाते हैं। इसलिये उनके सीखनेमें समय भी चौगुना लग जाता है और परिश्रम भी इतना पड़ता है कि दाँतों पसीना आने लगता है। मन्दबुद्धि विद्यार्थी बिचारे तो ऐसी कठिनाई देख डरकर उच्चशिक्षाकी आशा ही छोड़ बैठते हैं। उत्तम बुद्धिवाले भी बहुतेरे द्रव्याभावसे अगत्या विमुख होते हैं। बाल्य-विवाह आदि सामाजिक प्रथाओंके कारण थोड़ी अवस्थामें ही भारतवासियोंका व्यय प्रजाधिक्यसे इतना बढ़ जाता है कि बिना उपार्जन किये किसी प्रकारसे भी सब लोगोंका तो निर्वाह ही नहीं हो सकता। उस दशामें वर्षोंका परिश्रम और वित्तसे बाहर द्रव्य व्यय कर भी जैसी शिक्षाके अधिकारी बनते हैं उससे अभावकी पूर्तिका होना किसी विरले ही भाग्यवानके लिये सुलभ होता होगा; नहीं तो रुपयेमें

चौदह आने शिक्षित, जितने रुपयोंकी लागतसे पास कर पढ़े लिखे विद्वानोंकी श्रेणीमें गिने जाते हैं, सच पूछिये तो जन्मभर परिश्रम करनेपर उतना भी उपार्जन नहीं कर सकते। शिल्पकलाकी शिक्षाका सरकारी युनिवर्सिटियोंमें सोलहों आने अभाव ही है। इसलिये विचारे नौकरी, डाक्टरी, वा वकालत करनेके सिवा किसी योग्य ही नहीं रहते। शिक्षितोंमें गिनती और बढ़ी हुई प्रतिष्ठाके भयसे साधारण वाणिज्य व्यवसाय करनेका उद्यम भी इस श्रेणीके सुशिक्षितोंमें नामको नहीं दिखता और जो किसी बिरलेकी वैसी इच्छा भी होती है, तो पूंजीके अभावसे मनमोदकका स्वाद चखकर ही उन उत्तम सङ्कल्पोंसे उन अभागोंको तुरन्त ही अपने हाथ धोने पड़ते हैं। इन कारणोंसे, जबतक देशमें शिक्षाका पूरा प्रबन्ध सुचारुरूपसे हिन्दी भाषामें ही न किया जायगा, तबतक दिनपर दिन देशकी और भी दुर्दशा ही देखनेमें आवेगी। माननीय प० मदनमोहन मालवीयजीने आत्मसमर्पणपूर्वक जिस अभिनवप्रणालीसे "हिन्दू विश्वविद्यालय" सुप्रतिष्ठित कर भारत-सन्तानोंको सुशिक्षित करना विचारा है, वह उद्यम सर्वथा स्तुत्य है और उसकी सहायता भी सबको यथाशक्ति करनी चाहिये। माननीय मालवीयजीसे यह प्रार्थना भी अभीसे कर रखनी ठीक होगी कि हिन्दीभाषामें भी दर्शन, शिल्प और वाणिज्य आदि ऊँची शिक्षाका सुप्रबन्ध उक्त विश्वविद्यालयमें अवश्य ही किया जाय और हिन्दीमें एम० ए० कक्षा तक पढ़ानेकी योग्यताका ध्यान भी पूर्णतया अवश्य ही रखा जाय। अवश्य, इसलिये उपयुक्त पुस्तकोंका विरचित होना भी सबसे पहले उचित है। परन्तु इतनेसे ही निश्चिन्त न होकर प्राइमरी एजुकेशन वा प्राथमिक शिक्षाका विशेष प्रचार और सुप्रबन्ध हिन्दीहितैषियोंका विशेष परिश्रम पूर्वक अपने हाथों नगर नगर और ग्राम ग्राममें बिना विलम्ब के करना पड़ेगा। माननीय गोपालकृष्ण गोखलेने लाटकी कौंसिलमें जो प्राथमिक शिक्षाबिल उपस्थित किया है, उसका हमें स्वागत करना



चाहिये। उसके पास हो जानेसे हिन्दीका बहुत कुछ उपकार होगा। साथ ही हमलोगोंको लाला लाजपतराय और लाला हरिकृष्णकी दूर-दर्शिता और देशसेवाके लिये उन्हें विशेष धन्यवाद देना चाहिये, कि जिन्होंने माननीय मि॰ गोखलेके बिलके पास होनेकी प्रतीक्षा न कर लाहौरमें बिना फीसके हिन्दू बालकोंको प्राथमिकशिक्षा देनेकी व्यवस्था भी की है।

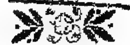
प्राथमिक पाठ्य पुस्तकोंकी भी जैसी दशा उपस्थित है और जिस उदासीनतासे हिन्दीभाषाके अधिकारी वा उन्नायक अब तक इस विषयको ध्यान देने योग्य ही न समझकर कर्त्तव्य-पालनमे पूरी पूरी त्रुटि दिखा रहे हैं; भविष्यमें वैसी उदासीनतासे अब काम न चलेगा। प्रत्येक नागरी-प्रचारिणी और साहित्यपरिषद् आदि सभाको उचित है कि अपने अपने अधिकार-युक्त प्रान्तोंकी प्राथमिक पाठ्य पुस्तकका विवेचन और निर्वाचन पूरी योग्यतासे किया करें। सरकारी पाठशालाओंमें भी अयोग्य पुस्तकोंका प्रचलन जहाँ देख पावें हाथ धोकर उसके पीछे पड़ जायँ और देशव्यापक लोकमतके बलसे अयोग्य पुस्तकोंके पढ़ने पढ़ानेकी कुचालको अवश्य ही शीघ्र रोकनेका प्रयत्न करें।

हिन्दीकी शिक्षाका सच पूछिये तो कुछ भी सुप्रबन्ध इस समय तक ऐसा नहीं किया गया है कि जिससे हिन्दीसाहित्यका पूरा ज्ञान होनेके साथ ही हिन्दीकी परमोच्च शिक्षा, विद्यार्थीयोंको मिल सके। सरकारी स्कूल मदरसों वा देशहितैषियोंके स्थापित विद्यालयोंमें हिन्दीकी सामान्य शिक्षा ही मिलती है। उसमें भी सरकारी पाठशालाओंके डाइरेक्टर अथवा इन्सपेक्टर आदि अध्यक्ष और कर्मचारी केवल अपनी समझके भरोसे ही समयपर ऐसा व्यतिक्रम खड़ा कर देते हैं कि जिससे पाठ्यपुस्तक निर्वाचनकी शैली हो विशेष निन्दनीय और बिगड़ी हुई है। स्वार्थवश लोभी पुस्तकप्रणेता और ग्रन्थकार विषय, भाषा और विदेशीय शब्दोंके विशेष व्यवहारका स्वेच्छाचार यहाँ तक कर

दिखाते हैं कि, प्रान्त प्रान्तकी पाठ्य पुस्तकोंकी भाषामें आकाश पाताल-का प्रभेद देखनेमें आता है। इधर कुछ दिनोंसे हिन्दी और उर्दूका अन्तर मिटानेकी चेष्टा भी कुछ लोग करने लगे हैं। वे समझते हैं कि पार्थक्य केवल लिपिमात्रका है, भाषाका नहीं। इससे उर्दू हिन्दीकी ऐसी विचित्र खिचड़ी पकायी जा रही है कि जिससे भाषाकी सुन्दरता नष्ट होनेके साथ ही उसकी जड़ भी काटी जाती है। परन्तु विशेष आश्चर्य और दुःखसे कहना पड़ता है कि जिन विद्वानोंसे हिन्दीको बहुत कुछ आशा की जाती है और जिन सभा और परिषदोंसे हिन्दीके बनने बिगड़नेका विशेष सम्बन्ध है, न तो उनकी ही मोहनिद्राका सहसा भङ्ग होता है और न साधारण हिन्दी भाषा-भाषी ही लोकमत-के बलपर ऐसे विषयोंकी चर्चा चलाते हैं। फल इसका यह होता है कि हिन्दी-साहित्य संसारमें सोलहों आने अन्धेर मच रहा है और जिसकी जैसी इच्छा होती है, वह मोमकी नाक सी असहाया बिचारी इस अभागिनी हिन्दीको विकृत करनेसे कभी मुँह नहीं मोड़ता। अवश्य ऐसी उदासीनताका जबतक पूर्णतया अभाव न होगा और हिन्दीके विद्वान् स्वार्थकी अपेक्षा मातृभाषाकी सच्ची सेवाको बहुमूल्य समझ स्वाधीनताके साथ महाराष्ट्रोंकी भाँति अपनी मातृभाषाका आदर और सम्मान करना न सीखेंगे, तबतक इसकी दुर्दशाका कभी अन्त न होगा। उपयुक्त शिक्षाके बिना शब्द-शास्त्रकी पूरी अभिज्ञता अथवा साहित्यकी मर्मज्ञताका होना असम्भव है। विद्यार्थीके अभि-लाषानुसार पढ़ानेवाले हिन्दीके वैसे अध्यापक वा शिक्षा-मन्दिर आज कहाँ हैं? संस्कृत, अङ्गरेजी, बङ्गला, उर्दू अथवा कुछ कुछ फ़ारसीके पढ़े लिखे ही प्रायः इस समय हिन्दीके भाग्यविधाता बने हुए हैं। बातें सुननेमें कुछ कड़वी होनेपर भी ऐसे कामकी हैं कि अगत्या कहनी ही पड़ती हैं। अङ्गरेज वैयाकरणोंकी पुस्तकोंके सहारे ही हिन्दीके भावी विद्वान् बहुधा अपना कर्त्तव्य स्थिर किया करते हैं।



हाय ! कैसे दुःखकी दशा उपस्थित है कि एक प्रान्तमें जिस महाराष्ट्री भाषाका अधिकार है, उसके सपूतोंने तो उसे विश्वविद्यालयकी सर्वोच्च एम० ए० परीक्षा तक पहुँचा दिया है, पर आप बैठे हाथ पर हाथ धरे टुकुर टुकुर मुँह ताक रहे हैं। आज चन्दका महाकाव्य, सूरदासके कूट और गम्भीरपद, गुसाईं तुलसीदासकी रामायणके अनेकों विचित्र भावपूर्ण स्थल और केशवदास, विहारीदास आदि अनेकों सुकवियोंके सुन्दर रसभरे काव्योंका पूरा आस्वादन हममें कितने लोगोंको प्राप्त हुआ है ? बताइये, इनके पढ़नेवाले कौनसे अध्यापक महामहोपाध्यायकी चरणशरण लें। अथवा वह विद्यालय कहाँ है, जहाँ जानेसे उनको इन विषयोंकी पूरी शिक्षा मिल सके ? विश्वविद्यालय, एम० ए० तक हिन्दीका अधिकार आज दे भी दे, तो उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें कहाँ हैं ? और कितने लोगोंका इस विषयमें आन्तरिक यत्न और परिश्रम दृष्टिगोचर होता है ? केवल जीविकार्थ सामयिक पत्र, उपन्यास वा प्राथमिक शिक्षाकी दस-पाँच पुस्तकोंके प्रचारमात्रसे ही मातृभाषा हिन्दीका उद्धार कभी न हो सकेगा। व्याकरण, कोष, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, इतिहास और शिल्प-कला आदि प्रयोजनीय ज्ञान बढ़ानेवाली और अर्थकरीविद्याओंकी उत्तमोत्तम पुस्तकोंका जबतक बहुलप्रचार न होगा, तबतक हिन्दीके लिये आप लोगोंको यही समझना चाहिये कि हमारे किये अभी इसकी उन्नतिके लिये यथार्थमें कुछ भी नहीं बन सका है। लेखप्रणाली, भाषाकी शैली (Style) और शब्दविन्यासविषयमें जहाँ घर घर अपना निराला, अनूठा और मनमाना सिद्धान्त चलाया जाता है और मिलकर परामर्शपूर्वक विशेषज्ञोंकी अधिक सम्मतिसे निर्णयकर यथार्थ उन्नतिका सीधा मार्ग नहीं अवलम्बन किया जाता, वहाँ दुःखसे यह कहना ही पड़ता है कि, दस कदम आगे बढ़नेकी अपेक्षा आप धीरे धीरे पीछेको खिसक रहे हैं। व्याकरण बनानेकी धूम बहुत दिनोंसे मचायी जाती है; परन्तु आज भी हमारी इस अभागी



हिन्दीमें नाम लेने योग्य ऐसा एक भी व्याकरण न बन सका कि जिसकी शिक्षासे हिन्दीका यथार्थ ज्ञानलाभ हो, अथवा जिसे हम उत्तम व्याकरणोंमें ऊँचा आसन ही दे सकें। मित्रवरो, क्या ये बातें हिन्दीके वा हमारे आपके गौरवकी हैं? केवल कलह वा वितण्डावादसे फलसिद्धि कभी न होगी। परिश्रम पूर्वक हिन्दीके उपयुक्त विद्वान जबतक उत्तमोत्तम पुस्तकोंके बनानेका परिश्रम स्वीकार न करेंगे, तबतक यथार्थ उन्नतिका होना सुकठिन है।

यद्यपि विभक्ति प्रत्यय और तिङन्त क्रिया आदिके न होनेसे उर्दू-को एक स्वतन्त्र भाषा माननेमें कुछ अटक सी पड़ती है, तथापि इसकी विकृति, विभिन्नता और विदेशीय धर्मानुकूल संगठन-शैली आदि संस्कारोंसे विधर्मियोंने इसे अपनाकर क्रम क्रमसे एक नयी उपभाषा ही बना लिया है; तदनुसार हिन्दीसे उर्दूको अभिन्न और एक रूप मानना भी सोलहों आने अनुचित है। बहुरूपिये केवल बनावट, वर्णपरिवर्त्तन और दाँत, दाढ़ी, मोछ, केश और वेश-भूषणोंकी विचित्रताके सहारे, व्यक्तिगत परिवर्त्तनके बिना भी इतने प्रकारके विभिन्न रूप धारण करलिया करते हैं कि सुचतुर बुद्धिमान भी उनको किसी प्रकारसे नहीं पहचान सकते और जब जैसा स्वांग लाते हैं तब यथार्थतः उस रूपका ही उनको सब लोग समझने लगते हैं, स्त्री पुरुषकी विभिन्नता, विशेषता वा स्वाभाविक पहिचान भी सहजमें नहीं ध्यानमें आती। ऐसी दशामें सर्वथा विदेशीय वाक्या-वलीसे विकृत, प्रायः सब बातोंमें उलटी ही चलनेवाली स्वधर्म-भ्रष्ट उर्दूको पूरे परिवर्त्तित विचित्र रूपमें सुस्पष्ट भिन्नाकृतिकी प्रत्यक्ष देखकर भी अब बुद्धिमान उसे हिन्दीसे अभिन्न मान, कैसे अपना सकते हैं? इसकी लेखप्रणाली उलटी, वर्णमाला स्वतन्त्र, रुपयेमें पन्द्रह आने शब्द भी विदेशीय और अपरिचित, वाक्यरचना भी हमारे साहित्य और व्याकरणसे सम्पूर्ण विरुद्ध, दोषयुक्त और अशुद्ध, इतने अनैक्यपर



इसकी हिन्दीसे एकरूपता वा अभिन्नता किस न्यायानुसार मानी जा सकती है ? इसलिये ही हिन्दी भाषाके जितने अच्छेसे अच्छे पूर्वाचार्य्य कवि और विद्वान हो गये, सबने हिन्दीसे उर्दूको विशेष बिगड़ी हुई, एक भिन्न उपभाषा ही माना। इनको एक तो उनमें एकने भी नहीं माना। जैसे मैथिल और बँगला दोनों अलग अलग भाषा मानी जाती हैं; जैसे बँगला भाषासे ही उत्पन्न होकर और बँगलाका ही प्रकारभेद कहलानेपर भी आसामी और कोंच भाषा स्वतन्त्र हैं, वैसे ही हिन्दी और उर्दू भी सर्वथा स्वतन्त्र भिन्न भाषा ही हैं। हिन्दीहितैषी विद्वान कहाकर भी जो महाशय हिन्दीसे उर्दूको अभिन्न और एक मानते हैं, वे निस्सन्देह भूलते हैं। भूल भी यह सामान्य सी नहीं है। "बात सुनना होगी" आदि वाक्य हिन्दी व्याकरणानुसार निरे अशुद्ध माने जाते हैं। युक्ति और स्वतन्त्र व्याकरणके किसी प्रामाणिक नियमके विना भी वैसे अशुद्ध प्रयोग उर्दूमें शुद्ध ही गिने जाते हैं। संस्कृत और हिन्दीकाव्यसे भी उर्दूकाव्य पूरी विभिन्न प्रकृतिके हैं। हमारे साहित्यशास्त्रानुसार भारीसे भारी दूषण ही उर्दू कवियोंके भूषण स्वरूप हैं। तड़फा तड़फा कर, थोड़ा थोड़ा गला रेतरेतकर, मारे जाते, मरणकी उस दुस्सह पीड़ाके मारे छटपटाते लोहूलुहान मुमूर्षु मुरगे, (मुर्गविस्मिल) नये और पुराने गड़े हुए सड़े शव कबाब आदि बीभत्स रसकी सामग्रीके विना शृङ्गाररसका वर्णन उर्दूमें प्रायः कभी सर्वाङ्ग सुन्दर नहीं होता। प्रधानतः नायक नायिकाके स्वाभाविक प्रेमानुराग वर्णनको हेय समझ, पुरुषका किसी बालकसे अवैध अस्वाभाविक प्रेमानुराग वर्णन ही उर्दू काव्यका प्राण माना गया है। नुक्तेदार विकट शब्दोंके अनूठे विकृत उच्चारण, श्रुतिकटु कठिन दुर्बोध्य शब्दसमूह और इसकी उलटी वाक्यरचनाशैलीसे भी हिन्दी वाक्यरचनाशैली सर्वथा विपरीत और विचारणीय है। इसलिये उनके थोड़े उदाहरणोंका दिखाना यहाँ परमावश्यकीय है।

जैसे—

(१) सहरकाज़बके वक्त मुर्गदेहक़ानने गुर्बये मिसकीनकी आहट जो पायी तो घबड़ाकर कुकड़ूँ कूँ को बाँग लगायी और हमारे जेब लवेब दकीका इस सुबह नफ़स जो सरशामसे लम्बी ताने मीठी नींद सो रहे थे, यह आवाज़ खुश आवन्द सुनते ही कुलबला उठे।

(२) जो मसरते हकोंको मुझे मुतालये कुतबमें हासिल हुई है और किसी जगह नसीब नहीं हुई।

(३) उनके इश्क मुहब्बतके राज़ तिश्त अज़बाम हैं।

(४) वह दाखिल मंजिल मकसूद हुए।

उर्दू हिन्दीकी विचित्र खचड़ी

(५) एक साहबने फरमाया है कि आप मथियानावालोंसे यह प्रार्थना करें वह अगर और कुछ नहीं तो कम अजकम दशहरेके अय्याममें रामायणकी कथा हो रखा दें।

(६) हिन्दीके पढ़नेवालोंमें लेशमात्र भी हमदर्दी नहीं।

(७) मैं इसके लिये आपको धन्यवाद देता हूं और मुबलिग़ पांच रुपयेका नोट आपकी सेवामें अर्साल करता हूं।

जिनको अलिफ-बेकी रटन्तके साथ मौलवी और मुल्लाओंकी तालीम नहीं मिली है, वे उर्दूकी इन पंक्तियोंका उच्चारण भी नहीं ठीक कर सकेंगे और वाक्योंका अर्थ भी उनकी समझमें न आवेगा; केवल हिन्दीशब्द वा क्रियापदका अर्थमात्र समझलेंगे। भारतवर्षमें स्त्रियां, बालक और उर्दू फारसीके अनभिज्ञमात्र उर्दू भाषाको समझनेमें असमर्थ होते हैं। जिन महानुभावोंका यह दुराग्रह है कि, भारतकी राष्ट्र-भाषा उर्दू ही है, उनसे निवेदन है कि ध्यानसे इस कथनका भली भाँति निरपेक्ष विचार करें। हिन्दुओंको छोड़ भारतीय मुसलमानोंमें भी अधिकांश ऐसे ही हैं जिनकी समझमें उर्दू ठीक ठीक नहीं आती। अवश्य उर्दूको आलिमफाजिल और पढ़े लिखे मुसलमानोंकी ही परा

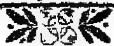


आदरणीय भाषा कहना चाहिये। सर्वसाधारणकी वा भारतकी राष्ट्र-भाषा उर्दू नहीं है और न कभी हो ही सकेगी। उर्दूका साहित्य इस समय निस्सन्देह समुन्नत दशामें है और सुपठित मुसलमानोंके लिये बहुमूल्य रत्न सा होने पर भी हिन्दीसाहित्यसे इसका सम्बन्ध और मेल नहीं है। भाषाओंमें शब्दोंका परस्पर विनिमय होना स्वाभाविक है, परन्तु कर्कशता और काठिन्यको छोड़ सरल रूपमें श्रुतिमधुर बनकर एक भाषाका शब्द दूसरी भाषामें अपभ्रंशके नियमानुसार ही आ मिलता है। उस रूपसे मिले हुए अरबी, फारसी या तुरकी भाषाके शब्दोंको हिन्दी भाषासे सर्वथा अलग करनेका पक्षपाती मैं नहीं हूं। परन्तु उनको विशुद्ध कर हिन्दीकी सरलता और मधुरता बिगाड़कर कठिनाई उत्पन्न करनेका मैं पूरा विरोधी हूं। प्रथम तो जैसे धन-सम्पन्न मनुष्यको किसीसे कर्ज काढ़नेकी कभी आवश्यकता होती ही नहीं, वैसे ही सुसम्पन्न भाषाओंको भी दूसरी भाषासे शब्द उधार लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने शब्दोंसे सहज और विशेष शक्तिशाली दूसरी भाषाके शब्द ही घनिष्ठता बढ़नेपर आ मिलते हैं और उनका त्याग इसलिये ही असम्भव है। परन्तु साहित्यसेवियोंको शब्द-विन्यासके समय इतना ध्यान अवश्य ही रखना चाहिये कि अनमिल बेजोड़ शब्द हठवश एक साथ मिला कर न लिखे जायं। जिस मेलके शब्द जिस वाक्यमें सुन्दरता और सरसता बढ़ानेकी योग्यता रखते हैं, समझकर उनका प्रयोग करना उचित है। हिन्दीकी उपयुक्त शिक्षाके अभावसे इस समय संस्कृतज्ञोंकी लेखनीसे तो संस्कृत वा तत्सम शब्दों-का प्रवाह अभ्यासवश वाक्यविन्यासमें विशेषतासे आने लगता है; दूसरी ओर फारसी पढ़े लिखे अभ्यासानुसार अरबी, फारसी और तुरकी-के साथ लिखते हैं। मूल हिन्दीभाषाके सुन्दर शब्दोंपर न तो ध्यान ही कुअभ्यासवश जाने पाता है और न सहजमें उन शब्दोंका, लिखनेवालोंको स्मरण ही होता है। इसलिये यथार्थ पूछिये तो हिन्दीकी विशेष हानि



होती है। नित्य व्यवहारमें न आनेके कारण इसका अपना भण्डार दिनों दिन ठेठ शब्दोंकी कमीसे छीजता जाता है। इसका ध्यान रखकर भविष्यमें हिन्दीहितैषीमात्र परिश्रमपूर्वक ठेठ हिन्दीके शब्दोंका ही अधिकतासे प्रयोग करें। जहां ढूँढ़नेपर भी वैसे शब्दोंका लाना असाध्य हो, वहां संस्कृतके वा तत्सम शब्दोंसे काम चलावें तो मैं समझता हूं कि एकमात्र इस नियमके पालनसे ही सर्वाङ्ग सुन्दरी हिन्दीकी राष्ट्रीयताका मार्ग भी शीघ्र ही प्रशस्त हो जाय। असावधानता और परिश्रम-विमुखतासे ही अब तक इस प्रयत्नसे अधिकांश हिन्दीहितैषी विमुख हैं। विदेशी अरबी फारसीके दुरूह शब्दोंका सर्वथा त्याग ही कर्त्तव्य है।

यद्यपि बङ्गभाषाकी उत्पत्ति हिन्दीसे बहुत दिनों बाद हुई। परन्तु उपयुक्त मातृसेवकोंके परिश्रम और प्रभावसे उसका साहित्य-भण्डार इस समय बहुत कुछ उन्नतावस्थाको पहुंचा हुआ है। दुःखका विषय है कि, पढ़े लिखे हिन्दीके सुपुत्रोंने वैसा प्रयत्न अब तक नहीं किया। नवशिक्षित सुयोग्य पुरुषोंपर ही हिन्दीका भविष्य भी निर्भर करता है। उनको उचित है कि हिन्दीके उपयुक्त अध्यापक और आचार्योंसे हिन्दीकी यथायोग्य अभिज्ञता लाभकर अंग्रेजीसे शिल्प, विज्ञान, दर्शन और रसायन आदि उपयोगी शास्त्रोंकी उत्तमोत्तम पुस्तकोंकी रचनासे अपने साहित्य-भण्डारको परिपूर्ण कर लें। इस विषयमें शब्दोंकी परिभाषा बनानेका बुद्धिमत्तापूर्वक संस्कृतके अटूट शब्द-भण्डारसे वैसी दशामें पूरा सहारा लेना उचित है कि जहां हिन्दीके शब्दोंसे प्रयोजन सिद्धि होना असम्भव दिखे। प्राथमिक शिक्षासे प्रारम्भ कर उच्चतम शिक्षाकी पाठ्यपुस्तकोंकी यथायोग्य समालोचना और लोकमतसे हुई परिषद्के द्वारा पुस्तकोंका संशोधन आदि प्रतिवर्ष होना भी हिन्दीकी उन्नतिके लिये परमावश्यकीय है। क्योंकि उयुक्त समालोचकोंका हिन्दी-साहित्य-क्षेत्रमें अभाव सा ही दिया है।



अब हिन्दी-साहित्यकी उर्दू से सम्पूर्ण विभिन्नताका प्रत्यक्ष अनुभव करानेके लिये हिन्दी-साहित्यका यथार्थ स्वरूप क्या है? संक्षेपसे उसके निर्णयकी पूरी आवश्यकता है। बिना हिन्दीसाहित्यका स्वरूपज्ञान हुए, न तो इसकी पहचान ही हो सकती है। साहित्यकी व्याख्या अब तक नवीन प्राचीन एकसे एक चिन्ताशील मर्म्मज्ञ अनेकों सुरसिकवरोंने की है। कोई कहते हैं कि साहित्य स्वर्गकी सुधा है, यह व्यक्ति विशेषकी सम्पत्ति नहीं, रचियताकी भी निजकी वस्तु नहीं, यह देवताओंकी अमृतमयी रसीली वाणी है। कोई कहते हैं—स्त्री पुरुषोंकी विचारशक्तिको पुष्ट कर, विज्ञान और विवेक वुद्धिका गठजोड़ा बाँध, सार्वजनिक कर्त्तव्य, वुद्धि और सब सद्गुणों सहित शील सम्पन्न बनानेके साथ ही मनुष्योंके मनको सर्वोत्कृष्ट अपूर्व रसास्वादनका आनन्द उपभोग करानेके अद्वितीय साधनका नाम ही साहित्य है। मैं भी इन विद्वानोंके स्वरमें अपना स्वर मिला यही कहता हूं कि—सरद पूनोंके समुदितपूरनचन्दकी छिटकी जुन्हाई सकल मनभाईके भी मुँह मसिमल, पूजनीय अलौकिक पदनखचन्द्रिकाकी चमकके आगे तेजहीन मलीन औ कलंकितकर दरसाती, लजाती, सरस सुधा धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती अशेष मोह जड़ता प्रगाढ़ तमतोम सटकाती मुकाती निजभक्तजनमन वाञ्छित वराभय भुक्ति मुक्ति सुचारु चारों मुक्त हाथोंसे मुक्ति लुटाती सकलकला आलाप कलकलित सुललित सुरीली मीड़ गमक झनकारसुतारतार सुरग्राम अभिराम लसित बीन प्रवीन पुस्तकाकलित मखमलसे समधिक सुकोमल अति सुन्दर सुविमल लाल प्रवालसे लाल लाल करपल्लवश्र सुहाती विविधविद्याविज्ञान सुभ सौरभ सरसाते विकसे फूले सुमनप्रकास हास बासवसे अनयास सुगन्धित सित बसन लसन सोहा सुप्रभा विकसाती सुविमल मानस विहारी मुक्ताहारी नीर क्षीर विचार सुचतुर कवि कोविद राजराजहियसिंहासन निवासिनी मन्दहासिनी त्रिलोक प्रकासिनी सरस्वती माताके अति दुलारे प्राणोंसे प्यारे पुत्रोंकी अनुपम अनोखी अतुलबलवाली परमप्रभावशाली सुजन मनमोहिनी नवरस भरी सरस सुखद विचित्र वचन रचनाका नाम ही साहित्य है। हिन्दीसाहित्य अनुपम नन्दनकाननमें कानोंको

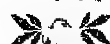
तृप्त करनेवाली कलकंठी कोइलकी सुमधुर कुहूक और सुरसिक मधुपोंकी गुञ्जार, बारहों मास साज समाज सहित ऋतुराजकी अनुपमेय शोभा दिखाती, मनलुभाती, सघनकुञ्जसे आती सुगन्धसनी पवित्रपवनके झकोरोंसे परम प्रसन्न करती, सुकविकी इस भावभरी सरस उक्तिको स्मरण कराती है कि—"सघन कुञ्ज छायासुखद, शीतल मन्द समीर। मन है जात अजौं है वा जमुनाके तीर"। हिन्दीकी पुष्पवाटिकामें तभी तो—"सबै फूल फूले फबे चारु सोंहैं, भ्रमैं भौंर भूले, भले चित्त मोहैं। बहैं मन्द ही मन्द ही वायु हरे, सुवासे सबै भांति सों सोभपूरे। जयन्ती जपा जातिके वृक्ष नाना, धरे हैं कहूं कोदसों मोद नाना। समेलो नवेलीनको रूप राचैं, लता लोलिनी लोल है नाच नाचै। कहूं माधवी मल्लिकाको वितानों, झरें फूल लाजानिको व्याजमानो। कहूं वेनुहू वेनुसीलें बजावें, मलिन्दी कहूं मत्त है राग गावैं। कहूं कोकिलाली कुहूकें पुकारें, चकोरी कहूं शब्द ऊंचे उचारें। कहूं चातकी सातकी भाव लीने, जकीसी चकीसी कहूं चित्त दीने।" आदि पदोंसे कवियोंकी प्रवीनवीनके सुरीले रागोंके सुमधुर समालाप सौगुना अनुराग बढ़ाते हैं।

परन्तु स्वच्छ दर्पणपर ही अनुरूप यथार्थ सुस्पष्ट प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है। उससे साम्हना होते ही अपनी ही प्रतिबिम्बित प्रतिकृति, मानों समताकी स्पर्धामें आ, उसी समय साम्हना करने साम्हने आखड़ी होती है। भला, कहीं अंधेरी कोठरीकी मिट्टीकी अति मलिन पुरानी भीतमें भी कभी किसीका मुंह दिखायी दिया है? अथवा उसपर किसी बिम्बका प्रतिबिम्ब क्या कभी पड़ सकता है? काव्यसाहित्यके यथार्थ मर्म्मको न समझनेवाले अरसिकोंके मन भी वैसी ही कालकोठरीके समान सदा घनघोर गाढ़े अंधेरे धुएंसे मोहाच्छन्न उस अनुपमेय कविरचित छविका प्रतिबिम्ब वा यथार्थ भावग्रहण करनेमें सब प्रकारसे असमर्थ होते हैं। यह कारण है कि भाग्यवश



कभी संयोग हो भी जाता है तथापि कोरेके कोरे वैसे ही बने रहते हैं। उनपर उसकी आभा तक नहीं झलकती।

जिस सुजन समाजमें सहस्रोंका समागम बन जाता है, जहाँ पठित, कोविद, क्रूर, सुरसिक, अरसिक सब श्रेणीके मनुष्यमात्रका समावेश है, वहाँ जिससमय सुकवि सुपण्डितोंके मस्तिष्क सुमेरुके सोतेके अदृश्य प्रवाहसम प्रगल्भप्रतिभास्रोतसे समुत्पन्नशब्दकल्पनाकलित अभिनव-भावमाधुरीभरी छलकती अतिमधुररसीलीस्रोतःस्वती उस हंसवाहिनी हिन्दी सरस्वतीकी कविकी सुवर्णविन्याससमुत्सुकसरसरसनारूपी सुचमत्कारी उत्स (झरने) से कलरवकलकलित अति सुललित प्रबल-प्रवाहसा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ रसिकोंके श्रवणपुटरंध्रकी राह, मनतक पहुंच सुधासे सरसअनुपमकाव्यरस चखाता है ; उस समय उपस्थित श्रोतामात्र यद्यपि छन्दवन्दसे स्वच्छन्द समुच्चारित शब्दलहरी-प्रवाहपुञ्जका समभावसे श्रवण करते हैं ; परन्तु उसका चमत्कार आनन्द-रसास्वादन सबको समतुल्य नहीं होता। जिसमें जितनी योग्यता है, जो जैसा मर्मज्ञ और रसज्ञ है, शिक्षासे सुसंस्कृत हो जिसका मन जितना अधिक सर्वाङ्गसुन्दरतासम्पन्न हुआ है, जिसमें जैसी धारणाशक्ति और बुद्धि है, वह तदनुसार ही उससे सारासंग्रहण और रसका आस्वादन भी करता है। अपने मनकी स्वच्छता, योग्यता और सम्पन्नताके अनुरूप ही उस चमत्कारी अपरूप रूपका चमकीला प्रतिबिम्ब भी उसके मनपर पड़ता है। परम वदान्य मान्यवर कवि कोविद तो सुधावारिदसे सबपर समभावसे खुले जी, खुले हाथों, सुरस बरसाते हैं ; परन्तु सुरसिक-समाज पुष्पवाटिकाके किसी प्रान्तमें पतित ऊसर समान मूसरचन्द मन्दमति मूर्ख और अरसिकोंके मन मरुस्थलपर भाग्यवश सुसंसर्गप्रतापसे निपतित उन सुधासे सरसबूँदोंके भी अन्तरिक्षमें ही स्वाभाविक विलीन होजानेसे बिचारे उस नवेली नवरस भरी सुधाकी बरसातमें भी अतृप्त, प्यासे और जैसे थे वैसे ही शुष्क नीरस



पड़े धूल उड़ाते है। कवि कोविदोंकी कोमल कल्पनाकलित कमनीय कान्तिकी छाया उनके वैसे प्रगाढ़ तमाच्छन्न मलिन मनपर कैसे पड़ सकती है?

परन्तु मन्दमति अरसिकोंके अयोग्य मलिन, अथवा कुशाग्रबुद्धि चतुरोंके स्वच्छ मलहीन मनको भी यथोचित शिक्षासे उपयुक्त बना लिये बिना, उनपर कविकी परमरसीलीउक्ति छविछबीलीका अलंकृत-नखसिखलों स्वच्छ सर्वाङ्ग-सुन्दर अनुरूप यथार्थ प्रतिविम्ब कभी न पड़ेगा। जैसे अति स्वच्छ समतल काँचफलकपर भी जब तक पारद संयोगसे 'कलई' न चढ़ाई जायगी, तब तक (कांच) अनुरूप रूपको यथार्थ रूपमें प्रतिविम्बित दिखानेमें सर्वथा असमर्थ रहेगा। वैसे ही सर्वोत्तम बुद्धिमानको भी जब तक श्रीगुरुचरणशरणमें जा, साहित्य-शास्त्रकी यथार्थ शिक्षासे ठीक संस्कार न उत्पन्न हो लेगा तब तक उसके उस कांचफलकसम स्वाभाविक स्वच्छ मनपर भी कविउक्ति-रूपिणी उस अनूप सुन्दरी छविका जैसा चाहिये वैसा अनुरूप सर्वाङ्ग-सम्पन्न सुस्पष्टसुन्दरचित्र तो कभी अङ्कित ही न हो सकेगा। मन्द-मतिके अतिमलिनमनको रगड़ मांज उसपरसे पुरानीसे पुरानी जमी हुई मलिनताकी गाढ़ी कालिमाको धो पोंछ कर उसी ही रीतिसे निपुणताके साथ दूर करना होगा कि जिस रीतिसे पुराने विशेष मलीन काँचको पूरी सावधानीसे जल और क्षारसंयोगसे पुलके हाथों (कारण बलप्रयोग-से दोनों टूट कर निकम्मे हो जाते हैं) उत्तमतासे स्वच्छकार, कलई-गर उन्हें कलई चढ़ाने योग्य कर लेता है। बुद्धिमानोंके मन स्वभावतः स्वच्छ होते हैं, इसलिये प्रारम्भमें ही उनके उस प्रकारसे माँजने धोनेकी आवश्यकता नहीं होती; बस इतनी ही विशेषता है।

यथोचित शिक्षा संस्कार सम्पन्न सुशिक्षित मन ही विषयोंका यथार्थ प्रतिविम्ब ग्रहण करनेमें समर्थ हो, ज्ञानलाभ करते हैं। जिसको जिस विद्याका ज्ञान है वह उसका ही मर्मज्ञ भी होता है, दूसरीका नहीं। केवल

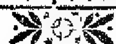


शुष्क वैयाकरणकी तो गणना ही क्या है ? साहित्यशास्त्रानभिज्ञ छवो शास्त्रका पारदर्शी क्यों न हो जाय . परन्तु कविताका सम्यक् रसास्वाद तो दूरकी बात है, साधारण कविताके अक्षरार्थ समझनेपर भी यथार्थ भावग्रहण करनेको सिर धुनता और हाथ पटकता हो आजन्म भटकता रहेगा। तथापि बिना काव्यके यथार्थ मर्म्मज्ञके चरणों-का आश्रय लिये, कविकी निगूढ़ रसीलीकटीली चमत्कारी ध्वनिका पूर्णरूपसे भाव समझकर, शान्ति लाभ न कर सकेगा। इसलिये साहित्यकी यथायोग्य शिक्षाका सुप्रबन्ध करना सबसे पहला कर्त्तव्य समझना चाहिये। शिक्षा और विषयभेदसे भाषा भी विविध रूपकी लिखी जाती है और उनकी वाक्यरचनाशैली और पदविन्यास भी स्वतन्त्र नियमानुसार किये जाते हैं। एक ही प्रकारकी भाषाका सर्वत्र प्रचलन जो महानुभाव किया चाहते हैं वे एक ही रस्सीमें सबको एक साथ बाँधनेकी अनहोनी चेष्टासे निस्सन्देह हास्यास्पद होनेका ही निकम्मा प्रयत्न करते हैं। भाषाकी कठिनता या सरलता विषय और अपनी अपनी योग्यतानुसार ही समझी जाती है। दार्शनिक अध्यापकके लिये जिस भाषाका समझना सहज है निम्न कक्षाके विद्यार्थीके लिये वह परम दुरुह, लोहेके चने हैं। सुकवि जिन भावोंको सहजमें समझते समझाते हैं, शब्दार्थ समझनेपर भी शुष्क वैयाकरण, दार्शनिक वा मीमांसक उसे समझ ही नहीं सकते। सबके लिये सब विषय वा सबके लिये सब प्रकारकी भाषाएँ सहज भी नहीं और दुरुह भी नहीं हो सकतीं। अवश्य भाषाकी जटिलता किसी विषयमें भी साध्यानुसार न रहने देनी चाहिये। ऐसी सरल भाषा ही सर्वोत्तम कहाती है कि जिसके श्रवणमात्रसे अर्थबोध होकर भाव पूर्णतया समझमें आ जाय। परन्तु विषयकी अत्यन्त गम्भीरता और कठिनता-के आगे भाषा सरलसे सरल लिखनेकी चेष्टा करनेपर भी अभीष्ट विषयका समझाना सर्वत्र न तो भाषाके अधिकारमें है और न सबको

समझ ही एकसी भावग्राहिणी संसारमें देखनेमें आती है।

सामर्थ्यानुसार सब विषयोंको सरल भाषामें लिखना ही उचित है। परन्तु समासलिप्तपद और लम्बे वाक्योंसे जैसी विशेष घृणा इस समय सुशिक्षितोंमें दिखती है, उसकी प्रशंसा मैं नहीं कर सकता। कारण यह कि, संस्कृतके साहित्यभाण्डारमें पद्य ग्रन्थोंकी अपेक्षा गद्य ग्रन्थोंका इतना अभाव है कि नहींसे ही समझने चाहियें। उल्लेखयोग्य कादम्बरी और दशकुमार चरित ये दो ही हैं। इनकी रचनाचातुरी विशिष्ट सरसपदविन्यासशैली सुदीर्घवाक्योंसे ही समलंकृत है। तथापि केवल संस्कृतज्ञ ही नहीं संसारभरके विद्वान् इन दोनों ग्रन्थोंकी परमोत्तम रसभावमयी भाषाकी सौ सौ मुँहसे प्रशंसा ही करते हैं। हां, इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृतके सुपण्डितों-में भी आजतक वैसी भाषामें ग्रन्थरचना करनेवाले महानुभावोंने जन्म ग्रहण नहीं किया। साहित्यकी वैसी ऊँची भाषाका लिखना भी दुरूह है और समझना भी। परन्तु वैसी परमोत्तम भाषासे घृणा करना अथवा उसे व्यर्थका दूषण देना सर्वथा अनुचित है। हिन्दी साहित्यसेवियोंका सबसे प्रधान उद्देश्य अपना यह समझना उचित है कि भाषाको उस योग्य बनायें कि जिसमें सब प्रकारके भावों-का प्रकाशित करना सहज हो और भावप्रकाश करने योग्य शब्दोंसे हिन्दीका भाण्डार दिनोंदिन परिपुष्ट होता रहे। क्योंकि, जिस भाषामें वैसे शब्दोंका ही अभाव होगा, वह भाव प्रकाश करनेमें कब समर्थ होगी। शब्दसम्पत्ति ही भाषाका प्राण समझा जाता है।

इन दिनों हिन्दीके बहुतेरे सुलेखक बङ्गभाषासे अनुवाद कर हिन्दी-की पुष्टिसाधन करनेमें यत्नवान दिखते हैं। उत्तम विषयोंका भाषा-न्तर करना बुरा नहीं, प्रत्युत हितकर ही होता है। परन्तु अनुवाद करनेकी योग्यता लेखकमें पूरी पूरी होनी चाहिये। दुःखका विषय है कि, इसका हिन्दी लेखकोंमें बड़ा ही अभाव है। केवल विसर्ग



चिन्ह और क्रियाओंके हिन्दीरूपसे लिखना ही अनुवादक अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री मानते हैं। इसलिये ही हिन्दीमें बहुतसे अशुद्ध बङ्गला शब्दोंका प्रचलन होनेके साथ ही बङ्गलापन आता जाता है। बहुतसे स्थलोंपर तो अनुवादकोंकी अयोग्यतासे अर्थका अनर्थ भी सङ्घटित होता है। "उस समय कृतकार्य्य लोगोंकी राह अनुसरण-कर उनको केन्द्र बना दल दलमें लोग आते हैं, चिन्ता और कर्मके केन्द्रको पूरा कर डालते हैं।" इस उदाहरणमें ऊपरकी लिखी सब बातें प्रत्यक्ष हैं। बङ्गला "दले दले" का अनुवाद लेखकने "दलदल" में कर बिचारी हिन्दीको सचमुच दलदलमें ही फँसा दिया है। ऐसे अनुवाद हिन्दीमें न होने चाहियें।

सबसे पहले व्याकरणका उद्धार कर्त्तव्य है। व्याकरणोंकी जैसी दुर्दशा इस समय वर्तमान है तदनुसार हिन्दी पढ़नेवालोंका काठिन्य विशेष बढ़ता जाता है, परन्तु व्युत्पत्ति और ज्ञान इन व्याकरणोंसे यथोचित नहीं होता। दो श्रेणीके व्याकरणोंका बनना परामर्शसिद्ध है। प्रथम तो बालकोंके लिये व्याकरणकी मोटी बातोंको सुगमताके साथ सहजमें समझानेवाली छोटी छोटी पोथियोंका प्राथमिक शिक्षाके विद्यालयोंमें प्रचार होना परमोचित है। परिपक्व ज्ञानवाले ऊँची श्रेणीके और हिन्दीके अनुरागी अभिज्ञ गृहस्थोंके लिये सर्वाङ्गसम्पन्न ऐसा व्याकरण बनना चाहिये कि जिसमें विवादास्पद विषयोंकी मीमांसा और वर्णविन्याससे आरम्भकर सुबन्त, तद्धित, कृदन्त, कारक, समास, विभक्त्यर्थ निर्णयप्रकरण और तिङन्त क्रियाओंके सहित असमापिका क्रियाके विषयमें भी यथायोग्य विशदरीतिके नियम परिभाषा और कठिन विषयोंको विस्तारसे सहजमें समझानेके लिये किसी प्रकरणकी भी त्रुटि न हो। जबतक ऐसे व्याकरणोंका प्रचार न होगा, तबतक हिन्दीका परिज्ञान अथवा यथार्थ शिक्षाका अभाव ही रहेगा। कोषरचनासे भी पहले ही व्याकरणका ऊपर लिखी हुई

रीतिसे बनना अभीष्ट है।

आनन्दका विषय है कि काशीकी नागरीप्रचारणी सभा विशेष यत्न और परिश्रमसे हिन्दीकोष बनानेको अग्रसर हुई है। तत्सम तद्भव देशज शब्दोंकी व्युत्पत्ति दिखानेके साथ ही अर्थ समझानेको प्रसिद्ध कवि और लेखकोंके ग्रन्थोसे शब्दोंके उदाहरण देनेकी विशेष आवश्यकता है। आशा है कि कोषसम्पादकोंने इस विषयमें त्रुटि न की होगी। लिङ्गनिर्णय और लेखप्रणालीका विषय भी हिन्दीमें विशेष जटिल है। बाबू भगवान दास हालनाके पत्रानुसार यदि कोष समितिने एक ही "ब" से काम निकालना उत्तम समझा हो, तो निस्सन्देह भूल की, अन्य शब्दोंकी लेखप्रणालीकी अशुद्धतापर भी इस दशामें पूरा ध्यान देना असम्भव ही दिखता है। प्रथमसे ही सावधान हो इन दोषोंको कोषमें न आने देना ही उत्तम होगा।

हिन्दीका परम दुर्भाग्य है कि एक एक कर इसकी यथोचित सेवा करनेवाले सुयोग्य पुत्ररत्न इसकी गोद सूनी करते जाते हैं। उनका अभाव पूरा करनेवालोंका सद्भाव नहीं दिखता। बहुतोंके लिये रो चुके और रो ही रहे थे कि, इस सत्यानाशी वर्षने महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, जैसे हिन्दीहितैषीको हमसे सदाके लिये छीन लिया। आप उस समयसे हिन्दीकी सेवामें तत्पर थे, कि जिस समय गोलोकवासी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रकी अपूर्व प्रतिभाप्रसूनकी सुगन्धिसे भारतवर्ष महक उठा था। अपनी इस वृद्धावस्थामें भी सुधाकरजीने हिन्दीकी सेवासे मुँह नहीं मोड़ा था। इनकी शोचनीय मृत्युसे जैसा अभाव हुआ है, उसकी पूर्तिका होना सहज नहीं दिखता। साथही परम कष्टसे सोदरसम भाई दुर्गाप्रसाद मिश्रके असमय वियोगका उल्लेख करते भी मर्मवेदना उपस्थित होती है। साहित्यसेवा सम्बन्धके अतिरिक्त मेरे वह बालसखा थे और उनकी इस हृदय विदारक मृत्युसे तो मानो मेरा दहना हाथ ही टूट गया। इनके अभावका कष्ट औरोंकी अपेक्षा



मुझको अत्यन्त अधिक हैं, इसलिये इनके विषयमें अधिक कहनेकी सामर्थ्य भी मुझमें नहीं है। पं० पुसनलाल शर्म्मा भी अकाल ही कालकवलित हुए। आप "मोहिनी"का सम्पादन योग्यतासे करते थे और सारस्वत ब्राह्मण थे। आपकी देशभक्ति और मातृसेवा प्रशंसनीय थी, क्योंकि प्रेसएक्टके पहले ही "मोहिनी" के स्वत्वाधिकारियोंने समयकी कठिनता देख सम्बन्ध छोड़ दिया था; परन्तु आपने पत्रिकाको बन्द न होने दिया और अपने सिर पूरा बोझा लेकर प्रेस एक्ट होनेपर भी बराबर योग्यताके साथ सम्पादन किया। हा! कैसे कष्टका विषय है कि उनकी अकाल मृत्युसे "मोहिनी" भी संसारसे उठ गयी। सज्जनों, अब मैं अपने कथनको समाप्त करूंगा। हिन्दीभाषाभाषियोंमें चुने हुए सुयोग्य विद्वानोंकी यह परिषद् है। इसके सदस्यमात्र बहुज्ञ और कार्य्यकुशल हैं। उनके आगे विशेष कहनेकी आवश्यकता न होनेपर भी मैंने बहुत सा समय लेनेकी ढिठाई की है। परन्तु मुझे आशा है कि मेरी प्रार्थनाओंका सविशेष ध्यानकर जिन विषयोंके पहले सम्पन्न करनेकी आवश्यकता है, उनको शीघ्र ही अपने निरपेक्ष यथायोग्य विचारसे भविष्य कार्य्यप्रणाल अनुसार कार्य्यमें परिणतकर हिन्दीका हित पूर्णतया करना ही कर्त्तव्य समझेंगे और भ्रम या भूलसे जिन विषयोंका उल्लेख मैंने किया हो प्रसङ्ग आने पर उनका ध्यान भी अवश्यही दिलावेंगे। विशेष बुद्धिमानोंसे कहनेकी आवश्यकता नहीं। ईश्वर शीघ्रही हिन्दी और हिन्दीभाषा-भाषियोंके अभावोंको दूर कर भारतकी सुखसमृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ावें, यही प्रार्थनीय है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

विविध-विषय

षट ऋतु वर्णन

बसन्त

संसार-चक्र-परिचालक सृष्टि-रचना-चतुर दयासागर-भगवानकी अपार-दयाका वारापार नहीं है। देखिये, जीवमात्रके पालन, पोषण, सुख और कल्याणके लिये उस सृष्टिकर्त्ताने कैसी अनोखी चातुर्यपूर्ण सर्वोपकारी सृष्टि रची है। ऐसे प्राकृतिक-नियम-परिचालित अनन्त विश्वब्रह्माण्डभरमें अपने अपने समयपर आपसे आप देखतेही देखते परिवर्त्तन होते रहते हैं। सदा एकसी अवस्था नहीं रहने पाती। इसलिये ही परिवर्त्तनशील जगत या संसार नामसे बुद्धिमान इसका नाम करण करते हैं। समय भी परिवर्त्तनशील है। कभी जाड़ा, कभी गरमी, कभी बरसात कभी बसन्त, अपनी अपनी पारीसे छवों ऋतु (मौसिम) प्रतिवर्ष आती जाती रहती हैं। वर्षके बारहों मास छै भागोंमें बंटे हुए हैं। इसलिये प्रत्येक ऋतु का प्रभाव प्रायः दो महीनेतक छाया रहता है। जो कहीं एक ही ऋतु बराबर बारहों मास बनी रहती तो हम लोगोंको कैसा कष्ट उठाना पड़ता। लगातार बारहों महीने मूसलाधार मेंह बरसा करता तो धरनीपर पैर धरनेको कहीं ठिकाना ही न मिलता। महानगर, नगर, गांव आदि सब बह जाते; खेत डूबकर सड़ जाते, अन्न भी न उपजता। उस दशामें भूखोंके मारे निराश्रय जीवोंकी न जाने क्या दुर्दशा होती। त्राहि त्राहि, इन भयावनी अनहोनी बातोंके विचारने वा ध्यान करनेसे भी हिया कांप उठता है।

परन्तु उस दयामय जगत्पिता और जगन्माता परमेश्वरकी अपार सृष्टिमें उसके प्रवर्तित नियमों वा उसकी मर्य्यादाका नाश होना सर्वथा असम्भव है। उसकी महिमा, शक्ति और दया अपार हैं। जो कुछ परिवर्त्तन होता है वह भी प्राणियोंके कल्याण वा भलेको ही। ऋतु-परिवर्त्तन भी संसारके हितार्थ ही होता है। विधाता-की सृष्टि-रचना चातुरी-विशेष ध्यानदेने योग्य है। ऋतु छय हैं, और प्रत्येक ऋतु ही प्रायः दो महीने रहती है। बसन्त, ग्रीष्म, पावस, शरद, हेमन्त और शिशिर ही उन छवों ऋतुओंके नाम हैं। विचित्र चित्ताकर्षक गुण, प्रभाव, सौन्दर्य आदि अतुल सम्पत्तिका अधिकार मिलनेसे बसन्त सब ऋतुओंमें अधिक प्रभावशाली "ऋतुराज" पदवीसे गौरवान्वित और सर्वश्रेष्ठ है।

सुविशाल भारतवर्षमें प्रान्तीय देश-भेदसे कहीं फागुन और चैतके महीनेमें और किसी किसी प्रान्तमें चैत्र और वैशाखमें ही ऋतुराज बसन्तका अधिकार हो जाता है। बसन्त ऋतुमें मलयाचलसे चलकर आयी दक्षिणकी बसन्ती मलयमारुत मन्दगतिसे प्रवाहित होने लगती है। शीतल धीमी और सुगन्धसनी बसन्तकी हिय हुलसावनी हवा बड़ी ही प्यारी लगती है। इसके लगते ही रोम रोम पुलकित हो

हृदयकुञ्ज मानों प्रफुल्लित हो आनन्दसरमें नाचने लग जाता है। इन दिनों आकाश मण्डलका स्वच्छ नीला रंग कुछ गहरा होने लगता है। धूपकी तेजी भी एक अनुपम विचित्र प्रभा दिखाती है। पृथ्वीसे आकाश तक जिधर दृष्टि दौड़ाइये सुन्दरताकी अपूर्व छटा मनको मोहित कर लेती है। वन-उपवनोंमें विविध जातिके रसाल आदि पेड़ पौधे, मालती आदि लता, गुल्म सुशोभित वनस्पतिमात्रकी जैसी सुहावनी, मनभावनी अनोखी छवि वसन्तमें देखनेमें आती है। वैसी फिर अन्यत्र कभी नहीं। नयेनये कोमल चमचम चमकते हुए कोंपल रंगरंगके डहडहे विविध कटावके चिकने हरेहरे छोटे बड़े पत्ते और लाल, हरी, पीली, धानी, बैंगनी, आस्मानी आदि रंग बेरंगी सुकोमल टहनी और परम सुकुमारी डालियोंके झुकावसे चारों ओर शोभा दिन दूनी बढ़ने लगती है। शिशिर ऋतुके अन्तकी पत-झड़से एक भी पुराना सूखा पत्ता कहीं नामको भी नहीं रहने पाता। सब नये हो नये अपने नित नये रङ्ग दिखाते हैं। मानों नये वस्त्र आभूषणोंसे सुसज्जित हो नयी सजधजसे ऋतुराजकी अभ्यर्थना और अगवानीको निराली छटासे सबके सब एकता साध कतार बाँधकर खड़े हो जाते हैं। विविध पीले फूलोंका केसरिया जामा, सूरजमुखी और स्थल पद्म आदिकी अनुपम शोभामयी पगड़ियों-पर गेंदा गुलदाउदी आदिके तुर्रे और कुसुमकलीकी कलंगी लगाये, फूलोंकी छड़ी और भाले हाथोंमें लिये वीरवाहिनीको शोभाको भी लजाते हैं। जिधर आँखें-दौड़ाकर देखिये उधर ही टकटकी लग जाती है। अमराईके आम बौरे हैं और वनस्थलीको अपनी मीठी मीठी सोंधी सुगन्धिसे आमोदित कर रहे हैं। इन अति-रसीले सुरसिक रसालोंसे लिपटी हुई सुहाग-गरबीली मालती लता भी ऐसी फूली है कि फूलोंसे पत्ते भी छिप गये हैं। मानों फूलोंकी नयी सुन्दर ओढ़नी ओढ़कर एकान्त निर्जन वनमें भी लज्जावती कुलाङ्गना घूंघट काढ़ अपनी चिर सहचरी लज्जा-की मर्यादा निबाह रही है। उधर गुलाबकी नयी उभरती रंगीली कलियोंकी सुडौल उभार सुन्दरता और चटक मटकसे रसलोभी सुरसिक प्रवीण भौंरोंके झुंडके झुंड खिंचे चले आते, अपनी तरङ्गमें मन ही मन क्या क्या सोचते,गुनगुनाते नोकीली कलियों-पर अपना सहजमें अधिकार न पाते चारों ओर मडराते रसीली तान सुनाते मानों वशीकरण मन्त्र जगा रहे हैं। मीठी रसीली गुनगुनाहटसे रिझा रिझा मानों नवोढ़ा मुग्धाको विविध विधिसे फुसला उसकी झिझक मिटानेको तनमनसे नियुक्त हैं। उधर उनकी रक्षाको कांटेदार गुलाबकी डालोंके पैने नोकीले कांटे, कन्दर्प-दर्पहर हरके त्रिशूलसे भयङ्कर बना उन मधुकरोंको जुदाही सता रहे हैं। प्रीतिके आकर्षणके आगे त्रिशूल विद्ध हो प्राण देनेसे भी डरकर उत्तरोत्तर अधिक अनुरागसे चक्कर लगाते प्रेमा-न्ध मधुकरोंकी तल्लीनतापर प्रफुल्लित सुमनोत्तम गुलाबोंके सच्चे गुनग्राहक दल ऐसे फूल रहे हैं कि फूले अंगों नहीं समाते। इसलिये उनकी मनोहर सुगन्ध भी दूर दूर तक फैलती हुई वनस्थलीको "मह मह" महका रही है। सुशीतल मन्द गति वायु भी अपने गन्ध वहनामको सार्थक करती निराली सुखद गतिसे सर्वत्र प्रवाहित हो रही है। मानों सुमन शिरोमणि गुलाबोंके सुयश-सौरभको दूरतक निस्वार्थ भावसे फैलाना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य धर्म्म समझ रही है।

परन्तु प्रथम तो सबकी प्रकृति एक सी नहीं होती। एकही वंशक भाई बहिन और पिता पुत्रकी प्रकृति भिन्न भिन्न प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। दूसरे अवस्था-भेदसे भी समझमें विशेष अन्तर उत्पन्न हुआ ही करता है। चढ़ती जवानी और लड़कईको सन्धिकी अवस्थामें दम्भ, मद, चपलता और अविवेक आदि अपना पूरा प्रभाव दिखाते ही हैं। इसलिये, उनमें कोई कोई पूरी उभरी कली जोवनमदके जोशमें आ चटक चटक मुंहकारे काले कुटिल भौरोंपर बिगड़कर क्रोध दिखाती थर थर कांपती हुई भी स्वाभाविक अपनी अतुल सुन्दरतासे भावग्राही सुरसिक दर्शकोंका मन जबरदस्ती खींच कर हर लेती हैं। खिलते फूलोंको सुगन्ध और सुन्दरता चढ़ी बढ़ी हो चहुं ओर फैली फबी मानों होड़सी बद्कर मैदानमें उतर पड़ी है। सरसोंके फूलनेसे जिस ओर दृष्टि फैलाकर देखो खेतके खेत बसन्ती हो बसन्ती बने ऋतुराज बसन्त महाराजकी महिमा मानों प्रत्यक्ष दरसा रहे हैं। मद माती कोयिलकी छरीली कुहुक पंचम स्वरसे भी कुछ ऊंची तानें सुना सुना ऋतुराजको जुदा ही रिझाती, उनके ही गुन गारही हैं। साथही रंग रंगके पखेरू नये विकसे फूल पत्ते और फलोंका स्वाद चख मन मगन हो तमाल रसाल और अशोककी सघन डालियोंपर नाच नाचकर चहकते हुए समयका राग अलाप कर समा बांध रहे हैं। क्या ही सुहावना समय है! इन गुणोंके कारण ही बसन्त सब ऋतुओंमें श्रेष्ठ और ऋतुराज माना गया है।

ग्रीष्म वा गरमी

वैशाख और ज्येष्ठके महीनोंमें गरमी पड़ती है। इसऋतुमें धूप बड़ी ही कड़ी पड़ने लगती है। दोपहरियाके समय घरसे बाहर पाँव निकालनेको चित्त नहीं चाहता। घरके अन्दर ठंडी छांहमें बैठे रहनेपर भी सारे शरीरसे पसीनेकी धारा बहती है। दम-पर दम मुंह सूखता और प्यास लगती है। सबको ठंडी जगहका आश्रय लेना पड़ता है। ईश्वरकी कृपा वा पूर्व जन्मकी कमाईके कारण जन्मसे ही जो धनवान हैं वे तो आनन्द-पूर्वक तहखाने औ खसखानोंमें सीतलपाटियोंपर पड़े चैनसे दिन बिताते हैं, परन्तु गरीब दुखिया बेचारे टूटी फूटी सी झोंपड़ीमें पड़े तपते या किसी घने पेड़की ठंढी छांह तले आसरा ले लेते हैं। बहुतेरोंके भाग्यमें तो इतना सा सुख भी विधाताने नहीं लिखा। जो बेचारे डोली या पालकी ढोकर अपनी जोविका निर्वाह करते हैं, उन्हें तो उस जलती दोपहरियामें भी सवारी अपने कंधोंपर उठाये दौड़ना पड़ता है। तिसपर तुर्रा यह कि जिनको अपनी पालकोमें ढोकर दूरसे लाते हैं, पालकीसे उतरते ही उनकी प्रसन्नताके लिये उनको पंखेकी हवा भी इन बेचारोंको ही करनी पड़ती है। सच पूछो तो दम लेनेकी और हवासे ठंढे होनेकी जैसी और जितनी आवश्यकता पालकी उठाकर लानेवालोंको है, वैसी उसपर लेटे हुए आनेवालेको कभी नहीं। परन्तु बेचारे गरीब दुखियाओंके कष्टका ध्यान किसे है? धनके मदसे प्रायः अन्धे होकर ही लोग ऐसा अन्याय करनेसे नहीं हिचकते। इतना तो सोचना उचित है कि निर्धन औ दुखिया होनेपर भी है तो वह भी मनुष्य ही। उसका शरीर भी तुम्हारी तरह रक्त और मांस आदिका ही है। जब धूपकी तेजीसे बिना श्रम किये ही तुमें ऐसी व्याकुलता है तो मनोंका बोझ अपने कन्धोंपर उठाये दौड़ते आनेवालोंके कष्टका अनुमान भी तो क्षणभरके लिये अवश्य करना उचित है।

गरमीके दिनोंमें हवा बड़ी गरम चलती है। इसको लूह चलना भी कहते हैं। दो-पहरियाकी लूहमें भरसक घरसे बाहर बच्चोंको तो निकलने ही न देना चाहिये। क्यों कि उस समय प्रायशः किसीको लूह मार जाती है तो वह अचेत हो भूमिपर बेसुध गिर पड़ता है। ठीक ठीक यत्न और उपचारके समयपर न होनेसे प्राणतक निकल जाते हैं। पश्चिममें अनेकों नगरोंमें तो रातको भी शीतल पवन नहीं चलती। भोरसे रात तक गरम हवा तपाया ही करती है। इंदारेके सुशीतल जलसे गरमीके कष्टका विशेष लाघव होता है। इस ऋतुमें भी दया निधान भगवानकी कृपासे आम, जामुन, तरबूज, ककड़ी, खरबूजे, खिरनी, फालसे, शहतूत, लीची, गुलाब-जामुन आदि भाँति भाँतिके स्वादिष्ट फल अधिकाईसे फलते हैं। गरमीमें अन्न कुछ कमती ही खाना और पके उत्तम मीठे ठंढे फलोंका भोजन करने बाद खाना गुणकारक है।

अच्छे लड़के गरमीकी कड़ी धूपमें कभी घरसे बाहर पाँव नहीं धरते; जब दोपहरिया ढुलती है और धपकी तेजी कम जाती है, तो वे घरसे बाहर निकलकर विशुद्ध वायुमें टहलते या खेलते हैं। परन्तु बुरे बालक लाख कहो पर किसीकी कुछ नहीं सुनते। दो-पहरकी वैसी कड़ी धूपमें ही आँख बचाकर घरसे निकल भागते हैं और अपने वैसे ही साथियोंमें मिलकर मनमाना ऊधम मचाते हैं। परिणाममें फल यह मिलता है कि माँदे होकर बुरी दशामें घर लाये जाते हैं। किसीको लूह मार जाती है, किसीको सर्दी गर्मी होती है, और किसीको हैजे सा सांघातिक रोग होता है और अन्तको प्राणोंके भी लाले पड़ जाते हैं। इसलिये ग्रीष्मके दिनोंको विशेष सावधानीसे बिताना ही बुद्धिमानी है। घरसे बाहर निकलकर लूह खाना या जलती दोपहरिया-की कभी कड़ी धूपमें दौड़ना और खेलना भले लड़कोंको भूलकर भी न चाहिये।

पावस

वर्षाका ही दूसरा नाम पावस है। आषाढ़ और श्रावण महीनेमें वर्षाका आनन्द दिखता है। आकाशमें चारों ओर नीली घटा उमड़ आती है। बिजली चमकती है, बादल कड़ककर गर्जता है और मेह भी मूसलधार बरसता है। पावसमें नदियोंमें बाढ़ आती है। ताल तलैया झील सरोवर आदि सब जलसे लबालब भरकर अपूर्व शोभा दिखाते हैं। बरसातमें मेढकोंको बड़ी चैन रहती है। नये पानीकी अधिकाईसे सर्वत्र किलोल करते मदमदमत्त हो जोर जोरसे टर्राते हैं। नवीन नीली घटा छायी हुई देख मोर भी उपवनोंमें आनन्दसे अपनी सुन्दर पुच्छ फैला खड़ी कर ठुमक २ कर नाचने लगते हैं। बेला, चमेली, जुही, कदम, केवड़ा और चम्प आदिकी सुगन्धसे महकते अनेकों प्रकारके फल फूलते हैं। किसान खेतोंकी तयारीमें पूर्ण उत्साहसे उतारू होते हैं, पर ऐसी सुहावनी वर्षा ऋतुकी हवा रोगी और दुर्बलोंके लिये दुखदायी है। वर्षाके बरसते पानीमें भीजना तो विशेष अवगुण करता है। लड़कोंको इससे सावधान रहना उचित है। वर्षामें भीगनेसे सर्दी होकर ज्वर भी चढ़ आता है। इसलिये वर्षाके समय धूम धड़ाका मचाना या नहाना अनुचित और रोगका घर है।

शरद

भादों और आश्विनके महीने शरतके हैं। पावसकी घनघोर वर्षाके हो जानेपर इस

ऋतुके आनेसे जैसा स्वच्छ और निर्मल आकाश इस समय रहता है, वैसा दूसरी किसी मौसिममें नहीं रह सकता। क्योंकि ग्रीष्मकी सूखी, गरम और तेज हवासे धूल और रेत उड़ उड़कर आकाशको निरा धुंधला और मलीन बना देती है। परन्तु वर्षा के होनेसे उनको जलके साथ भूमिपर आ कीचड़के रूपमें परिणत होना ही पड़ता है इसलिये आकाश वर्षाके हो जानेसे धुलकर स्वच्छ और विमल हो शरत्की शोभाको बढ़ाता है। महाकवि तुलसीदासजीने पवन और जलके सत्संग और कुसंगसे उस धूल-के आकाशतक ऊंचे चढ़ जाने और कीचड़ बनकर पैरोंतले रौंदी जानेका बड़ा ही सुन्दर उपदेश-पूर्ण वर्णन किया है। जैसे :—"गगन चढ़हिं रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलै नीच जल संगा।"

शरतकी उजली रातको चन्द्रमाका आकाशमें ऐसा प्रकाश होता है कि दिनका भ्रम सा होने लगता है। शरद पूनोंके चन्द्रमाकी चांदनीमें बहुधा लोग सुईमें तागा पिरो लेते हैं। सरोवर और नद नदियोंका जल निर्मल होकर जैसा आनन्द इस ऋतुमें देता है, वैसा दूसरीमें नहीं। जलाशयोंमें दिनको कमल और रात्रिको कुमोदिनीके फूलनेमें बड़ी विचित्र शोभा देखनेमें आती है। सवेरे और सायंकालमें लहलहाते खेतोंकी गहरी हरियालीकी निराली शोभा मानों आकाशको नीलिमाकी स्पर्द्धासे सामहना करती है। रातको ओस अधिकतासे गिरने लगती है। सूर्योदयके समय उन सुन्दर ओसकी बून्दोंकी खेतोंमें अपूर्व शोभा देख भ्रम होता है कि अनोखे आब-दार सुन्दर सुडौल मोती क्या ऐसी अधिकतासे खेतोंमें फले हैं?

हेमन्त

कार्तिक और अगहनके महीनोंमें हिम ऋतुका आगमन होता है। इस ऋतुमें हवा प्रायशः उत्तरा और कुछ विशेष ठंढी चलने लगती है। इस ऋतुमें ज्यों ज्यों दिन घटने लगता है त्यों त्यों रात बढ़ती जाती है। धूप प्यारी लगती है। रातको तपना तपनेको भी जी चाहता है। सब लोग क्रमसे गरम कपड़े पहनने लगते हैं। कोई कश्मीरी दुशाला, कोई मलीदा, कोई लोई, कोई बनात, कोई पट्टू, कोई कम्बल, कोई रजाई, अपनी अपनी सगति और सामर्थ्यके अनुसार मोल लेकर ओढ़ता है, पर धन-हीन दुखिया दिनको धूप सेककर और रातको आग तापकर फूस औ पुआरके सहारे दिन काटते हैं।

पूस और माघमें जाड़ा पड़ता है। स्यालेकी अत्यन्त शीतल वायु शरीरमें मानों तीर सी लगती है। पानी बर्फ सा ठण्ढा हो जाता है। इसलिये बहुतेरे गरम पानी-का व्यवहार करते हैं। ठंडा पानी छूनेको भी जी आगा पीछा करने लगता है। ठंडे पानीसे नहाते ही ऐसा जाड़ा लगता है कि दांत बजने लगते हैं। रोंगटे खड़े हो जाते हैं। और सारा शरीर थर थर कांपने लगता है। जाड़ेमें प्यास कम लगती है सवेरे कभी कभी तो ऐसा गहरा कुहासा पड़ता है कि आंख पसारनेपर भी कुछ नहीं सूझता। दिवाकर सूर्य भगवान तक छिप जाते हैं। किसी किसी दिन तो डेढ़ पहर दिन चढ़नेतक उनके दर्शन नहीं होते। लोग दिन रात गरम कपड़े पहने रहते हैं। रातको ओढ़नेको रूईकी भारी भारी रजाई और लिहाफ (लेफ) बनवाने पड़ते हैं। तेल फुलेल

रोगन इत्यादि चिकनाई लगानेकी आवश्यकता होती है। बहुतोंके पैरोंमें बिवाई भी इन दिनों फटती है और बड़ाही कष्ट देती है। इसलिये ही पुरानी कहावत चली आती है कि—"जिसके पैर न फटी बिवाई। वह क्या जाने पीर पराई।"

पटना दशम हिन्दी साहित्य सम्मेलनमें श्रद्धेय पं० गोविन्द-नारायणजी मिश्रने जो वक्तृता दी थी, उसका संक्षिप्त भाव यों है :—

मैं इस सम्मेलनमें वक्तृता देनेके उद्देश्य से नहीं आया हूं। दुर्भाग्यवश द्वितीय सम्मेलनमें सम्मिलित होनेके पश्चात् मुझे आज दशम सम्मेलनमें ही उपस्थित होनेका अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु जो कुछ इच्छा है और अनुरोध करना है, सुगम्भीर है और यदि आप सज्जनवृन्द इसका अनुसरण न करेंगे, तो हानिकी सम्भावना है। निवेदन है, आप सज्जन इस विषयको गुरुताको समझ कर विचार करेंगे और इधर ध्यान देंगे। प्रथम जो संस्कार उत्पन्न होते हैं,वे बद्धमूल होनेपर स्वभाव हो जाते हैं; परन्तु संसर्ग होनेपर, परस्पर विचारोंके विनिमयसे उनमें परिवर्त्तन हो जाता है सबोंका संस्कार एकसा नहीहोता,विचार शैली एक नहीं,तर्क करनेकी और कार्य्य करनेकी प्रणाली भी एक नहीं है अतएव सम्मेलनमें वयोवृद्धोंके परामर्श और सहायताकी आवश्यकता होती है। सब विद्याओंका फल संसारके लिये एक ही है। विद्या और बुद्धिमें घनिष्ट सम्बन्ध है। जैसी विद्या होगी, वैसाही बना देगी। जो जीवनके बहुत अंश बहुत दिन व्यतीत कर चुके हैं, स्कूल और कालेजमें कुछ काल पर्य्यन्त अध्यापकका कार्य्य कर चुके हैं या जिनके हाथमें विद्याका भार रहा है, इस विषयपर विचार करें। शीघ्रताकी आवश्यकता नहीं,क्योंकि इससे कार्य्य नहो होता।

हमारे भारतवर्षमें साहित्यका अर्थ अङ्गरेजीके संसर्गसे बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। पहले जिस अर्थमें उसका प्रयोग होता था, उस अर्थमें सयोग नहीं होता है। उदाहरणार्थ प्रत्येक शब्दका बहुविध वर्णमाला और भाषासे होता है। सब शास्त्र वर्णमालाके अधीन हो जाते हैं। अङ्गरेजीवालोंने साहित्यको व्यापकता बहुत बढ़ा दी है। एक अंगमें यह समझना ठीक है। इसके सम्बन्ध रहनेसे साहित्यका सम्बन्ध अनिवार्य है। चाहे गणित, चाहे भूगोल, कोई नवरससे बिभिन्न नहीं है। कमसे कम यह अद्भुत रस या भयंकर रसमें में है। दर्शन कमसे कम और रसमें नहीं तो अद्भुत रसमें आजाता है और गणित भयंकर रसमें, याने इसी तरह सब बिषय किसी न किसी रसके अन्तर्गत हैं; परन्तु अब साहित्यदर्पण आदिसे लोगोंको प्रयोजन न रहा। इस समय सब बिषयोंको छोड़कर साहित्यकी ओर जाना चाहिये। यदि साहित्यकी उन्नति करना इष्ट है, तो पुराने आचार्योंकी बातोंका मानकर यदि उन्नतिकी जावेगी, तो उन्नति होगी। इस मंचपर बोलनेवालोंकी भाषामें शुद्धता न रहे और यदि वे स्वयं व्याकरणपर ध्यान न दें तो साधारण व्यक्तिपर उसका क्यों प्रभाव होगा? वे लोग कहेंगे, कि जब हमारे नेता ऐसा करते हैं तो हमलोगों भी ऐसा ही करना उत्तम है।

सम्मेलनकी परीक्षाके विषयोंमें सब शास्त्रोंका अभिनिवेश है। परन्तु यदि इस

परीक्षाके पास करनेसे वैद्य या कृषिकार्य करे, योग्यतासे कृषि या वैद्य-विद्याकी कुछ भी उन्नति हो जावे, तो अच्छा है अन्यथा हानि ही होनेकी सम्भावना है। केवल उपाधि प्राप्त करनेसे क्या फल? उतनाही बोझा उठाना चाहिये जितनी सामर्थ्य हो। ऐसा न करनेसे या तो दूसरोंकी सहायता लेनी पड़ती है, वा बोझके कारण नाश ही हो जाता है। अतएव सम्मेलन इस ओर ध्यान दे।

अपने ऋषि आदि रचित पुस्तकोंमें जो साहित्यकी शिक्षा मिलती है, वह भूगोल आदिकी शिक्षासे नहीं। यदि इस भाँतिकी शिक्षा दी जावेगी, तभी यथार्थ योग्यता होगी। यदि भाषामें शब्दचातुरी, काव्य और अलंकार न हो तो भाषा किस कामकी? परन्तु इन दिनों मौलिक लेखकों वा कवियोंका आदर कहाँ? बिहारीकी कविताके गुणोंपर मुग्ध हो कर एक राजाने उन्हें अपने कन्धेपर चढ़ा लिया। इन दिनों विद्वान दो तरहके होते हैं। एक ऐसे हैं जिन्हें अपनी कुटीमें आनन्द होता है और स्वतंत्रतासे जीवन व्यतीत करते हैं, उनके सामने सम्राट भी कुछ नहीं होता है। ऐसे विद्वान अब विरलेही पाये जाते हैं। दूसरी श्रेणीके लिये अर्थ लाभ के साहित्य कार्य करते हैं। जैसे हिन्दी बङ्गवासीके अध्यक्ष एक बङ्गाली हैं। उच्च कोटिके विद्वान लापरवाह होते हैं और अपनी अवस्थासे सन्तुष्ट रहते हैं। उनके संसर्गसे जैसा लाभ हो सकता है, वैसा लाभ कालेजकी शिक्षासे नहीं हो सकता। परन्तु उनका मिलना कठिन है। उनकी खोज करनी चाहिये। जो मिलेंगे, उनकी अवस्थाप्रायः ५० के लगभग होगी। इस कार्यके सम्पादन करनेकी आवश्यकता है।

दूसरी बात जिस ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं, वह यद्यपि कठोर है; तथापि कर्त्तव्यके अनुरोधसे कहता हूं। इस समय हिन्दी प्रचारकी कतिपय संस्थाएं हैं, उनमें इस श्रेणीके ऐसे सम्पादक तो हैं जिनकी बातचीतसे मालूम होता है, कि वे सब विषयोंको समझते हैं; परन्तु अधिकांश तो ऐसे हैं, जो आप विषयको समझते नहीं; परन्तु दूसरोंको समझानेका प्रयत्न करते हैं, अतएव जो जीमें आता है, लिख डालते हैं।

पृथ्वीराज रासोके विषयमें कहा जाता है, कि यह सबसे प्राचीन उत्तम हिन्दीका काव्य है। जो इसपमय प्राप्त होता है। इस काव्यकी कितनी कविताओंके कारण बहुतोंका मत ऐसा हो गया है, कि यह काव्य बहुत पुराना नहीं है। मेरा कहना है, कि जब तुलसी आदिकी कविताओंमें क्षेपक जोड़ दिये गये है, तो सम्भव है, कि चन्दके पश्चात् हुए कवि, क्षेपक जोड़ गये हों। मूल पुराना है, और पीछेसे बहुत कुछ जोड़ दिया गया है। बहुतोंका मत है, कि हिन्दी साहित्यका यह सबसे पुराना ग्रन्थ है; परन्तु इसके लिखनेकी शैली और शब्द-निकुंजके देखनेसे यह उस समयका मालूम पड़ता है, जब साहित्य बहुत कुछ उन्नतिकर चुका था। इसके देखनेसे जान पड़ता है, कि ११ वीं शताब्दीके पूर्व ही साहित्यकी बहुत कुछ उन्नति हुई होगी। दुर्भाग्यवश मुसलमान, जैन और बौद्धोंसे झगड़े होनेके कारण बहुत कुछ साहित्य नाश हो गया। इस अवस्थामें उनके उद्धारकी आवश्यकता है। दुःखके साथ कहना पड़ता है, कि आजकल परीक्षाके काव्यके

अन्तर्गत विशेष सम्बन्ध खड़ी बोलीसे किया जाता है। पहले भी रसखानके समयमें खड़ी बोलीमें लिखनेकी प्रथा थी ; परन्तु Standard Language याने उत्तम पद्य व्रजभाषा थी और सारे हिन्दी-संसारको मान लेना चाहिये, कि उन विषयोंकी उन्नति और बढ़ानेका उद्योग करनेकी आवश्यकता है। रासो अबतक दो स्थानोंसे दो बार छप चुका है ; परन्तु बिना व्याख्याके समझमें नहीं आसकता ; अतएव यदि सम्मेलनको "साहित्य सम्मेलन" कहानेका गर्व है, तो उचित है, कि साहित्यकी उन्नति करे। इधर इस वर्षमें सम्मेलनमें साहित्यकी ओर ध्यान कम दिया गया है। यदि सम्मेलन विशेषकर साहित्यकी ही उन्नति अपना ध्येय न रख सकता हो, तो प्रचारके लाभकी उपयोगिता समझकर उत्तम होगा, कि साहित्य और प्रचारका कार्य्य अलग अलग कर दिया जावे और दोनोंके सभापति भिन्न भिन्न व्यक्ति नियुक्त किये जावें।

बङ्गमहिलाने कैसी सुन्दर भाषामें अपनी वक्तृता दी है। पञ्जाब इस समय अपने रूपको भूल गया है। बाबा नानक जिन्होंने सूरता और वीरताका ध्यान दिलाया। हिन्दी भाषामें ही अपनी रचना की और उसका प्रचार किया। आजकल के खड़ी बोलीमें पद्य रचना करनेवाले अपनेको कवि कहते हैं, परन्तु यदि उनके पद्योंमें प्राचीन कविताके अष्टमांश भी गुण हो, तो वह आदरणीय है। परन्तु तोड़ मरोड़कर ऐसाकर देना, कि उसमें कविताका रूप ही न रहे, ठीक नहीं। आशा है, कि साहित्यरसिक इस ओर ध्यान देंगे। आजकल व्याकरणातंक रोग हो गया है और लोग कहते हैं, कि व्याकरणसे भाषाकी स्वतंत्रता चली जाती है और भाषाके हाथोंमें बेड़ी पड़ जाती है। प्यारे विद्वानो, सोचो तो सही कि संस्कृत यद्यपि अब Dead Language (मृत भाषा) कही जाती है तथापि उसमें कितनी सम्पूर्णता है और वह कितने दिनोंमें प्राप्त हुई है। अतएव मृत भाषा होनेपर भी उसका कैसा गौरव है। भाषाको व्याकरणसे नित्य सम्बन्ध है और संस्कृतका नाम है—देववाणी। ऋग्वेदसे ही व्याकरणकी उत्पत्ति हुई। जो समझते हैं, कि व्याकरण स्वतंत्रताको खोती है, भूल है। आजकलके लेखक सोचते हैं, कि हम इतने प्रतिष्ठित लेखक ठहरे और हममें व्याकरणकी भूल हो, इससे अच्छा है, कि व्याकरणको ही तिलाञ्जलि देकर व्याकरणातंक रोगसे बचे। —'पाटलि पुत्र'

* अलम् *